

अर्थविज्ञान
और
व्याकरणदर्शन

दृष्ट्वा रूप व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अभ्रह्ममनृते ऽ द्वाष्ट्रुवा ऽ नृते प्रजापतिः ॥
यसुर्वेद, १६७७ ।

अर्धब्रह्मातुरप्रत्ययाः प्रातिपदिकम् ।
अष्टाध्यायी, १ २ ४५ ।

अनादिनिघर्तं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्धभाषिण प्रक्रिया जगतो यत् ॥
वाक्यपदीय १ १ ।
अष्टाध्यायी, ८ ४ ३८ ।

अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन

[प्रकाश विश्वविद्यालय द्वारा डी. डिग्री
के लिए स्वीकृत प्रबंध]

कपिलदेव द्विवेदी आचार्य

एम्. ए. एम्. जो एल्. डी. डिग्री

१९४१

हिंदुस्तानी एकेडेमी

उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९५१ : २०००

मूल्य चारह रुपये

मुद्रक : महादेव प्रसाद आज़ाद प्रेस, प्रयाग

स्वर्गीय डा० काशी प्रसाद आर्यसहाय की सुपुत्री
डा० ज्ञानश्रीला एम० बी०, बी० एस्०
के कर कमलों में

प्रकाशकीय

हिन्दुस्तानी एकेडेमी का यह प्रयास रहा है कि हमारे साहित्य की जिन दिशाओं में हमी विस्तृत कार्य नहीं हुआ है, उन पर उच्चम प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित किये जायें। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय—‘अर्थविज्ञान और व्याकरण’—हमी तक हिन्दी में प्रसूता है, यद्यपि शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध और व्याकरण द्वारा उनके नियोजन पर सरस्वत के आचार्यों ने बहुत गूढ़ चिन्तन किया है और यूरोप के माया शास्त्रियों ने भी उस दिशा में कार्य किया है तथा अपनी नवीन खोजें प्रकाशित की हैं। डा कविलवेव द्विवेदी ने समस्त प्राचीन और नवीन सामग्री को संकलित कर उन पर दृष्टि विचार किया है। उनका दृष्टिकोण राष्ट्रीय है और विषय गूढ़ होते हुए भी उनकी विवेचना शैली सरल और स्पष्ट है। हम आशा करते हैं कि यह ग्रन्थ हिन्दी के एक विशेष अभाव की पूर्ति करेगा।

धीरेन्द्र वर्मा

मंत्री तथा कोषाध्यक्ष

१५ मई, १९५१

माना जाता है, परन्तु यह सब काल्पनिक है। यह सब व्यावहारिक उपयोगिता के लिए है। तात्त्विक दृष्टि से वाक्य में पदों का अस्तित्व नहीं है। वाक्य स्वतंत्र सत्ता है, उतका पूषक अस्तित्व है। उठी से अर्थ का निश्चित और पूर्ण ज्ञान होता है। बिना प्रकार पद से पूषक वाक्य की सत्ता है, उठी प्रकार परार्थ से पूषक वाक्यार्थ की सत्ता है। प्रत्येक पद के अर्थ से पूषक वाक्य का अर्थ होता है। वाक्य के अर्थ की स्वतंत्र सत्ता है, वह पदों के अर्थ पर निर्भर नहीं रहता है। पदों के अर्थ अनिश्चित अपूर्ण, अदिग्ध और अस्पष्ट होते हैं परन्तु वाक्य का अर्थ निश्चित, पूर्ण, असदिग्ध और स्पष्ट होता है। इस प्रकार से पद और परार्थ से पूषक सूक्ष्म तत्त्व वाक्य और वाक्यार्थ है बही अन्तिम तत्त्व है। वैवाङ्मयों के मत्वागुत्तर संसार में प्रतिमा ही वाक्यार्थ है, बही दृष्टि की आत्मा है, बही आत्म-तत्त्व है बही वाक् तत्त्व है। वह सत्य है, नित्य है, मुक्त है अक्षर है अक्षय है, अपरिचामी है और अवयव-रहित एक है। वैवाङ्मयों में वाक्य के नियम में विद्यमान तमस्त मत्तों का समूह करके उनका छाठ मागों में विभक्त किया है। इन छाठ विभिन्न मत्तों में तमस्त दार्शनिक और वैज्ञानिक मत्तों का समावेश हो जाता है। इन छाठ विभिन्न मत्तों पर विचार करने से वाक्यार्थ ६ प्रकार का सिद्ध होता है^१। इस ६ प्रकार के वाक्यार्थ में सभी सूक्ष्म दार्शनिक और वैज्ञानिक विज्ञानों का संकलन हो जाता है। इस प्रकार से पर्याय ११ प्रकार का तथा वाक्यार्थ ६ प्रकार का होने से अर्थ अठारह प्रकार का तथा शब्द ६ प्रकार का बताने परीन में (कावच २ पृ ११) अर्थ अठारह प्रकार का तथा शब्द ६ प्रकार का बताने उतकी व्याख्या की है^२। उपर्युक्त अग्निप्राय का विवेचन शब्द और अर्थ का स्वरूप, पर और परार्थ, वाक्य और वाक्यार्थ तथा स्पष्टवाद और अर्थविज्ञान इन अग्निप्रायों में विशेष रूप से किया गया है।

नियन्त्र में मौलिकता—प्रस्तुत नियन्त्र में मौलिक अर्थ कितना है वा मौलिकता कितनी है, यह निर्णय करना कुछ कठिन कार्य प्रतीत होता है, क्योंकि दृष्टि में शब्द तत्त्व, शब्द तत्त्व वाक्-तत्त्व, अर्थतत्त्व अथवा प्रतिमा के अतिरिक्त किसी भी मौलिक परार्थ की वा वाक्यार्थ की आशा करना बुरासामान्य है। मूल-तत्त्व के अतिरिक्त मौलिकता और हो भी क्या सकती है। उत मूल-तत्त्व को वैवाङ्मय संक्षेप में शब्द-तत्त्व वाक्-तत्त्व, अर्थ तत्त्व वा प्रतिमा नाम से संभावित करते हैं। पाणिनि, कारणासन, पतञ्जलि और मत्त हरि में अर्थ-तत्त्व अथवा अर्थविज्ञान के नियम में जो विचार स्वरूप में रखे हैं, वे अर्थ-आत्मीय के कारण अत्यन्त आत्मीय, सुबोध और अज्ञेय हैं। सारे नियन्त्र में जो प्रयत्न किया गया है वह है उत मौलिक-तत्त्व को स्पष्ट और सुबोध बनाना। इसके अतिरिक्त और मौलिक विचारों को प्रस्तुत करना सम्भव है और न अमीष्ट ही है, क्योंकि वैवाङ्मयों के अग्निप्राय को स्पष्ट करना ही प्रस्तुत नियन्त्र का नियम है, लक्ष्य है, उद्देश्य है और इच्छा है।

१. इसी वाक्यपरिचय कावच २, श्लोक ११ की व्याख्या

२. अग्निप्रायवचनो वाक्य कावच २ पृ ११ ।

अर्थ-तत्त्व के विवेचन का प्रारम्भ—यद्यपि शब्दतत्त्व अर्थात् शब्द के अतिरिक्त कोई मौखिक तत्त्व नहीं है तथापि उसकी प्राकृत (मौखिक, स्वामाधिक) ध्वनि में गौरवरूप से लक्षणावृत्ति के आभाव में मौखिकता स्वीकार की जाती है। अतएव वाक्य में वच, पर और वाक्य इन तीन तत्वों की कल्पना की जाती है। सृष्टि में ईश्वर, भीम और प्रकृति इन तीन रहस्यात्मक तत्वों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। एक ही ज्ञान तत्त्व (वेद) को वाक्-तत्त्व, मनस्-तत्त्व और प्राण-तत्त्व इन तीन मार्गों में विभक्त करके वेदवर्षी अर्थात् ऋग्, यजुः, साम का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। मीमांसाशास्त्र में इत विवेचन को पद्य, गद्य और गीति (क्रमशः ऋग्, यजुः और साम) इन तीन मार्गों में प्रस्तुत किया है। साहित्यशास्त्रियों ने श्लोक, वाक्य-तत्त्व आदि नामों को न रखकर शक्ति वा शब्दशक्ति नाम से उक्त विवेचन को प्रस्तुत किया है। वैयाकरणों ने वर्षा और पर से आये वाक्य की उत्पत्ति ठिड की है, बन्धश्लेष-और पदश्लेष से आये अन्वितम तत्त्व वाक्य-श्लेष को माना है, उठी प्रकार साहित्यशास्त्रियों ने वैयाकरणों के मत का अनुसरण करते हुए अमिषा और लक्षणाशक्ति से आगे व्यञ्जना शक्ति की विधि की है। व्यञ्जना शक्ति की विधि के कारण ही शब्द व्यञ्जक होता है और अर्थ व्यञ्ज्य होता है। व्यञ्ज्य अर्थ न पद पर निर्भर रहता है और न पदार्थ पर। उसकी स्वतन्त्र उत्पत्ति है। वह स्वतन्त्र शक्ति है, वह स्वतन्त्र अर्थ है, वह कभी भी पराधीन नहीं है। अर्थ-तत्त्व के विवेचन का प्रारम्भ वैदिक वाङ्मय के प्रारम्भ से ही हुआ है। वैदिक ऋषियों ने उसको मन्त्रात्मक रूप देकर प्रस्तुत किया है। चारों वेदों में श्लोक शब्द का उल्लेख न होने पर भी वाक्-तत्त्व का वाक्शब्द रूप में प्रस्तुत किया गया है और स्फोटवाद के सिद्धांत का पुरातन प्रतिपादन किया गया है। वाक्-तत्त्व त्रिविको अक्षरतत्त्व ब्रह्म, शब्दतत्त्व आदि रूपों में प्रस्तुत किया गया है, वह प्रतिमा की ही विभिन्न रूपों में व्यञ्जना है। सृष्टि के मूल में प्रतिमा ही मौखिक पदार्थ है। वेदों में मेवा मनीषा आदि शब्दों के द्वारा प्रतिमा का अमिमात्र स्पष्ट किया है। वेदों में सृष्टि को, जो कि अर्थ तत्त्व की प्रतिमूर्ति है, वाक्-तत्त्व का ही विकास माना है। वाक्-तत्त्व को पाणिनि, आत्मानन, पञ्चलि, रावण और मनु इति आदि महा-वैयाकरणों ने शब्द, शब्दतत्त्व, शब्दशब्द आदि नामों से प्रस्तुत किया है। पञ्चलि ने अतएव व्याकरण को 'अथ शब्दानुशासनम्' कहकर शब्दानुशासन नाम दिया है। वैयाकरणों को वाक्-तत्त्व के विवेचन के कारण वाङ्मयवित् अर्थात् वाक्-तत्त्व के वचार्थ सम्बन्ध का ज्ञान कहा है। वाक्-तत्त्व अर्थ रूप में परिशुद्ध होता है, वही सृष्टि का कारण है, वही सृष्टि का आधार है।^१

वेदों में त्रिविको को मन्त्र-रूप में रक्ता है उसको ब्राह्मण ग्रंथों में विस्तार से स्पष्ट किया गया है। उपनिषदों में वाक्-तत्त्व को ब्रह्म रूप में रखकर औपनिषदिक भाषा में बहुत विस्तार से विवेचन का विषय बनाया गया है। वेद के पढ़ने में से शिक्षा, निरुक्त और व्याकरण से इत विषय पर वैयाकरणों की पद्धति से विवेचन प्रारम्भ हुआ है। अर्थ-

१. अनादिनिर्णय ब्रह्म अन्वयत्वं वदन्तः ।

संघों स्मृतिवो और पुराणानि में उस एक मीलक तत्व की विभिन्न नामों और विभिन्न रूपों से व्याख्या की गई है ।

व्याकरण-दर्शन और अथ विभिन्न-मासिशास्त्र ग्रन्थों में वेदों को लक्षण में रखते हुए वाक्-तत्त्व का विवेचन और विश्लेषण विशेष रूप से हुआ है । आचार्य पाणिनि से पूर्व कठिन महावैवाकरणों ने इस विषय पर विशेष कार्य किया था । उनके उपादेश में पालि-सम्प्रति अनुष्णान् इने के कारण प्रस्तुत निबन्ध में विशेष उदाहरण न हो सके । आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में अपने से प्राचीन कठिन आचार्यों का उल्लेख किया है । जिनमें आपिशलि, वाङ्मय गार्ग्य, मालव, वाक्यमंथ, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटामन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं ।^१ पाणिनि-व्याकरण के साथ ही कठिन अन्य व्याकरणों का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में मिलता है । जिनमें से आठ प्राचीन व्याकरण मुख्य हैं :—देन्द्र, चान्द्र, काशकृष्ण, कौमार, शाकटायन, चारस्वत, आपिशलि और शाकल्य ।

देन्द्र चान्द्र काशकृष्ण कौमार शाकटायनम्

चारस्वत आपिशलि शाकल्य पाणिनीयकम् । परिभाषेणु टीका पृ ९

श्री अथर्व में हरपतिविष्णामिनि नामक ब्रह्म के उपाहसमें प्रकाश (अप्याव) का नाम 'शब्दशास्त्रावतारप्रकाश' नाम रखकर पाणिनि व्याकरण की उत्पत्ति और विकास तथा पाणिनि, कात्यायन (वरकथि), व्याडि, स्वामिङ्गुमार, बर्ष इन्द्रवत् आदि मार्षेया करणों के अल्पम वेद कालारि का परिचय कराया है । श्री अथर्व का कथन है कि ईश्वर व्याकरण संसार से नष्ट हो चुका था (श्लोक ७६) अतएव मगवान् शिव ने देन्द्र व्याकरण के स्थान पर पाणिनीय व्याकरण की सृष्टि की । उस समय से लेकर समस्त शब्दशास्त्र का प्रकाशक विष्णु पाणिनीय व्याकरण भूमि पर प्रसिद्ध है । मगवान् पाणिनि स्वयं शिव के अवतार हैं अथवा कितनी वह शक्ति थी कि वह विष्णु व्याकरण को भूलत पर प्रतिष्ठापित कर सकता । समस्त शास्त्रों के होते हुए भी ऐसा कौन है जो कि पाणिनि की सृष्टि (प्रतिष्ठा) न करता हो क्योंकि उतकी कृपा से ही अर्थतत्त्व का ठीक-ठीक बोध होता है ।

१ वा सुप्पादिश्रुतेः । अथा ६ १ ११

सुप्तिवृत्तिः । अथर्वतत्त्व । अथा १ १ १५

श्रोत्रो गार्ग्यैस्त् । अथा ८ १ १

एतौ वा यो अतिवृत्तं पुंश्च गालकत् । अथा ५ १ ५५

है १ वाक्यमंथत् । अथा ६ १ ११

सो वाचाकृष्णो । अथा ७ १ ११

सः अष्टाध्यायीवत् । अथा १ ५ १११ तथा अथा ८ १ १५

सुप्तिवृत्तौ वाक्यमंथोवाच्यार्थे । अथा १ १ ११ तथा ६ १ ११५ एवं ८ १ ११

निरेव सनत् । अथा ५ ५ ११२

सर्वत् त्रयोपवत् । अथा ६ १ ११३

येन्द्र व्याकरणं नष्ट समग्रं वामवद्भुवि । ७६

येन्द्र व्याकरणं द्वित्वा पाणिनीयं व्यापाण्डित्वा । १३१

उक्तः प्रकृति निर्भोपशब्दज्ञानप्रकाशकम् ।

दिव्य व्याकरणं भूमौ पाणिनीयं प्रतिष्यति । १३४

पाणिनिर्मगवासेव स्वर्गं पन्त्रार्थशेखरा ।

प्रतिष्ठापयते कोऽम्बो दिव्यं व्याकरणं भुवि । १३५

अशेषेष्वपि शास्त्रेषु स्तूपते नैन पाणिनिः ।

आवन्ते तन्मगैवैते वस्त्रादेन वाचकाः । १३६ (हरपरित्विन्तामदि, अस्याव
२७, श्लोक ७६ तथा १३१ १३६)

मत्स्यहरि और अर्थविज्ञान—मत्स्य हरि ने वाक्यपर्यय के द्वितीय काण्ड के अन्त में व्याकरण-दर्शन और अर्थविज्ञानविषयक वैवाकरणों के विवेचन का सक्षिप्त इतिहास लिखा है । पाणिनि के पर्याय व्याकरण-दर्शन पर आचार्य व्याहृि का संग्रह नामक ग्रंथ, जो कि एक लाख श्लोकों से युक्त या व्यास-रचित महामारुत के मुख्य विद्यालयाप अन्तर्गतपरिपूरित व्याकरण-ग्रन्थ या । व्याकरण-दर्शन की दृष्टि से यह ग्रन्थ कितना बहु मूल्य वा यह स्वयं पतञ्जलि के कथन से स्पष्ट होता है । पतञ्जलि ने महामारुत के प्रथम अध्याय में 'शब्द नित्य है कि अनित्य जैसे महत्त्वपूर्ण विषय को यह कह कर छोड़ दिया है कि संग्रह में इस विषय पर विशेष विस्तार से विवेचन किया गया है, वहीं पर नित्यता और अनित्यता दोनों पक्षों के गुण-दोषों का विस्तार से विश्लेषण किया गया है ।' मत्स्य हरि ने तथा उनके शिष्याकार पुण्यराज ने कदापि पूर्व शब्दों में लिखा है कि पाणिनीय व्याकरण में व्य कि का बनाया हुआ एक लाख श्लोकों का संग्रह नामक ग्रन्थ था । खेर का विषय है कि वह महान् ग्रन्थ वैवाकरणों की स्थिति, उपेक्षादृष्टि अथवाबाह्यनिता पक्षव्यतिरेकविषय की प्रकृति के कारण संसार से छुट्ट हो गया ।

मायेय सञ्ज्ञेपरुचोनस्पविद्यापरिग्रहान् ।

समाप्य वैवाकरणान् समरैः स्वमुपागते ॥ वाक्य २ ४८४

इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याहृिपरिचितं ग्रन्थसङ्घपरिमाणं
संग्रहामिषानं निरुत्थनमशीत् । (पुण्यराज)

पतञ्जलि का महामारुत—मत्स्य हरि तथा पुण्यराज का कथन है कि तत्त्वदर्शी ममवान् पतञ्जलि ने व्याकरण-दर्शन का असुपरा रक्षने के लिए कदापिमात्र से प्रेरित होकर कार्यायन के बनाय हुए शिष्यों की व्याख्या करके समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों एवं व्याखों का अपने महामारुत में समावेश किया है । इसमें केवल व्याकरण के ही सिद्धान्तों

१ संग्रह शब्द प्राच्यग्रन्थ परिचय—नित्यो वा (वायु) शब्दों है कि ।

तथोक्त शेषः प्रयोगसङ्घपरिचयि । तत्र तेषु निर्यय—अथैव नित्यः, अर्थात् शब्दः । अन्वयानि
सङ्घं प्रकल्पयति । (महामारुत अध्याय १)

संपन्नो व्याहृिको लक्षणोक्तसंज्ञो ग्रन्थ इति प्रतिष्ठितः । (बालेय, महामारुत पूर्वशब्द)

का समावेश नहीं है, अतिसु समस्त विद्वानों का संश्लेष में समावेश है। अतः इसे 'महामाध्य' यह शर्षक नाम दिया गया है।^१

महामाध्य के निबन्ध में आगे स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि यह महामाध्य पतञ्जलि की छेकन परिपाटी की सुशोभता और सरलता के कारण स्पष्टमाय प्रतीत होता है, परन्तु अर्धगाम्भीर्य, भाव गाम्भीर्य तथा प्रमेय-बाहुल्य के कारण अत्यन्त कुशोभ, अगाध और अज्ञेय है। अतएव अतस्वश, प्रतिमाविहीन एव सुकुमारदुस्मि विशासुषो का उठमें प्रवेश नहीं हो पाता है। (पुण्यराज)^२

अज्ञम्भगाधे गाम्भीर्याद्बुधान् इव लोभ्यतात् ।

तस्मिन्मूढबुद्धीनां नैवावास्थित निरुचयः । वाक्य , १, ४८६ ।

वैजि, लोभ्य और हर्षय के वैवाकरय है, जिन्होंने केवल और शुद्ध तर्क-प्रवृत्ति का आभय लेकर आर्य व्याकरण-दर्शन का, जिसका स्वरूप संग्रह-संग में स्थिर किया गया था, सुभाषना से प्रेरित होकर सर्वनाश किया है।^३

राजस्य और व्याकरण-दर्शन—पतञ्जलि के सिद्धों ने इस व्याकरण दर्शन की रक्षा की और वह दर्शन अस्तम्यरत रूप में दक्षिणार्धों में केवल प्रथममात्र में अवशिष्ट रह गया था। ऐताराज के कथन से ज्ञात होता है कि व्याकरण-दर्शन के मौलिक रूप के बन्मदाता आचार्य राजस्य थे। वह मूल-दर्शन शिक्षाशैली के रूप में दक्षिण में था जो कि ऐताराज के कथनानुसार त्रिकूट पर्वत के एक विमाय बिलिय स्थान के एक कोश में था। सुतमाय व्याकरण-दर्शन को इस शिक्षाशैली के आधार पर आचार्य बभ्रू तथा मनु हरि के मुख आचार्य बभ्रूराव आदि ने महामाध्य की सहायता तथा रोगचिह्न का आभय लेकर पुनरुद्गीत और विकसित किया। इस समय प्राय्य व्याकरण-दर्शन का भेद इन्हीं आचार्यों को है। आचार्य बभ्रूराव ने आचार्य मनु हरि को बिल रूप में यह

१. इने ५५ पतञ्जलिवा पुस्तका धीर्दर्शिनः ।

एतेषां स्वानुवीचानां महामाध्यै निरुचये ॥ (वाक्य ४८५)

तत्र च माध्यं च केवलं व्याकरणस्य निरुचयं वाचस्पत्ये वा स्वानुवीचानां वाक्यमित्यत एव सर्वमाय कीदृशोत्तरादीन् महत्प्रयत्नेन विविधान् महामाध्यमित्युच्यते लोके । (पुण्यराज वाक्य पूर्वस्य)

२. अतिशयधीरं वि श्यम्यनुपठकिं मन्वता पतञ्जलिमेति न तस्मात्प्रमेयं व्याकरणं तु केनचिन्मन्वत इति । अतएव तस्यं परिशक्तिशब्दात्तत्र लोभ्यतात्बुधानं स्पष्टमायं प्रतीयति । प्रमेयानुसूचयं सुरवनाप्रत्यम् । अत एतेषां महामाध्यमन्त्रबुद्धौ नैव बोधः प्रत्यम् । (पुण्यराज वाक्य २, ४८६)

३. वैजिहीम्वहर्षयोः सुप्युत्तरंनुसारिभिः ।

आर्ये विज्ञानिणे प्रथमे संग्रहमनिरुद्धे च (वाक्य १ ४८७)

तथा च संग्रहमतिशयभूतैराप्यनेतर्कनिवासाधैरिभिर्बुद्ध्या तथात्वादिदमाप्तमितम् । (पुण्यराज, वधे) ।

द्वैत समर्पित किंवा वा, उही का मूर्तरूप मयूहरी का सर्वमाय्य अर्धवर्माहार वास्यपरीय है ।

पुण्यराज और होहारज—वास्यपरीय की अस्यत्त प्रामाणिक और अगाप विहृष्टापूर्वा डीका कारमीरी प्राक्षयों ने की है । प्रथम कांड की व्याख्या महावैवाक्यस्य हरिब्रुपम से की है । द्वितीय कांड की पुण्यराज से और तृतीय कांड की मूर्तिराज के पुत्र होहारज से । प्रथम से ६२ पृष्ठ, द्वितीय से २३ पृष्ठ तथा तृतीय से ७४४ पृष्ठ क्रमशः लिखे हैं । इतिहासकों के लिये यह विषयार्थीय विषय है कि ये तीनों व्यक्ति एक हैं या तीन । ये एकही व्यक्ति के तीन विभिन्न नाम हैं या तीन व्यक्तियों के विभिन्न तीन नाम । तीनों वादों के ठरसंहार से तथा तृतीय कांड के प्रारम्भिक मंगलाचरण के श्लोकों में 'तत् प्राथम संस्तुतः तथा 'प्रकृतो विहितोऽग्न्यामिरागमार्यानुसारिमिः से यहुक्चन से यही स्पष्ट होता है कि यह व्याख्या का कार्य सामूहिक कार्य है, उपर्युक्त तीनों

१. (क) वा एतन्निरुद्धिष्वीम्यो अयो व्याहरणावमः ।

अथते स वाचिन्वातैषु मयमाथे अवरुक्त्वाः ॥ (वाक्य २ ४८५)

(ख) सर्वशायम लब्धवा अथवरीनामुत्तरिमिः ।

स नीतो बहुजाकृतं अन्तःपार्थिमिः पुनः ॥ (वाक्य २ ४८६)

अथ अन्तःपरेव अन्तःपार्थिमिः लब्धवा तेन चोपावमूतेन सप्तसामि अन्तःपार्थिव्याधि , - व्यावर्धोमामि एतन्नमुत्तरव व्याहरणावमः पुनरपि एकीयतां नीत । (पुण्यराज वरी) ।

पर्यदात् निरुद्धेकरेस्यैविकिञ्चैकरेस्यैविति । एव एतन्नते एतन्नविक्रितो मूलावमन्तःपार्थिव्याधि-सिद्धिः । केनचित्त्वं अन्तःपार्थिव्याधि अन्तःपार्थिव्याधि शुरुमतीनां वत् इति । ते एतन्न मन्तःपार्थिव्याधि अन्तःपार्थिव्याधि एतन्न एतन्न सार्थ वा अन्तःपार्थिव्याधि अन्तःपार्थिव्याधि बहुसामिन्तै वीतो सित्तरं प्रापित एतन्नमुत्तरैः । (पुण्यराज वरी) ।

(ग) व्यावमन्तःपार्थिव्याधि एतन्न एतन्न ।

अन्तःपार्थिव्याधि एतन्न एतन्न एतन्न ।

(वाक्य २ ४९) ।

अथ अन्तःपार्थिव्याधि एतन्न एतन्न बहुसामिन्तै अन्तःपार्थिव्याधि एतन्न एतन्न एतन्न एतन्न । (पुण्यराज वरी)

२. (क) इति श्रीमहादेवाकरस्य हरिब्रुपमविरचिते धर्मवरीयस्य अष्टौ अगापमस्तुत्तरव्यो नाम अष्टाध्याय्ये प्रथमोऽध्यायः । (वाक्य २ पृष्ठ ६२)

(ख) इति अष्टाध्याय्ये अष्टाध्याय्ये अष्टाध्याय्ये अष्टाध्याय्ये अष्टाध्याय्ये ।

(वाक्य २ पृष्ठ २२१)

(ग) इति श्रीमहादेवाकरस्य हरिब्रुपमविरचिते धर्मवरीयस्य अष्टौ अगापमस्तुत्तरव्यो नाम अष्टाध्याय्ये प्रथमोऽध्यायः ।

(वाक्य २ पृष्ठ ७४)

व्यक्तियों ने बान्धवपरीय का विभाजन करके उच्छ्रम से बंधाश्मा की है।^१ सूक्त इष्टि से विचार करने तथा प्रतिभा के पूर्वीक विवेचन के अनुसार उच्छ्रम नामात्मता को स्थान देने से ज्ञात होता है कि ये नाम एक ही व्यक्ति के विभिन्न तीन नाम हैं, जो कि सूक्त इष्टि से तीन व्यक्ति प्रतीत होते हैं। तीन विभिन्न नामों को रखने की आवश्यकता विषय की विभिन्नता के कारण हुई। एक ही व्यक्ति के ये तीन नाम हैं। यह काण्ड १, पृष्ठ ७४४ पर टीकाकार के स्वपरिषय से स्पष्ट होता है। तीनों कारणों की प्रकाश नामक टीका का कर्ता मूर्तिराज का पुत्र हेताराज ही है।^२ प्रथमकाण्ड ऋषिकाण्ड है, ऋष वैवाकरबो के मतानुसार महावैवाकरष है अतः ६२ पृष्ठ किलने पर भी टीकाकार ने अपने नाम के साथ महावैवाकरष की उपाधि लगाई है, स्फोट और ध्वनि दोनों का माय रूप करने के लिए 'हरिवृषम वाक्यलिक नाम रखा है। निर्विकल्प उपाधि अक्षरणा में ऋष के साथ एकरूपता के कारण व्याख्याकार ने वाक्यलिक के पिता का नाम नहीं लिखा है। द्वितीय काण्ड को कि वाक्यलिक का विवेचन है, प्रत्यकार ने अपना नाम हेताराज के स्थान पर पुत्रवराज अथिक् उपयुक्त समझा है। यहाँ पर न महावैवाकरष उपाधि है और न पितृनाम का उल्लेख है। तृतीय काण्ड परस्फोट या फलवाद की व्याख्या है, पदार्थ की व्याख्या है, व्यावहारिक सृष्टि की व्याख्या है, अतः अपभ्रंश पदार्थ का आशय लेकर अपना मौलिक नाम तथा अक्षर मौलिक पिता का नाम तृतीय काण्ड के १४ उपदेशों में प्रत्येक के अन्त में रखा है। ७४४ पृष्ठ किलने पर भी हेताराज मौलिक रूप में हमें के कारण अपने नाम को महावैवाकरष की उपाधि से संबंधित रखते हैं। प्रकृत निबन्ध में कहीं पर एकत्व और कहीं पर अनेकत्व का आशय लेकर कहीं पर हेताराज नाम ही रखा गया है और कहीं पर पूषकपूषक नाम रखा है।

कैण्ड, महोच्च, नागेश आदि—मनु हरि तथा हेताराज का परवर्ती वैवाकरबो न आचार एवं प्रभावस्वरूप मानकर व्याकरष के शिष्यों का प्रतिपादन किया है। जिनमें से कैण्ड कृत महामास्य की प्रथम टीका, महोच्चरीचिंत कृत रामकीरतुम, मनोरमा, शिष्य

१ (क) वाक्यलिकसुभाषणोचितवपुल्ल्यादिभि संस्तुता । १ ।
 (गल्प ३, पृष्ठ १)

(ख) वाक्यलिके कथासृष्टि शिष्यत्वात् उपासताः ।
 ऋषयो विधितोऽस्मात्पितृव्यमार्थास्तुच्छ्रमि ॥ १ ॥
 तन्नेवभूते वाक्येऽस्मिन् उपासते एककणः ।
 बोधायनोत्तरात् प्रकृतोऽर्थं विधीयते ३ ॥
 (गल्प ३, पृष्ठ १)

२. टीकाकारः स्वपरिषयः ।
 सूक्तपरीय इति मूर्तिराजस्य वाक्यलिकस्य जयः
 श्रीमाय् कथावशात् नमून् वक्तव्यत्वं प्रकृतानुगतः ।
 मन्त्री वाक्यलिक वस्तुतः परिपुस्तकवाक्यलिके अयो—
 हेताराज इमं प्रकृतस्यकरोन्वीभूत्पितृनामात्मजः । १ ।
 (वाक्यलिकस्य गल्प ३ पृष्ठ ७४४)

कोमुनी आदि, नागेशमहद्वैत वैवाकरव्यसिद्धान्तमंश्या, लघुमंश्या, शम्भेन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर, महामाध्य की उद्योत टीका तथा लक्ष्मणदास आदि, कीर्तमान्द विरचित वैवाकरव्य मंश्या, मयहन विभ कृत स्फोटसिद्धि, बामन जबादित्य कृत काशिका आदि मंश्यों में अर्थाविज्ञान विषय के अंग और उपांगों का विशेष विस्तार से विचार किया गया है।

दार्शनिक विद्वानों ने जिन अमर कृतियों में अर्थाविज्ञान का विवेचन किया है, तथा जिन ग्रन्थों का विशेष उद्योग किया गया है, उनके नाम आदि तहावक ग्रन्थों की सूची में विशेषरूप से दिने गए हैं।

वैवाकरव्यों का दृष्टिकोण—इस निबन्ध में वैवाकरव्यों के इस सिद्धांत को समुचित और प्राक्क समझा है कि “सर्ववैदपरिषद् हीर्द शास्त्रम्-उच नैकः पन्थाः शास्त्र आस्यान्नुम्” (महामाध्य ९, १, ३८) व्याकरव्य सारे वेदों, समस्त दर्शनों आदि का पथप्रदर्शक है, अर्थाः किसी एक भाग-विशेष (दर्शन-विशेष, धर्म-विशेष, सम्प्रदाय-विशेष) का आश्रय नहीं लिया जा सकता है। वैवाकरव्यों को अतएव सत्सुखी उत्तरदायित्व के मध्य में अपना उत्तरदायित्व सुपाकरूप से निमाना होता है। वैवाकरव्यों ने इस समस्त उत्तरदायित्व को एक संक्षिप्त निबन्ध में पूरा कर दिया है। वैवाकरव्यों का दृढ़ मन्तव्य है कि सारे सुखों का मूल समस्त विवादों, विग्रहों और दुखों का परिहार एक समन्वयवाद है। प्रत्येक शब्द में, प्रत्येक अक्षर और परमाणु में लघु और अक्षर का समन्वय है, प्रकृति और प्रत्यय का समन्वय है। इसी समन्वय के आधार पर प्रत्येक अर्थ, प्रत्येक सृष्टि का कार्य चलता है। जहाँ पर दोनों में से एक की उपेक्षा की जाती है, वहीं से वादविवाद, विशेष, संघर्ष आरम्भ हो जाता है। अर्थाः वैवाकरव्य कहते हैं कि :—

न केवल प्रकृतिः प्रयोज्यया, नापि केवल प्रत्ययः।

न केवल प्रकृति का प्रयोग करना चाहिए और न केवल प्रत्यय का, न केवल प्रकृति-वाद का प्रयोग करना चाहिए और न केवल प्रत्ययवाद का न केवल मौलिकवाद का प्रचार और स्वरुप करना चाहिए और न केवल अस्वात्मवाद और विज्ञानवाद का। न केवल ज्ञान-मार्ग का ही प्रयोग करना चाहिए और न केवल कर्ममार्ग का। दोनों का समन्वय करके ही प्रत्येक वाद, प्रत्येक सिद्धान्त और प्रत्येक मन्तव्य का प्रयोग करना चाहिए। अर्थाः कि सरल और सुन्दर शब्दों में इसके समन्वय का प्रकार मगवान् हृष्य ने गीता में प्रतिपादित किया है।^१

व्याकरव्य और वैवाकरव्यों को जो सम्मान सब ओर से प्राप्त हुआ है, उतका कारण उनकी निर्लेप्ता निष्कृता और सत्ता है। इस सत्ता के कारण ही व्याकरव्य भीतर होते हुए भी सब से अधिक सरल है, अग्रिय होते हुए भी सर्वप्रिय है, निर्धार्य होते हुए भी अनिधार्य है, व्याकरव्य होते हुए भी दर्शन एवं शक्तिय है, ज्वलि होते हुए भी लक्ष्मण है, अनिषा होते हुए भी व्यञ्जना है, वाक्यार्थ होते हुए भी स्वर्णार्थ-प्रधान है, जान होते हुए भी ज्ञेय है, साधन होते हुए भी साध्य है, अतिष्ठ होते हुए भी तिष्ठ है। व्याकरव्य ही

प्रकृति प्रत्यक्ष के विभाजन को करते हुए भी धर्म विज्ञाता है, 'विग्रह में भी धर्म का प्रकार बताता है, दम्भ (विरोध, विवाद) में भी समाहार (एकत्व, एकता) विज्ञाता है, व्यपेक्षामात्र (पारस्परिक-सहयोग) समाप्त के साथ एकाधीनाभाव समाप्त (एकताह्यता, एक उद्देश्यता) विज्ञाता है। आकृति के साथ ही दम्भ को परार्थ मानना विज्ञाता है, मौखिक वाद के साथ ही आत्मवाद और ब्रह्मवाद की शिक्षा देता है, जाति और व्यक्ति दोनों को ही परार्थ मानना विज्ञाता है। न जाति की उपेक्षा की जा सकती है और न व्यक्ति की। जाति की शिक्षा द्वारा वैवाचकत्व बिलक्षण पर पहुँचते हैं, यह है कि व्यक्ति जाति का अंग है, जाति नित्य है और व्यक्ति अनित्य, जाति सत्य है और व्यक्ति असत्य।^१ व्यक्ति जाति का अंग है, अंग अंगी के लिए है, व्यक्ति जाति के लिए है, व्यक्ति समाप्त के लिए है, व्यक्ति समाप्त का एक अंग है, वह समाप्त की सेवा के लिए है, व्यक्ति राष्ट्र का एक अंग है अतः राष्ट्र की सेवा उसका कर्तव्य है। वैवाचकत्व इतने से समुप्य नहीं होते हैं वे परवाद परस्फोट को भी बुद्धिपूर्वक समझते हैं वे जातिवाद को भी पृथक् करके गृह्य नहीं समझते हैं, वे वाक्यस्फोट की शिक्षा करके यह ठिक करते हैं कि जातिमेव से राष्ट्र मेव से समाजमेव से सँकड़ो अनर्थ होते हैं। बिल प्रकार व्यक्ति जाति का एक अंग है उठी प्रकार जाति राष्ट्र और समाज वाक्य के एक अंग है, विश्व के एक अंग है। उन्हें विश्व के हित के लिए अपना अस्तित्व रक्षना चाहिए, विश्व हित में ही अपना हित निहित समझना चाहिए। विश्व-शान्ति, विश्व-वन्द्यत्व, विश्व-धर्म विश्व-संस्कृति एवं विश्व को ही अक्षय्य और निरवयव तथा अनिर्वचनीय शब्द-ब्रह्म का एकमात्र प्रतिनिधि समझना चाहिए।^१

वैवाचक्यों ने एक इस सत्य का निर्वाह किया है जिसको भगवान् कृष्ण ने कहा है कि 'म बुद्धिमेव कनवेदज्ञानां कर्मवृत्तिनाम्'^२ कर्मयोगियों ने बुद्धिमेव उत्तम न करे। अतएव वैवाचकत्व ज्ञानियों के लिए प्रतिभा की प्राप्ति उद्देश्य बताते हैं तथा कर्मयोगियों के लिए किया, कर्मवृत्ता, कर्मठता एवं निष्काममात्र से कर्म करने की शिक्षा देते हैं। पतञ्जलि एवं मनु हरि ने उक्त प्रकार से विभेदों में अमेद और अनेकताओं में एकता को समझाया है।

बहि सारे वेद, सारे दर्शन, समस्त व्याकरण समस्त ज्ञान, विज्ञान, अध्येयत्व, अनुसंधान और सर्वतोमुखी विकास होने पर भी विश्व में शान्ति सुख ज्ञान, एकता, प्रेम, अहिंसा और सत्य की शिक्षा नहीं होती है तो इसका कारण कर्मक वेद दर्शन, ज्ञान विज्ञान, अनुसंधान और तथाकथित सर्वतोमुखी विकास पर है और मुख्य रूप से उनके अनुशासियों पर है। यह शब्दब्रह्म और अर्थब्रह्म दोनों का अनादर और अपमान है। शब्दवत्त्व की रक्षा के लिए अर्थवत्त्व (सृष्टि) है और अर्थवत्त्व की रक्षा के लिए

^१ स्वच्छन्दी तु बी धर्मो प्रतिपद्ये स्वविक्रमी ।

अर्थवत्त्व एव चातिरक्षता व्यक्तव्यं स्यात् ॥

(अन्य १ पृष्ठ १८)

शब्दतत्त्व है। दोनों का समन्वय करना विज्ञान ही ज्ञान और विज्ञान है। यही शब्दवाद है, यही लघुवाद है, यही शब्दवादेय है यही शब्दवाद है, यही शब्दवाद है, यही शब्दवाद है, यही शब्दवाद है और यही शब्दविज्ञान है।

कृतकता-प्रकाशन—शब्द-ब्रह्म एवं शब्दवादेय के स्वरूप की स्वीकार करने पर कृतकता-प्रकाशन एवं शब्दवाद वैसा प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि शब्दवाद देने वाला कौन और शब्दवाद देने वाला कौन ! वहाँ तक देत कुछ है वहाँ तक प्रज्ञान, अविद्या और तमोगुण का प्रसार है। माया का आवरण है। अज्ञानावरण का कृतकता प्रकाशन वहाँ तक तत्त्व है, वह विचारणीय है। अज्ञान-बुद्धि होने पर कृतकता प्रकाशन अज्ञान-सा प्रतीत होता है। पाश्चिमी पद्धति आदि आचार्यों का मतव्य है कि लोक में लौकिक शिक्षाचार का परिष्कार नहीं करना चाहिए, अतएव अमित्र में शिक्षाचार की रक्षा-वैद्य विज्ञान की बौद्ध कल्पना करके शब्दवाद देने का साहस करवा है।

सर्वप्रथम शब्दब्रह्म (शब्दतत्त्व, प्रतिमा) का कृतक है, जिसकी कृपा से अशब्दत्व का विकास हुआ है और जिसकी कृपा रहस्वात्मक-रूप में प्रारम्भ से अश्व तक सर्वथा इत कार्य में बनी रही है।

वैदिक ऋषि मुनिवो से लेकर आज तक के जितने भी शब्दशास्त्री हैं, पद्धति के शब्दों में 'वागुपोमविद्' हैं, जिन्होंने शब्दतत्त्व और अशब्दत्व का विवेचन करके वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् दर्शन व्याकरण, शास्त्र, एवं ज्ञान और विज्ञान की विभिन्न शाखाओं को जन्म दिया है और जिनके प्रकरणों या प्रकाशस्तम्भों से प्रकाश पाया है, उन सभी प्राचीन और आर्वाचीन, भारतीय और वैदेशिक शब्दशास्त्रियों का कारर कृतक है।

प्रस्तुत निबन्ध में अशब्दत्व का बीज भी डा. बाबूराम सन्तेना, (अथर्व उक्त्य विभाग, प्रकाश विभागाध्यक्ष) ने रखा है, भी पंडित गोपीनाथ कविराज (बनारस) ने शब्दत्व के बारे में उठको ठिक किया है और भी डा. विवेकर बर्मा (मागपुर) ने शब्दत्व और अशब्दत्व को समझ करके स्वनामानुसूल कार्तिककार कात्यायन के (विश्व शब्दार्थसम्बन्ध) की विधि की है, अतः शब्दशास्त्र की शिष्टतरी का विशेष कृतक है।

आज ही जिन महाशुभाओं से इत निबन्ध के विषय में विशेष आशीर्वाद, प्रोत्साहन, उत्साह एवं आभार्यक विचार प्राप्त हुए हैं उनका विशेष आभारी हूँ। उनमें विशेष उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं :—

भी डा० राधाकृष्णन्, भी डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, भी प० गोविन्दबल्लभ पन्त (प्रधानमंत्री यू पी०), भी डा० सम्पूर्णानन्द (शिक्षामंत्री यू पी०), भी डा० आचार्य नरेन्द्रदेव भी पुरुषोत्तमदास टंडन, भी प्रो० हार्द रेणु (प्रो० संस्कृत विभाग, पेरिस), भी प्रो० मार्सेन स्टाहन (अथर्व, संस्कृत विभाग, कोलको, नारें विश्वविद्यालय), भी डा० प्रहलदकुमार आचार्य, भी डा० तमेशमिष, भी प० सेवेरायन्त्र चहोपाप्याय, भी डा० बीरेन्द्र वर्मा, भी एच० मिट्टूलाज शास्त्री, भी डा० बाबुरामचरण अग्रवाल, भी

महापंडित राहुल सांकृत्यायन, श्री प्रो. सत्यानारायण (भू. पू. हाईकमिशनर वेस्ट इंडीज), श्री डा० मंगलदेव शास्त्री, श्री डा० एर्वेकान्त (पूर्वी पंजाब विश्वविद्यालय) श्री डा. रामकुमार वर्मा, श्री डा. उदयनारायण तिवारी, श्री डा. माताप्रसाद गुप्त श्री आचार्य रघुबीर (नागपुर), श्री आचार्य विश्वकण्ठ (होशियारपुर), श्री आचार्य हरिदत्त शास्त्री सप्ततीर्थ, श्री आचार्य सुरेन्द्रनाथ दीक्षित (मुम्बईपुर), श्री स्वामीजी माधव बकील, (काशी), श्री डा. शिवानन्द (रामगढ़, नैनीताल), श्री बा. केरारनाथ गुप्त, राँच (प्रयाग) ।

- श्री रूपनारायण शास्त्री (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) ने निबन्ध की आवश्यकता सामग्री के संकलन और सम्पादन में विशेष सहयोग प्रदान किया है। मूक बेलने, अनुक्रमणी के सम्पादन-आदि का कार्य बड़े प्रयत्नपूर्वक उन्होंने किया है। तदय उनका कृतज्ञ हूँ। ।

इनके अतिरिक्त कतिपय ने महान् और दिग्गज आत्मार्य भी हैं किन्तु कि मीथिक शरीर सम्पत्ति हमारे मध्य में नहीं है और किन्तु बरबहस्त तथा मेरे ऊपर रहा है, उनका विरश्चयी हूँ।

माखीन साहित्य की उन्नति में हिन्दुस्तानी एकेडेमी (प्रयाग) का विशेष स्थान है। प्रस्तुत निबन्ध को हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित कराने का कार्य श्री डा. पीरेन्द्र श्री वर्मा (मंत्री, हिन्दुस्तानी एकेडेमी) को है। श्री रामचन्द्र श्री उंडन (उहा मंत्री हिन्दुस्तानी एकेडेमी) ने पुस्तक के प्रकाशन एवं किसी प्रकार का विलम्ब न होने देने में अत्यन्त प्रयत्नपूर्ण कार्य किया है। मैं उक्त दोनों महानुभावों का अत्यन्त ही कृतज्ञ हूँ।

प्रयाग विश्वविद्यालय ने इस निबन्ध को छापवाने की जो स्वीकृति दी है, उसके लिए मातृ-संस्था का धार कृतज्ञ हूँ।

। उपसंहार—मीमांसा दर्शन में वैश्वानर मुनि का कथन है कि 'पुरश्चरन कर्मापत्तीत्' (मीमांसा दर्शन ३, १६) पुण्य कर्म करने के लिए है। निष्काम कर्म ही उच्चतम अतिशुद्ध उद्देश्य होना चाहिए, उही उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर अपने अन्दर अयोम्यता, अहंता और दुर्बल के दोषों को दूर भी इस विषय पर लक्ष्मी उठाने की धृष्टता की है। आशा है विवेकवान् 'वाक्तादपि सुमायितम्' उक्ति के अनुसार अथगुणों और अज्ञान के कारण बुद्धियों पर ध्यान न देकर गुणों पर ध्यान देंगे। विद्वत्त्व एव विषय पर जो आवश्यक संशोधन एवं सुधार आदि के विचार प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे, उनका मैं विशेष कृतज्ञ रहूँगा। आगामी संस्करण में तदनुसार ही परिवर्तन, परिवर्तन आदि किया जा सकेगा।

२ जीव अस्पृश है, अस्पृश ही अस्पृश ही है। उही अस्पृशता को दूर करने के लिए

शब्द-श्रेय का आभय पारवा है । कुमारिल मठ के शब्दों में अन्त में यही निवेदन करना है कि :—

तद् विद्वांसोऽनुग्रह्यन्तु वित्तभोजैः प्रसादिभिः ।
तन्तः प्रत्यपिवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनल्पतः ॥
आममप्रत्यक्षार्हं नापवाप्यः स्वस्त्यपि ।
न हि सद्दर्शना गच्छन् स्वस्तितेष्वप्यपोद्यते ॥

(श्लोकवार्तिक, प्रत्यकार-प्रतिष्ठा श्लोक १ और ७) ।



विषय-सूची

(सूचना—विषय-सूची में अंकों की संख्या पृष्ठ-संख्या है।)

एक शब्द

निबन्ध का विषय १, निबन्ध में मौलिकता २, अर्थवत्त्व के विवेचन का प्रारम्भ ३, व्याकरण-दर्शन और अर्थ-विवेचन ४, मनुस्मृति और अर्थविज्ञान ५, पतञ्जलि का महाभाष्य ६, राक्षस और व्याकरण-दर्शन ७, पुष्पराज और ऐश्वर्या ८, कैपट, महोर्षि, नागेश आदि ८, वैवाकरणो का दृष्टिकोण ९, इतरता प्रकाशन ११, उपसंहार १२।

अध्याय १

भूमिका

अर्थविज्ञान की समस्त विज्ञानों से अभिन्नता १, निबन्ध का भावकरण १, व्यास, कुमारिलमठ, वैकट याचक और महात्मनि का अर्थविज्ञान शब्द १ अर्थविज्ञान क्या है १, अर्थ का स्वरूप प्रतिमा १, प्रतिमा का नाम स्त्रोत्र ४, एक महान् अर्थ, एक महान् अर्थ (अज्ञान) ४, प्रतिमा के ही अर्थक नाम ४, विचार और अर्थ का मूल अज्ञान और अर्थ ५, आचार्य पाणिनि का विवेचन ६, तीन कृतिर्था ६, पाँच कृतिर्था ७, तीन कृतिर्था का स्पष्टीकरण ८, वैवाकरणो का अभिप्राय ८, समन्वय की स्थापना ९, शब्दार्थ के समन्वय की अनिवार्यता ९, वाक्यत्व के मूल में समन्वय १, तीन तत्त्वों की दृष्टि में स्थिति १२, स्त्रोत्र सिद्धांत की विविध व्याख्या १३, पदार्थ से पृथक् प्रतिमा का अस्तित्व १४, वाक्य का स्वतन्त्र अस्तित्व १५, प्रतिमा के दो रूप, स्त्रोत्र और पदार्थ १६, अर्थ के दो रूप माहृत और वेदृत १७।

अर्थ-विज्ञान की आवश्यकता और उपयोगिता १८, अर्थ-अर्थ की अनिवार्यता १८, अर्थ-अर्थ और अर्थ-विधि १९, प्रतिमा का तात्पर्य १९ अर्थ-विज्ञान और अर्थ-वत्त्व २, अर्थ-विज्ञान के बिना मनुस्मृति २०, अर्थ-अर्थ और आत्म-अर्थ २१, अर्थ-अर्थ और अर्थ-वत्त्व २१, अर्थ-निबन्ध और अर्थ-विधि-अर्थ-विज्ञान २२, प्रतिमा की प्राप्ति और

शैवसिद्धि २१, व्याकरण का स्वस्व २१, सत्य और असत्य का व्याकरण अर्थात् विवेचन २१, व्याकरण अक्षरतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व का विवेचन २४ ।

वेद और अर्थविज्ञान २४, निरुक्त और वाक्यत्व का विवेचन २४, पो० छईछ और शृंगेर का एक महत्त्वपूर्ण सूक्त २३, वाक्यत्व समस्त तत्त्वों का बारक है २३, समस्तत्व आदि का पोटक वाक्यत्व २५, वाक्यत्व राष्ट्रनिर्मात्री सृष्टि २५ वाक्यत्व पर अक्षिराज से विनाश २६, प्रतिमा की सिद्धि से ब्रह्मतत्त्व और श्रुतित्व २६, वाक्यत्व की सर्वभ्यापकता २६, वाक्यत्व से विरव का उद्भव २६, वाक्यत्व से विरव की सृष्टि २७, प्रतिमा से सृष्टि का विकास २७, ब्रह्म और वाक्यत्व की समामता २८, अक्षेत्रनों में भी वाक्यत्व २८, आधुनिक विज्ञान और प्रतिमा-तत्त्व २८, वाक् कामधेनु है २८, एक सम्प्रत्यय के ही रूप आदि अनेकों नाम १, वाक् और वाक्यत्व की सर्वभ्यापकता १, यजुर्वेद और ब्रह्मतत्त्व ११, उपनिषद् में अद्वैत की पुष्टि १२, प्रतिमा के ही अनेकों नाम १२, मनु और अद्वैततत्त्व १३, वैश्वकरण और अक्षरतत्त्व १३, विद्या और अविद्या का समन्वय १३ अविद्या ही विद्या की प्राप्ति का साधन १४, वाक्यत्व और महादेव १५, मनु हरि के अनुसार व्याख्या १५, वाक् के अनुसार व्याख्या १५, पद और पशुपति के बारक १६ वाक् के अनुसार व्याख्या १६, बैलरी आदि चार वाक्धियाँ १७, पतञ्जलि और महम्मदाचार्यो का कथन १८, बैलरी आदि वाक्धियों का स्पष्टीकरण १८, वाक्यत्व और पुत्र्यतत्त्व ४१, वाक्यत्व-ज्ञान और परमत्व ज्ञान ४१, अर्थज्ञान के विना निष्कलता ४१ अक्षरतत्त्व से वाक्यत्व का विकास ४२ वाक्यत्व की अमरता ४२, वाक्यत्व का आचार ब्रह्म ४३, वाक्यत्व और मायाविज्ञान ४३, अक्षरतत्त्व और वातवाक्धियाँ ४३, वाक्यत्व और राष्ट्रमन्त्र-मन्त्रि-४४, व्याकरण और अद्वैतदर्शन ४४, अर्थज्ञान और सम्प्रत्यय ४५, सम्प्रत्यय की प्रामाणिकता ४६, एक सम्प्रत्यय और रूपसिद्धि ४६, व्याकरण और मावाद्यास का संस्कार ४६, वाक्यत्व से वाक्यत्व का उद्धार ४७, वाक्यत्व और प्रतिमा ४७, वाक्यत्व शयों का संसारक ४८, यजुर्वेद में वाक्यत्व के गुणों का वर्णन ४८, वाक्यत्व निरवकर्म श्रुति है ४८, अर्थवेद और वाक्यत्व का विवेचन ४८, विद्युत् वाक्यत्व है ४८, वाक्यत्व से देवी और आसुरी सृष्टि ४८, वाक्यत्व का विराट् रूप ४९, वाक्यत्व और ब्रह्मसमी ५ ।

ब्राह्मण ग्रंथ और अर्थविज्ञान ५, ब्राह्मण और स्तोत्रवाद ५, सम्प्रत्यय से अर्थतत्त्व का विकास ५१, आधुनिक विज्ञान और स्तोत्रवाद की सिद्धि ५२, स्तोत्र ही सर्वोत्तम शक्ति और प्रकाश है ५२, वाक् मूलकारण है ५३, प्रतिमा ही एक तत्व है, बंधी आत्मा है ५३, सम्प्रत्यय और अर्थ में अनिश्चयता ५४, वाक् कामधेनु है ५४ वाक् ही उत्पत्ती है ५४, वाक् अक्षर तत्त्व है ५५, वाक् ब्रह्म की माया है ५५, वाक् का विराट् रूप ५५, वाक् तत्व ही वेद है ५५, वाक् वैद्युत् तत्व है ५६, वाक् आग्नेय तत्व है ५६, वाक् और मन का गुण ५६, वाक् और प्राण का गुण ५६, वाक्यत्व और मनस्तत्त्व की अनिश्चयता ५७ वाक् ही सर्व-दोष-विनाशक है ५७ ।

उपनिषद् और अर्थविज्ञान ५७, वाक् परम ब्रह्म है ५७, वाक् और वाक्यत्व ५८,

नारद को तनकुमार का वाकूतल-विषयक उपदेश ३८, वाकूतल ही पुत्र का सार ५६, स्मृत्युवाद और पञ्चक्रिय तथा उपसंहार ५६ ।

अध्याय २

शब्द और अर्थ का स्वरूप

शब्दज्ञान की व्यापकता ३१, शब्द-निवृत्तवार और शब्द-परिखामवाद ३१, शब्दज्ञान और सृष्टि ३१, परब्रह्म और शब्दज्ञान ३५, मनु हरि और नागेश में मतभेद ३५ शब्द ही सत्ता को एक रूप में बाँधे हुए है ३५, शब्द की व्यवहारयोगिता ३५, शब्द की विविध स्थिति ३६ अर्थ का आकार शब्द ३६, विश्व की शब्दरूपता का स्पष्टीकरण ३६, ज्ञान की शब्दरूपता ३७, शब्द और अर्थ की एकरूपता ३७, शब्द और अर्थ का प्रकारन प्रकारक संबंध ३८ शब्द की प्रकाररूपता ३८, शब्दमूलक समस्तज्ञान ३६, शब्द की सैव्यरूपता ३६, शब्दशक्ति से अस्वर्य का बोध ७, शब्द का स्वरूप और अर्थ का विकास ७, शब्दज्ञान व्याकरण द्वारा ७१, शब्द अर्थ है । परब्रह्म का मत ७१ स्मृत्यु और ज्ञान शब्द है ७१, स्मृत्यु और ज्ञान में अन्तर ७२, शब्द-विषयक मतभेद ७१ शिवाकायों का मत ७१ जैनो का मत ७५, पण्डित का मत ७५, मनु हरि का मत ७५, अर्थ का सत्य ७६, अर्थ का स्वरूप ७७, परब्रह्म का मत ७७, अर्थ शब्द से अन्तर ७७, दो प्रकार का अर्थ, स्वरूप और वाह ७७, अर्थज्ञान शब्द के द्वारा ७८ अर्थ का प्रकार का अर्थ ७८, अर्थ-नित्यता पर विचार ७८, अर्थ की परिवर्तनशीलता और अनिश्चितता ८१, अर्थ बौद्ध है ८२, मनु हरि का विवेचन ८२, अर्थ के विषय में बारह मत ८२, अर्थ निराकार है ८१, अर्थ साकार है ८१, अर्थ की अपूर्वता ८५, अर्थ आकार का भी बोधक ८५, समुदाय (अपययी) अर्थ है ८५, अर्थ असाय (अनित्य) है ८५, अर्थ संतर्क-रूप है ८५, अर्थ अस्तवामाव सत्य है ८५, अर्थ अस्वभाव रूप है, शब्द और अर्थ में अन्तर ८५, अर्थ की प्रधानता ८६, अर्थ अस्वच्छिमान् है ८७, अर्थ परिवर्तनशील है ८७ अर्थ सर्वशक्तिमान् है ८७, अर्थ बौद्ध है ८८, अर्थ बौद्ध और वाह दोनों है ८८, अर्थ अनिश्चित है ८८, अर्थ अज्ञान की तुल्य के अनुरूप ८८ ज्ञान के अनुरूप ही अर्थ भी परिवर्तनशील है ८८, अर्थ अज्ञान के परिवर्तन का कारण मानवीय अपूर्वता ८७, अर्थ ब्रह्मा की इच्छा के अनुरूप ८, शब्द अर्थ का कबल संबंध करता है ८, अर्थ अनुरूप ब्रह्मा की इच्छा के अनुरूप ८, अर्थ तीन प्रकार का है ८२ अर्थ अठारह प्रकार का है; पुष्पराम का विवेचन ८१, अग्नेय और रिचार्ड्स का विवेचन ८७ ।

अध्याय ३

अर्थविकास

अर्थ विकास के कारण ८८, अर्थ की परिवर्तनशीलता ८८, अर्थ विकास के तीन स

स्वरूप १६, तीनो स्वरूपों का विवेचन, १ , अर्थ-संकोच १००, अर्थ-विस्तार १०५, अर्थविश १०६, अर्थ की अनुमयजन्यता १ ६, अर्थ अनिश्चित और अपूर्ण १११, शब्द बोध और अर्थ-विकास ११२ ।

अर्थ व्यवहारिक है, वैज्ञानिक नहीं ११३, अर्थ की असपष्टता और अर्थ-विकास ११६, शब्दरूप और अर्थविकास ११७, शब्दार्थ और अर्थविकास ११७, साहचर्य और अर्थ विकास १२ , सांस्कृतिक-विकास और अर्थविकास १२१, मानवसुखमस्वजन और अर्थविकास १२५ आलंकारिक तथा व्यंग्य प्रयोग और अर्थविकास १२७, प्रकरणभेद आदि से अर्थभेद १२७, समास से अर्थभेद १२६, उपसर्गसंयोग से अर्थभेद ११ वाच्यभेद से अर्थभेद १२१, लिंगभेद से अर्थभेद १२२ स्वरभेद से अर्थभेद १२२, अर्थ की असपष्टता और अर्थभेद १२५, आगम आदि से अर्थ में अर्थ १२५, ।

अध्याय ४

अर्थ-निर्याय के साधन

परायो को नाम कैसे दिए जाते हैं ? १२६, नामकरण के नियम में भेद और भ्रुति आदि का मत १२६, नामकरण का महत्त्व १२६, कार्य के अनुरूप नाम १२७, एक अर्थ के लिए अनेक नाम १२७, एक के अनेक नाम १२७, यौगिक नाम १२८, नाम प्रवाह से आते हैं, ध्वन्यनुकारवात्मक नाम १२८, नवशब्दनिर्माण के लिए पूर्वसंचित सामग्री का आश्रय १२८ ।

नामकरण के नियम में वाक् का विद्वान्त १२८, नाम का लक्षण १२८, शब्द से नामकरण में साधन १२६, छव नाम आश्रय हैं १२६, वाक् के विद्वान्त पर कुछ आश्रय १४ , आश्रयों का उल्लेख १४ ।

नामकरण के नियम में नैयाकरणों का मत १४१, आप्तार्थ उदाहरण १४१, नामकरण में शब्द का महत्त्व १४२, मनुहरि के कुछ महत्त्वपूर्ण विचार १४२ नये भाषों के नाम कैसे पड़ते हैं १४५, व्यक्तियों के नामों पर एक दृष्टि १४६, चार प्रकार की संज्ञाएँ १४६, व्यक्तियों के नामकरण पर पाणिनि के विचार १४६ वैयक्तिक नामों की तात्पर्यता १४८, भाषों के नामकरण पर पाणिनि के महत्त्वपूर्ण विचार १४८, नये शब्दों का आगमन १५ , अनुपयोगी शब्दों का अपयोग १५१, अर्थ-निर्याय के साधन १५२ ।

अध्याय ५

शब्द और अर्थ का सम्यन्ध

पठकृति का मत १६ , व्याडि का मत १६० मनुहरि का मत १६१, लोकव्यवहार १६२, बुद्धव्यवहार १६२ सम्यन्ध निमासक है १६३ शब्दबोध में तीन तत्त्वों की उदा १६३, सम्यन्ध स्वभावविधि है १६३, शब्द के स्वरूपों की उपलब्धि १६४, शब्दार्थ में तात्पर्य-बुद्धि १६४, अर्थ की शब्दरूपता १६४, पंथी विमलि का प्रयोग १६५,

आतोरदेश १९६, राज्य से अर्थ की उपरिबन्धि १९६, सम्बन्ध का स्वरूप १९७, उपकार्य
उपकारक-सम्बन्ध १९७, संयोग और समवाय सम्बन्ध नहीं १९७, उपकार के सम्बन्ध;
योग्यता और कार्यकारण १९७, योग्यता-सम्बन्ध १९८, राज्यज्ञान और इन्द्रियसम्बन्धज्ञान
में अन्तर १९८, योग्यता-सम्बन्ध में संकेत का स्थान १९८, पाठशाला माध्यम की सम्मति
१७, महात्मा और कौयडमह के मत का खंडन १७, सम्बन्ध ही शक्ति है १७१,
उप-अर्थ और सम्बन्ध तीनों का पूषक अस्तित्व १७१, आद्येयों का उत्तर अन्वय के
दाय १७२, पञ्चसिद्धि का मत १७२ आधुनिक विचारकों की सम्मति १७२, कार्यकारण
जम्बन्ध १७३ अर्थ का आदान-प्रदान १७३, सामान्य का बोध १७४ बोधा वक्ता के
मात्र का अनुमान करता है १७४।

शब्दार्थ-सम्बन्ध और बुद्धिवाद १७५, पञ्चसिद्धि का मत १७५, अर्थ वास्तव और
बौद्ध दोनों ही १७५, बौद्ध अर्थ मानने की आवश्यकता १७६ अर्थ की नैतिक सत्ता
१७६, कैबट का स्पष्टीकरण १७७, अर्थ बौद्ध है १७८, वास्तव अर्थ मानने पर आक्षेप
१७८, मनु हरि और बौद्ध अर्थ १७८, मनु हरि का सम्बन्धवाद १७८, वास्तव अर्थ मानने
में आपत्तियाँ १८१, नागेश का नेपथ्य बुद्धिवाद १८२ नागेश के मत की आलोचना
१८१, मनु हरि और वास्तव अर्थ १८५, हरव और अन्तर अर्थ १८५, बौद्ध अर्थ के
लिए वास्तव अर्थ की आवश्यकता १८५, अग्रप्रवृत्ति की मनोवैज्ञानिक पद्धति १८६,
विभिन्न दर्शनों के सम्बन्ध-विषयक विचार १८६।

नैतिक और वैशेषिकों का शब्दार्थ-सम्बन्ध पर विचार १८७ नैतिक और
वैशेषिकों में मतभेद १८७, शब्दार्थ-सम्बन्ध मानने पर आक्षेप १८८, संयोग और
समवाय सम्बन्ध समभव नहीं है १८८, पूष भविष्य आदि से सम्बन्ध नहीं हो सकता
१८८, तात्त्विक वस्तु की उपरिबन्धि नहीं होती १८८, अर्थ एक ही निश्चित नहीं है
१८९, वास्तव वस्तु ही नहीं सम्बन्ध किससे ? १८९।

शब्दार्थ-सम्बन्ध और संकेतवाद १८९, राज्य और अर्थ में तात्त्विक-सम्बन्ध १८९,
अपस्तम्ब का विवेचन १८९ आद्येयों के उत्तर १८९ आधुनिक विद्वानों का
मत १८५।

शब्दार्थ-सम्बन्ध पर मीमांसकों के विचार १८५, राज्य और अर्थ में शक्तिरूप सम्बन्ध
१८५, बौद्धों द्वारा प्रवृत्ति का खण्डन अन्वयव्यवहारिक है १८८; शब्दार्थ-सम्बन्ध और
निरवधार १८८ बौद्ध दाय निष्ठा का मत १८८, तात्त्विकों का मत २, सम्बन्ध सामयिक
नहीं है २ २।

निरवधार का स्पष्टीकरण २ २ पञ्चसिद्धि आदि के विचार २ २, राज्य और अर्थ
की अविद्यता २ २, सम्बन्ध की नित्यता २ ३, संकेत से सम्बन्ध का ज्ञान २ ३,
द्रव्यरूप अर्थ से नित्य सम्बन्ध २ ४, जातिरूप अर्थ से नित्य सम्बन्ध २ ४, व्यक्तिरूप
अर्थ से सम्बन्ध निरव २ ४, अर्थविज्ञान की दृष्टि से विचार २ ७ तर्कार्थवाचकता २ ८,
निरवधार का दार्शनिक रूप २ ६।

५ बौद्ध दार्शनिकों का अणुहवाद २११, अणुहवाद का इतिहास २१, अणुहवाद का स्वरूप २११, परमकीर्ति का विचार २११, स्वकीर्ति का विशिष्टाणुहवाद २११, कुमारिल का मत २११, मनु हरि का विवेचन २१४ ।

अध्याय ६

शब्द-शक्ति

शब्द की उपयोगिता २१६, अर्थज्ञान के साधन २१६, लोकम्बवहार २१६, वृत्तिज्ञान से अर्थज्ञान २१७, शक्तिग्रह के आठ साधन २१७, लोकम्बवहार २१७, व्याकरण २१८, उपमान २१८, कोर २१, आतवाक्य २१, वाक्यरूप (प्रकरण) २११, निबन्ध २११, आतपर का तात्पर्य २११ ।

अर्थज्ञान में विन्न २११, शब्द-शक्ति का अज्ञान २११, अर्थ की अनुपलब्धि के ३ कारण २११, शब्द के उच्चारण से अर्थबोध नहीं होता २११, उच्चारित शब्द की अर्थबोधकता २१४, स्मृति की अर्थबोधकता २१४, अमिनय की अर्थबोधकता २१४, अर्थज्ञान प्रतिमा के अनुष्ठान २१६, वाचक शब्द की द्विविधता २१७, शब्द और अर्थ में तादात्म्य २१८, मागेश का विवेचन २१८, पाठश्रुत-भाष्य की सम्मति २१, वाचक शब्द में द्विरुच्यता पर मतभेद २१ शब्द का बुद्धि से सम्बन्ध २११, शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति २११ षट् शब्द से षट् का बोध क्यों नहीं होता २११, अर्थभिव्यक्ति के नियम में भृगुचार्य का मत २११ अर्थ के शुद्धों की स्थिति में उपलब्धि २११, स्थिर नियम और अर्थ है २११ शब्द से शब्द और अर्थ दोनों का बोध २१४ शब्द में प्राकृत्य और प्राकृत्यता २१४ प्रकाशकता २१४, चित्तुक्तार्थ की सम्मति २१४, शब्द और अर्थ में अर्थ की मुख्यता २१४, शब्द अर्थ का उत्पादक नहीं अस्तित्व श पद है २१४, अर्थ का किवाच्यो में उपयोग, शब्द का नहीं २११, तीन वृत्तियाँ २१७ ।

अभिधा-शक्ति का विवेचन २१८, मनु हरि का मत २१८, अभिधा में चार तत्त्व २१८, अभिधा में बद्धा का स्थान २१८, अभिधाशक्ति की स्वतन्त्र सत्ता २४, शब्द भेदवाचियों का मत २४, प्रकरण आदि से अर्थ की प्रतीति २४१ अर्थभेद से शब्दभेद २४१, शक्ति का स्वरूप २४१ नैयायिकों का मत २४१ ईश्वरसंकेत में शक्ति का संज्ञान २४१, शब्दबोध में अर्थ और भेद संकेत २४१, नैयायिकों के मत का संज्ञान २४१ नैयायिकों का मत २४४, पर और परार्थ दोनों में शक्ति है, सम्बन्ध की पूर्ण सत्ता है २४४, शक्ति का लक्षण २४४, चार प्रकार का शब्दार्थ २४४ शब्दशक्ति का वर्ण भक्ति २४४, महत्त्वाशक्त्यो का संज्ञान २४४ परमशक्ति का अर्थवत् तात्त्विक और महत्त्वपूर्ण निरर्थक २४४ तीन प्रकार के शब्दों को चार प्रकार क्यों लिखा २४८, शक्ति के तीन भेद २४८, स्वशक्ति २४८, शैविक वा योगशक्ति २४०, योगशक्ति २४, ,

नैयायिकों का विवेचन २४१, साक्षात् शक्त्यो से शब्दबोध २४१ शब्द शब्द तीन प्रकार का २४१, वाच्य से ही अर्थज्ञान २४१, प्रकृति के दो भेद २४१, नाम का लक्षण २४१,

शब्द चार प्रकार का है २५१, स्वयं शब्द हीन प्रकार का है २५२, नैमित्तिक संज्ञा २५३, पारिभाषिक और औपचारिक संज्ञा २५३, संकेत ही प्रकार का है २५३, मम्मट का विवेचन २५३ शब्द और अर्थ हीन प्रकार का है २५३, नामक का लक्षण २५३ संकेतित अर्थ चार प्रकार का है २५४, उपाधि का विवरण २५४ ग्रन्थ आदि जाति हैं २५४, लक्षणा का विवेचन २५४, लक्षणा का लक्षण २५४, लक्षणा के मूल २५६, लक्षणा के कारण पूर्वजति का मत २५७, गौतममुनि का मत २५८, ध्वंशना का निरूपण २६, नागेश का मत २६ ।

अध्याय ७

पद और पदार्थ

परिभाषा २६९, पद ही प्रकार का है २६९, पद चार प्रकार है २६३, पाठों परिभाषा का स्वरूपनाम और आख्यात २६३ उदाहरण २६४, निपात २६४, पदार्थ विचार २६६ संज्ञाशब्दों का अर्थ २६६ सामान्यमान का बोधक २६६, विशेष वाचको का विशेष अर्थ २६६ मामार्थ के विषय में पक्ष मत् २६७ प्रत्ययों का अर्थ २६८, चार प्रकार के प्रत्यय २६८, दो प्रकार की विभक्तिर्वा २६८, प्रत्यय वाचक और चोत्पन्न २६८, अन्वयव्यतिरेक से अर्थनिर्णय २७, एक शब्द में बर्णों का अर्थ नहीं होता २७, पाठ का अर्थ २७१, क्रिया का स्वरूप २७, लक्ष्मण और अक्ष्मण पाठ २७३, लक्ष्मण का अक्ष्मण होना २७३, मीमांसकों और नैयायिकों का मत २७४, उपसर्ग उचित क्रिया पाठ है २७४, उपसर्गों का अर्थ २७६ उपसर्गों की अनर्थकता का स्पष्टीकरण २७६ नैयायिकों का मत २७७, निपातों का अर्थ २७७, निपात और उपसर्ग में अन्तर २७७, उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय में मूल २७८, निपात चोत्पन्न और वाचक दोनों पदार्थ जाति है वा व्यक्ति २७८, पाश्चिमी का मत २७८ जातिवादी वाक्यान्वय २८, अतिवादी व्याप्ति २८१, सम्भववादी कात्वावय और पठञ्जलि २८१, आक्षेपी का समाधान २८१, भद्र हरि का मत २८४, जाति का स्वरूप २८४, जाति प्रश्न में प्राथम्यत्व है २८४, मम्मट का कवन २८६, जाति प्रकल्प है २८६ जाति लक्ष और व्यक्ति अवयव २८७ जाति महाशया है २८७ संज्ञा और वाद का अर्थ महाशया २८७ वह महाशया ही क्रिया और द्रव्य है २८७, व्यक्ति या द्रव्य का स्वरूप २८८, व्याप्ति के द्रव्यवाद का लक्ष्मीकरण २८८, व्यावहारिक पक्ष २८८, पारम्परिक पक्ष २८८, अवयव व्यापार केवल बोध का साधन २८८ दोष लक्ष मही है २८८, द्रव्य अनिर्बचनीय है २८८ मीमांसकों का मत २८९, जातिवादी जैमिनि का मत २८९ जातिव्यतिजारी कुमारिलमठ २८९ अर्थोपपत्ति से अन्वयान का लक्षण २८९ प्रत्येक ज्ञान व्यावर्ण और अनुवृत्त्यात्मक २८४ द्विविधान का लक्षण २८४, जातिव्यतिजारी प्रमाकरण का मत २८४, जातिव्यतिजारी भीकर का मत २८६, जातिव्यतिजारी मन्वनाचार्य का मत २८६, नैयायिकों का मत २८६, गरापर मठ २८६ अन्वयमठ २८७।

वाक्य और वाक्यार्थ

आठ प्रकार के वाक्य शब्द ११६, विषय का स्वप्तीकरण १ ०, वाक्य का लक्षण १, कात्यायन और पठञ्जलि १ पाणिनि का मत १ १, पठञ्जलि का मत १ १, कात्यायन का मत १ ३, नैयायिकों का मत १०३, तद्विहितों का मत १ ४, अमरतिह का मत १ ५ ।

अथर्ववेद का वाक्यार्थविशेषण १ ५, वाक्यार्थ के विषय में विभिन्न मत १ ६, वाक्य और वाक्यार्थ के विषय में मनुस्मृति का मत १ ७, वाक्य के आठ लक्षण १ ७ अस्मादि का निराकरण १ ७ वाक्य के विषय में मीमांसकों का मत १ ७, अक्षय्य पद और लब्ध पद १ ८, आठ लक्षणों का विमांसक १ ८, वाक्यार्थ ३ प्रकार का है १ ९, ३ प्रकार का वाक्यार्थ १ ९, वाक्यार्थ की संख्या में म्युता का परिहार १ ९ वाक्य और वाक्यार्थ के विषय में बौद्धों का मत ११, नैयायिकों का मत ११, वाक्य और वाक्यार्थ का सम्बन्ध १११, विभिन्न मत १११, वाक्यल्लोप और परल्लोप के प्रश्न का मूल १११, शैलीय संज्ञिता और श्रद्ध्यातिशायक के बचन १११, पाणिनि का मत १११ ।

अक्षय्यपद और वाक्य के लक्षण ११३, ल्लोप का अर्थ ११३, ल्लोप के तीन भेद ११३, अक्षय्यपद का भाव ११३, वाक्य एक और अलक्ष्य है ११३ विज्ञान अलक्ष्य है ११३ विज्ञ एक है ११३, वाक्य में पद कल्पित हैं ११४ वाक्यार्थ अक्षय्य है ११४, वाक्यार्थ में परार्थ का अभाव ११४ ।

वाक्य एक और अक्षय्य शब्द है ११५, परसमूह में रहने वाली वाचि का वाक्य कहते हैं ११५, वाक्य एक अक्षय्य शब्द है ११५, परसमूहगत वाचि वाक्य है ११५, शक्तिभेद से पदभेद ११६, निश्च और उपाधिभेद से भेद ११६, अनिश्च में क्रम नहीं हो सकता ११७, वाचिना बुद्धि से भिन्न है या अभिन्न ११७ वाक्य का वाक्यार्थ रूप में विवर्त ११७ ।

बुद्धिगत सम्बन्धन को वाक्य कहते हैं ११८, शानरूप शब्द का प्रकाश वाक्य ११८, वाक्यार्थ बुद्धि में रहता है ११८, वाक्य और वाक्यार्थ में अभिन्नता ११८ परसमूह को वाक्य कहते हैं ११९, कात्यायन और मीमांसकों के लक्षण में अन्तर ११९, एक वाक्य में एक तिष्ठत पर ११९, सम्बन्धन भी वाक्य का अङ्ग होता है ११९ एक वाक्य में अनेकों क्रियाएँ भी रहती हैं १२ मनुस्मृति का वाक्य का लक्षण १२ बिना क्रिया के भी वाक्य होते हैं १२१, वाक्य में क्रिया-भूति १२१ वाक्य भी महावाक्य का अर्थ १२१ ।

पदों के क्रमविशेष को वाक्य कहते हैं १२२, क्रमपद का अविभाज्य १२२, परविश्याच की उपबोधिगा १२३, क्रम क्या है १२३, वाक्य और पद कैसे कहते हैं १२४, अर्थ

और पद शब्द नहीं हैं ३२४, क्रियावाचक शब्द को वाक्य कहते हैं ३२४, एक क्रियापद भी वाक्य होता है ३२४, आकांक्षा से मुक्त प्रथम-दृष्टकू सारे पदों को वाक्य कहते हैं ३२४, प्रत्येक शब्द में वाक्य की शक्ति है ३२४, पदार्थ वाक्यार्थ है ३२४ स्वप्तीकरण के लिए शब्द पदों का प्रयोग ३२४।

वाक्यार्थ विचार ३२७, अमिहितान्वय और अन्वितामिधान पद का स्वप्तीकरण ३२७, अमिहितान्वय और अन्वितामिधान ३२७, मीमांसकों की दो शाक्तार्थ ३२८, अमिहितान्वयवाकियों का मत ३२८, अन्वितामिधानपद मानने में कठिनाई नहीं ३२८, प्रथम पदों का प्रयोग निरर्थक होगा ३२६ पद का अर्थ मानने पर अमिहितान्वय ३२८, वाक्य का अर्थ संवर्ग (मेल) है ३३ संवर्ग वाक्यार्थ है ३३, संवर्ग वाक्यार्थ है ३३, संवर्गवाद में दो मत ३३, संवर्ग के कारण निराकांक्ष होते हुए भी विरोध में अवस्थित पदार्थ वाक्यार्थ है ३३१, संवर्गवाद में निराकांक्षवाद ३३१, पदार्थ ही वाक्यार्थ है ३३१, दोना पक्षों में अन्तर ३३१, वाक्यार्थ सम्बन्ध का स्वरूप ३३२, संघात और क्रमपद का मातार्थ ३३२ प्रयोगन वाक्य का अर्थ है ३३३, कैमिनि का मत ३३३, नैयायिकों का मत ३३४, प्रयोगन वाक्यार्थ है ३३४, शब्दार्थ और वाक्यार्थ का लंघन ३३४, अमिहितान्वयवाद की अवधारणा ३३४, शब्दार्थ और वाक्यार्थ निराकार मानना पड़ेगा ३३४, वाक्य से ही वाक्यार्थज्ञान ३३४, नैयायिकों का मत ३३४, अन्वितामिधान पद ३३४, संसृष्ट अर्थ को वाक्यार्थ कहते हैं ३३४, क्रिया और कारक का अन्विष्ट सम्बन्ध ३३७, क्रिया प्रधान है और कारक गौण ३३७ नैयायिकों का मत ३३८।

वाक्य का अर्थ क्रिया है ३३८, वाक्य में क्रिया मूलतत्त्व है ३३८, क्रियाधीन वाक्य नहीं होता है ३४, क्रिया की वाक्य में प्रधानता ३४, क्रिया वाक्यार्थ है ३४०, प्रतिभा का दरयस्व क्रिया है ३४, वाक्य का अर्थ भावना है ३४१, मीमांसकों का मत ३४१, भावना के विषय में मतभेद ३४१, वाक्यार्थ भावना है ३४२।

अन्वितामिधानपद का लंघन ३४२, पदों को निरर्थक मानना पड़ेगा ३४२, पद और पर्यं की किञ्चि नहीं होगी ३४३, पदार्थ से विन्म वाक्यार्थ ३४४, स्वर्गार्थ में पदार्थ का अभाव ३४४।

वाक्य का अर्थ प्रतिभा है ३४४, भावनाभेद से अयमेव ३४४, वाक्यार्थ प्रतिभा है ३४४, प्रतिभा स्वामात्रिक होती है, वाक्य से प्रतिभा का प्रसोच ३४४ प्रतिभा सारे क्लो वाली है ३४४, प्रतिभा स्वभावच्छिद है ३४७, प्रतिभा का मूलकारण शब्द है ३४७, प्रतिभा ४ प्रकार की होती है ३४७, प्रतिभा का मातार्थ ३४७।

अध्याय ६ स्फोटवाद और अर्थविज्ञान

स्फोटवाद का मारम्भ ३४८, स्फोटवादन अर्थ से मारम्भ ३४८, पाणिनि का मत

सहायक ग्रन्थ

प्रमुख सहायक-ग्रन्थों के नाम

वैदिक साहित्य

- १ ऋग्वेद
- २ यजुर्वेद
- ३ सामवेद
- ४ अथर्ववेद
५. तैत्तिरीयसंहिता
- ६ मैत्रायणीसंहिता
- ७ काठकसंहिता
- ८ ऋग्वेद भाष्य—वेङ्कट भाष्य
९. ऋग्वेद भाष्य—तायण
- १ ऋग्वेद-भाष्य और यजुर्वेद भाष्य—स्वामी स्वामिन्य
- ११ देवतसंहिता, चीनो माग, रामोदर छातबलैकर द्वारा तर्पारित
१२. ऐतरेय ब्राह्मण
- १३ कौषीतिकि ब्राह्मण
- १४ बड्विंश ब्राह्मण
१५. तैत्तिरीय ब्राह्मण
- १६ शतपथ ब्राह्मण
- १७ गोपथ ब्राह्मण
१८. ताद्वत्तहाब्राह्मण
१९. क्षिमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
- २ ऐतरेयब्राह्मण
- २१ तैत्तिरीयब्राह्मण
- २२ निषण्ड
- २३ निबन्ध—पास्क
- २४ ब्राम्होम्य उपनिषद्
२५. इहदारस्युक् उपनिषद्

- १९ ईशान्यनीपद् आदि १०८ उपनिषद्
 २० सर्वाङ्गप्रणाली—पद्मपुर शिष्य
 २१ कृद्देवता—शौनक
 २२ शुकप्रतिशासन—शौनक
 २३ शुक्लबहु : प्रतिशासन—काल्याणन
 २४ तैत्तिरीयप्रतिशासन
 २५ अथर्वप्रतिशासन
 २६ सामप्रतिशासन—पुरुषुत्त
 २७ अग्नेदीन प्रतिशासन (पार्वर-सूत्र-वृत्ति)—ठम्बराजराव
 २८ शुकवृत्त
 २९ अग्नेदादिभाष्य भूमिका—स्वामी रवानन्द

व्याकरण

- ३० अष्टाध्यायी—पाणिनि
 ३१ महामाष्य—रठञ्जलि (कैपट की प्रथीय और नायेय की उचोत टीकाएँ)
 ३२ वाक्यप्रदीप, (व्याकरण-वर्तन)—मनु हरि, (बनारस, १६०३) ईशाराय
 पुरुषराय की टीकाएँ
 ४ शम्भुकीस्तुत—महोद्विदीक्षित
 ४१ ग्रीहमनोरमा—
 ४२ सिद्धान्तकीपुत्री—
 ४३ बैवाकरव्यभूषण—
 ४४ काशिका—यामन जगदिस्य
 ४५ म्नास—विनेन्द्र
 ४६ परमंजरी—हरहत्त
 ४७ बैवाकरवसिद्धान्तकपुर्मंजूया—नागेय मह बनारस, १८८५
 ४८ शम्भेन्दुशेखर—
 ४९ पारिभाष्यशेखर—
 ५ स्त्रीवृत्ति—सम्बन्धमिश्र, योपासिका टीका (मद्रास यूनिवर्सिटी १८९१)
 ५१ " — भरत मिश्र
 ५२ स्त्रीवृत्तिस्व्यायमिचार—गणपति शास्त्री द्वाप संपादित, १८९७
 ५३ स्त्रीवृत्तिपिठा—केशव करि
 ५४ स्त्रीवृत्तक—शेषकृष्णकवि
 ५५ स्त्रीवृत्तत्रिका—भीकृष्ण पट्ट
 ५६ स्त्रीवृत्तिरूपरा—द्वापदेव
 ५७ स्त्रीवृत्तवाद—कुम्भ मह
 ५८ परिभाषावृत्ति—वीरदेव

- ३६. भाषावृत्ति—पुरुषोत्तमदेव
- ३७. अन्नवृत्ति—डा लीबिच द्वारा संपादित
- ३८. पाठ्यवृत्ति—माठवृत्ति
- ३९. पाणिनीयवृत्ति—पाणिनि
- ४०. वासिष्ठीवृत्ति—वासिष्ठ
- ४१. कात्यायनीवृत्ति—कात्यायन,
- ४२. शिवा-संग्रह (३३ शिवाग्रमन्त्रों का संग्रह)

दर्शन

- ४३. वेदान्तदर्शन—शांकरमाध्य
- ४४. माम्मी—वाचस्पतिमिश्र
- ४५. लयनलसदस्ताव—भी हर्ष
- ४६. वित्तुली—वित्तुलाचार्य
- ४७. पंचदशी—विद्यारण्य
- ४८. परमार्थतार—आदित्य
- ४९. शांकरवेदान्त—(संगानाथ का अनुवाद)
- ५०. अद्वैतवेदान्त—शांकरमाध्यानुवाद की प्रस्तावना, योगीनाथ कविराज
- ५१. नादकारिका—रामकृष्ण
- ५२. अष्टादश—
- ५३. मीमांसा दर्शन—शांकरमाध्य
- ५४. मीमांसाखोकावर्तिक—कुमारिलमह (पार्थसारथि मिश्र की टीका)
- ५५. तन्त्रवार्तिक—
- ५६. मीमांसामाध्य पर बहती टीका—ममाकर मिश्र
- ५७. सर्वदर्शन-संग्रह—माधव
- ५८. पाणिनीय-दर्शन—माधव
- ५९. ललवित्तु—वाचस्पति
- ६०. योगदर्शन—म्यासमाध्य
- ६१. योगदर्शन—शांकरमाध्य (स्फोट प्रकरण), अष्टाव ४ (अष्टवार साहसरी शीरीज नं ३६, भाग २, पृ ५७७)
- ६२. ललवित्तु—ईश्वरकृष्ण
- ६३. ललवित्तु—अनिक
- ६४. वैशेषिकदर्शन—प्रद्योतपादमाध्य
- ६५. म्यासकन्दली—भीषर
- ६६. म्यासविज्ञान-मुक्तावली—विरवनाथ
- ६७. म्यासदर्शन—भारवापनमाध्य

१९. न्यायवार्तिक—उद्योतकर
 २०. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका—बाधस्वति मिथ
 २१. न्यायमंत्ररी—जयस्तमह
 २२. न्यायकुसुमावलि—उद्ययनाचार्य
 २३. तत्त्वचिन्तामणि—योगेश
 २४. शीघ्रिणि—रघुनाथशिरोमणि
 २५. शब्दशक्तिप्रकाशिका—जगदीशमह
 २६. शब्दसिद्धाद—गदाधरमह
 २७. शक्तिवार—गदाधरमह
 २८. विषयतावाद—
 २९. निमित्तक—गौठममुह
 ३०. मन्त्रिमनिवाह—
 ३१. माध्यमिक कारिका—गामार्जुन
 ३२. प्रमाद्यसमुच्चय—विक्रान्त
 ३३. योगाचारभूमि—अरवि
 ३४. प्रमाद्यवार्तिक—धर्मकीर्ति
 ३५. प्रमाद्यविनिश्चय—
 ३६. न्यायविन्दु—
 ३७. न्यायावतार—छिन्नसेनविवाकर
 ३८. पददर्शनसमुच्चय—हरिमय
 ३९. अष्टराणी—महामरुतक
 ४०. अष्टसहस्री—विद्यानन्द
 ४१. प्रमाद्यनयतत्त्वसौकरासंस्कार—देवचरि
 ४२. न्यायशास्त्ररत्नाकर—
 ४३. स्वाहादमंत्ररी—मन्त्रिमनिवाह
 ४४. प्रमेयकमलम, तद्वत्—प्रमाद्यम्
 ४५. अपोहसिद्धि—रत्नकीर्ति
 ४६. तत्त्वसंग्रह—शान्तरुचि
 ४७. न्यायकशिका—बाधस्वति
 ४८. पदवाक्यरत्नाकर—गदाधरमह
 ४९. शब्दार्थतर्कामृत—जयकृष्ण
 ५०. अयसंग्रह—सौगाक्षिमास्कर
 ५१. भगवद्गीता तथा उक्तके विभिन्न माध्य
 ५२. योगा-रहस्य—बालचरणाकर शिखर
 ५३. भारतीय-दर्शन—बलदेवउपाध्याय
 ५४. दर्शन-विश्वराम—पद्मल लोकास्वामिन

- ११८ सूतसंहिता—(स्कन्दपुराणान्तर्गत)
- ११९. प्रपञ्चसार—शंकराचार्य
- १२० काशीखंड—(स्कन्दपुराणान्तर्गत)

साहित्य

- १३१ नाट्यशास्त्र—भरत
- १३२ महि काव्य—महि
- १३३ काव्यालंकार—मामह
- १३४ काव्यादर्श—दण्डी
- १३५ काव्यालंकारसूत्र—वामन
- १३६ ध्वन्यालोक—अनन्दवर्चन
- १३७ ध्वन्यालोकलोपन—अमिनवगुप्त
- १३८ काव्यमीमांसा—राजराजेश्वर
- १३९ व्यक्ति-विशेष—राजानकमहिममह
- १४० तरस्वतीकण्ठामरस्य—मोक्ष
- १४१ काव्यप्रकाश—मम्मट
- १४२ साहित्यदर्पण—किशोराय
- १४३ कुसुमदानन्द—अम्बवतीक्षिप
- १४४ रत्नमाला—जगन्नाथ
- १४५ वाल्मीकि रामायण—वाल्मीकि
- १४६ महाभारत—स्वात
- १४७ मायवतपुराण
- १४८ विष्णुपुराण

अन्य

- १४९. कौटिल्य अर्थशास्त्र—चाणक्य
- १५० व्याकरणसंज्ञानिर इतिहास—माय १ (बंगला) भी गुणपद शास्त्रकार
- १५१ वैदिक छन्दसि—रघुनन्दन शर्मा, बम्बई १९८७ वि
- १५२ उपनिषद्—महादेवमहाशार्य
- १५३ नानार्थसंज्ञा—केयवस्वामी
- १५४ मानार्थसंग्रह—अनुन्दोरम बोरोण
- १५५ पाठशाला महामास्य की परतुषी—भीवरयाश्री पाठक, पूना
- १५६ पाणिनि-सूत्रपाठ की परतुषी— " " "
- १५७ वैदिकपुराणसूत्रकोष—विरवण्डु शास्त्री " " "
- १५८ कल्पाद्वैत इ पाणिनि एषड चन्द्र—सीमिठ, १९१८
- १५९ श्रुतवेद-परतुषी—स्वामी विरवण्डुशास्त्र, नित्यानन्द
- १६० पदसंज्ञापरतुषी— " " "

- १६१ रामवेद-पदसूची—स्वामी विश्वेश्वरानन्द निस्वानन्द
 १६२ अथर्ववेद-पदसूची— " " "
 १६३ वैदिककोष—मगधसूत्र, हंसराज
 १६४ पाणिनि—बौद्धिक
 १६५ पाणिनि—मोहडस्टूपूर

इंग्लिश

- १६६ पाणिनि एज ए लोर्स आब इविडयन हिस्ट्री—बासुदेव शरख अथवा
 (पी-एच डी के लिए स्वीकृत अथकाचित निबन्ध)
 १६७ मीनिङ् ऑब् मीनिङ्—आय्वेन रिबाउथ
 १६८ विमिथयस ऑब् हिस्ट्री आब् लैंग्वेज्—इमैन पाउल
 १६९ सीमेन्टिक्स—मिरोल ब्रेझल
 १७० द हिस्ट्री ऑब् वर्ड्—आर्सेन डार्मेस्टेटर
 १७१ द हिस्ट्री आब् मीनिङ्—जे० पी पोस्त्रोट
 १७२ लैंग्वेज एज द स्टडी आब लैंग्वेज—ब्रिडगे
 १७३ द साइन्स ऑब् लैंग्वेज (माग १, २)—रॉल
 १७४ लैंग्वेज—ग्रोयो वेल्सन
 १७५ जिज्ञासकी आब् ग्रामर—ग्रोयो वेल्सन
 १७६ जिज्ञासकी आब् संस्कृत ग्रामर—प्रयातचन्द्र चक्रवर्ती
 १७७ लिङ्गविमिथयस लैंग्वेज्—" "
 १७८ ग्रोयो ऑब् स्पीच एन्ड लैंग्वेज—गाडिनर
 १७९ लोक्वर्त्स आन् द साइन्स ऑब् लैंग्वेज—मैक्समूलर
 १८० बायोलाजिक ऑब् वर्ड्—
 १८१ लोक्वर्त्स आन् द स्टडी ऑब् लैंग्वेज—ग्रोयर्स, १९ २
 १८२ आन् द स्टडी ऑब् वर्ड्—ट्रेन्च
 १८३ एमेसिथिज आब् मीनिङ् इन इविडयन सीमेन्टिक्स—विजेरवर बर्मा
 (जर्मन ऑब् द डिपार्टमेन्ट ऑब् लेटर्स कलकत्ता विश्वविद्यालय
 माग १३, एन् १९२६)
 १८४ एस्से आन् इन्डियन अगडरटैडिय—लॉक
 १८५ इविडयन जिज्ञासकी (माग १, २)—राबाहूप्लेन्ड
 १८६ हिस्ट्री ऑब् इविडयन जिज्ञासकी—(माग १, २)—बालगुप्त
 १८७ हिन्दी सीमेन्टिक्स—इरवेन वाहरी

मूमिका

अर्थ-विज्ञान-प्रत्यय-प्रातिपदिकम् (अष्टा०, १ २, ४५)

अर्थ-विज्ञान की समस्त विज्ञानों से अभिन्नता—वेद ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद्, निरुक्त, प्रातिशाक्य, शिखा तथा समस्त दशानमन्त्रों एवं समस्त साहित्य में जिस एक तत्त्व का विवेचन किया गया है वह अर्थ है। अतएव अर्थ-विज्ञान विषय में भारतीय वैद्याचार्यों ने सृष्टि-तत्त्व के मूलमूल समस्त ज्ञान और विज्ञान का विशाल विवेचन किया है। अर्थ-विज्ञान का किस विज्ञान से सम्बन्ध नहीं है, यह बताना असम्भव है। ध्वनिविज्ञान, स्वरविज्ञान, मनोविज्ञान, भौतिकविज्ञान, अध्यात्मविज्ञान आदि से इसका अभिन्न सम्बन्ध है। अतएव प्रस्तुत विषय स्थूल व्याकरण न होकर मौखिक व्याकरण हो जाता है। अतः इसका समस्त वैदिक साहित्य, समस्त दशानों एवं अन्य समस्त सिद्धांतों से साक्षात् सम्बन्ध है। व्याकरण, दशानों एवं साहित्य के दृष्टिकोण से अग्रिम अध्यायों में विवेचन किया गया है। वेद एवं ब्राह्मणादि ग्रन्थों में इस विषय पर कहां तक और क्या विवेचन हुआ है, इसका संक्षिप्त रूप से यहाँ पर उल्लेख किया जाएगा।

निबन्ध का नामकरण

व्यास, कुमारिल भट्ट, वैश्वदेव माधव और मण्डन मिश्र का अर्थ-विज्ञान शब्द—सृष्टि के मूल में जो मौखिक तत्त्व विद्यमान है, वह ही शब्द, उसका विकास ही अर्थ है। अतः अर्थ-विषयक समस्त विवेचन को अर्थ-विज्ञान (इंग्लिश में Semantics सीमेन्टिक्स) नाम दिया गया है। अर्थ-विज्ञान शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग व्यास, कुमारिल भट्ट, वैश्वदेवमाधव तथा मण्डनमिश्र ने किया है। अर्थ-विज्ञान शब्द का सबसे प्रथम पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग व्यास ने महाभारत के वनपर्व में किया है। व्यास ने युधि के गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है कि युधि के ये गुण हैं—(१) शुभ्र्या अर्थात् शब्द और अर्थ के गुणों की विश्वासा, (२) मन्त्र—अर्थात् शब्द और अर्थ के गुणों एवं स्वरूप का मन्त्र करना (३) मह्य अर्थात् शब्द और अर्थ के स्वरूप और गुणों का ज्ञान प्राप्त करना, (४) धारण अर्थात् शब्द और अर्थ-विषयक प्राप्त हुए ज्ञान की आत्मसात् करना, (५) उहापोह—

अभ्यविज्ञान और व्याकरण दर्शन

- अर्थात् राज्य और अर्थ विषयक अन्वेषण, विरलेपण एवं विवेचन करना
 (६) अर्थ विज्ञान अर्थात् अवतस्व (प्रतिभा) का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना,
 (७) तस्वज्ञान अर्थात् आत्मतस्व, मन्त्रतस्व का ज्ञान प्राप्त करना ।

शुभ्या अवयवैव मह्यं धारणं तथा ।
 कदापोहोऽर्धविज्ञानं तस्वज्ञानं च धीगुणा ॥

(महाभारत, वनपर्व २१६)

अवतस्व का विवेचन, विरलेपण और परीक्षण यह मुद्रि का गुण है । अर्थ
 तस्व के विज्ञान से ही तस्वज्ञान होता है, अवतस्व अभ्यास ने तस्वज्ञान को भी मुद्रि
 का गुण बताया है ।

कुमारिल ने श्लोकवार्तिक के राज्यपरिच्छेद में कहा है कि जिस प्रकार वैदिक
 साहित्य में "बोधना" शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में किया जाता है,
 अर्थात् धर्म (सत्य, अद्वैत, साध्य) का लक्षण ह बोधना स्वी अर्थ (प्रेरणा,
 प्राप्ति अन्तःप्रेरणा, कर्मयत्ना, कर्मठता, प्रतिभाशक्ति का उद्बोधन) 'बोधना
 लक्षणोऽर्थो धर्मः' शीर्मांसा ० १, १ २, उसी प्रकार राज्य में राज्य-ज्ञान और अर्थ
 विज्ञान शब्द पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं ।

यथा च बोधनाशब्दो धैरिपयामेव वर्तते ।
 राज्यज्ञानार्थविज्ञानशब्दौ शास्त्रे तथा स्थितौ ॥ श्लोक० शुभ० १३

बेकट माधव ने श्रुग्धेव के माध्य में अर्थविज्ञान शब्द का प्रयोग करते हुए
 इस बात पर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि अर्थ-विज्ञान की सिद्धि कैसे होती है,
 अर्थात् अर्थ-तस्व (वाक् तस्व) का पूर्ण रूप से ज्ञान कैसे होता है । इसका साधन
 बताते हुए उनका कथन है कि कर्म-विज्ञान का ठीक ठीक ज्ञान होने से अर्थविज्ञान
 का ज्ञान होता है । प्रस्तुत निबन्ध में व्याकरणियों के कथनानुसार कर्म-विज्ञान का
 विवेचन ध्वनि विज्ञान के नाम से किया गया है । इस ध्वनि-विज्ञान का सम्बन्ध
 संस्कार विज्ञान से है । पूर्व जन्मों तथा इस जन्म के संस्कारों का क्या प्रभाव
 होता है और उसकी क्या उपयोगिता है । बेकटमाधव ने शब्द-विज्ञान को यज्ञ
 विज्ञान के नाम से उल्लेख करके साधन कर्म विज्ञान बताया है ।

यष्टुपायार्थ विज्ञानं नाकार्यस्य निश्चयति (बेकटमाधव, श्रुग्धेदमाध्य, भा
 १ पृ० ३)

मरुचनमिश्र ने 'श्लोत्रसिद्धि' में कुमारिल मूढ भाषि की मुद्रि का निर्देश कर
 हुए तथा व्याकरण-समस्त श्लोत्र सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए 'अभ्यविज्ञ
 राज्य का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में किया है ।
 म आगत्यवर्गमाधमार्थसाम्यन्धितया प्रतिपद्यन्ते पुत्रन्ताव, मा मृत का-
 र्थविज्ञानमिति । (श्लोत्रसिद्धि श्लोक १३ की व्याख्या)

अर्थ विज्ञान क्या है

अर्थ-विज्ञान का साधारणतया विषय है कि अर्थ-तत्त्व क्या है, अर्थ-तत्त्व का क्या स्वरूप है। राज्यतत्त्व से इसका सम्बन्ध है या नहीं, यदि है तो राज्यतत्त्व का क्या स्वरूप है। राज्य और अर्थ नित्य हैं या अनित्य। यदि नित्य हैं तो इनका क्या स्वरूप है और यदि अनित्य, तो इनका क्या रूप है। अर्थतत्त्व का ज्ञान कैसे और क्योंकर होता है। अर्थतत्त्व का निर्णय किस प्रकारसे और किन साधनों से होता है। राज्य-तत्त्व अथ निर्णय में किस प्रकार और क्योंकर सहायक होता है। राज्य और अर्थ में शक्ति है या नहीं, यदि है तो किसमें और किस रूप में, यदि नहीं तो अर्थ-विकास किस प्रकार का होता है। पद किसे कहते हैं वह कितने प्रकार का होता है। पद के विभाजन का पदार्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है। पद विभाजन के कारण पदार्थ कितने प्रकार का हो जाता है। वाक्य किसे कहते हैं, वाक्य का क्या स्वरूप है, वाक्य कितने प्रकार का होता है। वाक्य का वाक्यार्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है। वाक्य का वाक्यार्थ पर प्रभाव पड़ता है या नहीं। यदि वाक्य का वाक्यार्थ पर प्रभाव पड़ता है तो किस रूप में और क्यों। यदि नहीं तो वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान किस प्रकार और क्यों होता है। वाक्यार्थ एक होता है या अनेक, यदि एक है तो उसका क्या स्वरूप है और अनेकता क्यों और कैसे है। यदि अनेक है तो अनेकता का आधार और मूल क्या है, अनेक में एक वाक्यार्थ का ज्ञान कैसे और किस रूप में होता है। पदार्थ और वाक्यार्थ का अन्तिम स्वरूप क्या है। वह सत्य है या असत्य, वह नित्य है या अनित्य, वह निर्बचनीय है या अनिर्बचनीय, वह ज्ञान रूप है या अज्ञान रूप, वह सत् रूप है या असत्, वह विद्यारूप है या अविद्या।

अर्थ का स्वरूप प्रतिभा—उपयुक्त विषय का वैयाकरणों और दार्शनिकों के दृष्टिकोण से अग्रिम अध्यायों में बर्णन किया गया है। वैयाकरण अर्थतत्त्व के विस अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, वह है प्रतिभा। सृष्टितत्त्व के मूल में, समस्त ज्ञान और विज्ञान के मूल में, समस्त वेद, पाठ्य, उपायों के मूल में, जो एक परमतत्त्व परमाणु रूप से व्याप्त है, वह है प्रतिभा। प्रतिभा के ही विभिन्न दृष्टिकोण से ब्रियेपन को वेद, भाष्य, उपनिषद्, व्याकरण, दर्शन, साहित्य तथा ज्ञान और विज्ञान के विभिन्न अंग और अंगों कहा जाया है।

प्रस्तुत निबन्ध में हमी को वैयाकरणों के राज्यों में अर्थतत्त्व, अर्थविज्ञान राज्यविज्ञान, ध्वनिविज्ञान, स्फोट विज्ञान, राज्यतत्त्व, राज्यब्रह्म आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। प्रतिभा की शक्ति अनन्त अपरिमित और अनिवचनीय है। उसी का वैयाकरणों ने वाक्यतत्त्व कहा है। सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में कितना जो कुछ भी चेतन्य है, वह वाक्यतत्त्व है, वह प्रतिभा है। उसी को महा-

अर्थात् राज्य और अथ विषयक अभ्युपगम, विरलेपण एवं विवेचन करना
(६) अर्थ विज्ञान अर्थात् अर्थवत्त्व (प्रतिभा) का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना,
(७) तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्मतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना ।

शुधूपा ध्रुवणं धैव प्रहण्य धारण्य तथा ।

ऊदापोहोऽर्थविज्ञानं तस्यज्ञानं च धीगुसा ॥

(महाभारत वनपर्व २, १६)

अर्थतत्त्व का विवेचन, विरलेपण और परीक्षण यह बुद्धि का गुण है । अर्थ तत्त्व के विज्ञान से ही तत्त्वज्ञान होता है, अतएव व्यास ने तत्त्वज्ञान को भी बुद्धि का गुण बताया है ।

कुमारिल ने श्लोकवार्तिक के राज्यपरिच्छेद में कहा है कि जिस प्रकार वैदिक साहित्य में “बोधना” शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में किया जाता है, अर्थात् धर्म (सत्य, धैर्य, साम्य) का लक्षण ह बोधना स्त्री अर्थ (प्रेरणा, प्रगति अन्तःप्रेरणा, कर्मबलता, कर्मठता, प्रतिभाराशि का उद्बोधन) ‘बोधमा लक्षणोऽर्थो धर्मः’ धीमांसा ० १, १ २, उसी प्रकार शास्त्र में राज्य-ज्ञान और अर्थ विज्ञान शब्द पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं ।

यथा च बोधमाशुष्यो वैदिक्यामेव वर्तते ।

शब्दज्ञानार्थविज्ञानशुष्यौ शास्त्रे तथा स्थितौ ॥ श्लोक० शब्द० १३

बेकट माधव ने ऋग्वेद के भाष्य में अर्थविज्ञान शब्द का प्रयोग करते हुए इस बात पर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि अर्थ-विज्ञान की सिद्धि कैसे होती है, अर्थात् अर्थ-तत्त्व (वाक्-तत्त्व) का पूर्ण रूप से ज्ञान कैसे होता है । इसका साधन बताते हुए उनका कथन है कि कर्म-विज्ञान का ठीक ठीक ज्ञान होने से अर्थविज्ञान का ज्ञान होता है । प्रस्तुत निबन्ध में वैयाकरणों के कवनानुसार कर्म-विज्ञान का विवेचन ध्वनि-विज्ञान के नाम से किया गया है । इस ध्वनि-विज्ञान का सम्बन्ध सत्कार विज्ञान से है । पूर्व जन्मों तथा इस जन्म के सत्कारों का क्या प्रभाव होता है और उसकी क्या उपयोगिता है । बेकटमाधव ने राज्य विज्ञान को यज्ञ विज्ञान के नाम से रत्नकर उसका साधन कर्म-विज्ञान बताया है ।

यशुपामर्थं विज्ञानं नाकर्मज्ञस्य म्निज्यति (बेकटमाधव, ऋग्वेदभाष्य, माग १ पृ० ३)

महहनमिन्न ने ‘स्फोटसिद्धि’ में कुमारिल मृदू आदि की बुद्धि का निर्देश करते हुए तथा वैयाकरण-समूह स्फोट सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए ‘अथविज्ञान’ शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में किया है ।

म आत्म्यवर्णमाश्रम्यसम्बन्धितया प्रतिपद्यन्ते पुरस्तात् मा भूत केवलं अर्थविज्ञानमिति । (स्फोटसिद्धि श्लोक १३ की व्याख्या)

अर्थ-विज्ञान क्या है

अर्थ विज्ञान का साधारणतया विषय है कि अर्थ-सत्य क्या है, अर्थ-सत्य का क्या स्वरूप है। राज्यत्व से इसका सम्बन्ध है या नहीं, यदि है तो राज्यत्व का क्या स्वरूप है। राज्य और अर्थ नित्य हैं या अनित्य। यदि नित्य हैं तो उनका क्या स्वरूप है और यदि अनित्य, तो उनका क्या रूप है। अर्थत्व का ज्ञान कैसे और क्योंकर होता है। अर्थत्व का निर्णय किस प्रकारसे और किन साधनों से होता है। राज्य-सत्य अर्थ-निर्णय में किस प्रकार और क्योंकर सहायक होता है। राज्य और अर्थ में शक्ति है या नहीं, यदि है तो किसमें और किस रूप में, यदि नहीं तो अर्थ-विक्रम किस प्रकार का होता है। पद किसे कहते हैं वह कितने प्रकार का होता है। पद के विभाजन का पदार्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है। पद विभाजन के कारण पदार्थ कितने प्रकार का हो जाता है। वाक्य किसे कहते हैं, वाक्य का क्या स्वरूप है, वाक्य कितने प्रकार का होता है। वाक्य का वाक्यार्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है। वाक्य का वाक्यार्थ पर प्रभाव पड़ता है या नहीं। यदि वाक्य का वाक्यार्थ पर प्रभाव पड़ता है तो किस रूप में और क्यों। यदि नहीं तो वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान किस प्रकार और क्यों होता है। वाक्यार्थ एक होता है या अनेक, यदि एक है तो उसका क्या स्वरूप है और अनेकता क्यों और कैसे है। यदि अनेक है तो अनेकता का आधार और मूल क्या है, अनेक में एक वाक्यार्थ का ज्ञान कैसे और किन रूप में होता है। पदार्थ और वाक्यार्थ का अन्तिम स्वरूप क्या है। यह सत्य है या असत्य, वह नित्य है या अनित्य, वह निर्यथनीय है या अनिर्बन्धीय, वह ज्ञान रूप है या अज्ञान रूप, वह सत् रूप है या असत्, वह विद्यारूप है या अविद्या।

अर्थ का स्वरूप प्रतिभा—उपयुक्त विषय का ध्याकरणों और दार्शनिकों के दृष्टिकोण से अग्रिम अध्यायों में वर्णन किया गया है। ध्याकरण अर्थत्व के जिस अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचे है, वह है प्रतिभा। सृष्टितत्त्व के मूल में, समस्त ज्ञान और विज्ञान के मूल में, समस्त वेद, पादग्र, उपांगों के मूल में, जो एक परमतत्त्व परमाणु रूप से व्याप्त है, वह है प्रतिभा। प्रतिभा के ही विभिन्न दृष्टिकोण से विवेचन को वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, व्याकरण, दर्शन, साहित्य तथा ज्ञान और विज्ञान के विभिन्न अंग और उपांग कहा जाता है।

प्रस्तुत निषेध में इसी को ध्याकरणों के शब्दों में अर्थत्व, अर्थविज्ञान, राज्यविज्ञान, धर्मविज्ञान, एकोट-विज्ञान, राज्यत्व, राज्यब्रह्म आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। प्रतिभा की शक्ति अनन्त अपरिमित और अनिवचनीय है। इसी का ध्याकरणों ने वाक्यत्व कहा है। सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में जितना जो बुद्ध भी चीरन्य है, वह वाक्यत्व है, वह प्रतिभा है। इसी को महा-

सत्ता, जाति, भाव, नित्य, सत्य आदि की व्याख्या करके पतञ्जलि और मट्टहरि ने स्पष्ट किया है। (वाक्यपदीय कांड २, श्लोक ११६-११४)

प्रतिमा का नाम स्फोट—सृष्टि के इतिहास में वेदों के परन्तत् आद्य तक यदि कोई सबसे बड़ा अमृतपूर्व कान्तिकारी अन्वेषण या आविष्कार हुआ है तो वह है स्फोटसिद्धान्त वह है प्रतिमा का साक्षात् विरत्नेपण वह है प्रतिमा के नित्यांश और अनित्यांश का दो भागों में पृथक्करण, वह है प्रतिमा के नित्यांश का साक्षात्कार। इस अन्वेषण और आविष्कार का सबसे बड़ा ज्ञेय आचार्य स्फोटायन को है। आचार्य पाणिनि ने अतएव वाक्यत्व के परमतत्त्व आचार्य स्फोटायन को 'अवङ् स्फोटायनस्य' (अष्टा० ६, १, १२३) सूत्र में विशेष समावर के साथ स्मरण करके प्रतिमा-विषयक सिद्धान्त को तीन सूत्रों में स्पष्ट किया है और 'इन्द्रे च नित्यम्' (अष्टा० ६, १, १२४) सूत्र द्वारा अपना मन्तव्य स्वर किया है कि इन्द्र (आत्मा, ब्रह्म, प्रतिमा परमाणु मूलप्रकृति परम पुरुष, परमतत्त्व) में वह स्फोट नित्यरूप में रहता है। सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में दो मौलिक तत्त्व हैं एक स्फोट दूसरा ध्वनि। स्फोट नित्य है, ध्वनि अनित्य। स्फोट अमिथ्यक्त होता है, वह व्यवहृत्य है वह प्रकाशित होता है, इसी को वैयाकरण 'अक्षर' कहते हैं। उसमें चर अंश नहीं है। अनित्यांश नहीं है, वह सृष्टि का आधार है। सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में प्रतिष्ठित स्फोट होता है। जिसका अमिथ्याय आधुनिक वैज्ञानिकों की दृष्टि से खूब शब्दों में 'विस्फोट' शब्द की व्याख्या से समझ जा सकता है, वह है कान्ति, विप्लव, परिवर्तन, वृत्ति। इस मौलिक कान्ति, परिवर्तन, वृत्ति के कारण ही सृष्टि की स्थिति है। इस मौलिक सत्य को वैयाकरण शब्दब्रह्म कहते हैं, इसी को दूसरे शब्दों में ब्रह्म, ईश्वर आत्मा, आकारा, ब्रह्म, स्वभाष और तत्त्व आदि नामों से विभिन्न वाशानिकों ने सम्बोधित किया है। वेदान्तवचन इसको ब्रह्म कहता है, योग ईश्वर और साध्य पुरुष, वैशेषिक विशेष तथा न्याय शब्द। इसी को बौद्धवचन ज्ञान, जैनवचन अणु (पुद्गल) चार्वाकवचन भूत या तत्त्व तथा आधुनिक मौलिक विज्ञानवादी प्रकृति, इव्य, तत्त्व आदि नाम देते हैं। (वाक्यपदीय ग्रन्थ काण्ड तथा काण्ड ३ पृष्ठ ८५)

एक महान् अनर्थ, एक महान् भ्रम (अज्ञान)

प्रतिमा के ही अनेक नाम—संसार में एक महान् भ्रम है, जिसका मूल कारण अज्ञान, अविद्या भ्रम और अवस्वहता है। वह है आस्तिकवाद और

१ अर्थविज्ञान मो। अणु ६ १ १२२

अवङ् स्फोटायनस्य। अणु ६ १ १२३

इन्द्रे च नित्यम्। अणु ६ १ १२४

नास्तिकवाद का विवाद, वह है राज्यत्व और अर्थात्त्व का विवाद, वह है अभ्यात्मवाद और भौतिकवाद का विवाद, वह है ब्रह्मवाद और शून्यवाद का विवाद, वह है ज्ञानवाद और विज्ञानवाद का विवाद, वह है शान्तिवाद और क्रान्तिवाद का विवाद, वह है जातिवाद और व्यक्तिवाद का विवाद, वह है समष्टिवाद और व्यष्टिवाद का विवाद, वह है अद्वैतवाद और द्वैत या त्रैतवाद का विवाद वह है कृत्तिवाद और अकृत्तिवाद का विवाद, वह है प्रत्यक्षवाद और परोक्षवाद का विवाद, वह है स्फोटवाद और ध्वनिवाद का विवाद, वह है भाववाद और अभाववाद का विवाद, वह है विद्या और अविद्या का विवाद, वह है ज्ञानयोग (ज्ञानमार्ग) और कर्मयोग (कर्ममार्ग) का विवाद वह है अस्तित्ववाद और नास्तित्ववाद का विवाद, सरल शब्दों में यह विवाद है 'है' और 'नहीं' का विवाद, सृष्टि में कुछ सत्य है या नहीं, यह सारा विवाद प्रतिमा के स्वरूप के न जानने के कारण है। यह सारा भ्रम स्फोट और ध्वनि स्वरूप को न जानने के कारण है, शास्त्रीय भाषा में यह सारा भ्रम नाम और रूप को ठीक न जानने के कारण है। राज्य और अर्थ के सम्बन्ध को ठीक न समझने के कारण है।

विवाद और भ्रम का मूल अज्ञान और भ्रम—महर्षि ने वाक्यपदीय में प्रतिमा के स्वरूप को समझकर तथा स्फोट और ध्वनि का जो स्वरूप पदच्छक्ति ने समझाया है, उसको स्पष्ट करके संसार का एक अनुपम और असाधारण उपकार किया है। प्रतिमा के साक्षात्कार द्वारा प्रतिमा का स्वरूप ठीक समझकर प्रतिमामूलक माया या अज्ञान के कारण जो संसार में विवाद, भ्रम, अज्ञान और अविद्या है, तथा जिसके कारण जो समझने में अनकों वार्षानिक भी असमर्थ रहे हैं, उसको दूर किया है। उपर्युक्त सारे विवादों का मूल यह है कि आत्मा ब्रह्म पर आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर वत्त्व त्रय्य आदि नामों को विभिन्न वार्षानिकों ने भिन्न भिन्न समझा है, अतएव विवाद है। महर्षि ने इस भ्रम माया और अज्ञान को दूर करते हुए बताया है कि ये प्रतिमा के ही सारे नाम हैं। उसी को कोई वर्धन ब्रह्म कहता है, कोई ईश्वर, कोई परमात्मा, कोई पुरुष, कोई वस्तु, (पदार्थ) कोई स्वभाव, कोई प्रकृति, कोई शरीर, कोई एत्व और कोई त्रय्य। उसी को वैयाकरण प्रतिभा, ज्ञान, शब्द, अक्षर, ब्रह्म, पदार्थ, वाक्यार्थ, परमार्थ, पुरुष, पुरुषार्थ, जाति, व्यक्ति, महासत्ता, सत्, सत्य, नित्य, प्रकृति, प्रत्यय पातु, धात्वर्थ, नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात परा, परबन्धी, मध्यमा, वैखरी वाक्य-स्फोट, वाक्य, आदि नाम देते हैं। प्रत्येक वार्षानिक सूक्ष्म एवं तात्त्विक विवेचन से जिस अन्तिम तत्त्व पर पहुँचते हैं, जिसके अक्षर ज्ञान होता है, जिसके कारण चैतन्य है, जिसके कारण ज्ञान का अस्तित्व है, जिसके कारण चेतनता की सत्ता है, जिसके कारण सृष्टि में अस्तित्व है, जिसके अस्तित्व के कारण सृष्टि प्रत्यक्ष है, प्रत्येक अणु, प्रत्येक परमाणु, प्रत्येक स्थावर और जंगम में जो सूक्ष्म दृष्टि से दृश्य है, जो स्थूल दृष्टि से अनुभूय और व्यङ्ग्य है, उसको वैयाकरण त्रय्य

कहते हैं। संग्रह प्रत्यय के समावर्तीय आचार्य व्याडि ने उसको द्रव्य कहा है, आचार्य वाजप्यायन ने उसको जाति (आकृति) कहा है।^१

आचार्य पाणिनि का विवेचन—आचार्य पाणिनि ने अर्थ-सत्त्व, वाक्-तत्त्व, प्रतिमा-राज्य-तत्त्व एवं स्कोट के स्वरूप को सत्त्वे में किन्तु बहुत स्पष्ट शब्दों में प्राति-पदिक और अग की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है।^२ आचार्य पाणिनि का कथन है कि—

अर्थवद्वाचुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् । (अष्टा०, १, २, ४५)

उस परम-तत्त्व को प्रातिपदिक कहते हैं, वह न वाहु है और न प्रत्यय वह न द्रव्य है और न आकृति, यह न नाम है न रूप, वह न प्राकृतिक पदार्थ है और न जीव रूप पदार्थ है वह न वर्ण है न पद, वह न वर्ण-स्कोट है न पद-स्कोट। प्रतिमा इनसे पृथक् है। उसका एकमात्र सत्त्व यह है कि वह अर्थवत् है, सार्थक है, चेतन है, ज्ञानमय है, यही वाक्य है, यही वाक्यार्थ है, यह प्रतिमा है, यह प्रत्येक पद में व्याप्त है, वह प्रत्येक अणु में व्याप्त है, अतः उसे प्रातिपदिक कहते हैं, इसीको राज्यब्रह्म, प्रतिमा-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान कहते हैं।

इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि प्रतिमा न प्राकृतिक तत्त्व है, और न जीवतत्त्व यदि ब्रह्म न प्रकृति है और न जीव तो इसका रूप कैसे जाना जा सकता है। त्रिगुणातीत, वृत्तित्रय से बहिर्भूत का कोई रूप नहीं बन सकता है, अतः किसी भी राज्य का कोई भी रूप नहीं होना चाहिए। अतएव ये कहते हैं कि—

कृत्वहितसमासारण (अष्टा, १२ ४६)।

तीन वृत्तियाँ,—मुख्य रूप से प्रातिपदिक ब्रह्म ही है, प्रतिमा ही है, तथापि कृत्, वृत्तित प्रत्यय और समास इन तीनों को भी प्रातिपदिक कहते हैं। सांख्य के शब्दों में सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों के कारण प्रकृति (जीव) को भी

१ प्राति विवेचनमूर्तां वदार्थं अन्तरात्वात् व्याडिरुच्यते विवेच्यवर्ष इत्यमने पदार्थं अन्तरात्वात्किन्तु अन्तरात्वात् पदार्थात्परैरिति । (हेमाद्रय)

अतस्मात्सु स्वभावतश्च अतीरं एतन्मन्वापि ।

इत्यमित्यस्य पदार्थात्कल्पेति लक्षणम् ॥

वाक्य १ पृष्ठ ७५

इत्थं च द्विविधं चारमार्थिकं साम्प्रदायिकं च । अनेन च इत्येव व्याडिरुच्यते उर्ये अन्वा इत्यादि प्राक्तिको मन्वापि । इह तु चारमार्थिकं इत्थं चिरम्बुते । उर्येकमेतैः परमार्थं अनेन वस्तुत्वं । इत्थं नाम वा पदार्थः, तत्रैव एव पदार्थाः । एतेषामैव चारमार्थिकव्यभिचयित्वात् । केवलं चरमार्थं इत्थं उदाहरितमविशेषतः इति । (हेमाद्रय, वही)

२. अस्मात् प्रातिपदिकित्वादि मन्वात्पदम् । अध्या १५, ११

गौण रूप से ब्रह्म, आत्मा या प्रतिमा कहा जाता है। सत्व, रजस् और तमस इन तीन गुणों के कारण प्रकृति (स्वभाव) त्रिगुणात्मिका कही गई है। इन तीन गुणों का प्रतिबिम्ब पुरुष (प्रतिमा) में पड़ता है, अतः यह सात्विक राजस और तामस वृत्ति-युक्त कहा जाता है। इन तीन वृत्तियों को साहित्य शास्त्रियों ने शक्ति (प्रतिमा) नाम दिया है और इसके तीनरूप माने हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना।

पांच वृत्तियाँ—महोजिहीषित ने कृत, तद्धित और समास के साथ एक-दोप समास तथा सनाद्यन्त धातु रूप को भी समन्वित करके वृत्तियों की संख्या ५ मानी है। वृत्ति का स्वरूप है परार्थाभिधान-पर के अर्थ का बोध करना, परार्थात् प्रथम के अर्थ-परमार्थ-की अभिव्यक्ति करना वृत्तियों का कार्य है। प्रतिमा-रूपी परमार्थ की अभिव्यक्ति के साधन ये पांच वृत्तियाँ हैं। इन पांच वृत्तियों के यथार्थ ज्ञान से पराध, परमार्थ प्रतिमा का ज्ञान होता है।

कृतद्वितसमासैकशयसमाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः परार्थाभिधान वृत्तिः। (सिद्धान्तकौमुदी सर्वसमासशेषप्रकरण)।

तीन वृत्तियों का स्पर्शकरण—यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि वृत्तियों के तीन या पांच भेद का कारण इनका मौलिक अन्तर नहीं है। अपितु प्रकर भेद से विभिन्न दृष्टिकोण से विवेचन का परिणाम है। सांख्य के दृष्टिकोण से सत्व, रजस् और तमस् के ही विवेचन से सृष्टि के मूल-तत्त्व (अर्थ, प्रतिमा, प्रकृति) का विवेचन हो जाता है। इन तीन के गुणों की व्याख्या से ही पञ्च-तत्त्वों की व्याख्या हो जाती है। शब्द, रस, रूप, रस, गंध इन पांच गुणों की व्याख्या सत्व रजस् तमस् की व्याख्या को यथार्थ रूप से जानने से हो जाती है। इन तीन गुणों के कारण वृत्तियाँ तीन प्रकार की हो जाती हैं, सात्विक, राजस और तामस। परमपुरुष (परमात्मा, शब्दब्रह्म, प्रतिमा) को यथार्थतः जानने के लिए मूल प्रकृति (स्वभाव, आचरण्य, प्रतिमा) में विद्यमान सात्विक राजस और तामस प्रवृत्तियों का जानना अनिवार्य है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रत्येक पुरुष को यथार्थ रूप से जानने के लिए उसकी प्रकृति (स्वभाव, आचरण्य, प्रतिमा) में विद्यमान सात्विक राजस और तामस प्रवृत्तियों का जानना अनिवार्य है। मादिरियों ने इसकी व्याख्या के लिए परम पुरुष का प्रतिनिधि शब्द रखा है, शब्द में तीन प्रकार की शक्तियाँ मानी हैं, अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। इन तीनों शक्तियों के कारण शब्द वाचक, लक्षक और व्यञ्जक माना जाता है। तथा अर्थ वाचक, लक्ष्य और सांख्य त्रिमूर्ति त्रिगुण और वृत्तिप्रय से स्पष्ट करता है, साहित्य शास्त्री इसको शक्तिप्रय की व्याख्या से स्पष्ट करते हैं। जब तक अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना शक्तियों का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा, तब तक साहित्य का ज्ञान ठीक नहीं होगा। साहित्यशास्त्री पहले शक्तियों का प्राकृतिक तथा मौलिक दृष्टिसे विवेचन

करते हैं, परन्तु अन्त में ध्वनिकाव्य को उत्तम साहित्य मानते हैं। साहित्य, काव्य यही सर्वोत्तम है, जिसमें व्यङ्ग्याव मुख्य हो। वर्ण ध्वनि हैं, सृष्टि ध्वनि है, पञ्चमूत-पञ्चवस्व ध्वनि है, इनसे प्रतिभा की अभिव्यक्ति होती है, शक्ति की सिद्धि होती है, अक्षर की प्राप्ति होती है, स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, मौखिक तत्त्व (परमाणु, आकारा (ईश्वर) प्रतिभा) की प्राप्ति होती है। अतएव मम्मट न काव्य प्रकारा में कहा है कि—

इहमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम् (काव्य १,४)

वैयाकरणों का अभिप्राय—पाणिनि ने इन तीन वृत्तियों की व्याख्या विशद रूप में कृत् वृद्धि प्रत्ययों तथा समास की व्याख्या द्वारा की है। प्रत्येक शब्द में दो तत्त्व अवश्य रहते हैं, एक स्फोट और दूसरा ध्वनि। नित्यांश स्फोट है और अनित्यांश ध्वनि। नित्यांश की व्याख्या पाणिनि ने प्रकृति की व्याख्या द्वारा की है और अनित्यांश की व्याख्या प्रत्ययों की व्याख्या से। प्रत्येक शब्द को जब तक स्फोट और ध्वनि के रूप में पूरा नहीं किया जायगा, जब तक व्याकरण (विवेचन) सम्भव नहीं है। अतः मूल-प्रकृति में विद्यमान सत्य, रजस् और तमस् का विवेचन (विरज्ञेय) वैयाकरणों के लिए सवप्रथम आवश्यक होता है, क्योंकि वही से वृद्धि का ठीक ज्ञान होता है और इससे अर्धविज्ञान की सिद्धि होती है। प्रत्येक शब्द में कितना अंश मौखिक है और कितना अमौखिक कितना धातु का अंश है और कितना प्रत्यय का कितना अक्षर अंश है और कितना अक्षर अक्षर अंश है और कितना अक्षर अक्षर अंश है और कितना ध्वनि का कितना शब्द का अंश है और कितना अर्ध का कितना शब्द-तत्त्व है और कितना अर्ध-तत्त्व यह प्रत्येक शब्द में कृत् वृद्धि समास वृत्तियों स्पष्ट करती हैं। कृत् प्रत्ययों के विभिन्न अर्थों द्वारा पाणिनि ने प्रत्येक शब्द में विद्यमान ध्वनि, अक्षर अंश, अक्षर अक्षर अंश, अर्ध-तत्त्व का सांख्यिक वृत्ति के दृष्टिकोण से विवेचन किया है। प्रत्येक शब्द में सज्ज अंश अवश्य रहता है, अन्यथा उसका प्रयोग नहीं हो सकता है। वैयाकरणों का अतएव सिद्धान्त है कि न केवल प्रकृति का प्रयोग करना चाहिये और न केवल प्रत्यय का।

न केषला प्रकृति प्रयोक्तव्या, नापि केषल प्रत्ययः ।

मात्र यह है कि न केवल स्फोट का प्रयोग करना चाहिये और न केवल ध्वनि का, न केवल अक्षर का प्रयोग करना चाहिए और न केवल अक्षर अक्षर का, न केवल शब्द का प्रयोग करना चाहिए न केवल अर्ध का। जहाँ तक प्रयोग का सम्बन्ध है स्फोट और ध्वनि का पूरा व्याकरण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जहाँ स्फोट शब्द रूप से है वहाँ ध्वनि गुण रूप से है, गुण और गुणी संज्ञा और संज्ञी, अंग और अंगी, अवयव और अवयवी अविनाभाव से एकत्र रहते हैं दोनों का पूरा अस्तित्व नहीं है, अतः वैयाकरण सम्बन्ध मार्ग को सर्वोत्तम मानते हैं,

अतएव वैयाकरणों का मत है कि राज्यतत्त्व और अर्णवतत्त्व एक ही आत्मा के दो स्वरूप हैं, दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं है।

एकस्यैवात्मनो भेदौ राज्यार्णवपृथक्स्थितौ। (वाक्य० २, ३१)

समन्वय की स्थापना—यही कारण है कि स्फोट और ध्वनि, राज्य और अर्णव, पुरुष और प्रकृति एकत्र रहते हैं। मौलिक दृष्टि से वैयाकरणों का अभिप्राय यह है कि सृष्टि में प्रतिमा ही एक मौलिक तत्त्व है। उसी के दो रूप हैं नित्य रूप को राज्य कहते हैं और अनित्य रूप को अर्णव, नित्यारा को स्फोट और अनित्यारा को ध्वनि, नित्यारा को सत् और अनित्यारा को असत्, नित्यारा को सत्य और अनित्यारा को असत्य नित्यारा को अक्षर और अनित्यारा को ध्रुव, नित्यारा को द्रव्य और अनित्यारा को आकृति (आकार), नित्यारा को ब्रह्म और अनित्यारा को माया, नित्यारा को परमात्मा और अनित्यारा को सृष्टि, नित्यारा को जाति और अनित्यारा को व्यक्ति नित्यारा का नाम और अनित्यारा को रूप, नित्यारा को अक्षमक और अनित्यारा को सकर्मक, नित्यारा को परमात्मा और अनित्यारा को जीवात्मा, नित्यारा को निर्गुण और अनित्यारा को सगुण नित्यारा को एक और अनित्यारा को अनेक, नित्यारा को अद्वैत और अनित्यारा को द्वैत या त्रैत, नित्यारा को विद्या और अनित्यारा को अविद्या नित्यारा को समृति और अनित्यारा को असंभृति (विनाश), नित्यारा को भेयस् और अनित्यारा की प्रेयस्, नित्यारा को देव (अमर) और अनित्यारा को मृत्यु नित्यारा को परा विद्या और अनित्यारा को अपराविद्या, नित्यारा को प्राण और अनित्यारा को रयि नित्यारा को अमूर्त और अनित्यारा को मूर्त नित्यारा को स्वर और अनित्यारा को व्यंजन, नित्यारा को अक्षर और अनित्यारा को वण, नित्यारा को क्रिया और अनित्यारा को भावना, नित्यारा को वाक्य और अनित्यारा को पद, नित्यारा को वाक्यार्थ और अनित्यारा को पदार्थ।

शकशाच के समन्वय की अनिवार्यता—आचार्य पाणिनि का अभिप्राय यह है कि सृष्टि में मौलिक-तत्त्व एक ही है वह न धातु है और न प्रत्यय, उसको न भाव पदार्थ कहा जा सकता है और न अभाव, उसको न सक्रिय कहा जा सकता है और न निष्क्रिय। प्रतिमा की सत्ता मात्र से सब कार्य चलता है जैसे कि सूर्य की सत्ता से इस सृष्टि का कार्य चलता है, उसको मौलिक दृष्टि से गतिशील, सकर्मक (सक्रिय) उद्यम अस्त आदि क्रिया-मुक्त समझा जाता है, परन्तु वास्तविक दृष्टि से वह न उद्यम होता है और न अस्त होता है, (पेटरेयना० ३, ४४, गोपम० अक्षर० ४, १०)। यह ज्ञात होन पर भी

१ (क) स वा एष (अदित्वा) न कृद्यन्तात्मनि मोदिमि तं क्यलमितीनि मन्वते ऽ न्द एष वरन्वित्वाऽऽपत्तनां विपर्वत्कते रात्रिमिवावत्ताए कुस्ते ऽए वरत्ताएव वरेण प्राठस्वरेणीति मन्वते एवरेव वरन्वित्वाऽऽपत्तनां विपर्वत्कतेऽऽरेवपछान् कुस्ते एषि वरत्ताए स वा एष न कृद्यन्त मित्रोवति। पेटरेयना ३ ४४

इसका अर्थ और अस्त कहा जाता है, क्योंकि सृष्टि का व्यवहार केवल एक दृष्टिकोण से नहीं चलता है। जो वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य है वह मौखिक दृष्टि से असत्य है और जो मौखिक दृष्टि से सत्य है वह वैज्ञानिक दृष्टि से असत्य है। अतएव वैशाकरण्यों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, मीमांसकों, साहित्यिकों, समीक्षकों और आलोचकों को एक ओर वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखना पड़ता है और दूसरी ओर व्यावहारिक दृष्टिकोण। न वैज्ञानिक दृष्टिकोण की अपेक्षा की जा सकती है और न व्यावहारिक दृष्टिकोण की। अतएव इन सब को दोनों दृष्टियों से विवेचन करके मार्ग उपस्थित करना पड़ता है, एक ओर वैशाकरण्यों, वैज्ञानिकों और तत्त्वज्ञों के लिए मार्ग बनाना होना है, दूसरी ओर साधारण जनो के लिए। वे तत्त्वज्ञों के लिए वास्तविक पारमार्थिक वेदान्त निर्वाण और मोक्ष का मार्ग बताते हैं, उनके लिए प्रतिभा, वाक्-शक्ति, अर्थतत्त्व का नित्यतत्त्व ज्ञेय, प्राप्य और साध्य बताते हैं, दूसरों के लिए व्यावहारिक पिण्डाणु, स्वर्ग का मार्ग बताते हैं। तत्त्वज्ञों के लिए जैसा कि सांख्य आदि दर्शनों में बर्णन किया गया है वह ज्ञान-मार्ग है। वैशाकरण्य वास्तविक और पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञान-मार्ग के समकक्ष हैं। अद्वैतवाद, ब्रह्मवाद परमात्मवाद, ईश्वरवाद, स्फोटवाद, निर्गुणवाद, निराकारवाद, की पारमार्थिक दृष्टि से सच्चा स्वीकार करते हैं। इसका साधन सत्य अहिंसा अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिमह जिनको पतञ्जलि ने ब्रह्म कहा है, माना है। यह प्रतिभा ब्रह्म, तत्त्वज्ञान, अर्थतत्त्व, वाक्यतत्त्व और शब्दतत्त्व की सिद्धि का ज्ञान-मार्ग से प्रकार है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से वे ध्येयवाद को भी सत्य मानते हैं। प्रत्यक्ष को भी सत्य मानते हैं, पञ्च-भूतों एवं पञ्चतत्त्वों में भी सत्त्वता मानते हैं, व्यावहारिक दृष्टिकोण वाले त्रिहासुओं के लिए कर्ममार्ग उपयोगी मानते हैं। मगधवाक् कृष्ण ने मगधग्रीवा में उनके लिए जो सर्वश्रेष्ठ मार्ग बताया है वह है, निष्काम कर्मयोग निष्काम भावना से अपने-अपने कर्माँ को करना और उसमें इच्छा प्राप्त करना (योगः कर्मसु कौशलम्-गीता १, ५)।

वाक्-तत्त्व के मूल में समन्वय-वैशाकरण्य उपर्युक्त मार्गों को विमल मानने को इपित समझते हैं। सृष्टि के मूल में समन्वय है, अर्थ

(८) उ वा एव (अद्वैतः) न कदाचन-लभन्ति बोधमनिः । तदर्थं चकारस्तत्कालीनि-
स-कन्ते एव एव तदर्थं कथाज्जातानां विकर्तृकौशलेरुपलब्धं इत्युक्ते । (गीता १२.२५)।

गोपब मा ४ ४ २

तत्त्व के मूल में समन्वय है। शब्द स्वयं स्फोट और ध्वनि का समन्वय है। न स्फोट के बिना ध्वनि रह सकती है और न ध्वनि के बिना स्फोट, स्फोट शब्द-तत्त्व है और ध्वनि इसका गुण, स्फोट आकारा है और ध्वनि अर्थात् शब्द इसका गुण, स्फोट शब्द है और ध्वनि अर्थात् प्रतिमा इसका गुण है, स्फोट शब्द है और ध्वनि अर्थ है, स्फोट प्रकृति है और ध्वनि मन्वय, स्फोट ब्रह्म है और ध्वनि माया, स्फोट आत्मा है और ध्वनि शरीर, स्फोट प्रतिमा है और ध्वनि ज्ञान स्फोट परोक्ष है और ध्वनि प्रत्यक्ष, स्फोट परमाणु है और ध्वनि अणु, स्फोट अक्षर है और ध्वनि स्वर, स्फोट नित्य है और ध्वनि अनित्य। पतञ्जलि ने अतएव स्फोट और ध्वनि दोनों को शब्द कहा है। स्फोट रूपी शब्द की व्याख्या की है कि वह नित्य है, कूटस्थ है, अविचाली है, उसमें किसी प्रकार का कोई अपाय (घय) व्यजन (आगम, विकास) और विकार (परिवर्तन) नहीं होता है।

नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिमिर्वर्षैर्मदितव्यमनपायोपजनविकारिमिः।

(महा० आह्निक २)

स्फोटरूपी प्रतिमा की व्याख्या उक्त शब्दों में की गई है। वह कूटस्थ है, उसमें गति नहीं है, उसमें न घय होता है और न वृद्धि, उसमें न ह्रास होता है और न विकास, वह त्रिगुणात्मिका प्रकृति से वृथक् है अतएव वह सब प्रकार के विकारों, परिवर्तनों, वृद्धियों से विहीन है। अतएव पतञ्जलि ने उसको नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्ध माना है। 'सिद्धेशब्दार्थ सन्वन्धे' (महा० आ १) पाणिनि, कात्यायन पतञ्जलि ये मुनित्रय प्रतिमा को ही नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्ध मानते हैं। प्रतिमा का ही तीन रूप से विभाजन है। अतएव वह तीन रूप से दृश्य है। इसी प्रतिमा को सत्चित् आनन्द इन तीन भागों में विभक्त करके एक सच्चिदानन्द शब्द की सिद्धि की जाती है। इसी को अत्र मू तीन भागों में विभक्त करके एक ओम् शब्द की सिद्धि की जाती है। (तस्य बाबक प्रणवः, योग०, १, २०) इसी को मू मुक् १३ इन तीन भागों में विभक्त करके एक 'भूर्भुव स्व' महाव्याहृति की सिद्धि की जाती है। अतएव यजुर्वेद का कथन है कि महाव्याहृति परमेष्ठी (कूटस्थ) प्रजापति जो कि वाक्-तत्त्व है, का सम्बोधन है।

परमेष्ठ्यमिधीता प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायाम् (यजु० ८, ४४)

इसी एक प्रतिमा का विभाजन करके ऐलरी, मप्यमा और परयन्ती नामों से तीन वाक्-तत्त्वों की स्थापना की जाती है। सरस शब्दों में इस विभाजन को वाक्-

अर्धबिज्ञान और व्याकरण्य वर्णन

तत्त्व के स्थूल सूक्ष्म और परोक्ष इन तीन भागों में विभाजन से समग्र जा सकता है।^१ इसका सटीकरण आगे किया गया है।

तीन तत्त्वों की सृष्टि में स्थिति—अर्ध बिज्ञान की दृष्टि से प्रतिमा का तीन भागों में विभाजन किया जाता है, वाक्-तत्त्व, मनस्-तत्त्व और प्राण-तत्त्व। सृष्टि का समग्र विधे वृत्त इन तीन तत्त्वों के विवेचन में समाविष्ट है। समस्त ज्ञान और बिज्ञान की इन तीनों तत्त्वों के विवेचन विरलेपण्य परीक्षण समीक्षण अन्येपण्य गवेपण्य और साक्षात्कार में इतिथी हो जाती है। सृष्टि के प्रत्येक अणु, प्रत्येक परमाणु, प्रत्येक रास्य और प्रत्येक अर्थ में इन्हीं तीन तत्त्वों का अनिवार्य रूप से समावेश और समन्वय है। इन्हीं को वैशाकरयों ने क्रमशः नाम आख्यात और उपसर्ग कहा है, इन्हीं को पाणिनि ने क्रमशः क्त, तद्धित और समास कहा है। इन्हीं को सांख्यदर्शन में सत्व रजस् और तमस् तीन शुभ कहा गया है और इनकी वृत्ति को सांख्यिक राजस और तामस। योग-दर्शन में इनको बिष की तीन वृत्तियाँ प्रक्या प्रवृत्ति और स्थिति कहा गया है। (योगस्थितिसूक्तिमिरोधः योग० १ २) मनस्-तत्त्व की दृष्टि से इसको मोक्ष और ज्ञान इन तीन भागों में विभक्त किया जाता है। प्राण-तत्त्व की दृष्टि से इसको मोक्ष मोक्ष्य और मोग इन तीनों रूपों में विभक्त किया जाता है।^२ वाक्-तत्त्व की दृष्टि से इसको रास्य अर्थ और समन्वय तीन भागों में विभक्त किया जाता है। वर्णन व्याकरण्य विज्ञान आदि की दृष्टि से यही प्रतिमा की काल्पनिक प्रथी सर्वत्र व्याकरण्य, विवेचन विरलेपण्य आदि रूपों से दूर होती है।

भौतिक दृष्टि से इसको अग्नि, वायु और आकाश इन तीनों रूपों में विभक्त किया जाता है। वैदिक शास्त्रों में इसको अग्नि, वायु, आदित्य तीन भागों में विभक्त किया गया है। वैदिक शास्त्रों में इसको वाक्-तत्त्व मनस्-तत्त्व और प्राण-तत्त्व इन तीनों रूपों में विभक्त किया गया है। अतएव यजुर्वेद का कथन है कि एक ही प्रतिमा को वाक्-तत्त्व, मनस्-तत्त्व और प्राण-तत्त्व इन भागों में विभक्त करने के कारण एक वेद (प्रतिमा) को वेदप्रथी नाम दिया जाता है। इनमें अग्नेव प्रतिमा के वाक्-तत्त्व की व्याख्या करता है, यजुर्वेद प्रतिमा के मनस्-तत्त्व की व्याख्या करता है और सामवेद प्रतिमा के प्राण-तत्त्व

१ वेदार्थ प्रपञ्चवाकारण परकत्वात्कैवल्यवत्।
अनेकगीर्विद्येवाकाशमा वाक् परं १२२॥

भास्य ११०४

२ यजुर्वेद सर्वप्रथी नाम वेदप्रथीत्या।
भेदभेदोक्त्यद्वैत भेदभेदोक्त्यत् रिथि ॥

भास्य १४

की व्याख्या करता है। प्रतिमा के वाक्-तत्त्व की व्याख्या प्रतिमा के आग्नेय अंश की व्याख्या है, प्रतिमा के मनस्-तत्त्व की व्याख्या प्रतिमा के वायव्य अंश की व्याख्या है प्रतिमा के प्राणतत्त्व की व्याख्या प्रतिमा के आविश्य (अनिर्बनीय, अविद्येय, अठ्वाकरणीय अक्षर, नित्य, अविनाशी, कूटस्थ) अंश की व्याख्या है।

शुद्ध धार्म्य प्रपद्ये मनो यस्तु प्रपद्ये साम धार्म्यं प्रपद्ये (यजू० ३१ १)

स्कोट सिद्धान्त की विविध व्याख्या - पतञ्जलि, मधु हरि, भट्टोजिदीक्षिण, कीर्तवन्त, नागेश आदि वैशाखर्यों ने तथा शंकराचार्य पर्यं मद्रहन मिश्र आदि दार्शनिकों ने स्कोट सिद्धान्त की सत्यता और प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए स्कोट को कई प्रकार से समझाया है। शब्द की नित्यता को स्वीकार करने पर इसको तीन भागों में विभक्त करके स्कोट (ब्रह्म, आत्मा प्रतिमा) को समझाया है। स्कोट शब्द का अर्थ है 'सृष्टि अर्थात्समात्' जिससे अर्थ-तत्त्व प्रकटित होता है। तीन विभागों को निम्न रूप से रक्कर विषय को स्पष्ट किया जाता है। (१) वर्णस्कोट वर्ण सार्यक हैं, वर्णों का अर्थ होता है, वर्णों की सत्ता से ही पद की सत्ता है, वर्णों से पद बनता है और पदों से वाक्य। वर्णों के अतिरिक्त पद और कोई प्रयत्न सत्ता नहीं है, तथा पदों के अतिरिक्त वाक्य और कोई प्रयत्न सत्ता नहीं। दार्शनिक शब्दों में इसका अभिप्राय यह होता है कि प्रकृति सार्यक है, प्रकृति ही अन्तिम सत्य है, प्रकृति से अर्थ का विकास होता है, प्रकृति के अतिरिक्त जीव और कोई प्रयत्न सत्ता नहीं है तथा जीव के अतिरिक्त ब्रह्म और कोई प्रयत्न सत्ता नहीं है, (२) पदस्कोट अर्थ का ज्ञान पदों से होता है, वर्णों से नहीं। प्रत्येक पद सार्यक है, प्रत्येक वर्ण नहीं। पद नित्य है, वर्ण नहीं। दार्शनिक शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति सार्यक नहीं है, प्रकृति से अर्थतत्त्व की अभिव्यक्ति नहीं होती है, जीव सार्यक है, जीवात्मा से अर्थतत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, जीवात्मा अन्तिम सत्य है। जीवात्मा के अतिरिक्त परमात्मा, परमपुरुष ब्रह्म या प्रतिमा अर्थ कोई प्रयत्न अस्तित्व नहीं है। सृष्टि के मूल में पद हैं, जीव हैं। प्रथम पद को दार्शनिक शब्दों में 'अभिहितान्वयवाक' कहा जाता है। अर्थात् अभिहित का अन्वय, प्रत्येक वर्ण अपना अपना अर्थ बताते हैं, उनके समूह का ही पद में अन्वय हो जाता है और पद समूह का वाक्य में अन्वय हो जाता है। वर्णों की अपेक्षा पद में जो विरोधता आती है। वह उनके अन्वय के कारण है। पदों की अपेक्षा वाक्य में जो विरोधता आती है। वह पदों के वाक्य में अन्वय के कारण है। अतः इनका मत है कि 'यद्वाचिकं वाक्यार्थं स' (वाक्य० २, ४२) फेसल पद जिस अर्थ का वाक्य है वाक्य में सम्बद्ध होने पर भी वही अर्थ का बोध कराता है। वाक्य में पदों का परस्पर अन्वय होना पर पदार्थ के कारण जो अधिकता हो जाती है उसको वाक्यार्थ कहते हैं, इस पद को पारिभाषिक शब्दों में 'संसर्गवाक' कहते हैं। इस मत का अभिमत यह है कि पदों के समूह का ही नाम वाक्य है। 'संघातो वाक्यम्'। पदों के अतिरिक्त वाक्य कोई प्रयत्न अस्तित्व

नहीं है, और जीव के अतिरिक्त ब्रह्म, आत्मा, प्रतिभा कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। परमाणुओं के समूह से चेतनता या जाती है और चेतनता के ही समूह को वाक्य और वाक्यार्थ कह देते हैं। अर्थात् चेतनता के ही समूह को ब्रह्म, परमात्मा या प्रतिभा कहते हैं। वैयाकरणों ने इस वाद को निरर्थक असमभव और अयुक्तिसंगत माना है, क्योंकि प्रत्येक पद में प्रत्येक वर्ण का अर्थ नहीं होता है, वैसे ही अतिरिक्त पद का अस्तित्व है, अथवा कृत् (ऊर्ध्वा) रूप (वाच) रूप (पक्ष स्तम्भ) ये तीनों पद सवसा विभिन्न अर्थ बताते हैं, इनमें यदि क स प के कारण विभिन्नता मानें तो ऊप के कारण आपे से अपि क तीनों में समानता होनी चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं है, ये तीनों शब्द वैसे ही पृथक् हैं, वैसे ही अतिरिक्त पद का पृथक् अस्तित्व होता है और पद के अतिरिक्त वाक्य का। परमाणुओं के अतिरिक्त जीव (चेतनता) का पृथक् अस्तित्व है और जीव के अतिरिक्त शब्द, आत्मा, ब्रह्म, प्रतिभा जिसको कि व्याकरण में वाक्य एवं वाक्यार्थ कहा जाता है, पृथक् अस्तित्व है।

पदार्थ से पृथक् प्रतिभा का अस्तित्व—पद श्लोक को दारानिक शब्दों में 'अन्वितामिधानवाद्' कहा जाता है, इसका अर्थ है कि अन्वित का अमिधान, प्रत्येक पदार्थ में वाक्याप विद्यमान रहता है, पदार्थों के समूह का ही नाम वाक्याप है, पदार्थ के अतिरिक्त वाक्याप और कोई सत्ता नहीं है प्रत्येक पद में प्रत्येक पद अन्वित है अर्थात् प्रत्येक शब्द में प्रत्येक अर्थ समन्वय-भाव से है, प्रत्येक पदार्थ में प्रत्येक पदार्थ विद्यमान है। अन्वित अर्थात् समन्वययुक्त पदार्थों का समूह वाक्याप होता है। वाक्य में अन्वित पदार्थ का ही अमिधान अर्थात् कथन होता है पदार्थ से अतिरिक्त और कोई बात नहीं कही जाती है इसका अमिधान यह है कि प्रत्येक परमाणु के अतिरिक्त जीव की पृथक् सत्ता है, अमिधान के अतिरिक्त जीवात्मा की पृथक् सत्ता है, प्रत्येक जीव में आत्मा, ब्रह्म, प्रतिभा का समन्वय है। जीव-परमाणुओं के अतिरिक्त आत्मा, ब्रह्म या प्रतिभा और कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। 'पदार्थ पर वाक्यार्थः' (वाक्य० २, ४४), जीवों के समूह का ही नाम परमात्मा, ब्रह्म-प्रतिभा है, वैयाकरणों ने इस वाद को भी निरर्थक असमभव और अयुक्तिसंगत माना है। (वाक्य० २, १७-१८, २, २८-२९, २, ११७, २, २४२-२४३) वैयाकरणों का कथन है कि पदों के समूह का ही नाम वाक्य नहीं होता है, अपितु वाक्य का अस्तित्व पदों से पृथक् है, वाक्य स्वतन्त्र सत्ता है, प्रत्येक पद निरर्थक है, असमभव पदों का उच्चारण करने या प्रयोग करने से सावक वाक्य नहीं बन जाता है। सृष्टि में वाक्यों का ही प्रयोग होता है, पदों का नहीं। वाक्यों के द्वारा ही अर्थ का बोध कराया जाता है। पृथक् पृथक् पदों के द्वारा नहीं 'राम पुस्तक पढ़ता है', में प्रत्येक पद के अर्थ के अतिरिक्त वाक्य में कुछ विरोधता है, वह है, प्रत्येक पद का परस्पर सम्बन्ध। प्रत्येक पद में प्रत्येक पदार्थ में, वह सम्बन्ध नहीं है, जो कि वाक्य में है। इस वाक्य

में राम ही कर्ता है अन्य नहीं, पुस्तक ही कर्म है अन्य कोई पदार्थ नहीं पढ़ना ही क्रिया है अन्य कोई क्रिया नहीं, यह नियम, यह सम्बन्ध वाक्य में ही है, पदों में नहीं, यह सम्बन्ध वाक्यार्थ में ही है, पदार्थ में नहीं। वाक्य के अतिरिक्त पढ़े हुए ये पद इतक नियम और सम्बन्ध को नहीं बता सकते हैं कि राम राम का कर्म पुस्तक ही है, ग्राम वृक्ष या पशु आदि नहीं। राम पढ़ना क्रिया का कर्ता है, जाना सीखना या हॉकना क्रिया का कर्ता नहीं। प्रत्येक पद किसी भी अर्थ को बता सकते हैं, उसका जिस जिस वाक्य में, जिस-जिस प्रकार, जिस सम्बन्ध को बिचार कर प्रयोग किया जाएगा वही उनका अर्थ हो जाएगा। 'राम ग्राम को खाता है' 'राम वृक्ष को सीखता है', 'राम पशु को हॉकता है' में राम वही है जो कि पुस्तक पढ़ने की क्रिया का कर्ता था परन्तु यही विभिन्न कर्म और विभिन्न क्रिया का कर्ता है। कर्ता का नाम और रूप परिवर्तित होता रहता है, कर्म परिवर्तित होकर निम्न-निम्न नाम और रूप धारण करता रहता है, क्रिया भी कर्ता और कर्म के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। प्रत्येक जीव और प्रत्येक पदार्थ के नाम और रूप बदलते रहते हैं, उनके कर्म (सात्विक, राजस, तामस) बदलते रहते हैं, उनके कर्म के अनुसार उनकी क्रियाएँ (सात्विक, राजस, तामस वृत्तियाँ) बदलती रहती हैं। अतः पदार्थ को ही वाक्यार्थ नहीं कहा जा सकता है। पदों में सम्बन्ध नहीं है। वाक्य में सम्बन्ध है, नियम है। पदार्थ में सम्बन्ध नहीं है, वाक्यार्थ में सम्बन्ध है, नियम है।

वाक्य का स्वतन्त्र अस्तित्व—वैयाकरणों का इस पर यह भी कथन है कि यदि पदार्थ को ही वाक्यार्थ मान लिया जाएगा तो अर्थ का अनर्थ हो जाएगा, जैसे किसी अपकार करने वाले व्यक्ति को जब यह कहा जाता है कि आपने मेरा बड़ा अपकार किया है, आपके अपकार का क्या फटना आपका सौजन्य सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, आप कृपया सदा ऐसा ही किया करें। परमात्मा करे आप मुझ से सौ वर्ष जीवें।' यदि अन्विताभिधान के आदेशानुसार यहाँ पर पदों के अर्थ को ही वाक्य का अर्थ मान लिया जाएगा, तो वह महान् अनर्थ होगा। जो कुछ कहा गया है, उसका व्यङ्ग्यार्थ सर्वथा वपरीत है। इसी प्रकार जब किसी की स्तुति में काकु, वक्रोक्ति या अपालम्बन द्वारा निन्दा-सूचक वाक्य कहा जाता है, तब उसका अर्थ पदार्थ के आधार पर निन्दा नहीं होती है, अपितु वाक्यार्थ के आधार पर स्तुति, प्रशंसा अर्थ होता है। अतएव वैयाकरणों का मन्तव्य है कि पद से अतिरिक्त वाक्य की सत्ता है और पदार्थ से

१. बहुरूप पद तथा अतिरिक्त सुबन्ध। प्रथमा भवता वत्त्वं ।

विश्वरीश्वरमेव तदा सती तुङ्गिमात्सव तना इतरां एतत्त्वं ।

नहीं है, और जीव के अतिरिक्त ब्रह्म, आत्मा, प्रतिभा कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। परमाणुओं के समूह से चेतनता आ जाती है और चेतनता के ही समूह को वाक्य और वाक्यार्थ कह देते हैं। अर्थात् चेतनता के ही समूह को ब्रह्म, परमात्मा या प्रतिभा कहते हैं। वैयाकरणों ने इस वाद को निरर्थक असंभव और अमुक्ति-संगत माना है, क्योंकि प्रत्येक पद में प्रत्येक वर्ण का अर्थ नहीं होता है, वर्णों से अतिरिक्त पद का अस्तित्व है, अथवा रूप (ऊर्ध्वा) रूप (शास्त्र) रूप (पञ्च-स्तम्भ) ये तीनों पद सर्वथा विभिन्न अर्थ बताते हैं, इनमें यदि क स य के कारण विभिन्नता मानें तो रूप के कारण आपे से अधिक तीनों में समानता होनी चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं है, ये तीनों शब्द वर्णों से पृथक् हैं, वर्णों के अतिरिक्त पद का पृथक् अस्तित्व होता है और पद के अतिरिक्त वाक्य का। परमाणुओं के अतिरिक्त जीव (चेतनता) का पृथक् अस्तित्व है और जीव के अतिरिक्त शब्द, आत्मा, ब्रह्म, प्रतिभा जिसको कि व्याकरण में वाक्य एवं वाक्यार्थ कहा जाता है, पृथक् अस्तित्व है।

पदार्थ से पृथक् प्रतिभा का अस्तित्व—पद श्लोड को दारानिक शब्दों में 'अन्वित्वाभिधानवाद' कहा जाता है, इसका अर्थ है कि अन्वित का अभिधान, प्रत्येक पदार्थ में वाक्याय विद्यमान रहता है, पदार्थों के समूह का ही नाम वाक्यार्थ है, पदार्थ के अतिरिक्त वाक्यार्थ और कोई सत्ता नहीं है, प्रत्येक पद में प्रत्येक पद अन्वित है अर्थात् प्रत्येक शब्द में प्रत्येक अर्थ समन्वय-भाव से है, प्रत्येक पदार्थ में प्रत्येक पदार्थ विद्यमान है। अन्वित अर्थात् समन्वययुक्त पदार्थों का समूह वाक्यार्थ होता है। वाक्य में अन्वित पदार्थ का ही अभिधान अर्थात् कथन होता है पदार्थ से अतिरिक्त और कोई बात नहीं कही जाती है इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक परमाणु के अतिरिक्त जीव की पृथक् सत्ता है, प्रकृति के अतिरिक्त जीवात्मा की पृथक् सत्ता है, प्रत्येक जीव में आत्मा, ब्रह्म, प्रतिभा का समन्वय है। जीव-परमाणुओं के अतिरिक्त आत्मा ब्रह्म या प्रतिभा और कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। 'पदार्थ एव वाक्यार्थः' (वाक्य० २, ४४), जीवों के समूह का ही नाम परमात्मा, ब्रह्म-प्रतिभा है वैयाकरणों ने इस वाद को भी निरर्थक असंभव और अमुक्तिसंगत माना है। (वाक्य० २, १७-१८; २, २८-२९, ३, १७; २, २४-२४) वैयाकरणों का कथन है कि पदों के समूह का ही नाम वाक्य नहीं होता है, अपितु वाक्य का अस्तित्व पदों से पृथक् है, वाक्य स्वतन्त्र सत्ता है, प्रत्येक पद निरर्थक है, असंबद्ध पदों का उच्चारण करने या प्रयोग करने से साधक वाक्य नहीं बन जाता है। सृष्टि में वाक्यों का ही प्रयोग होता है, पदों का नहीं। वाक्यों के द्वारा ही अर्थ का बोध कराया जाता है। पृथक् पृथक् पदों के द्वारा नहीं 'राम पुस्तक पढ़ता है', में प्रत्येक पद के अर्थ के अतिरिक्त वाक्य में कुछ विशेषता है, वह है, प्रत्येक पद का परस्पर सम्बन्ध। प्रत्येक पद में प्रत्येक पदार्थ में, वह सम्बन्ध नहीं है, जो कि वाक्य में है। इस वाक्य

में राम ही कर्ता है अन्य नहीं, पुस्तक ही कर्म है अन्य कोई पदार्थ नहीं पढ़ना ही क्रिया है अन्य कोई क्रिया नहीं; यह नियम, यह सम्बन्ध वाक्य में ही है, पदों में नहीं, यह सम्बन्ध वाक्यार्थ में ही है, पदार्थ में नहीं। वाक्य के अतिरिक्त पड़े हुए ये पद अन्य नियम और सम्बन्ध को नहीं बता सकते हैं कि राम राम का कर्म पुस्तक ही है, ग्राम वृक्ष या पशु आदि नहीं। राम पढ़ना क्रिया का कर्ता है, जाना सीखना या हँसना क्रिया का कर्ता नहीं। प्रत्येक पद किसी भी अर्थ को बता सकते हैं, उसका जिस-जिस वाक्य में, जिस-जिस प्रकार, जिस सम्बन्ध को विचार कर प्रयोग किया जायगा वही उनका अर्थ हो जायगा। 'राम ग्राम को जाता है' 'राम वृक्ष को सीखता है', 'राम पशु को हँसता है' में राम वही है जो कि पुस्तक पढ़ने की क्रिया का कर्ता था परन्तु वही विभिन्न कर्म और विभिन्न क्रिया का कर्ता है। कर्ता का नाम और रूप परिवर्तित होता रहता है, कर्म परिवर्तित होकर भिन्न भिन्न नाम और रूप धारण करता रहता है, क्रिया भी कर्ता और कर्म के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। प्रत्येक जीव और प्रत्येक पदार्थ के नाम और रूप बदलते रहते हैं, उनके कर्म (सात्विक, राजस, तामस) बदलते रहते हैं, उनके कर्म के अनुसार उनकी क्रियाएँ (सात्विक, राजस, तामस वृत्तियाँ) बदलती रहती हैं। अतः पदार्थ को ही वाक्यार्थ नहीं कहा जा सकता है। पदों में सम्बन्ध नहीं है। वाक्य में सम्बन्ध है, नियम है। पदार्थ में सम्बन्ध नहीं है, वाक्यार्थ में सम्बन्ध है, नियम है।

वाक्य का स्वतन्त्र अस्तित्व—वैयाकरणों का इस पर यह भी कथन है कि यदि पदार्थ को ही वाक्यार्थ मान लिया जायगा तो अर्थ का अनर्थ हो जायगा, जैसे किसी अपकार करने वाले व्यक्ति को जब यह कहा जाता है कि आपने मेरा बड़ा अपकार किया है, आपके अपकार का क्या कहना आपका सौम्य सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, आप क्षमया तथा प्रेमा ही किया करें। परमात्मा करे आप सुख से सौ वर्ष जीवें।' यदि अम्बिकाभिधान के आदेशानुसार यहाँ पर पदों के अर्थ को ही वाक्य का अर्थ मान लिया जायगा, तो वह महान् अनर्थ होगा। जो कुछ कहा गया है, उसका व्यक्त्यर्थ सवथा वपरीत है। इसी प्रकार जब किसी की स्तुति में काङ्क, वक्रोक्ति या उपासन्मन द्वारा निन्दा-सूचक वाक्य कहा जाता है, तब उसका अर्थ पदार्थ के आधार पर निन्दा नहीं होती है, अपितु वाक्यार्थ के आधार पर स्तुति, प्रशंसा अर्थ होता है। अतएव वैयाकरणों का मन्वन्व्य है कि पद से अतिरिक्त वाक्य की सत्ता है और पदार्थ से

१ उपर्युक्त बहु लभ विमुक्त्युक्त सुकनडा प्रसिद्धा भवता परम् ।

विदपशोऽस्मिन् सदा द्यौः सुखिनास्तस्व लभः परदां क्षमात् ।

अतिरिक्त वाक्यार्थ सत्य है। पदों को वाक्य मान लेना और पदार्थ को वाक्यार्थ मान लेना अर्थ नहीं है, अपितु अर्थ है। प्रकृति से अतिरिक्त जीव की सत्ता है और जीव से अतिरिक्त आत्मा (परमात्मा), ब्रह्म, प्रतिमा की सत्ता है। वाक्य अक्षर एक और अवयव से रहित होता है, वाक्यार्थ भी एक अक्षर और निरवयव होता है' (वाक्य, २, १३) वैयाकरण एक आत्मा (ब्रह्म प्रतिमा) को ही दो नाम देते हैं, शब्द और अर्थ (वाक्य और वाक्यार्थ) प्रतिमा के नित्य नाव को स्फोट, वाक्य, शब्द आदि नाम देते हैं और नित्य अर्थ को ध्वनि, वाक्यार्थ आदि नाम देते हैं। शब्द की आत्मा का नाम प्रतिमा है, और अर्थ की आत्मा का रूप प्रतिमा है।

प्रतिमा के दो रूप, स्फोट और ध्वनि वैयाकरणों के मतानुसार समस्त ब्रह्माण्ड, समस्त विरव, समस्त लोकलोकान्तर, समस्त ज्ञान और विज्ञान केवल एक वाक्य है और इसमें केवल एक वाक्यार्थ रहता है। इस पूर्ण वाक्य को वे शब्द कहते हैं और पूर्ण वाक्यार्थ को अर्थ कहते हैं। इसको शब्द-विज्ञान की दृष्टि से स्फोट और ध्वनि कहते हैं। स्फोट शब्द है और ध्वनि शब्द का गुण। "स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः (महामाष्य १ १ १६)। समस्त सृष्टि में, प्रत्येक अणु और प्रत्येक परमाणु में स्फोट है, प्रत्येक परमाणु में प्रतिक्षण स्फोट (विस्फोट) होता है, हो रहा है और होवा रहेगा। ध्वनि शब्द का गुण है। ध्वनि स्फोट (विस्फोट) का गुण है। ध्वनि भी दो प्रकार की है। (१) प्राकृत-भौतिक, स्वाभाविक, नित्य। (२) वैकृत—अनित्य, प्राकृत ध्वनि के कारण शब्द को इत्य दीर्घ प्लुत आदि कहा जाता है। स्फोट नित्य है इसमें काल का भेद नहीं है। इत्य दीर्घ, प्लुत, भूत भविष्यत्, बतमान आदि का भेद स्फोट में नहीं है, वह काल रूप से नित्य है काल के बल भेद प्राकृतध्वनि में रहते हैं, उसी के आधार पर गीय रूप से धातुविक्रम प्रयोग के रूप में प्राकृत ध्वनि के काल को स्फोट का काल कह दिया जाता है। यह प्राकृत ध्वनि ही है, जिसके आभय से शब्द को सुन पाते हैं सृष्टि को देख पाते हैं, सृष्टि में हरयरूपवा प्राकृत ध्वनि का कारण है, अन्यथा सृष्टि नित्य आकारा के रूप में ही होती, इसमें हरबवा न होती। सूर्य, चन्द्र, ताराण्य, मह-व्यमह पर्व महासूर्य आदि इस प्राकृत ध्वनि के कारण हरब हैं, अविभक्त होते हैं।^१

१—अथर्वन न विमलोटिष्ठ कुटोर्ध्वत्क रविभक्ति ।

विष्णोः प्रविभक्तविक्रमिण्यु प्रविषयते ॥

वाक्य २ ११

२—एतदेतन्नामिन्द्रब्रह्मण्य अविभक्तानुपातिनः ।

प्रयोपविशेदैन दृष्टिभेदं प्रकल्पते ॥

एतदभेदावित्यत एतदीर्घप्लुतादिषु ।

माह्वान्त एतदेः कालः अन्वयेत्युपकल्पते ॥

नव १. ७५—७६

स्कोट और प्राकृत ध्वनि का सम्बन्ध विन्ध्य प्रतिविम्ब-भाव सम्बन्ध है। यह समग्र दृश्य ब्रह्माण्ड उसी स्कोट का प्रतिविम्ब है। जिस प्रकार जल में सूर्य या चन्द्रमा का प्रतिविम्ब वीक्ष्यता है, उसमें गति चंचलता आदि वीक्ष्यता है जो कि अवास्तविक है, उसके आधार पर सूर्य या चन्द्रमा की गतिरहित या चंचल आदि समझ आता है, इसी प्रकार नित्य स्कोट जो कि सर्वव्यापक है, सर्वत्र स्थिर रूप से है, उसके प्रतिविम्ब, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह, महासूर्य आदि हैं, जो कि दृश्य हैं। वे एक भ्रष्ट अन्वय-रहित स्कोट-रूपी वाक्य के अर्थ हैं।

ध्वनि के दो रूप प्राकृत और वैकृत—प्रत्येक अणु और परमाणु में प्रतिष्ठित स्कोट (विस्कोट) का परिणाम यह होता है कि सृष्टि में प्रतिष्ठित प्रत्येक पदार्थ में ध्वनि होती रहती है। आधुनिक भौतिक विज्ञान, गणित विज्ञान, मनोविज्ञान तथा अम्प्यात्म विज्ञान ने उसको विभिन्न नामों से प्रस्तुत किया है, ध्वनि-श्रुति-ध्वनि, क्रिया-प्रतिक्रिया तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से चैतन्य एवं अन्त-रचैतन्य, बाह्यात्मा एवं अन्तरात्मा, जीवात्मा तथा परमात्मा। वैयाकरणों ने उसको स्कोट और ध्वनि में विभक्त करके स्कोट की सिद्धि द्वारा अन्तरचैतन्य अन्तरात्मा परमात्मा एवं ब्रह्म की स्थापना की है। वह नित्य है तथा अविनाशी, अक्षय, अस्रव्य और अव्यवहित रूप से प्रतिष्ठित प्रत्येक परिमाण में स्कोट (विस्कोट, प्रतिभा) के रूप में विद्यमान रहता है, अतएव सृष्टि की सत्ता है, स्कोट के कारण ध्वनि अवश्यम्भावी है, अतः प्रत्येक पदार्थ में आकृति (अकार) है, प्रत्येक अक्षर (अ आ, क ख आदि) में वर्ण (आकृति आकार रूप) है। स्कोट-रूप में प्रत्येक पदार्थ अक्षर (अविनाशी नित्य) होने के कारण निर्गुण निराकार है उसके रूप को यह है, ऐसा है इस रूप में नहीं बताया जा सकता है। परन्तु अक्षर अवस्था अर्थात् ध्वनि की अवस्था में जिसको वैयाकरण अक्षर न कहकर वर्ण की अवस्था कहते हैं वह आकृति-समन्वित होने के कारण यह है, ऐसा है इसका यह स्वरूप है इसका आकार इसका वर्ण ऐसा है इत्यादि रूप में बताया जाता है। प्राकृत ध्वनि का फल यह होता है कि अक्षर वर्ण की अवस्था को प्राप्त हो जाता है, निर्बिकल्प सविकल्प अवस्था को प्राप्त हो जाता है। अतएव मर्त्य इति का कथन है कि प्राकृत (नित्य स्वामाधिक) ध्वनि के कारण ही वर्ण (आकृति, आकार-अकार, रूप-रंग) का ग्रहण होता है। प्राकृत ध्वनि में वृत्ति-भेद नहीं

१. प्रतिविम्बं बन्धनम् स्वरं शोभतिवापद्यत् ।
 तद्वृत्तिविषयमेति स चर्माः स्कोटवाचको ॥
 वाक्य १ ४९ ।

२. वर्णत्व प्रत्येकं हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिच्छते ।
 वृत्तिभेदे विभिन्नत्वं वैकृतः प्रतिवचते ॥
 वाक्य १ ५० ।

होता है, अर्थात् सत्व रजस् और तमस् धीनों गुण साम्यावस्था में रहने के कारण मूलप्रकृति में सात्विक, राजस और तामस बृत्तियों का भेद नहीं होता है, अतएव सांख्यदर्शन में मूलप्रकृति को अविभक्ति अर्थात् किसी प्रकार के भी विकार से रहित कहा गया है। स्कोट में जो प्राकृत (मौलिक, स्वाभाविक) ध्वनि होती है, वह उसी अवस्था में शान्त नहीं हो पाती है, उस ध्वनि की वैकृत ध्वनि होती है अर्थात् मौलिक ध्वनि से जो प्रतिध्वनि प्रतिक्षण प्रत्येक परमाणु में होती है, वह वैकृत ध्वनि है^१। इसको वैकृत इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह प्राकृत ध्वनि का विकार है दारानिक शब्दों में इसे परियामवाद कहा जाता है। यह प्रतिध्वनि स्वाभाविक नहीं है नित्य और अक्षय नहीं है, अतः इसे वैयाकरणों एवं वैज्ञानिकों की दृष्टि से प्राकृत ध्वनि न कहकर वैकृत (विकृत अपभ्रश) ध्वनि कहते हैं। ध्वनि न कहकर प्रतिध्वनि कहते हैं।

क्रिया न कहकर प्रतिक्रिया कहा जाता है। इसमें स्थिरता, शान्ति, स्तयता, और नित्यता नहीं है, अतएव इसको अनित्य, अस्थिर आदि कहा जाता है। दारानिक दृष्टि से वैकृत ध्वनि की इस अस्थिरता और अनित्यता की दृष्टि में रखते हुए इसको असत्य कहा जाता है, क्योंकि वैकृत ध्वनि नित्यरूप से सत्य नहीं है, इसमें चय, परिवर्तन, भेद आदि होता है। इस वैकृत ध्वनि को लक्ष्य में रखकर विभिन्न वर्णों ने इसको विपर्व नाम दिया है, अर्थात् यह अनित्य है, असत्य है, पारमार्थिक सत्य नहीं है, यह माया है, भ्रम है, विकल्प है, इसमें परिवर्तन होते रहते हैं, अतः असत्य है, मिथ्या है, वेदान्तदर्शन, बौद्धदर्शन आदि ने इसको लक्ष्य में रखकर विवर्तवाद, शून्यवाद, अभाववाद, लक्ष्मणगुरवाद आदि की स्थिति मानी है, इसका अनिमाय पक्षी है कि वैकृत ध्वनि प्रतिक्षण नष्ट होती रहती है। इसमें हास और विक्षय होता है, इसमें वर्तन और परिवर्तन होता है। इस वैकृत ध्वनि के कारण सात्विक, राजस, तामस, बृत्तियों का भेद होता है।

अर्थविज्ञान की आवश्यकता और उपयोगिता

अर्थविज्ञान की अनिवार्यता—अर्थ-ज्ञान की आवश्यकता और उपयोगिता के विषय में आचार्य यास्क ने निरुक्त में तथा आचार्य पतञ्जलि ने महाभाष्य में बहुत गम्भीर शब्दों में वैदिक ऋषियों को सिद्धान्त व्युत् किया

१ अन्तरालोत्पत्तिरितिमे तु वैकृतः ।

ध्वनयः स्रुतोऽन्ते स्रुतोऽन्ते नित्ये ॥

है। आपार्य यात्क क्व क्यन है कि अर्थविज्ञान से रहित राज्यज्ञान प्रथिमा की व्युत्पत्ति का साधन नहीं है, जिस प्रकार अग्नि के अमाश में शुष्क ईंधन अग्नि को प्रस्वक्षित नहीं कर सकता है वसी प्रकार अर्थ-वस्व की उपेक्षा करके समस्त राज्यवस्व का अभ्ययन प्रथिमा को कमी भी प्रदीप्त नहीं कर सकता है।

यद् गृहीतमविज्ञातं निगद्येनैव शक्यते,
अज्ञानाविद्य शुष्कधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्। निस्तु ११८

आचार्य पतञ्जलि ने इसी श्लोक को बोधे शान्दिक अन्तर से महाभाष्य के प्रथम आह्निक में व्युत्त किया है। आपार्य सायण ने ऋग्वेद भाष्य के प्रारम्भ तथा मन्त्रब्राह्मण की भूमिका में उपर्युक्त श्लोक व्युत्त किया है।

अर्थ-ज्ञान और अर्थ सिद्धि—यात्क ने ज्ञान-अर्सा एव अज्ञान-निन्द्या का बोध कराते हुये मुत्तिययन उद्घृत किया है कि जो मनुष्य समस्त वेद अर्थात् समस्त ज्ञान और विज्ञान का अभ्ययन करने के परशात् भी अर्थ-वस्व अर्थात् प्रथिमा की सिद्धि नहीं करता है, उसका समस्त अभ्ययन वसी प्रकार निरर्थक है, जैसे वेद शास्त्रों के भार को धोने वाले गर्दम का। जो व्यक्ति अर्थवस्व का ज्ञान कर लेता है, प्रथिमा की सिद्धि कर लेता है, वह समस्त सुखों का उपभोग करता है और ज्ञान अग्नि के द्वारा समस्त प्वनिदोषों, सत्कार-दोषों और अज्ञान-बन्ध-दोषों का नाश करके परम-वस्व, परमार्य और अपन अमीष्ट की सिद्धि करता है।

स्थाणुरथ भारद्वाज किलामूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्,
योऽर्थं हत् सकल भद्रमश्नुते नाकमति ज्ञानविधृतपाप्मा। (निस्तु, ११८)

प्रथिमा का साक्षात्कार—वैदिक श्रुतियों ने अर्थज्ञान की अतिसूक्ष्मता और दुर्घोषता पर बहुत स्पष्ट और मार्मिक शब्दों में ध्वान आकृष्ट किया है। उनका कथन है कि अज्ञानी व्यक्ति यादवस्व, अर्थवस्व को देखता हुआ भी नहीं देखता है। सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। वह प्रथिमा का प्रतिक्षण दर्शन करते हुए भी दर्शन नहीं करता है, उसकी अनुभूति करते हुए भी साक्षात् अनुभूति नहीं करता है। इसके लषबा विपरीत ज्ञानी व्यक्ति प्रतिक्षण प्रथिमा का साक्षात्कार करता है और उसकी अनुभूति करता है, अर्थवस्व का ज्ञान प्राप्त करता है। प्रथिमा पतिप्रया स्त्री के तुल्य उस आत्म-वस्वज्ञ व्यक्ति को अपना स्वरूप प्रकट करती है।

उत त्वाः पर्यन्त इदं वाचमुत त्व गृह्यन्त गृह्योऽप्येवाम्,

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे जायेव पत्य उश्री सुवासा (ऋग् १०, ७१, ४)

यास्क ने निरुक्त १, १६ तथा पठञ्जलि ने महामाध्य 'आहिक १' में इसकी विशेष व्याख्या की है। तुर्गाचार्य और नागेश ने इस मन्त्र की व्याख्या में वाकृतत्व के विभिन्न रूपों पर विचार किया है। नागेश का कथन है कि वाकृतत्व की सफ़लता यही है कि अर्थवत्त्व का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय। अर्थवत्त्व वाकृतत्व का शरीर है, वाकृतत्व आत्मा है।

अर्थपरिज्ञानफला हि वाक् । सम्यक् ज्ञानं हि प्रकाशनमर्थस्य । अर्थो हि वाक् शरीरम्, (उद्योत)

अर्थविज्ञान और अक्षरत्व—वेद का कथन है कि अक्षरत्व ही अक्षरता अक्षयता अमरत्व का साधन है, इसी में समस्त तत्त्वों का, समस्त विश्व विभूतियों का समावेश है, वह अक्षरत्व वेद के प्रत्येक अक्षर में व्याप्त है, वह ज्ञान और विज्ञान के प्रत्येक अक्षर में व्याप्त है। जो उस अक्षरत्व को नहीं जानता है उसके लिए समस्त वेद, ज्ञान और विज्ञान निरर्थक हैं, जो उसको जानता है वह उसका उपयोग करता है, उपयोग करता है और अमरत्व प्राप्त करता है।

ऋषोः अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अग्नि विश्वे निषेदुः

यस्तन्न वेद किमुवा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ।

(ऋग् १, १६४, ३६)

यास्क ने निरुक्त १६, १० में इसकी व्याख्या करते हुए यह प्रश्न पठाया है कि यह अक्षर कौन और क्या है? इसके उत्तर में आचार्य शाकपूषि का मत दिया है कि 'ओम्' यह वाकृतत्व ही अक्षरत्व है अर्थात् ब्रह्म-त्व, परमात्मत्व ही अक्षरत्व है। कौपीतिक ब्राह्मण का कथन है कि यही अक्षरत्व है जो वेदव्ययी के प्रत्येक अक्षर में अनुस्यूत है।

ओमित्येया वागिति शाकपूषिः (निरुक्त, १६, १०)

पठञ्ज वा पठदक्षरं यस्तर्ही त्वी विद्यां प्रतिप्रति । कौ० भा० ६, १२

अर्थविज्ञान के बिना महाती विनष्टि—केनोपनिषद् का कथन है कि मनुष्य इस संसार में इसी जीवन में यदि अक्षरत्व का (ब्रह्मत्व का) ठीक-ठीक ज्ञान कर लेता है तो उसके जीवन की सफ़लता है। यदि वह नहीं जान पाता या जानने का अभ्यवसाय नहीं करता है तो महाम् अनर्थ है, जीवन की निरर्थकता है। अर्थवत्त्व-ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान, आत्म-विषय, आत्म-निरीक्षण,

आत्मपरीक्षण, आत्म-साक्षात्कार) से ही जीवन की सफलता है। आत्मतत्त्व ज्ञान के द्वारा मनुष्य प्रत्येक मूर्तों में प्रत्येक पदार्थ में उसी एक तत्त्व का दर्शन करता है तथा मृत्यु के अनन्तर अमरत्व का लाभ करता है।

इह वेदवेदीत्य सत्यमस्ति न वेदिहावेपीग्महती विनष्टि ।

भूतेषु भूतेषु विष्विन्म्य धीराः प्रेत्यास्मान्लोकाद्भूता भवन्ति । केन० २,१

केनोपनिषद् का कथन है कि वह अक्षरतत्त्व बाष्पी के द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता है, किन्तु वाष्पी जिसके द्वारा वाक्-शक्ति-सम्पन्न है। वह मन के द्वारा मन्त्र नहीं किया जा सकता है, परन्तु मन में मन्त्र शक्ति उत्पत्ती की सत्ता का फल है, इसको ही ब्रह्म, आत्मा, परमतत्त्व, तथा वैशाकरियों के शब्दों में प्रतिभा कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जिस किसी तत्त्व या पदार्थ की उपासना की जाती है, वह अनात्मवाद है।^१

अर्थज्ञान और आत्मज्ञान केनोपनिषद् ने इस विषय में एक आवश्यक विषय की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, जो कि विचारणीय और माह्य है। उपनिषद् का कथन है कि जो यह मानता है और समझता है कि वह जानता है, समझता है या विशेष-रूप से समझता है, वह कुछ नहीं समझता है, कुछ नहीं जानता है या बहुत कम जानता है। और जो अनुष्ठानमानिता के अभिमान से प्रयुक्त है वह निरभिमानता एवं विनीतता के अक्षर अर्थतत्त्व को जानता है और समझता है। अहंभाव, पंडितमन्यता आदि उसके ज्ञान में व्यवधान हैं, बाधक हैं।

यस्यामर्तं तस्य मर्तं मर्तं यस्य न वेद सा ।

अविद्यातां विज्ञानतां विद्यातमविज्ञानताम् ॥ केन २,३

अर्थज्ञान और श्रुतिस्व-आधार्य यास्क का इस विषय में कथन है कि मन्त्रों में मन्त्रतत्त्व या मन्त्रशक्ति का ज्ञान श्रुतिस्व (आत्म-साक्षात्कार) एवं उपस्थिता से ही होता है। इन्हीं दोनों साधनों से मन्त्रार्थ का प्रत्यक्ष होता है अन्यथा नहीं। अर्थतत्त्व के ज्ञान के पक्षी मुख्य साधन हैं, इन्हीं से उसकी सिद्धि की जा सकती है।

१ यह वाचकश्रुतिं देव वाचश्रुतिः ।

उदेव ब्रह्म त्वं विद्मि देवं वरिष्ठमुद्यते ॥

वन्मन्त्रं न मृत्युं देवाहुर्मन्ये यत् ।

उदेव ब्रह्म त्वं विद्मि देव वरिष्ठमुद्यते ॥

न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृपेरत्पसो घो, निरुक्त ११, १२

शौनक ने वृहदश्वेयवा ८, १२६ तथा उम्बट ने 'श्रुग्नेद् प्रातिशाक्य' में अक्ष मास को उद्धृत करते हुए लिखा है कि श्रुपित्व की साधना से हीन व्यक्त को मन्त्रराशि का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

न हि प्रत्यक्षमस्त्यनृपेरत्पसो इति (उम्बट) ।

श्रुपित्व की साधना पर बल देने का मुख्य अभिप्राय है कि प्रतिमा शक्ति की प्राप्ति के बिना बसुत अर्धवत्स्य अथ धर्मावत्त ज्ञान नहीं होता है, अथ श्रुपित्व की साधना अनिवार्य होती है। धाक ने श्रुपित्व का अभिप्राय स्पष्ट किया है कि धर्म का साक्षात्कार अर्थात् आत्मसाक्षात्कार, ब्रह्मसाक्षात्कार एवं प्रतिमा का साक्षात्कार करना ही श्रुपित्व है।

साक्षात्कृतधर्मात् श्रुपयो बभूवुः। निरुक्त १, २०

हेलाराज ने वाक्यपदीय कांड ३ पृ० ३७-३६ में धाक के उक्त बचन को उद्धृत करते हुए इस विषय का विस्तार से विवेचन किया है और भुक्तिवचन उद्धृत किया है कि आत्मवत्स्य का ज्ञान करना चाहिए, मनन करना चाहिए, और निर्विष्यासन अर्थात् एकाग्रचित्तता से उसी का ध्यान करना चाहिए। उसी के दर्शन, भवण, मनन और निर्विष्यासन से यह सब सुख प्राप्त हो जाता है।^१ योग-दर्शन का उद्धरण देते हुए हेलाराज कहते हैं कि 'तस्य वाचकं प्रत्यक्षं' 'तस्मिन् स्वधर्ममावतन्म्, 'तव प्रत्यक्षं चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायामावरण' (योग० १, २७-२६)।

अर्थात् इस आत्म-वत्स्य का वाचक रूप प्रत्यक्ष (ओम्) है। उसके अर्थ की भावना (अनुभव) उसका चिन्तन है। इस चिन्तन का फल यह होता है कि चेतन-वत्स्य (चेतना) की प्राप्ति होती है और अर्धवत्स्य के व्यवधानों का अभाव हो जाता है।

अर्थनियमन और सार्वप्राधिगमि विज्ञान—हेलाराज ने अन्ध उद्धरण योगदर्शन से दिया है कि राज्य, अर्थ और ज्ञान इसके परस्पर अभ्यास (वाचात्म्य) के कारण संकर (मिथ्याज्ञान) होता है परन्तु इनके विभाग अर्थात्

१ (क) तथा च धाकम् । धाक्या धाक्यो मन्त्रयो निर्विष्यासिन्व इति । (हेलाराज)

वाक्य ३६ १

(२) धाक्या वा अरे इत्यन्वः अनेभ्यो मन्त्रयो निर्विष्यासिन्वो वैशेष्यात्मनि एतरे ह्ये भुक्ते लो विज्ञान इत्यर्थे विहितम् ।

शब्द, अर्थ और ज्ञान के विवेचन में संयम करने से सारे प्राणियों की ध्वनियों का पर्याय ज्ञान होता है, (वाक्य० ३ पृष्ठ ३८)

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराभ्यासात् संकरस्तरप्रधिभागसयमात्
सर्वमृतस्तज्ञानम् । योग० ३, १७

यास्क ने प्रतिमा-सम्पन्न श्रुतियों के लिए लिखा है कि अनुष्ठान (वेदवित्) जो विवेचन करते हैं या जो तर्कना करते हैं वह आर्य होता है, सत्य होता है और प्रमाथसिद्ध होता है ।

यदेव किं चानुष्ठानोऽभूत्स्यापि तदुभयवति । निरुक्त, १३, १२

कुमारिल भट्ट ने छत्रवार्तिक (१, ३, ७) में यास्क के उक्त कथन का उदाहरण पूर्वक विवेचन किया है^१ ।

प्रतिमा की प्राप्ति और अर्थ सिद्धि—वैयाकरणों ने प्रतिमा को ही वाक्यार्थ सिद्ध करके जो अर्थ सिद्ध बताई है, उसका योगदान से स्पष्टीकरण होता है । योगदान में पतञ्जलि का कथन है कि प्रतिमा की प्राप्ति से सर्वज्ञता की सिद्धि होती है । प्रतिमा का साक्षात्कार करने वाला संसार के समस्त अर्थ वस्तु का ज्ञान कर लेता है ।— 'प्रतिमाद्वा सर्वम्' । योग० ३, ३२

व्याकरण का स्वरूप

सत्य और असत्य का व्याकरण अर्थात् विवेचन—वैयाकरण व्याकरण को स्पष्ट व्याकरण ही नहीं समझते हैं, अपितु सृष्टि के प्रत्येक विवेचन, विरलपण्य और सूक्ष्म परीक्षण को वे व्याकरण के अन्तर्गत समझते हैं । व्याकरण के इस स्वरूप का ज्ञान वेद से प्राप्त होता है । यजुर्वेद का कथन है कि प्रजापति न रूपों को देतकर सत्य और अनुव (स्फोट और ध्वनि) का व्याकरण (विभाजन, विरलपण्य) किया । उसने अनुव में अभ्रवा की स्थापना की तथा सत्य में भ्रवा की प्रतिष्ठा की ।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानुते प्रजापतिः । -

अभ्रवामनुते दधाद्भ्रवा सत्ये प्रजापतिः ॥ यजु० १६, ७७

तैत्तिरीय संहिता का कथन है कि वाक्-वस्तु प्रारम्भ में अभ्याकृत (व्याकरण)

१. यजुःप्रजापत्यस्यैवमर्थं वाक्यस्यैव संस्कारात् । वेदविभागानामुच्चारणप्रतिष्ठानां नोभ्यतेषु प्रतिष्ठायां सत्यवर्तमानावितरेतराभ्यासात् । यदेव किं चानुष्ठानोऽभूत्स्यापि तदुभयवति ।

विरलेपण से रहित) था। वेदों ने इन्द्र से प्रार्थना की कि इस वाक्यत्व का आप हमें व्याकरण (विवेचन) कर दें। इन्द्र ने उसका व्याकरण किया। अतः वाक्यत्व को "व्याकृता वाक्" (व्याकरणयुक्त, विवेचन-युक्त, विरलेपण-समन्वित) कहा जाता है।

वाग्धै पराक्यव्याकृतावत्सो देवा इन्द्रमत्र भूमिर्मा नो वाक् व्यापुर्विति वामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्सस्माविषं व्याकृता वागुचते। तै० सं० ६, ४, ७

व्याकरण अक्षर-तत्त्व और ब्रह्म तत्त्व का विवेचन—पतञ्जलि ने महाभाष्य आह्निक २ के अन्त में प्रश्न उठाया है कि व्याकरण क्या है और इसकी क्या उपयोगिता है। इसके उत्तर में कात्यायन और पतञ्जलि ने कहा है कि अक्षर-तत्त्व एवं अर्थतत्त्व का यथार्थ ज्ञान व्याकरण है, अक्षर-समान्नाय अर्थात् अक्षरादि अक्षर-समूह वाक्-समान्नाय अर्थात् वाक्-तत्त्व का संकलन है, यही ज्ञान और विज्ञान के विवेचन का विषय है, इसी में ब्रह्म का निवास है। यही पुष्पित और फलित होकर पन्द्र और तारामण्डल के मुख्य सर्वत्र अक्षरित हो रहा है, यह, श्रेय है यह ब्रह्मरुशि है अर्थात् ब्रह्मतत्त्व ही सर्वत्र सृष्टि में शब्दतत्त्व रूप से प्रतिमा का विषय हो रहा है। अक्षरसमान्नाय का ज्ञान उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि समस्त वेदों का ज्ञान। वेदों के ज्ञान का फल समान है। अक्षर-तत्त्व ब्रह्मतत्त्व एवं प्रतिमा के साक्षात्कार के लिए व्याकरण है। यह अभीष्ट-सिद्धि का साधन है। यह अर्थसिद्धि का सरल साधन है। (पतञ्जलि, कैयट, आह्निक २)

वर्षदान वाग्विषयो पत्र च ब्रह्मवर्तते।

तदर्थमिष्टदुर्घर्षं लोच्यं चोपदिष्यते। (महाभाष्य आह्निक २)

अथ वैयाकरणों के मतानुसार व्याकरण सत्य और असत्य का विवेचन है। नाम रूपात्मक जगत् में नाम और रूप का व्याकरण एवं विवेचन है। इन्द्र और आह्वि, जाति और व्यक्ति सत् और असत्, सत्य और असत्य, भाव और अभाव, प्रकृति और प्रत्यय उत्सर्ग और अपवाद, सामान्य और विशेष, स्कोट और ध्वनि, सन्धि और विग्रह, समास और व्यास, समष्टि और ध्वान्ति, पदार्थ और वाक्यार्थ आदि का विवेचन और विरलेपण व्याकरण है। वैयाकरण ब्रह्म को महावैयाकरण कहते हैं। प्रतिमा को महावैयाकरण कहते हैं क्योंकि सृष्टि में वही मौलिकतत्त्व है जो व्याकरण, विवेचन, विरलेपण, परीक्षण और समीक्षण करता है।

वेद और अर्थ-विज्ञान

मिठक और वाक्यत्व का विवेचन—ब.रौं वेदों में वाक्यत्व का विभिन्न रूपों में विभिन्न प्रकार से पर्याप्त विस्तार से विवेचन किया गया है। आचार्य

यास्क ने निरुक्त में वाक्यत्व के व्याख्यानमूल कठिपय मन्त्रों की व्याख्या की है। वेदमन्त्रों की ही व्याख्या निरुक्त में होने के कारण निरुक्त में कथित मन्त्रों का पूरक बल्लेख नहीं किया जायगा।

प्रो० सर्ईस और श्रुग्वेद का एक महत्वपूर्ण सूक्त—आक्सफर्ड विरवविद्यालय में भाषा विज्ञान के महोपाध्याय प्रो० सर्ईस ने “साइन्स ऑफ् लैंग्वेज” भाग १ पृष्ठ १ पर श्रुग्वेद के एक सूक्त पर भाषा-विरोपणों का ध्यान आकृष्ट किया है। सर्ईस का कथन है कि इन मन्त्रों में वैदिक श्रुपि का वाक्यत्व के विषय में जो बलव्य है, वह बहुत ही गम्भीर विचारपूर्ण, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सत्य तथा बहुत ही दूरदर्शितापूर्ण है। श्रुग्वेद मंत्र १० सूक्त १२५ मन्त्र १ से ८ जिसका सर्ईस ने बल्लेख किया है, वाक्यत्व का आत्मविशेषण है। इसका श्रुपि ‘वाक् अम्मयी’ है और देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय वाक् (वाक्यत्व) है। वाक्यत्व ने अपने स्वरूप को उत्तम पुरुष में आत्मविशेषण के रूप में प्रस्तुत किया है। वाक्यत्व का कथन है कि —

वाक्यत्व एतस्त तस्त्रों का भारक है मी उरों (प्रायतस्त्र, एकावरास्त्र), वसुभों (आठ वसुभों), आदित्यों (द्वादश आदित्य) तथा विरवदेवों (समस्त देवों, दिव्य विभूतियों) के साथ विचरण करता है। मी मित्र औः वरुण प्राय तस्त्र और अपानतस्त्र) दोनों को धारण करता है। मी इन्द्र और अग्नि (सौर तस्त्र और अग्नि तस्त्र) दोनों को धारण करता है।

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादिरवैरुत्र विश्वदेवैः ।

अहं मित्रावरुणोमा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमदिवतोमा । श्रुग्व० १० १२५. १

सोमतस्त्र आदि का पायक वाक्यत्व—मी सोमतस्त्र का पालन और रक्षण करता है। मी त्यष्टा (विशेषक एव विरलेपक तस्त्र), पूषन् (पोषक तस्त्र), तथा भग (रयितस्त्र, ऐरवम) का पालक है, मी यक्षिय पुरुषों (वाक्यत्वज्ञों, अयतस्त्रज्ञों) को ऐरवये से समृद्ध करता है।

अहं सोममादनसं विभर्म्यहं एवष्टारमुत पूषण भगम् ।

अहं वधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राम्य यजमानाय सुभते ॥

श्रुग्व० १० १२५. २

वाक् तस्त्र राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति—मी राष्ट्र निर्मात्री शक्ति है, मी वसुतस्त्रों का संगम अर्थात् संयोग एवं समन्वय करता है मी विज्ञानमय है, मी वक्षियों (पापनतस्त्र, उपास्यतस्त्र) में सर्वप्रथम है। देव (भाषावित् राष्ट्रराणी) मुझको माना रूप लेकर माना प्रकार से प्रस्तुत करके विभिन्न स्थानों में अनक शक्ति-समन्वित करते हुए प्रतिष्ठापित करते हैं। —

अहं राष्ट्री संगमनी वसुतां चिकित्सी प्रथमा चक्षियानाम् ।
तां मा देवा व्यबुधुः पुरुषा भूरिस्पात्रां भूयश्चिश्यन्तीम् ॥

ऋग् १ १२५. ३

वाक्यरत्न पर अविश्वास से विनारा—ओ मेरा (वाक्यरत्न, प्रतिमा) साक्षात्कार करता है, जो मुझको अनुप्राणित करता है और मेरे वचन को (वाक्यरत्न को) यथार्थता सुनता है, वह अन्न अन्न (पदार्थात्मक अन्न अन्न) उपभोग करता है। जो मुझ पर (वाक्यरत्न, शम्भुत्त्व प्रतिमा) पर विश्वास नहीं करते हैं, वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं। मैं ब्रह्मा के योग्य इस वचन को स्वयं कहता हूँ।

मया सो अन्नमति यो विपश्यति या प्राणिति य ईं श्रुत्वोत्सुकम् ।
अमन्तवो मां त उपक्षिपन्ति भुधि भुत अक्षिण से ववामि ॥

ऋग् १ १२५. ४

प्रतिमा की सिद्धि से ब्रह्मत्त्व और अपिस्व—मैं स्वयं यह कहता हूँ कि देव और मनुष्य सभी मेरी उपासना करते हैं, मेरा आश्रय लेते हैं और मेरा उपयोग करते हैं। मेरी जिस पर व्यादृष्टि होती है या मैं जिसको चाहता हूँ उसको अन्न (तेजस्वी, ओजस्वी) कर देता हूँ। उसको ब्रह्म (ब्रह्मवित्, आत्म-त्त्वब्रह्म, वाक्यरत्नब्रह्म) बना देता हूँ, उसको श्रुति (आत्मसाक्षात्कारकर्ता) बना देता हूँ, और उसको मेधावी एवं प्रतिभाराशी बना देता हूँ।

अहमेव स्वमिदं ववामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।

यं कामये त तमुग्रं कृषीमि त ब्रह्मार्थं तमुपि त सुमेधाम् ॥

ऋग् १० १२५. ५.

वाक्यरत्न की सर्वव्यापकता—मैं ब्रह्मदेवी (वाक्यरत्न, प्रतिमा पर विश्वास न रखनेवाले) के विनारा के क्षिप स्र (रुद्राक्षि) को शक्ति-संगम करता हूँ। मैं मानवसमाज को आनन्दयुक्त करता हूँ। मैं आकार और पृथ्वी में सर्वत्र व्यापक हूँ।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरिषे हस्तया व ।

अहं जनाय समर्हं कृषीम्यहं धावापृथिवी आविबेश ॥

ऋग् १० १२५. ६.

वाक्यरत्न से विप्लव का उद्भव—मैं इस सृष्टि के मूर्धा (मस्तिष्क) में इसके पिता (शब्द-त्त्व, शम्भुब्रह्म) को प्रेरित करता हूँ। मैं समुद्र के अन्तस्तब (ज्ञान-गुहा) में वास करता हूँ, मुझसे ही समस्त विश्व का उद्भव हुआ है। मैं अपने शरीर से पृथ्वी को स्पर्श करता हूँ।

राज्य उस आकारा का गुण्य है, आकारा से वायु की उत्पत्ति होती है, वायु में दो गुण हैं, उसमें राज्यत्व के साथ ही स्पर्शगुण की और वृद्धि हो जाती है। वायु से अग्नि की उत्पत्ति होती है, अग्नि में तीन गुण हैं, इसमें राज्य और स्पर्श के अतिरिक्त रूप की अधिकता है। अग्नि से जल की उत्पत्ति होती है, जल में चार गुण हैं, उसमें राज्य, स्पर्श और रूप के अतिरिक्त रस की और अधिकता है। जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी में पाँच गुण हैं, इसमें एक चार गुणों के अतिरिक्त गन्ध गुण की अधिकता है। पृथ्वी से स्थावर और जंगम समस्त भौतिकवस्तुओं का विकास होता है, इसको पारिभाषिक शब्दों में वित्त अर्थात् सृष्टि कहते हैं, इसका स्थिति काल एक सहस्र युग है। इसके अन्त में अर्थात् प्रलयकाल में अंगों का संकोच मारम्भ होता है और भौतिकत्व पृथ्वी में क्षीन हो जाते हैं, पृथ्वी, जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में और वायु आकारा में क्षीन होते चले जाते हैं। आकाश मनस्त्व में क्षीन हो जाता है, मनस्त्व विद्या अर्थात् ज्ञान-त्व में क्षीन होता है, विद्या महाभ आत्मा में क्षीन होती है, महाम् आत्मा प्रतिमा में क्षीन होती है और प्रतिमा प्रकृति अर्थात् मूल-प्रकृति राज्य-त्व में क्षीन हो जाती है। इसको पारिभाषिक शब्दों में सृष्टि की स्वप्नायस्था पञ्च रात्रि कहते हैं। इसका भी समय एक सहस्र युग है। यही दोनों दिन और रात्रि अर्थात् सृष्टि और प्रलय सदा अपना चक्र चलाते हैं, वैशाखर्यों के शब्दों में यही वृत्ति है। इसी के क्रम्य सृष्टि में सदा परिवर्तन है। अतएव अन्तिम तत्व काल पुरुष है, उसको सांख्य ने पुरुष कहा है, योग धरान ने, पुरुष-विशेष कहते हुए ईश्वर कहा है और वेदान्त ने ब्रह्म कहा है, वैशाखर्यों ने उसे राज्य, राज्यत्व, राज्यब्रह्म, वाक्त्व, वाग्ब्रह्म आदि कहा है।^१

ब्रह्म और वाक्त्व की समानता—श्रुत्येव का कथन है कि वाक्त्व सहस्र प्रकार से व्याप्त है। त्रिवेणी और जहाँ तक बुझोक और पृथिवी प्रतिष्ठित हैं पतनी और वहाँ तक वाक्त्राक्ति प्रतिष्ठित है। इसका महत्त्व सहस्रों प्रकार से सहस्रमुखी व्याप्त है। खितना और जहाँ तक ब्रह्मत्व व्याप्त है खतना और वहाँ तक वाक्त्व भी व्याप्त है।

सहस्रधा पञ्चदशाम्युक्त्या यावद् द्यावापृथिवी तावदित् तत् ।

सहस्रधा महिमानः सहस्र यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ।

श्रुग् १०, ११४, ८

१ भाष्यरूपः वाक् । वाक् वाक्त्वत्वात् स्पर्शत्व । वाक्त्वोक्तिरिति वाक्त्वः स्पर्शः । ज्योतिष भाष्यरूपार्थुका रसः । वाक्त्व इति पञ्चगुणा वर्णनः । इति आत्मा मूलमात्रत्वात् (बहुता) । तद्वत्त्व-इति वाक्त्वत्वात् । तद्वत्त्वो ह्युपपन्नत्वात् । प्रजापतिः । मृगमाया इति वाक्त्व इति । इति वाक्त्व । अथो ज्योतिषम् । ज्योतिषात् । वाक्त्वत्वात् । अथो मया । मया विद्याम् । विद्या महात्त्वत्वात् । महात्त्वत्वात् । प्रतिमा प्रकृतिम् । स स्वप्ति बुद्धत्वात् । अथो वाक्त्वोत्पत्त्यात् । परि-
पत्ते । स अन्तरेण वाक्त्वत्वात् ।

अचेतनों में भी वाक्त्वस्व—ऋग्वेद का कथन है कि अचेतनों में भी वाक्त्वस्व है। अचेतन भी वाक्त्वस्व का उपयोग करते हैं, वाक्त्वस्व विषय तत्त्वों में श्रुति का भाषायक है, वह आनन्दरूप होकर स्थित है।

यद्वाग्ध्वत्त्वविचेतनानि राष्ट्री देवानां निपसाद मन्त्रा ऋग् ० ८, १ । १

आधुनिक विज्ञान और प्रतिमान-तत्त्व—वैयाकरणों ने वाक्त्वस्व के सर्वोत्तम प्रवाह को आचार्य स्कोटायन के सिद्धान्तानुसार स्कोट और ध्वनि कहकर स्पष्ट किया है। प्रत्येक अणु में प्रतिक्षय स्कोट (विस्कोट, किरण-प्रवाह, प्रकाश-प्रसार) होने से प्रत्येक अर्थतत्त्व में प्रतिक्षय प्रतिभा का प्रसार हो रहा है। चेतन और अचेतन सब में प्रतिभा अभिच्छिन्न रूप से अपना कार्य कर रही है अतएव उक्त मन्त्र में वेद ने कहा है कि अचेतन भी उस वाक्त्वस्व का उपयोग करते हैं। वैयाकरणों के सिद्धान्त की सम्पुष्टि आधुनिक विज्ञान ने की है। डाक्टर ओसकर ब्रनसर ने पचीस वर्ष के अनवरत अभ्यवसाय के अनन्तर वैज्ञानिक पद्धति से वैयाकरणों के स्कोट सिद्धान्त की सम्पुष्टि की है। उनका कथन है कि “पयतों, पृथों और अनस्पृश्यों आदि के अन्तर स्कोट की सिद्धि ने मुझे इस निष्पत्ति पर पहुँचाया है कि पृथ्वी पर प्रत्येक पदार्थ में स्कोट (किरण-प्रवाह, प्रकाश-प्रसार) हो रहा है। यदि हम वैज्ञानिक ढंग से यह सिद्ध कर देते हैं और जैसा कि हम सिद्ध करते हैं कि पृथ्वी पर प्रत्येक पदार्थ में स्कोट है तो यह असम्बन्ध रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य में भी स्कोट है। प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में भी प्रतिक्षय स्कोट होता है अर्थात् मानव का मस्तिष्क प्रतिक्षय किरण प्रवाह को रुचिरित करता है” (अमृतवादार पत्रिका २६ जून १९४)

वाक् कामधेनु है ऋग्वेद का कथन है कि देवों ने विषय वाणी को उत्पन्न किया। इसको ही सब प्रकार के पशु बोझते हैं, वह विषय वाक्त्वस्व परेवर्ष और बल दोनों को देने वाला है। वाक् कामधेनु है, वह सब कामनाओं को पूर्ण करती है।

देवीं वाचमजमयन्त देवास्तां विरवरूपाः पशुषो वदन्ति ।

सा भो मन्द्रपमूर्से जुहाना धेनुर्वागस्वावृष सुष्टुतेतु ॥ ऋग् ० ८, १ । ११

वाक् ने सब प्रकार के पशुओं में व्यक्तवाक् और अभ्यक्तवाक् अर्थात् स्पष्ट एवं व्यक्त वक्ता मनुष्यादि एवं अस्पष्टवादी पशु आदि सभी प्रकार के पशुओं का समूह किया है। शतपथ ब्राह्मण ने पशुओं की व्याख्या करते हुए मनुष्य को भी

१ तां कर्त्तव्याः पशुषो वदन्ति । अक्षराकारवाचकवाचकम् ०

अचेतनों में भी वाक्त्व—ऋग्वेद का कथन है कि अचेतनों में भी वाक्त्व है। अचेतन भी वाक्त्व का उपयोग करते हैं, वाक्त्व विष्य तत्वों में ज्योतिष्य आधायक है, वह आनन्दरूप होकर स्थित है।

यद्वाग्ब्रह्मस्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां नियसाव मन्द्रा, ऋग्० ८, १ १

आधुनिक विज्ञान और प्रतिमान—वैद्याकरणों ने वाक्त्व के सर्वोत्तम प्रवाह को आचार्य स्फोटान के सिद्धान्तानुसार स्फोट और ध्वनि कहकर स्पष्ट किया है। प्रत्येक अणु में प्रतिक्षण स्फोट (विस्फोट, किरण-प्रवाह, प्रकाश प्रसार) होने से प्रत्येक अर्थात्त्व में प्रतिक्षण प्रतिभा का प्रसार हो रहा है। चेतन और अचेतन सब में प्रतिभा अविच्छिन्न रूप से अपना कार्य कर रही है अतएव उक्त मन्त्र में वेद न कहा है कि अचेतन भी उस वाक्त्व का उपयोग करते हैं। वैद्याकरणों के सिद्धान्त की सम्पुष्टि आधुनिक विज्ञान ने की है। डाक्टर ओसकर जनरल ने पचीस वर्ष के अनवरत अभ्यवसाय के अनन्तर वैज्ञानिक पद्धति से वैद्याकरणों के स्फोट सिद्धान्त की सम्पुष्टि की है। उनका कथन है कि "पर्वतों वृक्षों और वनस्पतियों आदि के अन्दर स्फोट की सिद्धि ने मुझे इस निष्पत्ति पर पहुँचाया है कि पृथ्वी पर प्रत्येक पदार्थ में स्फोट (किरण-प्रवाह, प्रकाश-प्रसार) हो रहा है। यदि हम वैज्ञानिक ढंग से यह सिद्ध कर बैठते हैं और वैसे कि हम सिद्ध करते हैं कि पृथ्वी पर प्रत्येक पदार्थ में स्फोट है तो यह असम्भव रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य में भी स्फोट है। प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में भी प्रतिक्षण स्फोट होता है अर्थात् मानव का मस्तिष्क प्रतिक्षण किरण प्रवाह को रुचरित करता है" (अमृतबाजार पत्रिका २६ जून १९४४) -

वाक् कामधेनु है ऋग्वेद का कथन है कि देवों ने विष्य वाणी को उत्पन्न किया। इसको ही सब प्रकार के पशु पोसते हैं, वह विष्य वाक्त्व परैवर्य और पल दोनों को देने वाला है। वाक् कामधेनु है, वह सब कामनाओं को पूर्ण करती है।

इवीं वाचमज्जनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशुषो वदन्ति ।

सा ना मन्त्रपमूर्ते बुधाना धेनुर्वागस्थानुप सुप्नुतेतु ॥ ऋग्० ८, १०, ११

वाक् ने सब प्रकार के पशुओं में व्यक्तवाक् और अव्यक्तवाक् अर्थात् स्पष्ट एवं व्यक्त वच्य मनुष्यादि एवं अव्यक्तवादी पशु आदि सभी प्रकार के पशुओं का समूह किया है। शतपथ ब्राह्मण ने पशुओं की व्याख्या करते हुए मनुष्य को भी

१ वां अंशकाः वदन्ति । व्यक्तवाचमज्जनयन्त ॥

पाँच पशुओं में से एक पशु कहा है, उसका कवन है कि पाँच पशु हैं—पुरुष, अरव, गाय, अग्नि (भेड़) और अज (बकरी)। ये पाँच इस सप्त पशु कहे जाते हैं क्योंकि अग्नि ने इनको देखा, ये वर्णन के विषय हुए, अतः पशु हुए।

(अग्निः) पशान् पश्य पश्यन्परःपत् । पुरुषमपर्वं गामबिमर्षं
पशूपम्यत् तस्मादेते पशवः । शत १, २, १, २

एक शब्दतत्त्व के ही इन्द्र आदि अनेकों नाम—एक शब्दतत्त्व जो कि प्रतिमा रूप से सर्वव्यापक है और जिसका सर्वथा अस्तित्व है, उस एक सत्, नित्य और अचर तत्त्व का अनेकों नाम लेकर अनेकों रूपों में वेद और समस्त शास्त्रों में बर्णन किया गया है। ऋग्वेद का कवन है कि सृष्टि में एक सत् तत्त्व है, इसी को विद्वानों ने अनेकों नाम लेकर बर्णन किया है। कोई उसको इंद्र कहता है, कोई मित्र कोई बरुण, कोई अग्नि, कोई विश्व सुपर्वा, कोई धम और कोई मातरिरवा (बायु) कहा है।

इन्द्रं मित्रं बरुणमग्निमाहुरथो दिव्याः स सुपर्वां गढत्मान् ।

एक सद् विमा बहुधा दधन्त्यग्निं धमं मातरिभ्यान्माहुः ॥ ऋग् १, ११४, ४६

यास्क और बाकूतेश्वर की सर्वव्यापकता—यास्क ने आत्मतत्त्व के ही ये सारे नाम हैं, इसका निरुक्त ११, १४ में विशेष रूप से प्रतिपादन किया है। यास्क ने (निरुक्त ११, १६) ऋग्वेद १, १६४, ३१ को उद्धृत करके यह स्पष्ट किया है कि वही आत्मतत्त्व अविनाशी है, शब्दतत्त्व अचर सत् है, वह विभिन्न भागों से विचरण करता है, वह सर्वत्र सूत्रात्मा रूप में श्रोत और श्रोत होकर बसा हुआ है, वह समस्त बिरव में सर्वा व्याप्त है। उसका आत्मतत्त्व साक्षात्कार करते हैं।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पयिमिश्चरन्तम् ।

न सध्रीषी स विपूषीर्ब्रह्मण आ बरीषर्ति मुखनेष्वन्त ॥ ऋग् १, १६४, ३१

यास्क ने निरुक्त (१३, २३-२४) में अचर ब्रह्मणस्पति आदि नामों से सम्बोधित करते हुए उसको आत्मा ब्रह्म आदि कहा है और उसका स्वल्प सिका है कि वह साक्षिमात्र है, वह प्रज्ञा बुद्धि के द्वारा कर्मों को करता है वह ज्ञान के कारण समस्त बर्णनों से पूर्यक है।^१ इससे आगे यास्क ने इस महात्मा आत्मा के ६४ भौतिक नामों का उल्लेख किया है, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं,—

ईस, धम, यज्ञ, भूमि, विमु प्रमु, शम्भु, सोम, मृत, मुपन (वर्तमान),

१. अचर ब्रह्मणस्पतिश्च । प्रपया चर्षं चरन्तीति । आत्मा यद्वेदो
सविनाशो अचरतिष्ठति अन्धो ब्रह्मणः । (निरुक्त ११ ११)

मविष्यत्, व्योम, अन्न, इवि, श्रुत, सत्य, रवि, सत्, अमृत, अन्तरिक्ष, आपः, सगर, तपस्, बरेय्य, ब्रह्म, आत्मा, शरीर आदि ।

अथात्मनो महत् प्रथमं भतनामधेयान्मुक्तमिष्याम । निरुक्त १३, २३,

यजुर्वेद और ब्रह्मसूत्र—यजुर्वेद ने ब्रह्मत्व को अध्याय ३१ और ३२ में पुरुषत्व कहकर उसकी विस्तृत व्याख्या की है, जैसा कि सांख्यविरान ने उसको ब्रह्म आदि नाम से सम्बोधित न करके पुरुष नाम को ही पारिभाषिक अर्थों में प्रयुक्त किया है। पुरुष सूक्त में उस पुरुष की सहस्रशीर्षा पुरुष ।”, आदि मन्त्रों से सर्वन्यापकता और सर्गराक्षिमत्ता बताई गई है। पुरुष सूक्त अर्थात् ३१वे अध्याय की व्याख्या करके ३२वे अध्याय में उसकी दार्शनिक व्याख्या की गई है। जो दार्शनिक भाव ३२ वे अध्याय में विस्तार से बताया गया है, उसका सार्थक निम्न है -

वह परम पुरुष सृष्टि में व्यापक होकर सर्वत्र ओत और प्रोत है । वह समस्त लोकों समस्त दिशाओं और उपदिशाओं में व्याप्त है, वह श्रुत (सत्य) रूप है, वह अपने आत्मतत्त्व से अपनी आत्मा (सृष्टि, ब्रह्मब्रह्म) में अनुप्रविष्ट है । वह श्रुतत्व का एतु है अर्थात् सृष्टि में सूत्रात्मा रूप में व्यापक है। उस अक्षरत्व का आत्म-साक्षात्कार करना ही ब्रह्म साक्षात्कार है और यही ब्रह्मरूपता है ।^१

वैयाकरणों ने जिसको प्रतिमा तत्त्व कहा है उसको यहाँ पर वेद ने मेधातत्त्व (बुद्धितत्त्व) कहा है और कहा है कि इस मेधातत्त्व की ही समस्त वेद और समस्त पितृगण उपासना करते हैं । अन्त में समन्वयवाद की स्थापना करते हुए यह स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया है कि सृष्टि में ब्रह्म शक्ति और शत्रुशक्ति अर्थात् ब्रह्मबल और शत्रुबल इन दोनों के समुचित समन्वय से ही श्री (मद्भा, प्रतिमा, वेदव्य) की प्राप्ति होती है ।

१ वेदस्य पञ्चविहितं गुणं तपसं विश्वं जनसैक्यीयम् ।

तस्मिन्निदमे सं च नि वैमि सर्वं च श्रेष्ठं श्रेष्ठतप विष्णुं प्रब्राह्म ॥

(यजु ३१, ८)

२. पतीत्य भूयानि पतीत्य लोकान् पतीत्य सर्वां प्रदियो विष्टरव ।

अक्षरवाच प्रथमव्युत्पत्तयान्प्रथमात्मानममि स विष्टेय ॥ (यजु ३२ २२)

३. अक्षरत्वं एतद् वि तं निष्पद्य तदक्षरवत्तरवत्तदात्मीयम् ॥

(यजु ३३, १२)

४. वां विषां देवगणाः स्मिन्तरेषोद्यते ।

तथा प्राक्च देवशान्ते विषादिने बुक् स्वाहा ॥ (यजु ३५ १४)

। इद मे ब्रह्मं च सत्र सोमे धियमश्नुताम् । यजु ३२, १६

वैयाकरणों ने इसको ब्रह्म और सत्र नाम से प्रस्तुत न करके वैवाकरणों की पारिभाषिक भाषा में स्फोट और ध्वनि दोनों के समन्वय की स्थापना को बताकर इस भाव को स्पष्ट किया है।

यह अक्षरवत्त्व क्या, फीसा और किस रूप में है, इसको स्पष्ट करते हुए वेद का कथन है कि उस अक्षरवत्त्व को ही वेद में विभिन्न नामों से प्रस्तुत किया गया है। कहीं पर अग्नि नाम से इसकी व्याख्या की गई है, कहीं पर आदित्य, कहीं पर वायु और कहीं पर अन्नमा नाम से। कहीं पर उसको शुक्र (वीर्य) कहीं पर ब्रह्म, कहीं पर आप सोम) और कहीं पर बसी को प्रजापति कहकर इसकी व्याख्या की गई है, वस्तुवत्त्व एकही है, बसी के विभिन्न नाम और रूप हैं।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु अन्नमा ।

तदेव शुक्र तद् ब्रह्म ता आप स प्रजापतिः ॥ यजु० ३२, १

उपनिषद् में अद्वैत की पुष्टि—वेद के उक्त मन्त्रों का उपनिषदों में अनेकों स्थलों पर विस्तार से समर्थन किया गया है। कैवल्य उपनिषद् ने इस भाव को विस्तार से स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह अक्षरवत्त्व ही ब्रह्म कहा जाता है। बसी के शिव, इन्द्र, अक्षर परमस्यद्, विष्णु, माय्य, कास, अग्नि और अन्नमा आदि सभी नाम हैं। वर्तमान, मृत और मविष्यत् में जो कुछ है, वह अक्षरवत्त्व ही है।

स ब्रह्मा स शिवः स अन्नः सोऽक्षरः परमः स्वराद् ।

स एव विष्णु स माय्य स कालोऽग्नि स अन्नमा ॥

स एव सर्व यद्भूतं यच्च मय्यं सनातनम् । कैवल्य० १, ८-९

आगे आकर उपनिषद् ने कहा है कि जो कुछ उत्पन्न होता है, वह मुझसे ही उत्पन्न होता है, मुझमें ही सब स्थित और प्रतिष्ठित है। मुझमें ही सब कुछ लीन होता है। यह अद्वितीय, अद्वैतवत्त्व अर्थात् अक्षरब्रह्म मैं हूँ।

मध्येव सकृत् जात मयि सर्वे प्रतिष्ठितम् ।

मयि सर्वे लय याति तद्ब्रह्माद्ब्रह्मस्यहम् ॥ कैवल्य , १ १९

प्रतिमा के ही अनेकों नाम—पेटरेय उपनिषद् में स्पष्टरूप से कहा गया है कि प्रतिमा, प्रज्ञान के ही निम्नशिक्षित सारे नाम हैं—संज्ञान आज्ञान विज्ञान प्रज्ञान, मेधा दृष्टि (दर्शन) धृति (धर्म) मति, मनीषा ब्रूति स्मृति (स्मरणशक्ति) संकल्प क्रतु (यज्ञ) असु (प्राण), काम (कामना, भावना), बरा (धर्म, नियम, संपन्न आपाद, आचरण)।

संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं इति सर्वास्वीबैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि सन्ति ।

ऐ० ४०, ३, २

मनु और अद्वैततरण—मनु ने मनुस्मृति में इसी भाव की सम्पुष्टि की है। मनु का कथन है कि जिसको शाश्वत परब्रह्म कहते हैं, उसी को कोई अप्रितस्थ कहते हैं, कोई उसे मनु कहते हैं, कोई उसे प्रजापति कहते हैं, कोई उसे इन्द्र और कोई उसे प्राण।

एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्थे प्रजापतिम्।

इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ मनु० १२, १२३

वैयाकरण और अद्वैततरण—वैयाकरणों ने समस्त विचारों के मूलमूल भ्रम को दूर करते हुए तथा समस्त दार्शनिकवादों को एक सूत्र में अनुप्राणित करते हुए उसे अक्षरतत्त्व, शब्दतत्त्व, शब्दब्रह्म आदि कहा है। महर्षि ने दार्शनिकों के विचारों को अज्ञानमूलक बताते हुए वैयाकरणों के सिद्धांत का उल्लेख किया है कि कोई दूरान उसको आत्मा कहता है, कोई वस्तु (पदार्थ), कोई स्वभाव (प्रकृति) कोई शरीर, कोई तत्त्व पंचतत्त्व और कोई उसे द्रव्य कहता है। ये सब द्रव्य के पर्यायवाची शब्द हैं। वैयाकरण जिसको द्रव्य कहते हैं उसका वही भाव है। वह महासत्तास्वी जाति जो कि विशेषतत्त्व से सर्वव्यापक है, उस विशेषण का यह द्रव्य विशेष है। वह अक्षरतत्त्व स्वी द्रव्य नित्य है। आचार्य व्यास ने 'द्रव्याभिधानं व्यासि' अर्थात् द्रव्य ही पदार्थ है, इस सिद्धांत द्वारा जो मौलिक सिद्धांत स्थापित किया है उसका वही भाव है।

विद्या और अविद्या का समन्वय—वैयाकरणों ने प्रकृति और प्रत्यक्ष स्कोट और ध्वनि के जिस समन्वय के सिद्धान्त की स्थापना हृद् और सुस्पष्ट शब्दों में की है, उसका स्पष्ट और असदिग्ध शब्दों में प्रतिपादन यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में जो कि ईश उपनिषद् भी है, किया गया है। वेद का कथन है कि जो केवल अविद्या अर्थात् केवल ध्वनिवाद, प्रकृतिवाद, भौतिकवाद एवं कर्ममार्ग की ही उपासना करते हैं, वे तमोमय मार्ग में प्रवेश करते हैं, परन्तु जो केवल विद्या अर्थात् केवल स्कोटवाद, प्रत्यक्षवाद अध्यात्मवाद एवं ज्ञानमार्ग की ही उपासना करते हैं वे उनसे भी अधिक तमोमय मार्ग में प्रवेश करते हैं। दोनों मार्गों के फल विभिन्न हैं। वास्तविक मार्ग दोनों का ठीक ठीक समन्वयमार्ग है। जो विद्या और अविद्या दोनों को, ज्ञान और कर्म दोनों को साथ ही साथ ठीक रूप से जानता और प्रयोग में लाता है, वह अविद्या अर्थात्

१. तत्र वाक्यान्वयव्यतिरेकान् यानि विद्वेष्यमूर्तां पदार्थं व्यवस्थाप्य व्यासिपद्येन विद्वेष्यत्वं द्रव्यमिति पदार्थं व्यवस्थापयितुं वक्ष्यते। तदेव यदावन्तरेवदिष्टम् । (श्रीजटापरम्)

अतया मनु एवमावत्कं धर्तारं स्पष्टवित्पि ।

इन्द्रमित्यत्र वदोदात्तश्च तित्त्वमिति वृत्तम् ॥

व्यासिपद्येने सर्वे उच्यन्ते द्रव्याभिधातवितो मयस्मिन् । एव तु उच्यते। (श्रीनारायण)

कर्ममार्ग से मृत्यु-बन्धन को काटकर विद्या अर्थात् ज्ञानमार्ग से अमरत्वस्व, अक्षरत्वस्व निर्वाण का उपभोग करता है। यजु० ४० १२ १४)

अथन्तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो मूय इव ते तमो य इ विद्यापाठ्यता ।

विद्यां अविद्यां च यस्तद्वैदोमयच्छेदः ।

अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायामृतमश्नुते ॥ यजु० ४०, १२ १४

१- अविद्या ही विद्या की प्राप्ति का साधन—वैयाकरणों ने समास में जो कि एक सबसे बड़ी समस्या थी, उसको प्रकृति और प्रत्यय स्कोट और ध्वनि दो विभागों में विभक्त करके एक को साधन और एक को साम्य बताया है। स्कोट साम्य है, ध्वनि साधन है, प्रथिमा साम्य है, बुद्धि साधन है, विद्या साम्य है, अविद्या साधन है। ज्ञान साम्य है, कर्म साधन है। मरु हरि ने वाक्यपदीय के द्विचरीय काण्ड में वैयाकरणों के सिद्धान्त का उल्लेख किया है कि समस्त शास्त्रों का विवेचन केवल व्यावहारिक उपयोगिता के लिए है, वे केवल अनुभूतियों को बोध कराने के लिए हैं। शास्त्र तत्त्व को प्रकट करने में असमर्थ हैं, क्योंकि तत्त्व आत्मसाक्षात्कार का विषय है, वह स्वात्मवृत्तिसिद्धि है। अतः शास्त्रों में विभिन्न प्रकार से विभिन्न पद्धति से अविद्या का ही वर्णन किया गया है। जिस प्रकार बाह्यकों को शिक्षा देने के लिए रेखा आवि का उपयोग करके गाय आवि के चित्र से, जो, कि वस्तुतः असत्य है, गाय आवि का बोध कराया जाता है; इसी प्रकार से अविद्या एवं असत्य के प्रतिपादक शास्त्रों से विद्या एवं सत्य का ज्ञान कराया जाता है। परिणाम यह होता है कि अविद्या के द्वारा विद्या का, कर्म के द्वारा ज्ञान का, ध्वनि के द्वारा स्कोट का, बुद्धि के द्वारा प्रथिमा का निश्चित, नित्य, सत्य और निर्बिकल्प रहस्य ज्ञात और प्राप्त होता है। (पुण्य राज, वाक्य० २, २३४-२४०)

व्यवहारय मयन्ते शास्त्रार्थप्रक्रिया यत वाक्य० २, २३४

शास्त्रेषु प्रक्रियामेदैरविद्यैर्बोधवर्धते ।

अमागमविकल्पता तु स्वयं विद्योपवर्तते ॥ वाक्य० २, २३४

उपाया शिक्षमात्राणां बालानामपसापना ।

असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥ वाक्य २, २४०

जयन्त ने म्यायमंजरी में अतएव कहा है कि अविद्या ही विद्या का उपाय है, अतएव इसका आशय लिया जाता है। वाक्य-तत्त्व ही वस्तुतः तत्त्व है। समस्त ज्ञानों में बड़ी अक्षर, अविनाशी रूप में रहता है।

अधिचीव विद्योपाय इत्याभीयते । वाग्वृत्ता तत्त्वम्, सर्वत्र प्रत्यये तदनुपायात् न्याय० ब्रा० ६ प्र० ३४१ ।

कि सृष्टि में जो मौखिक तत्त्व हैं, वे वही हैं और वही रहते हैं। वैयाकरण उसे शब्द कहकर उसकी शब्दिक व्याख्या करते हैं, अन्य उसकी अपने अपने दर्शन और शास्त्रों के अनुसार व्याख्या करते हैं। वस्तुतत्त्व में कोई अन्तर नहीं होता है। व्याख्येय विषय वही रहता है। उक्त कारण से ही एक ही मन्त्र का विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न अर्थ पाया जाता है। यास्क ने कहा है कि चार वेद उस महादेव के चार सींग हैं, तीन सवन अर्थात् प्राण सवन, माध्यम्यिन सवन और सार्य सवन ये तीन काष्ठ भेद उसके पैर हैं। प्रायणीय और हव्यनीय ये दो उसके प्रार हैं अर्थात् यह रूप पुरुष इन दो भागों में विभक्त है। सात ऋन् (गायत्री आदि) उसके हाथ हैं, वह मन्त्र, ब्राह्मण और ऋग्य इन तीन प्रकारों से बद्ध और सम्बद्ध है। वह महादेव मनुष्यों में पक्ष अर्थात् कर्मरक्षिता के लिये प्रविष्ट है।^१

पद् और पदार्थ के चार रूप—ऋग्वेद १, १६४ ४२ की व्याख्या यास्क ने निरुक्त १३, ६ तथा पतञ्जलि ने महाभाष्य आह्विनक १ और मर्तृहरि तथा उसने टीकाकार हेमाराज ने वाक्य० १, १४४ में की है। ऋग्वेद का कथन है कि वाक्यत्व की पदविभाजन की दृष्टि से चार पदों में विभक्त किया जाता है, नाम आख्यात, उपसर्ग और निपाठ। ये चार पद हैं। इनके अरथ पदार्थ भी चार प्रकार का है, नामार्थ आख्यातार्थ (पात्वर्थ), उपसर्गार्थ और निपाठार्थ। इन चारों के रहस्यात्मक अर्थ को मनीषी, मेधावी और प्रतिभा-सम्पन्न ब्रह्मवित् ही जानते हैं। वाक्य के चार विभागों में से प्रथम तीन निरुपेक्ष निष्क्रिय और निरखन रूप से रहते हैं, केवल चतुर्थी ही है जिसको मनुष्य प्रयोग में लाता है।

‘चत्वारि वाक्यपरिमिता पदानि तानि त्रिगुणाङ्ग्या ये मनीषिणः’।

शुद्धा त्रीणि निहिता मेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ ऋग्० १ १६४ ४२

चारक के अनुसार व्याख्या—यास्क ने उक्त मन्त्र की व्याख्या में यह प्रश्न उठाया है कि ये चार पद कौन से हैं जो कि वाक्यत्व के विभाजन से सिद्ध होते हैं। यास्क ने नैहर्छों के मूठ के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों ने जो इसकी व्याख्या की है, उसका भी उल्लेख किया है। (१) आपपद्धति के अनुसार समस्त वाक्यत्व का संक्षेप में ओम्, भू, भुव, स्व अर्थात् ओंकार और महाव्याहृति रूप में विभाजन से ही समस्त वाक्यत्व का विभाजन हो जाता है। (२) वैयाकरणों ने उसको नाम आख्यात उपसर्ग और निपाठ इन चार विभागों में विभक्त किया है। (३) उसी

१ चत्वारि शब्दोक्ति वेदा वा यत् उच्यते। त्रयोऽत्रय वाच्य इति उपनिषि जीम्वि। इ ओंके वाक्योपनिषदोक्तिः। एतद् इत्यादि एतद् इत्यादि। त्रयो वाच्ये मन्त्र ब्राह्मणस्यैः। महान् वेदो वचनो मानीषी उच्यते। एतद् इति मनुष्यावाचिकानि वचनानि। (निरुक्त १३, ७)

को याज्ञिकों ने ब्रह्म-प्रक्रिया के अनुसार मन्त्र कल्प्य ब्राह्मण्य और व्यावहारिक वाक इन चार भागों में विभक्त किया है। (४) निबन्धनशास्त्र के विशेषज्ञों अर्थात् नैतर्क्यों ने उसको श्रुतवेद, यजुर्वेद सामवेद और चौथे व्यावहारिक वेद (अथर्ववेद) इन चार भागों में विभक्त किया है। (निठक १३ ६)।

यास्क ने ब्राह्मण ग्रन्थ का बचन बहस किया है कि वाक्यत्व की सृष्टि होने पर यह चार रूपों में विभक्त हो गया। उसके तीन भाग इन लोकों में है और चतुर्थीरा पशुओं में। उसका जो एक अंश पृथ्वी में है, वही अग्नि में है और वही रयन्तर साम में है। उसका जो अंश अन्तरिक्ष में है, वही वायु में है और वही ब्रह्मवेद्य साम में है। उसका जो अंश बुध्लोक में है, वही आदित्य में है, वही बृहत् साम में है और यही विष्णु में है। और चतुर्थीरा पशुओं में है। चतुर्थीरा के अतिरिक्त जो वाणी अवशिष्ट रही अर्थात् तीन चौथाई वाणी ब्राह्मणों (ब्रह्म-वेत्ताओं) में स्थापित हुई। अतएव ब्राह्मण दोनों प्रकार की वाणी बोलते हैं, एक देवताओं की और दूसरी मनुष्यों की दिव्य और मानवी, सत्य और अनूतात्मक ।^१

वैखरी आदि चार वाखियाँ—पतञ्जलि ने वाक्यत्व के विषय में षष्ठ मन्त्र की व्याख्या में कहा है कि मनीषी ब्राह्मण ही इन विभागों को जानते हैं। नागेश ने इसकी व्याख्या में कहा है इन चार विभागों के पारिभाषिक नाम परा, परयन्ती, मध्यमा और वैखरी हैं। नाम आदि चार भागों में से प्रत्येक के चार भाग हैं। मनीषी पितृशुद्धि के द्वारा आत्मतत्त्व को बरा में करके असक्त ज्ञान प्राप्त करते हैं। इनमें से तीन पर (नाम, आख्यात और उपसर्ग; परा, परयन्ती और मध्यमा) में बेष्टा नहीं है वे ज्ञान सामान्य के विषय नहीं हैं, वे ज्ञान-गुहा में गुप्तरूप से रहते हैं। वैयाकरण व्याकरणमहीप से उसको प्रकशित करते हैं तथा षष्ठ गुहा के अन्वकार को दूर करके षष्ठ तीन अंश का भी ज्ञान प्राप्त करते हैं। पतञ्जलि ने जो यह कहा है कि असक्त चतुर्थीरा मनुष्यों में है उसका अग्निप्राय क्रियट ने स्पष्ट किया है कि चारों पदों में से प्रत्येक के चार

१ अत्रामि तादि चत्वारि परानि । वेखारो ब्रह्मव्यावहारिकवैखर्याम् । वायाव्यापने चोपसर्गानि चत्वारिणि वैखरिणाः । अत्रः अत्रो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति वादिच्छ । अत्रो द्रुवि अत्रामि चतुर्थी व्यावहारिकीति वैखर्य । (निठक १३ ६)

२ छ है वाक् सहा चतुर्थी अथर्वम् । अथर्व लोकेषु श्रीविष्णु उच्यते । वा बुधियां छद्मो छ रम्भरे । अन्तरिक्षे छ वादी छ वाग्देव्ये । वा तिपि छदितै छ इति स लभविषी । अथ चतुर्षु लो वा वागावरीभ्यन् वा माह्येभ्यश्चुः । अथर्व मन्त्रम् । अमर्दी वाग् वरन्ति वा च देवता वा प मनुष्यावात् । (निठक १३ ६)

वैखर्यो छदित १ ११ ५

अथर्व छदित १४ ५

भाग हैं और अवैयाकरण केवल चतुर्थभाग का ही उपयोग करते हैं और उसको ही बोलते हैं। नागेरा का कथन है कि चतुर्थीरा ही ज्ञान का विषय है, अतः वेद न मनुष्यों में चतुर्थ भाग की सत्ता बताई है। (कियट और नागेरा, महा० भा० १)

१ पतञ्जलि और पटञ्जा शब्दों का अर्थ—पतञ्जलि ने 'श्रुतकृ' सूत्र की व्याख्या में कहा है कि शब्द की प्रवृत्ति चार प्रकार की है— जातिवाचक शब्द, गुणवाचक शब्द, क्रियावाचक शब्द और यदञ्जा (पेच्छक) शब्द।

चतुर्थी शब्दात् प्रवृत्तिः जातिशब्दा गुणशब्दा क्रियाशब्दा यदञ्जा-
शब्दावचतुर्था । महा० भा० २

पतञ्जलि ने जातिशब्दों को नित्य माना है, क्रिया को अत्यन्त सूक्ष्म, अप्रत्यक्ष माना है और गुणों को अव्यवहार्य, स्वानुभूतिसिद्ध माना है। जैसे गुड़ का माधुर्य अव्यवहार्य एवं स्वानुभवगम्य है। ये तीन नित्य, सत्य, अक्षय, और अक्षर एवं अविनाशी रूप में सदा विद्यमान रहते हैं। ये अव्यवहार्य, अव्यवहारित, एवं सामान्य निर्पेचन से परे हैं, केवल चतुर्थीरा जिसको पतञ्जलि ने यदञ्जा शब्द कहा है वही मुख्य रूप से व्यवहार का विषय है, ज्ञान का विषय है और प्रत्यक्ष का विषय है। पतञ्जलि का अभिप्राय है कि समस्त भाषाशास्त्र, समस्त मौक्तिक-ज्ञान यदञ्जाशब्द है। जाति, क्रिया और गुण इनके भावों को स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक भाषाशास्त्र में स्वेच्छानुरूप सञ्चिदात्मक शब्द रख लिए गए हैं। अतः संसार का व्यवहार जलता है, यदि यदञ्जा शब्दों की सत्ता न हो तो संसार का कोई व्यवहार नहीं चल सकता है। नित्य शब्दों को मौक्तिक रूप नहीं दे सकते हैं। अतः वे अव्यवहार्य हैं। यदञ्जा शब्द मौक्तिक शब्द हैं वे नित्य नहीं हैं, प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं, अतएव मौक्तिक भाषाशास्त्र प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, उसमें बिक्रम और हास है। यदञ्जा शब्दों के समान ही प्रत्येक शब्द के अर्थ भी यदञ्जा अर्थ हैं। प्रत्येक शब्द के अर्थ पेच्छक और संकेतात्मक हैं, जिस प्रकार मौक्तिक शब्दों में बिक्रम और हास है, उसी प्रकार प्रत्येक मौक्तिक अर्थ में भी प्रतिक्षण बिक्रम और हास है। पतञ्जलि ने श्रुतकृ सूत्र में आगे जाकर यदञ्जा शब्दों के अस्तित्व का उल्लेख किया है और कहा है कि शब्द तीन ही प्रकार का होता है, जातिवाची, गुणवाची और क्रियावाची। यदञ्जा शब्दों की सत्ता नहीं है। कियट ने इसकी व्याख्या में कहा है कि वर्तमान समय में भी जो कोई नाम आदि रहता जाता है उसमें किसी न किसी क्रिया या गुण का ही भाव आरोपित किया जाता है, इसका अभिप्राय यह है कि समस्त भाषाशास्त्र जो कि यदञ्जा शब्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, वह भाषा,

आविद्या, अज्ञान का ही प्रपञ्च है। उसका दार्शनिक दृष्टि से वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं है। अतः दार्शनिकों और उल्लेखों की दृष्टि में सर्वथा अभावात् और हेय है। वह वस्तुतः विवेचन का विषय होता ही नहीं है। 'सिद्धे शम्भार्यसम्बन्धे' (महा० भा० १) की व्याख्या में कात्यायन और पतञ्जलि ने यह मन्तव्य दिया है कि आचार्य पाणिनि ने शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को नित्य मानकर व्याकरण की रचना की है। वे आतिरूप नित्य अर्थ को ही अद्यतस्व मानते हैं और आकृति की अनित्यता को सिद्ध कर केवल द्रव्य जिसको कि आत्मतस्व, ब्रह्मतस्व आदि कहा जाता है वही सृष्टि में अर्थ है पश्या है, वह नित्य और सत्य है। उसी के लिए पतञ्जलि ने कहा है कि वह ध्रुव, कूरम, अपरिणामी, अक्षय, आगम रहित और समस्त विकारों (विकास और ह्रास) से रहित है। उसकी न उपपत्ति होती है, न उसकी वृद्धि होती है और न वह कभी न्यय होता है। सरल शब्दों में वह अम्यय और नित्य है, (महा० भा० १)।

वैखरी आदि वाणियों का स्पष्टीकरण—मर्दहरि और हेताराज ने पूर्वोक्त मन्त्र तथा वैखरी आदि चार वाणियों का वाक्यपदीय के ब्रह्मकोट में स्पष्टीकरण किया है। मर्दहरि ने कहा है कि वैखरी मध्यमा और परवन्ती इन तीन वाणियों का ही ये चमत्कार है जो कि अनेक विभागों में विभक्त होने के कारण नानात्म्य है। हेताराज ने चारों वाणियों का बहुत विस्तार और बहुत गम्भीर एवं गूढ़ शब्दों में विवेचन किया है। महामारुण्य अरबमेघ पर्व ब्रह्मगीता से उद्धरण दिया है कि वैखरी बाणी कठ, वाहु आदि स्थानों में वायु के विकृत होने पर जब वह वर्ण का स्वरूप धारण कर लेती है, तब उस वाणी को वैखरी बाणी कहते हैं, इसमें प्राणवायु का संज्ञाक्षन रहता है, अतः वह प्राणवृत्त से निवृत्त और मम्यद् रहती है। अथर्व ने म्यायर्मजरी (भा० ६ पृ० ३४३) में कहा है कि 'विकार' शब्द का अर्थ है, वेद और इन्द्रियों का समूह, उसमें व्यय होने के कारण इसको वैखरी कहा जाता है। यही अर्थ का विषय है।

२—मध्यमा वाणी उसको कहते हैं जो कि अन्तः सङ्कल्प रूप है बुद्धि ही जिसका उपादान कारण है, जो कि क्रमयुक्त है और प्राणवृत्ति से परे है, वह सूक्ष्म है, ह्रस्वपत्य है यद्यपि उसमें क्रमों का संहार है फिर भी क्रमशक्ति से युक्त है, वह अभिम्यक्ति से रहित है उसमें पशु का प्रत्यक्ष नहीं होता है, वह व्यवहार का कारणभूत है।

कञ्जलं पुङ्ख्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी ।

प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ॥

१—स्थानेषु विदुषु वाचो अन्वर्ततेतिमता ।

वैखरी वाक् प्रवोक्तुं तां प्राणवृत्तिमतिक्रम्यती ॥ (पुष्करराज वाक्य २ पृ० ४)

२—विकार इति वेदोऽन्वर्तमानं अथर्वे, तत्र अत्र वैखरी । आद्यर्मजरी वा ६ पृ० ३४३

३—परयन्ती वाणी उसको कहते हैं जिसमें न भेद है और न क्रम है। वह केवल स्वप्रकारा रूप है, वह शोक व्यवहारहीन है। वह अन्तस्तप्त में प्रकारा रूप है। वह आकरों से रहित होने के कारण निराकार है। वह असंख्य प्रकार की है। जैसे (१) परिच्छिन्नार्थप्रत्ययमास—अर्थात् जहाँ अर्थज्ञान या अर्थ की प्रतीति परिच्छिन्न, विविक्त और स्पष्ट रूप से होती है। (२)। संसृष्टार्थप्रत्ययमास—अर्थात् जहाँ पर अर्थ की प्रतीति संसृष्ट, संमिश्रितरूप से होती है। (३) प्रसृतसर्वावप्रत्ययमास—अर्थात् जहाँ पर समस्त अर्थवत्त्व की प्रतीति प्रसृत हो जाती है, निरुद्ध और निरीह हो जाती है। योगदर्शन के शास्त्रों में निर्विकल्प समाधि की व्याख्या से स्पष्ट समझ जा सकता है। (हेतुब्राह्मण)।^१

अभिमाणात् पश्यन्ती सर्वतः सङ्गतक्रमा ।

स्वरूपज्ञोतिरेवान्त सूक्ष्मा भागनपायिनी ॥

हेतुब्राह्मण का कथन है कि वाक्यत्व की समस्त व्यावहारिक अवस्थाओं में साधु और असाधु, संसृष्ट और असंसृष्ट का विवेचन रहता है। अतः वे अवस्थाएँ पुरुष के संस्कारों के फल हैं। परन्तु परयन्ती का स्वल्प अपभ्रंश से रहित है, सरल है, उसमें किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं है, वह लोफव्यवहारहीन है। इसी वाणी के व्याकरण अर्थात् विवेचन और बिरलोपय से साधुत्व का ज्ञान होता है और योग से इसकी प्राप्ति होती है।^२

४ - मण्डूक्य ने वाक्यत्व की उपर्युक्त तीन अवस्थाओं में चतुर्थ अवस्था का समावेश किया है। पाणिनि और पतञ्जलि ने निपात को भी उपसर्ग और अभ्यय की कोटि में रक्खा है। दोनों को पृथक् करके निर्घञन की आवश्यकता नहीं समझी है। नागेश ने उद्योत में तथा सधुमजूपा (पृ १५२-१७०) में परा वाणी का पृथक् भी विवेचन किया है। नागेश का कथन है कि परयन्ती अवस्था में भी योगियों को प्रकृति और प्रत्यय के विभाग का ज्ञान होता है, परा अवस्था में वह ज्ञान नहीं होता है। मण्डूक्य ने जो वाक्यत्व की कक्षा है, उसका अभिप्राय यही है कि बैक्षरी, मध्यमा और परयन्ती तक ही वाक्यत्व का विवेचन सम्भव है। परा अवस्था में बसैत बुद्धि का सर्वथा अभाव हो जाता है और वाक्यत्व के साक्षात्कार के अरथ अधिकार की निवृत्ति हो जाती है। इसको पांडुरा

१ परयन्ती तु स्र अत्राकृतप्रतिबद्धमावावा सविच्छिद्यवाच्यता त्रिबीजाक्षरा निराकारा च, परिच्छिन्नार्थप्रत्ययमास संसृष्टार्थप्रत्ययमास अत्राकृतसर्वावप्रत्ययमास कैत्ववर्तिनभेदाः। (हेतुब्राह्मण) वाक्य २ १५४।

२ तत्र व्यावहारिकीषु सर्वांत वाक्यरूपासु अद्विकल्पप्रवृत्तप्रविभवा पुनस्तत्संश्लेषः, परमं वाक्यतया कल्पमनप्रक्रमसंतीर्णं लोकाव्यवहारातीतम्। एतावत् तत्र वाक्ये व्याकरणेन उपपुराणानुसंधेन ध्वजपूर्वकं बोधेनापिबन्धितम्। (हेतुब्राह्मण वाक्य २ १५४)।

कलापूर्ण पुरुष में अमृत अर्थां अक्षय, अक्षर और अविनारी कला कहा जाता है।

तस्यां हृत्स्वरूपायामधिकारो निषर्तते ।
पुरुषे वोढशकले तामाहुरमृतां कलाम् ॥

हेखाराज का कथन है कि यह त्रयी वाक् चतुर्थांश रूप में ही मनुष्यों में प्रतिमांसित हो रही है, इसका बहुत बोझ सा अंश व्यावहारिक है और शेष भाग सामान्य व्यवहार से सर्वथा परे है। (वेदा महा० आ० १ मदीय और उद्योत; वाक्य० १, १४४ की व्याख्या; न्यायमञ्जरी आ० ६ पृ० ३४३, लघुमञ्जूषा पृ १६८ १८०)।

वैखर्यां मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदमुतम् ॥

अनेकतीर्यमेवायास्त्वया घासः परं पद्म् ॥ वाक्य० १ १४४

वाक्यत्व और पुरुषत्व—यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में अतएव कहा गया है कि परमपुरुष ही वर्तमान मृत और मविष्यत है, वही अमृतत्व अर्थात् अक्षरत्व का स्वामी है। यह सब उसका ही माहात्म्य है, वह इस सबसे भेद है। समस्त मृत अर्थात् पचत्व उसका एक पेर है। समस्त सृष्टि उसका चतुर्थांश है। उसके तीन पेर अमर और अक्षर हैं। (यजु० ३१, २४)। ऋग्वेद न जो यह कहा है कि उसके चतुर्थांश को मनुष्य बोलते हैं, उसकी व्याख्या पुरुष सूक्त में प्राप्त होती है कि परमपुरुष का तीनचौथाई अंश व्यवहाराधीन है, वह निर्लेप और निरंजन है। उसका केवल चतुर्थांश ही व्यवहार का विषय है। उसी से ही सृष्टि का प्रादुर्भाव और सृष्टि का विकास हुआ है। वह वैखरी वाक् ही सृष्टि में बिराट् पुरुष है (यजु० ३१, ४-२२)।

वाक्यत्व ज्ञान और परमतत्व ज्ञान—जैसा कि ऋग्वेद ने कहा है कि वाक् त्वय के तीन अंश व्यवहाराधीन रहते हैं और जिस भाव की दार्शनिक व्याख्या यजुर्वेद के ३२ वें अध्याय में की गई है, उसी में यजुर्वेद का कथन है कि उसके तीन पद (जाति, क्रिया और गुणराज्य) बुद्धि में ही निहित हैं। जो यथार्थतः इन तीन पदों को अर्थात् मध्यमा, परमस्ती और परा इन तीन अवस्थाओं का स्वयं साक्षात्कार करता है, वह पिता का भी पिता हो जाता है अर्थात् परमतत्त्व और वाक्यत्व हो जाता है।

श्रीति पदानि निहिता शुद्धस्य यस्ता मि वेद स पितुः पितासत् । - -

यजु ३२, ६

अर्थ-ज्ञान के पिता निष्पलता—ऋग्वेद का कथन है कि जो वाक्यत्व के

१ वैखरी वाक् द्वारा वेद भाष्य ब्रह्मवेद प्रवक्तव्य है। प्रवृत्ति का तथा विविधा व्यावहारिक-मन्त्र लक्षण व्यवहाराधीन है। (वेदाङ्ग, भाग २ १४४)

साथ सस्यभाव को प्राप्त होता है, वह स्थिर आनन्द को प्राप्त होता है। उसकी कोई भी बड़े से बड़े तरवज्ञान के विषय में स्पर्धा नहीं कर सकता है, परन्तु जो इसके विपरीत वाकृतस्व की माया में ही स्थित रहता है वाकृतस्व के प्रतिरूप मायाजाल में ही विचरण करता है, उसका समस्त अभ्यसन और भवयु निष्फल होता है। अर्थवत्स्व (प्रतिभा) वाकृतस्व का फल और फूल है अर्थात् अर्थात् अर्थात् सारंग्य है। वह व्यक्ति जो अर्थज्ञान से वञ्चित है, समस्त ज्ञान के वाद भी निष्फल रहता है। निरुक्त० १, २०।

उत त्वं सस्ये स्थिरपीतमाहुर्न हिम्बन्त्यपि चाञ्जिनेषु।

अभेन्वा अरित मापयैव धार्थं शुभुर्वै अफलामपुष्पाम् ॥

श्रुग० १०, ७१, २

अक्षरतत्त्व से वाकत्रयी का विकास—यास्क ने निरुक्त १३, २७ में श्रुग्वेद १०, ६७, २४ की व्याख्या करते हुए कहा है कि अक्षरतत्त्व ही चीनों वाणियों अर्थात् श्रुग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद को प्रेरित करता है। ये अक्षर तत्त्व के कर्मों के विवेचन हैं। ये अक्षरतत्त्व के मनीषा अर्थात् प्रतिभा रूप हैं, जिसको अक्षरतत्त्व प्रेरित करता है। इसकी आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए, यास्क का कथन है कि आत्मतत्त्व ही चीनों वाणियों अर्थात् यैखरी, मध्यमा, और पर्यन्ती अक्षरमेक है। विद्या मति और बुद्धि से सम्पन्नों के कर्म अक्षर तत्त्व के कर्म मान गए हैं। वह आत्मतत्त्व, अक्षरतत्त्व, इस सबका अनुभव करता है।

तिस्रो वाच ईरपति प्र वञ्चिश्च तस्य धीरिति प्रहासो मनीषाम्।

श्रुग० १ ६७, ३४

वाकृतस्व की अमरता—श्रुग्वेद ने वाकृतस्व को विरूप और नित्य कहा है। विरूप शब्द के दो अर्थप्राम हैं, एक यह कि यह रूप, आकार आदि से शुद्ध होने के कारण निरूप, निराकार और अमूर्त है। दूसरा यह कि, वह निराकार होते हुए भी अनेकों रूपों, अनेकों आकारों से युक्त है।

वाचा विरूपनित्यया। श्रुग० ८, ७५, ६

यास्क ने श्रुग्वेद के मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि वाकृतस्व विन्म फलम्प है, वह अपनी महिमा के कारण सदा मरता है, परन्तु फिर भी जीवित रहता है, यही उसकी विशेषता है। निरुक्त १३, २१

देवस्य पश्य काप्य महित्वाया ममार स ह्यः समान।

श्रुग० ८, २५, २

यास्क ने यह स्पष्ट रूप से माना है कि अर्थवत्त्वों का विकास वाकृतस्व से ही होता है, यही अर्थों को प्रकाशित करता है।

वाक् पुनः प्रकाशयत्ययान् । निरुक्त ६, १६

अर्थतत्त्व के धरान से अद्वैत की प्राप्ति होती है और आनन्द का काम होता है ।

अपेक्षितार्थस्य प्रीतिर्मवत्याज्यानसंयुक्ता । निरुक्त १०, १०
अपेक्ष ने वाक्त्वत्त्व को सर्वज्ञ प्रतिपादित किया है ।

विरवदिवं वाचम् ० । अग्न १, १६४, १०

वाक्त्वत्त्व का आधार ब्रह्म—अपेक्ष में प्ररत उठाया गया है कि वाक्त्वत्त्व का परम तत्त्व क्या है । उसका परम आधार क्या है । उत्तर में कहा गया है कि ब्रह्मत्त्व ही वाक्त्वत्त्व का परम आधार है, वही उसमें परम तत्त्व है ।

पृच्छामि वाचं परम ध्योम ।

ब्रह्मार्थं वाचः परमं ध्याम । अग्न १, १६४, ३४—३६

भाग कहा गया है कि उस एक का स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता है ।

एकम्यं बहुरी न रूपम् । अग्न १, १६४, ४४

वाक्त्वत्त्व और भाषाविज्ञान—वेद का कथन है कि वाक्त्वत्त्व ही संसार को नाप हुए है । इस परिमाण का परिणाम यह होता है कि वाक्यों की सत्ता है । वाक्य विभिन्न प्रकार के हैं, किसी में केवल एक ही पद होता है किसी में दो, किसी में चार और किसी में नौ भाषि । यहाँ तक कि एक वाक्य में सड़कों अक्षरों का समावेश होता है । उसके कारण संसार में क्रम है, अक्षरों की सत्ता है । यही तक नहीं, उस वाक्त्वत्त्व के कितने ही समुद्र केले हुए हैं अर्थात् उस वाक्त्वत्त्व के विकास से कितनी ही छोटी और बड़ी विभिन्न भाषाएँ प्रसूत और प्रचलित हैं, इससे चारों दिशाओं और उप दिशाओं में जीवन का संसार है । उसी से अक्षरत्वत्त्व प्रचलित होता है, उसी से संसार अनुभाषित होता है ।

गीर्त्स्मिमाय सक्तिज्ञानि तद्वत्त्वेरुपवी द्विपरी सा अमुपगवी ।

अप्यपवी नवपवी वमृदुगी सद्दसाक्षय भुवनस्य पंक्ति

स्तस्याः समुद्रा अधि पि क्षरन्ति ॥ अथ ६, १० २१

तस्या समुद्रा अधि पि क्षरन्ति तेन जीवन्ति परिशरत्तसाः ।

ततः क्षरत्क्षरं तच्च विश्वमुप जीवति ॥ अग्न १ १६४ ४२

अक्षरत्वत्त्व और सातवाचिर्वा—अग्नवेद का कथन है कि समस्त देव अक्षरत्वत्त्व के द्वारा ही सार्वो वाणियों अर्थान् सात देवों को नापते हैं । अक्षरत्वत्त्व के द्वारा ही सार्वो देवों को नियमित और परिमित करते हैं ।

अक्षरेष मिमत सप्त वाणीः । अग्न १, १६४, ६४

ऋग्वेद का अन्त्य कथन है कि एक वाक्यत्व को ही विद्वान् और कवि अपनेको रूपों में प्रस्तुत करते हैं। वे वाक्यत्व के आश्रय से इसको सात विभागों में विभक्त करते हैं अर्थात् सात स्वरों, सात छन्दों को जन्म देते हैं।

सुपर्य विमाः कवयो वचोमिरेकं सस्तं बहुधा कल्पयन्ति ।

तं धीरा वाचा प्रणयन्ति सप्त । ऋग् १०, ११४ ५—७

वाक्यत्व और सायुज्यप्राप्ति—यास्क और पतञ्जलि ने ऋग्वेद का मन्त्र ज्युत करते हुए कहा है कि जिस प्रकार खलनी से सत् को स्वच्छ किया जाता है, इसी प्रकार वैयाकरण्य ध्यान-शक्ति के द्वारा मनन अर्थात् प्रधान (विज्ञान) का आश्रय लेकर वाक्यत्व को सत्कृत करते हैं, इसमें से असंस्कृत अंश को दूर करके संस्कृत और साधु अंश को ग्रहण करते हैं। इस व्याकरण्य में वाक्यत्व के साथ वे सख्यभाव (सायुज्य) को प्राप्त होते हैं, पतञ्जलि ने प्रश्न किया है कि कहाँ वे सख्य भाव को प्राप्त होते हैं? इसके उत्तर में कहा है कि जो कि यह दुर्गम मार्ग है, जो कि यह ज्ञान के द्वारा शीघ्राप्य है, और जो वाक्यत्व का विषय है। कौन इसको प्राप्त करते हैं, इसके उत्तर में कहा है कि वैयाकरण्य, क्योंकि इनकी बायीं में भद्र लक्ष्मी का वास है।

व्याकरण्य और अद्वैतदर्शन—कैपट और नागेश ने मन्त्र की व्याख्या में वैयाकरण्यों के दार्शनिक दृष्टिकोण का विस्तार से प्रतिपादन किया है। कैपट का कथन है कि सख्यभाव का अभिप्राय यह है कि वैयाकरण्य में द-बुद्धि अर्थात् दैवबुद्धि के सर्वथा निवृत्त हो जाने के कारण सब को अद्वैत-बुद्धि से देखते हैं। समस्त विरव को वे एक ब्रह्मतत्त्व मानते हैं। नागेश ने इसकी व्याख्या में कहा है कि ध्यान-शक्ति के द्वारा असंस्कृत से संस्कृत का विवेचन करने से वे अपने अन्तःकरण्य को सर्वथा शुद्ध बना लेते हैं। वैयाकरण्य शब्द से जिसका प्रतिपादन समझते हैं, वह है ब्रह्म का प्रतिपादन और ब्रह्म का विवेचन। शब्द और अर्थ दोनों में अमेद अद्वैत बुद्धि के कारण वे सख्यभाव को प्राप्त कर ब्रह्म के समान ही ज्ञानयुक्त होते हैं। शब्द में ब्रह्म के एकत्व का ज्ञान होने के कारण वे उसी दृष्टांत से समस्त पदार्थों में ब्रह्मतत्त्व की अभिप्राय का अनुभव करते हुए सायुज्यभाव को प्राप्त करते हैं। इसकी प्राप्ति का साधन निर्विकल्पक ज्ञान है। योगदर्शन के शब्दों में निर्विकल्पक समाधि है। कठिन मार्ग से प्राप्य होने के कारण इसको दुर्गम मार्ग कहा है। वैसे कि वेद में कहा है कि 'नाम्यं पंथा विद्येतऽवनाय (मनु० ३१, १८) अर्थात् उस परमपुरुष के ज्ञान से ही मनुष्य मृत्यु बंधन को तोड़ सकता है, उसकी प्राप्ति अर्थात् निर्वाण का अन्य कोई मार्ग नहीं है। अतएव वेदान्त में कहा जाता है कि (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, तैत्तिरीय उपनिषद् २, १)। कैपट ने कहा है कि वेद नामक ब्रह्म में जो लक्ष्मी विद्यमान है, जिसको वेदांत में परमार्थसर्वविस्तारया सिद्धि कहा है, वह वाक्यत्व के विवेचकों में प्रतिष्ठित है।

नागेश ने परमार्थसंक्षिप्तकथा का भाव स्पष्ट किया है कि परमाय अर्थात् ब्रह्ममात्र विषय का ज्ञान जिसका विषय है और जो कि अर्थात्स्व के साथ अखण्डता, अमिन्नता, और अद्वैत रूप है। समस्त वेद उनके मतानुसार ब्रह्मत्व का ही प्रतिपादक है, अतएव गीता में कहा है कि—

वेदेभ्य सर्वैरब्रह्मेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेद्यविदेव ब्राह्मम् । गीता १५ १५

ब्रह्मत्वस्व ही समस्त वेदों से ज्ञेय है, वही अद्वैत-वर्तन का स्रष्टा है और वही अद्वैतत्व का ज्ञाता है (क्वेट और नागेश, महा० भा० १, निरुद्ध ४, १०)

सकृन्मिव तित्त्वता पुनस्ततो यत् धीरा मनसा वाचमकृत ।

अत्रा सजाय सध्यानि जानते मद्रैर्गं लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ॥

श्रुग् १० ७१ २

अथज्ञान और राज्यसंस्कार—वैयाकरणों ने राज्यसंस्कार अर्थात् साधु और असाधु राज्यों के विवेचन, संस्कृत और असंस्कृत राज्यों के विवेचन पर इसलिये बहुत अधिक बल दिया है कि असंस्कृत राज्य असंस्कृत अर्थात् दूषित क्लृप्तित एव अपवित्र संस्कारों का जन्म देते हैं, उनसे असंस्कृत भावनाओं की उत्पत्ति होती है, जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने लक्ष्य अर्थात्स्व से वंचित रहकर अनर्थात्स्व अर्थात् माया-अर्थ में ही क्षिप्त रह जाता है। पतञ्जलि क्रियेचन उद्धृत करते हुए कहा है कि राज्य यदि एक स्वर या एक वर्ण से असंस्कृत या अशुद्ध है और उसका प्रयोग विधि विधान के अनुसार नहीं हुआ है, असत्य रूप में प्रयुक्त हुआ है तो वह अर्थात्स्व को स्पष्ट करने में सर्वथा असमर्थ है। यही तक नहीं, अपितु वाक्यत्व सिद्धि का साधन न होकर अनर्थ का साधन, विनाशकारी बन्ध हो जाता है और प्रयोक्तृ का नाराकरण है। जिस प्रकार 'इन्द्रशत्रु' राज्य केवल प्रयोग में स्वर की अशुद्धि के कारण प्रयोक्तृ वृत्त के ही नारा का कारण हो गया। (बेल्लो, ऐतिह्यसंहिता का० २ प्र० ५ और शतपथ का० का० १ प्र० ५ तथा क्वेट और नागेश महा० भा० १)।

तुष्टं राज्यं स्वरतो वर्णतो वा निष्पामयुक्तो न तमर्थमाद ।
स वाग्यत्रा यद्भ्रमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतोपराधात् ॥
महा भा १

अतएव पतञ्जलि ने प्रश्न उठाया है कि राज्यत्व के ज्ञान में ही धर्म अर्थात् लक्ष्य की इतिमी है अथवा उसके प्रयोग में ? बहुत विचार के परभाव इस विषय पर जो निर्णय दिया है, वह यह है कि लक्ष्य की इतिमी मुख्य रूप से आचार अर्थात् आचरण पर निर्भर है। संस्कृत और साधु राज्यों के तथा संस्कृत भाषों के प्रयोग पर निर्भर है। साथ ही ज्ञान-वृत्त की उपयोगिता बताते हुए कहा है कि न केवल राज्यत्व के ज्ञान में ही इष्ट सिद्धि है और न केवल प्रयोग में, अपितु

बोनों के यथार्थ समन्वय में ही है। जिसका अभिप्राय यह है कि शब्दत्व के ज्ञान के साथ ही साथ बसक संरक्ष और साधु अर्थों में प्रयोग करने से ही अन्तिम क्षण की सिद्धि होती है, अभ्युदय होता है, और धर्म की प्राप्ति होती है।

आचार्य विभवा, शास्त्रार्थके प्रयोगेऽभ्युदयः । महा आ १

शब्द की प्रामाणिकता—पतञ्जलि ने व्याकरणों के सिद्धांत का उल्लेख किया है कि वे शब्दत्व (आत्मत्व, ब्रह्मत्व, प्रतिभा) को ही अन्तिम प्रमाण मानते हैं, जो शब्द कहता है, इसीको वे प्रमाणभूत मानते हैं। शब्दत्व का कथन है कि शब्दज्ञान में धर्म है, अतएव वे संस्कृत शब्दों के ज्ञान में धर्म एवं अभ्युदय मानते हैं। शब्दत्व असंस्कृत एवं अपराधों के ज्ञान में अधर्म का उल्लेख नहीं करता है, हाँ, प्रयोग में अवश्य अधर्म का उल्लेख करता है, अतः असंस्कृत, असाधु, प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के ज्ञान में कोई अनर्थ नहीं है। (महा० आ० १)

शब्दप्रमाणात् वयम्, पद्येषु आह तद्वर्माकं प्रमाणम् ।

शब्देषु शब्दज्ञाने धर्ममाह, नापशब्दज्ञानेऽधर्मम् ॥ महा० आ १

एक शब्दज्ञान और इष्टसिद्धि—पतञ्जलि ने मुक्तिवचन उद्धृत करते हुए कहा है कि एक शब्द का ही ठीक-ठीक ज्ञान करने और शास्त्रों के विधिबिधान के अनुसार शुद्ध प्रयोग करने पर समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है अर्थात् समस्त अर्थत्व की प्राप्ति होती है। यहाँ पर एक शब्द से अभिप्राय स्फोटरूप शब्द है। उसी के ज्ञान और प्रयोग से अर्थज्ञान और अर्थसिद्धि होती है।

एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च मद्भुग् भवति । महा ६, १, २४

शुद्ध का कथन है कि वाक्यत्व को प्रेरणा देने वाला मर्त्य अर्थात् शब्दत्व नहीं है, वह अमर्त्य, अविनाशी और अक्षर तत्त्व है, वह रयितत्व क्षेत्र में स्थित है। (रयितत्व की विशेष व्याख्या भ्रनोपनिषद् भ्रन १ में की गई है।)

इयं वाच रयिपादमर्त्यं ॥ शुद्धं ६, १, २५

व्याकरण और भाषाशास्त्र का संस्करण—वाक्यत्व जो कि सहस्रों धाराओं में अर्थात् सहस्रों भाषाओं और उपभाषाओं के रूप में सर्वत्र व्यापक है, प्रकृत है। उसमें मौखिक रूप से पवित्रता है, पावनता है, सकृति है और सत्कार है, अतएव उसमें जो असंस्कृत अंश आ जाता है उसको प्रतिभा-सम्पन्न कवि अर्थात् कान्ठद्वारा विद्वान्, व्याकरण, कवि आदि दूर करके भाषाशास्त्र को संस्कृत और पवित्र बनाये रखते हैं।

सहस्रभारे वितते पवित्र भा वाचं पुनन्ति क्वच्यो मनीषिणः ।

श्रुग् १, ७३, ७

श्रुग्नेव में आगे शब्दत्व को हरि अर्थात् विष्णु वताते हुए कहा गया है कि वह सहस्रों धाराओं वाला है और उन सहस्रों धाराओं से (सहस्रों भाषाओं से) वह सिक्त होता रहता है अर्थात् समृद्ध किया जाता है । वह वाक्यत्व को पवित्र करता रहता है ।

सहस्रभारा परि विभ्यते हरिः पुनातो वाचम्० । श्रुग् १, ८६, ३३

वेद ने सोमत्व की व्याख्या में कहा है कि वह वाक्यत्व को कवियों की बुद्धि से अर्थात् भाषाशास्त्रियों की प्रतिभा के माध्यम से प्रेरित करता है और समृद्ध करता है ।

द्विन्दानो वाच मतिमि कपीनाम् । श्रुग् १, १७ ३२

वाक्यत्व से वाक्यत्व का उद्धार—आंगिरस कृष्ण ने इन्द्र देवता के मन्त्र में कहा है कि हे विद्वानों ! वाक्यत्व के आभय से वाक्यत्व को पार करो । इसका अभिप्राय यह है कि प्रतिभा ही वाक्यत्व के उद्धार का साधन है और उसी से मनुष्य भवसिन्धु को पार करता है । इस भाव के समान ही गीता में कृष्ण ने कहा है कि आत्मरक्ति के आभय से ही अपनी आत्मा का उद्धार करना चाहिए, आत्मत्व का कभी ह्रास न होने दे, क्योंकि आत्मा ही आत्मा (अपने आप) का बन्धु है और वही आत्मा का पुरुषयोग करने पर आत्मा (अपने आप) का शत्रु हो जाता है ।

वाचा विप्रास्तरत वाचम् । श्रुग् १०, ४२, १

उद्धरेदारमनात्मानं नामानमवभाषयेत् ।

आ मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ गीता ६ ५

वाक्यत्व और प्रतिभा - श्रुग्नेव में प्राज्ञापत्य पतंग श्रुपि ने मायामेव की व्याख्या में कहा है कि पतंग अर्थात् सूर्य (अक्षरत्व, अक्षरत्व) मनस्त्व के द्वारा वाक्यत्व को सम्पुष्ट करता है । गन्धर्व उसको अन्तःकरण में प्रकट करता है, वाक्यत्व तो ज्ञानमय है, वह आनन्दमय है, वह मनीषा है अर्थात् प्रतिभात्व है । अन्तर्दृष्टी विद्वान् उसकी श्रुत के स्थान में अर्थात् अक्षरत्व में रचा करते हैं, सम्पुष्ट करते हैं ।

पतंगो वाचं मनसा विमर्ति तां गन्धर्वोऽबद्धं गर्भं अन्तः ।

तां द्योतमानां स्वयं मनीषामृतम्य पद् क्वच्यो नि पान्ति ॥

श्रुग् १ ७७ ६

वाकृतस्व दोषों का संहारक—अक्षरतस्व की सिद्धि का फल बताते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि इन्द्र वाकुराक्षि से सहस्रों असकृत् वाणी बोलने वाले, अपराध्यों (अपमत्रशों) का प्रयोग करने वाले अपवित्रात्माओं का संहार करता है। यही उसका पुरुषत्व, पुरुषार्थ है। अतएव उसकी उपासना की जाती है। इसका अन्वय यह है कि आत्मतस्व, वाकृतस्व के आश्रय से उसको शक्तिरूप में लेकर वाकृतस्व के हास करने वाले तथा इसका दुरुपयोग करने वालों का संहार करता है। यही आत्मतस्व का पुरुषार्थ है।

यो वा वा विवाद्यो मृद्ववाच पुरु सहस्राश्रिवा अघान ।

तस्यदिवस्य पीरुय गृणीमसि पितेभ यस्तबिगी वाबुधे श्व ॥

ऋगू० १०, २३, ५,

यजुर्वेद में वाकृतस्व के गुणों का वर्णन—यजुर्वेद ने वाकृतस्व के विभिन्न गुणों पर प्रकाश डाला है। यजुर्वेद का कथन है कि वाकृतस्व समुद्र है अर्थात् समुद्रवत् अक्षय अंदार, अगाध और दुर्बोध है, वह सर्वव्यापक है। वह अनावि और अक्षर है, वह एकतस्व है। वह पेन्द्र अर्थात् इन्द्राक्षि-सम्पन्न है, वह सवस् है, आभारमूत है और उसके कारण मनुष्य में सवस्यता, सम्पत्ता, शिष्टता आदि की स्थिति है वह अक्षरतस्व का अर्थात् ब्रह्मतस्व का (शतपथ ब्रा० ४, १ ४, १०) प्राण्य और अपानरूप से द्वार है। वह देवयानमार्ग अर्थात् राजयोग मार्ग एवं सन्नार्ग पर चलने वालों के मार्ग का रक्षक, विप्रनिवारक है।

समुद्रोऽसि विभ्यम्पचा अजोऽस्येकपादहिरसि बुभ्यो बगस्येन्द्रमसि
सदोऽस्युतस्य दानी । यजु० ४, ३३

वाकृतस्व के प्रतिमा रूप का गुण-विरक्षेपण करते हुए कहा गया है कि यह चेतनतस्व है बुद्धितस्व है, यज्ञिय है, अभिनारी है और दोनों ओर सिरबाजा है अर्थात् द्विविधगुण सम्पन्न है। स्फोट और म्वलि दोनों गुणों से युक्त है।

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि रुधियासि यज्ञियास्यदितिरस्युमयता
शीर्षी । यजु० ४ १६

वाकृतस्व विश्वकामाश्चरि है—यजुर्वेद १३, ५८ में वाकृतस्व को विश्वकर्मा श्रुति कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण ने इसकी व्याख्या में कहा है कि वाकृतस्व को विश्वकर्मा श्रुति इसलिये कहते हैं, क्योंकि वाकृतस्व के द्वारा ही यह सब कृत्र किना गया है अर्थात् वाकृतस्व के द्वारा ही स्वरे ससार की सृष्टि हुई है।

वायु वै विश्वकर्माऽर्दिः (यजु० १३, ५८) वाचा हीदृष्टुस्वै कृतम् । रातपय
 प्रा ८, १, २, ६

अथर्ववेद और वाक्त्वस्व का विवेचन—अथर्ववेद का कथन है कि राज्य
 ब्रह्म त्रिपाद् है अर्थात् वैश्वरी, मध्यमा और पर्यन्ती तीन पर्वों वाला है।
 वह ब्रह्म नाना रूपों को धारण करके प्रतिष्ठित है, वही से विराभों और उप
 विराभों में ध्यात समस्त जगत् जीवित है।

त्रिपाद् ब्रह्मपुरुषं वि तच्छे तेन जीवन्ति प्रविशन्त्यतस्तु ।

अथर्व ६, १, १६

विद्युत् वाक्त्वस्व है—अथर्ववेद में विद्युत् को वाक्त्वस्व बताया है और
 कहा है कि वह शुक्रोक्त और पृथ्वी में राशि का आधान करता है।
 वही से समस्त पशुओं में जीवनराशि है, वही बल और अन्न को परि
 पुष्ट करती है।

स्तनयित्मुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुभं क्षिपसि भूम्यां दिवि ।

तां पशव उप जीवन्ति स्वै तेनो सेवमूर्धं पिपेसि ॥

अथर्व० ६ १ २०

वाक्त्वस्व से देवी और आसुरी सृष्टि—वाक्त्वस्व को अथर्ववेद ने पर
 मैन्दी प्रजापति का स्वरूप माना है, उसको देवी बताते हुए कहा है कि वह
 ब्रह्मत्व के द्वारा सृष्टिस्व होती है, उसी के द्वारा रात और पोर अर्थात् देवी
 और आसुरी समस्त सृष्टि होती है।

इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्म-सशिता ।

ययव ससृजे पारं तयैव शान्तिरस्तु न ।

अथर्व० १६, ६, ३

वाक्त्वस्व का विराट् रूप—अथर्ववेद ने काण्ड ६ के सातवें सूक्त में २१
 मंत्रों में वाक्त्वस्व के विराट् रूप का बहुत विस्तृत रूप में वर्णन किया है।
 वेद का कथन है कि प्रजापति और परमेष्ठी उसके दो सींग हैं। इन्द्र उसका
 सिर है, अग्नि छाटाट है, यम उसकी गर्दन है, सोमत्वस्व उसका मस्तिष्क
 है, शुक्रोक्त ऊपर का ओष्ठ है और पृथिवी अधरोष्ठ है, विद्युत् जिह्वा है,
 मरुत् हाँव हैं, धर्म उसका बाहन है, विश्व उसकी प्राणवायु है, मित्र और
 बरुण उसके कन्धे हैं, महादेव उसकी मुञ्जारे हैं आदि। वह प्रजापति रूप में
 सबत्र ध्यात है, वही के ही ये सारे रूप हैं, वही विश्वरूप है, वही सर्वरूप है और
 वही राष्ट्रब्रह्मरूप है। (अथर्व० ६, ७, १-२६)

पठद् वै विश्वरूपं सबरूपं गारुपम् । अथर्व० ६, ७, २५

वाक्यत्व और ब्रह्मगवी—अथर्ववेद ने काण्ड १२, सूक्त ५ के ७१ मन्त्रों में ब्रह्मगवी का विभिन्न दृष्टिकोण से विवेचन किया है, जैसे ब्रह्मगवी की सृष्टि, उसकी प्रतिष्ठा, ब्रह्मगवी का गुण-गौरव, उसकी प्राप्ति के साधन। ब्रह्म और वीणा उसके बसन्तकार द्वारा अपहरण का परिक्राम सर्वनाश और विनाश, उसकी दुष्प्रप्यता और दुःसाम्यता, आदि।

ब्रह्मगवी (प्रतिष्ठा, ब्रह्मविद्या, वाक्यत्व) के विषय में—कहा है कि ब्रह्म और तपस्या के द्वारा उसकी सृष्टि हुई है, ब्रह्म ने ही उसका ज्ञान पाया है वह अक्षय में स्थित है, सत्य के द्वारा आधृत है, भी से डकी हुई है परा से भिरी हुई है, स्वभा से परिधानयुक्त है, धन्ना से डोई गई है, वीणा के द्वारा गुण और सुरक्षित की गई है।

धमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मवा वितर्ते भिता ।

सत्येनाधृता भिया प्राधृता पशसा परिधृता

स्वधया परिहिता धन्या पर्यधा वीणया गुता०

अथर्व १२, ५, १-३

ब्राह्मण ग्रन्थ और अर्थ विज्ञान—वेद में अथर्वतत्व के विषय में जिन भाषों का उल्लेख किया गया है ब्राह्मण ग्रन्थों में वही भाषों का विराट् विवेचन किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने अथर्वतत्व के कतिपय गूढ़ एवं अदृष्ट भाषों को स्पष्ट करने के लिए आख्यानों और उपाख्यानों का आश्रय लिया है और आख्यानक के द्वारा मौखिक एवं रहस्यात्मक भाषों को अभिव्यक्त किया है। व्यास ने अतएव महा भारत में कहा है कि—

इतिहास पुराणान्यां वेदार्थमुपसृहयेत् । (महा आदिपर्व)

इतिहास अथात् आख्यानक एवं पुराणों से वेद के अथर्वतत्व को विकसित करना चाहिए।

ब्राह्मण और स्फोटवाच—वेद ने वाक्यत्व को ब्रह्म कहकर उसकी व्याख्या की है, वेदाकरणों ने उसको और स्पष्ट करने के लिए स्फोट सिद्धान्त की सिद्धि करके ब्रह्मत्व की स्थापना की है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने स्फोटसिद्धान्त की व्याख्या वाक्यत्व को ब्रह्म कहकर की है। वेतरेय, शतपथ, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण, गोपथ, तैत्तिरीय, पद्मविंश आदि ने वाक्यत्व को कहा है कि वाक् ही ब्रह्म है। जैमिनीय ब्राह्मण का कथन है कि जिसको हम वाक् कहते हैं, वह ब्रह्म ही है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि ब्रह्म ही वाक्यत्व का परमतत्व है। वेतरेय ने वाक्यत्व को दो भागों में रत्नकर कहा है कि वाक् ब्रह्म और सुब्रह्म दोनों हैं, इसीलिए उसको सुब्रह्मत्व नाम दिया है।

वाग्यं ब्रह्म । वे ६, ३, १० २, १, ४, १०

वाग्मय्य । गो० पू० २, १०

सा वा सा वाग्मय्येव तत् । जी० उ २, १३, २

ब्रह्मण वाच्यं परमं व्योम । टी० ३, १, ५, ५

वाच्ये ब्रह्म च सुब्रह्म चेति । ऐ० ६, ३

वाच्ये सुब्रह्मरूपा । ऐ० ६, ३

ब्रह्मतत्त्व से अर्थतत्त्व का विकास—मण्डूकि ने शब्दतत्त्व से समस्त अर्थ तत्त्व अर्थात् समस्त पदार्थोत्पत्तिक जगत् की सृष्टि मानी है, उसके स्पष्टीकरण में हेलाराज ने भ्रुवि का बचन बद्ध किया है कि यह समस्त ब्रह्मांड स्फोटरूप शब्दतत्त्व का ही परिणाम है, इसका ही विकास है। शब्दतत्त्व ही शब्दशक्ति के रूप में सृष्टि को निबद्ध और सम्बद्ध किए हुए है। वही सृष्टि में सम्बन्ध है। शब्द की मात्राओं से अर्थात् मूल प्रकृति के प्रतिभावत्त्व से सृष्टि प्रकटावस्था में आती है, प्रत्यक्ष का विषय होती है। प्रकटावस्था में यह समस्त अर्थतत्त्व वही शब्दतत्त्व में लीन हो जाता है।

ब्रह्मेवं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम् ।

विद्युत् शब्दभावाभ्यस्तास्त्रैव प्रविलीयते ॥ वाक्य० ११

हेलाराज ने वाक्य० १, ८ की व्याख्या में अन्य भ्रुविबचन बद्ध किया है कि नित्य और अनित्य जितना भी अर्थतत्त्व है वह सब शब्द की मात्राओं अर्थात् सूक्ष्म शक्तियों से उत्पन्न हुआ है, उनमें रूपवान् और रूपरहित अर्थात् साकार और निराकार, दृश्य और अदृश्य, प्रत्यक्ष और परोक्ष, मूल और अमूल्य भाव और अभाव तथा सूक्ष्म और स्थूल समस्त विषय संरिक्त हैं, अभिन्न रूप से सम्बद्ध है।

मित्याश्चानित्याश्च मात्रायोनया यासु रूपि चारूपि च सूक्ष्मं च स्थूलं वेदं भुवने विपत्तमिति । वाक्य १, ८

काठकसंहिता १२, ५, २७ तथा वाचस्पत्यमहाभाष्य २०, १४, २ में वाक्यतत्त्व से ही सृष्टि की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है।^१ ऐतरेय ब्राह्मण ने अथर्व वाक्यतत्त्व को अर्थतत्त्व का मूलकारण कहा है।

वाग्यानि । ८ २, ३८

मण्डूकि ने वेद और ब्राह्मणादि के मन्त्रभ्य को बद्ध करते हुए कहा है कि

१ ब्रह्मनिर्वाण्डरूपेण आद्यतत्त्व कालेन स्वमासीर वाग् द्वितीया च ऐतरेय । वाचस्पत्यमहाभाष्य २० ५, २७ ।

प्रकाशिते इदमाद्यतत्त्व वाग् द्वितीयासीत् तां विद्युत् उच्यते, सा पञ्चमवत्, सारभारवाकाशभूतयोः मया कथ्यते । वाग् १ १४ ५ ।

यह विरव राज्यतस्क का ही परिणाम है। संसार सर्वप्रथम जन्मों से अर्थात् प्रतिमान-तस्क से, स्फोटतस्क से ही विकसित होता है।

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविद्यो विदुः।

सुन्दोम्य एव प्रथममेतत् विश्वं व्यवर्तत ॥ व्याख्य १, १२१

हेखाराज ने इसकी व्याख्या में अग्नेह का मन्त्र पद्युत करते हुए लिखा है कि वाक्यतस्क से ही समस्त विरव की उत्पत्ति होती है। अमृत और मत्स्य अर्थात् देव और मनुष्य, अक्षर और अक्षर, नित्य और अनित्य, अपरिणामी और परिणामी, अविनाशी और विनाशी सब कुछ वाक्यतस्क से ही समुद्भूत है। (देखो, महासूत्र शांकरभाष्य १, ३, २८)।

वागव विश्वा भुवनाणि सन्ते,

वाच इत्सर्वममृतं पञ्चमत्स्यम् ॥ व्याख्य० १, १२१

आधुनिक विज्ञान और स्फोटवाद की सिद्धि—आधुनिक विज्ञान ने गहन अन्वेषण के पश्चात् स्फोट सिद्धान्त को सत्य सिद्ध किया है। डा० ओस्कर ब्रनकर के अन्वेषण का अन्तेल ऊपर किया जा चुका है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने जो मवीन अन्वेषण किया है वह यह है कि विरव के व्यापक अन्तरिक्ष में प्रतिक्षय स्फोट प्रकाशित हो रहा है, जिसका परिणाम यह है कि प्रतिक्षय नये नये सौर मंडल उत्पन्न हो रहे हैं। अर्धसूर्य, महासूर्य, ग्रह और उपग्रह प्रतिक्षय उत्पन्न हो रहे हैं और दृष्टिगोचर होते जा रहे हैं। उनका कथन है कि हमारे सौर मंडल के सदस्य ही कालों और सौर मंडल पहले से विद्यमान हैं। हमारी पृथ्वी जैसे ग्रह बहुत ही साधारण है। इनमें से यह प्रत्यक्ष किया गया है कि बहुसंख्यक युम्म (जोड़े) हैं। आकारागंगा के १ सरब तारों में से लगभग एक चौथाई युम्म हैं। नेरलन एकेडमी ऑफ साइन्स के बार्फिक अभिषेकन में रिक्सागो (अमेरिका) यूनिवर्सिटी की बेचरास्ता के अध्यक्ष डा० ओटा स्ट्रुबे, कैलिफोर्निया की विरवविख्यात बेचरास्ताओं मास्ट विन्सन और पालोमार के डा० पाल और हार्बर्ट यूनिवर्सिटी (अमेरिका) के डा० बार्ट जे बोक, इन तीन व्योतिर्विचारकों ने अपने अनुसंधानों का उपर्युक्त फल सुनाते हुए कहा है कि कितने ही मच्छ्रों का जन्म हुए केवल एक करोड़ वर्ष ही हुए हैं। डा० स्ट्रुबे ने कहा है कि ग्रहों की सृष्टि बहुत ही साधारण कार्य है। उन्होंने वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि मच्छ्रों में विकास प्रकार के अरण्य ही होता है। (अमृत बाजार पत्रिका, १५ जून ४६, पृष्ठ ४ पर अङ्क)

स्फोट ही सर्वोत्तम ज्योति और प्रकाश है—हेखाराज ने सृष्टि का बचन द्युत किया है कि सृष्टि में तीन ज्योतियाँ हैं, तीन प्रकार हैं, (१) जो यह जातवेदा अर्थात् अग्नि है। समस्त आग्नेय तस्क को जातवेदस् कहा जाता है, यत्क ने

निरुक्त ७, १६, २० में जातवेदस् की विस्तृत व्याख्या की है और कहा है कि सूर्य और विद्युमती जातवेदस् हैं, (२) जो पुरुषों में आन्व्यंतर प्रकारा है अर्थात् अथ रास्मा, बीवात्मा, (३) जो इन दोनों प्रकारों को प्रकाशित करने वाला है, जिसको शम्भुब्रह्म नामक प्रकाश कहते हैं अर्थात् जो स्फोट रूप शब्द है और जिसे वैयाकरण्य वाक्यस्फोट कहते हैं, वह प्रकारा सबसे उत्तम प्रकारा है, सबसे उत्तम ज्योति है, इसी में स्थावर और जंगम जगत् निबद्ध और सम्बद्ध है।

वीथि ज्योतीषि त्रयाः प्रकाशा योयं जातवेदा यश्चपुत्रपेन्वाभतरा प्रकाशा यश्च प्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाक्यः प्रकाशा, सत्रैतत् सर्वमुपनिषद्ं यावत्स्यात्सु चरिष्यु च । वाक्य० १, १२

इसीलिए भुक्ति का कथन है कि वह सारे शब्दों और अर्थवत्त्वों का कारण-रूप मूल-मूर्ति है।

स हि सर्वशब्दार्थमूर्तिः (वाक्य० १, १० में उद्धृत)

वाक् मूलकारण है मर्दुहरि ने वाक्य, १ १२७ - १२८ में अवश्य कहा है कि जीवों में यही चेतना है, वह बाहर और अन्दर सबत्र व्यक्त है, कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जिसमें वह चेतना व्याप्त न हो। वाक्त्व ही समस्त प्राणियों को अर्थवत्त्व में प्रवृत्त करता है, यदि वाक्त्वस्व न हो तो संसार में चेतनता ही नहीं रहेगी। हेमाराज ने इसकी व्याख्या में भुक्तिवचन उद्धृत किया है कि वाक्त्व ही विभिन्न भेदों और विभिन्न सम्बन्धों के परियामस्वरूप आकार, रूप और शरीर आदि को धारण करता है। अवश्य समस्त शास्त्रों में, सारी विद्याओं में वाक्त्व ही की परममूर्ति अर्थात् मूल-मूर्ति, मूल-कारण कहा गया है।

मेयोद्ग्राहविचरेंग लम्भाकारपरिग्रहा ।

आम्नाता सर्वविद्यासु बागेव प्रकृति परा ॥ वाक्य० १, १२८

प्रतिमा ही एक तत्त्व है, बड़ी आत्मा है—मर्दुहरि ने वाक्य० १ ११६ में में कहा है कि शब्दों में ही एक शक्ति है कि वह इस विरव को एक सूत्र में बांधे हुए हैं। इसमें जो भेद किया जाता है, वह शब्द और अर्थ का भेद है। वस्तुतः एक ही तत्त्व है, भेद प्रातिमासिक है, शब्द नेत्र है, और प्रतिमा आत्मा है, यही शब्द और अर्थ में भेद है। हेमाराज ने इसकी व्याख्या में भुक्ति का कथन किया है कि वाक्त्व (प्रतिमा) ही अर्थवत्त्व का साक्षात्कार करती है, बही मापण-शक्ति है, बही अन्तरात्मा में निहित अर्थवत्त्व को विस्तृत करती है। प्रतिमा के द्वारा ही नाना रूपों वाला संसार अनकों प्रकार से सम्बद्ध है। उस एक प्रतिमावत्त्व का ही विभाजन, विवेचन, विरक्षेपण करके उपभोग किया जाता है।

वागेवाचं पश्यति वाग् इवाति वागेवाचं सप्रिहित सतनोति ।
पाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्ध तदेतच्च मविमज्योपमुक्ते ॥

वाक्य०, १, ११६ में उद्धृत

राष्ट्र और अर्थ में अभिन्नता—हेलाराज ने (वाक्य० १, १) तथा नागेश ने मजूपा (पृ० ५०) में मुक्तिवचन उद्धृत किया है कि राष्ट्रवत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है, अर्थवत्त्व से अभिन्न है, तास्त्विक दृष्टि से उसका अर्थ-वत्त्व से विभाग नहीं किया जा सकता है, वह एक है, अद्वैत है, वह सर्वत्र सर्वत्र प्रवाहित हो रहा है, वह पवित्र है, नानारूपों वाला है, वह अन्तराला में प्रविष्ट है, उसको कठिपय आचार्य पूबक्ष्मी मानते हैं।

सूक्ष्मामार्थेनाप्रविमलतरामेकां वाचममिष्यम्बमालाम् ।

उताम्ये विदुरव्यामिह ५ पूर्ता नागाकूपामरममि सनिषिष्याम् ॥

वाक्य, १, १

हेलाराज ने राष्ट्रवत्त्व को सूक्ष्मता के कारण ही लिखा है कि वाक्वत्त्व सूक्ष्म और नित्य है, वह इन्द्रियों की शक्ति से परे है, इसका साक्षात्कार साक्षात्कृतधर्मा (आत्मसाक्षात्कार करने वाले) मन्त्र-द्रष्टा क्षुधि ही कर पते हैं।

यां सूक्ष्मां नित्यानर्तामिन्द्रियां वाचमृपयं साक्षात्कृतधर्मांशो मन्त्रदृशं

परयन्ति (हेलाराज वाक्य०, १, ५)

वाक् कामधेनु है—वाचस्पय महाब्राह्मण ने वाक्वत्त्व को शक्यी कहा है। सायण ने इसको स्पष्ट करते हुये वाक्वत्त्व को कामधेनु कहा है, गोपय ने भी इसको धेनु कहा है। (गो० पु० २, २१)। शतपथ० ने कामधेनु बताकर इसको उपासनीय बताया है और शतपथ० १४ ८, ६ १ में इसकी विशेष विस्तार से व्याख्या की है और कहा है कि इस धेनु का प्राण प्रथम है अर्थात् प्राण वाक्वत्त्व में धीजशक्ति को प्रदान करता है। मनस्वत्त्व इसका बरस है अर्थात् वाक्वत्त्व से मनस्वत्त्व की व्युत्पत्ति होती है और मनस्वत्त्व मादृत्वस्व वाक्धेनु के गुण-गुण का सदा आश्वादन करता है।

वागेवै शक्यी (कामधेनु इति यावच्च) तां २१, ३१।

वाचधेनुमुपासीत० तस्यां प्राणं श्रुयमी मनो बरत्स ।

श० १४, ८, ६, १

वाक् ही सरस्वती है—वेदवेद० ३, १, कीर्तविक० ३, २, वाचस्पय० ६, ७, ७, शतपथ० २, ५, ४ ६, वैश्वीर्य० १, ३, ४, ५, गोपय ७० १ २० आदि। ब्राह्मणों ने वाक्वत्त्व को ही सरस्वती कहकर इसको वागेवी के रूप में इसके गुणालुरूप प्रविष्टि किया है।

वाक् तु सरस्वती । ऐ०, ३, १

वाग्वै सरस्वती । कौ० ५, २

वाक् अक्षय समुद्र है—पेठरेय ब्राह्मण ने ऋग्वेद ४, ५८, १ की व्याख्या में कहा है कि वाक्त्वस्व स्वयं समुद्र है। वाक्त्वस्व कमी भी क्षय नहीं होता है, न समुद्र कमी समाप्त होता है और नहीं वाक्त्वस्व। शतपथ महाब्राह्मण ने कहा है कि वाक् समुद्र है और मन उस समुद्र की पशु है अर्थात् अगाध वाक्त्वस्व में मनस्त्वस्व ही वह नेत्र है जो कि प्रकारास्वम् का कार्य देता है और जिसके आश्रय से उस समुद्र की यात्रा करना सम्भव है।

वाग्वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते न समुद्रं क्षीयते । ऐ० ५, २६

वाग्वै समुद्रो मन समुद्रस्य पशु । तां० ६, ४, ७

वाक् ब्रह्म की माया है—शतपथ ब्राह्मण ने वाक्त्वस्व को ब्रह्म की माया बताते हुये सुपथी कहा है। यह वाक्त्वस्व की ही माया है जो सृष्टि की माया जाल में फँसाये हुये है।

वागेव सुपथी (माया) । शत ३, ६, २, २

शतपथ ब्राह्मण ने यजु० ११, ६१ तथा १३, ५८ की व्याख्या में कहा है कि वाक्त्वस्व ही बुद्धि-त्वस्व है, मति है।

यह वाक्त्वस्व ही है जिसके आश्रय से सारा संसार मनन करता है और जिसकी सच्चा से मननराक्ति की सच्चा है।

वाग्वै मति । वाचा हीदं सर्वं मनुत । श ८, १, २, ७

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ने वाक्त्वस्व को ही बृहस्पति कहा है, क्योंकि यह बृहत् अर्थात् महत्त्वस्व का पालक है, सरसक है। (देखो बृहदारण्यक उपनिषद् १, ३, २०)

यदस्यै वाचो बृहस्यै पतिस्तस्माद् बृहस्पति । औ उ० २, २, ५

वाक् का विराट् रूप—शतपथ ब्राह्मण ने वाक्त्वस्व को ही ब्रह्म का विराट् रूप बताया है। समस्त ब्राह्मण्य ब्रह्मत्वस्व का ही विराटरूप है, जिसको वैवाकरण वाक्य और स्तोत्र कहते हैं। (देखो छान्दोग्य उपनिषद् १ १३)

वाग्वै विराट् । श० ३, ५, १, ३४

वाक्त्वस्व ही वेद है—उस विराटरूप का ही फल यह है कि संसार में ज्ञान है। यह वाक्त्वस्व ही है जिसको वेद के रूप में ऋषियों ने रक्खा है। सारे वेद एक वाक्त्वस्व का ही रूप हैं, अतएव शतपथ ने कहा है कि ऋग्वेद और सामवेद वाक्त्वस्व की ही व्याख्या है और यजुर्वेद मनस्त्वस्व की व्याख्या है। वाक्त्वस्व, प्राणत्वस्व और मनस्त्वस्व इनकी व्याख्या ही वेद है।

वागेवर्षश्च सामानि च । मन एव पर्जुपि । श० ४, १, ७, ५

वाक् वैद्युतस्त्व है—वेतरेय ब्राह्मण ने वाक्त्वस्व के गुणों को ध्वान में रखते हुए यह कहा है कि वह सृष्टि में येन्द्र तस्व अर्थात् वैद्युतत्वस्व है, विद्युत् ज्योति वाक्त्वस्व का ही फल है। कौर्षविकि ब्राह्मण ने भी इस कथन की सम्पुष्टि की है।

बाल्म्यैग्री । वे० २, २६

वाग्वा इन्द्र । की० २, ७

वाक् आग्नेय तस्व है—त्रैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २, २, १, गोपब च ४, ११ तथा शतपथ ब्राह्मण ने प्रतिपादित किया है कि वाक्त्वस्व ही सृष्टि में अग्नि-तस्व है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक परमाणु में प्रत्येक अर्थ में प्रकाश है, ज्योति है तथा स्फोट है।

या वाक् सोऽग्नि । गो उ० ४, ११

वागेवाग्नि । श ३, २, २, १३

वाक् और मन का युग्म—वेतरेय ब्राह्मण ने वाक्त्वस्व और मनस्त्वस्व को देवों का युग्म बताया है। ये-दोनों अविनाभाव से रहने वाले युगल हैं। न वाक्त्वस्व के अभाव में मनस्त्वस्व रह सकता है और न मनस्त्वस्व के अभाव में वाक्त्वस्व। अतएव त्रैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ने कहा है कि वाक्त्वस्व मनस्त्वस्व की कुल्या (महर) है। मनस्त्वस्व अर्थात् मनोगत भाव वाक्त्वस्व की सहायता से ही अभिव्यक्त किए जाते हैं।

१ वाक् च मनश्च देवानो मिथुनम् । वे० ५, २३

तस्य (मनस) एवा कुल्या यद् वाक् । मी उ० १, ५, ३

वाक् और प्राण का युगल—शतपथ ब्राह्मण ने वाक्त्वस्व और प्राणत्वस्व को युगल बताया है। वाक्त्वस्व के बिना प्राणत्वस्व नहीं रह सकता है और न ही प्राणत्वस्व के बिना वाक्त्वस्व। अतएव पद्मिरी ब्राह्मण २, ६, में वाक्त्वस्व को प्राणत्वस्व की पत्नी कहा है। शतपथ ने प्राण को वसिष्ठ कहा है और वाक् को वसिष्ठा बताया हुआ है कि वाक् ने प्राण से कहा कि मैं वसिष्ठा हूँ और तू मेरा पति वसिष्ठ। जे० ७० १, १, ७ ने अतएव कहा है कि वाक्त्वस्व का सारा अंश प्राण है। (देखो बृहदा० उ० ६, १)

वाक् च धी प्राणश्च मिथुनम् । श० १ ४, १, २

एष ह वागुवाच (हे प्राण) यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद् वसिष्ठोऽसीति । श० १४, ६, २, १४ ;

वाक्त्व और मनस्त्व की अभिन्नता—शतपथ ब्राह्मण ने वाक्त्व की मनस्त्व से सूक्ष्म और ह्रस्व बताया है। वाक्शक्ति मन की शक्ति से भी तीव्र है, अतएव यजु० ४०, ४ में (अनेजवेकं मनसो खवीयो०) कहा गया है कि वाक्त्व (ब्रह्म) मन से भी तीव्र गति बाह्य है। जैमिनीय ४० ब्रा० ने वाक् और मन के द्वैत-भाव को हटाकर प्रतिभा की एकता के आधार पर वाक्त्व को ही मनस्त्व कहा है और दोनों में अभिन्नता की सिद्धि की है। (वेदो, छान्दो० ५५० ६, १-६)

वागुषै मनसो ह्रसीयसी । श० १, ४, ४, ७

वागिति मन । औ उ ४ २९, ११

वाक् ही सार्वभौम विनाशक है—शतपथ ने वाक्त्व के एक विशेष गुण की ओर मुख्यरूप से ध्यान आकृष्ट किया है और जो मनोबैज्ञानिक तथा वैज्ञानिक अन्वेषणों और परीक्षणों से सिद्ध किया जा चुका है, वह है, वाक्त्व के द्वारा समस्त दोषों एवं रोगों का निवारण। शतपथ का कथन है कि वाक्त्व ही सर्वोत्तम औषध है। यही संजीवनी वृद्धि है, यही सर्वरोग-विनाशक रामबाण है। योग-साधनाओं आदि से सर्वरोग-निवारण वाक्शक्ति के द्वारा अनुभव सिद्ध है। आत्म-चिकित्सा, प्राण चिकित्सा, मनोवैज्ञानिक-चिकित्सा, मनोवृत्त से चिकित्सा, विचारशक्ति से सचिकित्सा आदि चिकित्साओं के भेद वाक्शक्ति से चिकित्सा के विभिन्न रूप और विभिन्न प्रकार हैं। अज्ञान, अधिद्या आदि, जिनके कारण अर्थवत्त्व का ज्ञान नहीं होने पाता, सभी दोष हैं। इनकी एकमात्र चिकित्सा वाक्त्व है।

वागु सर्ष भेषजम् । श० ७, २, ४, २८

उपनिषद् और अर्थविज्ञान

वेद और ब्राह्मणग्रन्थों आदि में जो वाक्त्व की व्याख्या की गई है वह अत्यन्त गम्भीर, सूक्ष्म, दार्शनिक और आध्यात्मिक है। उपनिषदों का विवेच्य विषय मुख्यरूप से आध्यात्मिक है, ब्राह्मणत्व की व्याख्या से सम्बद्ध है, अतः उपनिषदों में वाक्त्व की व्याख्या बहुत विस्तार और उद्घापोह के साथ की है। उपनिषदों में वेद और ब्राह्मणों के मौखिक भावों को ही स्पष्ट और विस्तृत किया है। अतः अनावरणक विस्तार के भय से यहाँ पर उपनिषदों में विवेचित वाक्त्व का विस्तार से उल्लेख नहीं किया गया है। उपनिषदों में सबसे अधिक विस्तार से इस विषय पर विशेष उद्घापोह के साथ वृहदारण्यक छान्दोग्य और, तीर्त्तरीय उपनिषद् में विवेचन किया गया है, अन्य उपनिषदों में भी वाक्त्व का पर्याप्त विवेचन किया गया है।

वाक् परब्रह्म है—वृहदारण्यक उपनिषद् न वेदों के मन्त्रव्य को स्पष्ट शब्दों

में स्वीकार किया है कि वाक्त्व ही सृष्टि का सत्ताद् है, वही परब्रह्म है।

वाचै सत्ताद् परम ब्रह्म । पृ० उ० ४, १

दो अक्षर और वाक्त्व—रवैतारवतर उपनिषद् ने उल्लेख किया है कि सृष्टि में दो अक्षर हैं, वे ब्रह्मपरक हैं, अनन्त हैं, जिनमें विद्या और अविद्या दोनों ही निहित हैं। हर अक्षर का नाम अविद्या है, और अक्षर असूत अक्षर का नाम विद्या है। जो इन दोनों विद्या अविद्या को वरा में क्रिय हुए है, वह इनसे प्रथम् है और अक्षय विद्या का भी वही अक्षर है। गीता में इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि संसार में दो पुरुष हैं एक हर और दूसरा अक्षर। सांख्य वर्णन के पुरुष की व्याख्या के रूप में दो पुरुषों का उल्लेख किया गया है। समस्तमूत अर्थात् पंचतत्त्व हर पुरुष हैं। कृत्स्न पुरुष, आत्मपुरुष ही अक्षर पुरुष है, किन्तु इससे आगे सर्वोत्तम पुरुष इनसे प्रथम् है और वह ही परमात्मा कहा जाता है, वही तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर ससार का रक्षक है, हर और अक्षर से उत्तम होने के कारण उसको पुरुषोत्तम पुरुष कहा जाता है। वैश्वानरियों ने उसे प्रथम पुरुष और मध्यम पुरुष के अविरिच्छ उत्तम पुरुष कहा है।

दो अक्षर ब्रह्मपरै स्वान्त विद्याविद्ये निहित एव गूढे ।

हरं रविद्या ह्यमूर्तं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते पस्तु सोऽन्यः ॥

श्वेता० ४, १

आविमी पुरुषो लोके हरश्चाक्षर एव च ।

हर सर्वाणि भूतानि कृत्स्न्योऽक्षर उच्यते ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वस्य परमात्मैत्युवाहृतः । गीता १५, १९—२०

बृहदारण्यक उपनिषद् ने विद्युत्त्व, वायुत्व आदि को वाक्त्व ही बताते हुए कहा है कि जो विद्युत्त्व में अमकता है और गरजता है, जो वायुत्व में प्रवाहित होता है, जो मेघरूप में बरसता है, उनमें वाक्त्वात् ही शक्ति है। यह सब वाक्त्वात् का ही परियाय है।

। यद्वाप्यद्योततं यद्वापिपृनुत तरस्तनपति यस्मेहति तद्वर्षति वातोवास्य व क ।

बृहदा० उप० ११

नारद को सनतकुमार का वाक्त्व द्विषयक उपदेश—इत्यनेन उपनिषद् के सप्तम अध्याय में नारद को उपदेश देते हुए समस्तकुमार ने कहा है कि यदि सृष्टि में वाक्त्व न होता तो न धम और न अपर्ध की व्यवस्था होती, न सत्य और असत्य की, न सायु और असायु की, न सङ्ख्य और असङ्ख्य की, न चित्तज्ञ और अचित्तज्ञ की व्यवस्था होती और न उनका विवेचन होता। यह वाक्त्व ही है जिससे यह सब विवेचन होता है। अतएव वाक्त्व ही उपासना नारद को बताते हुए सनतकुमार ने कहा है कि जो वाणी की ब्रह्म रूप से उपासना करता है उसका वाणी पर पूर्ण अधिकार होता और वाक्त्व में जो शक्ति है, वह शक्ति और सिद्धि उसको प्राप्त होती है।

यद्दे वाक् नामविष्यन्नमो नामो व्यङ्गापविष्यन्न सत्यं नामुतं न साधु
मासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेधैतत्सर्वं विहायपति वाचमुपास्तेति ।
स यो वाचं ब्रह्मोमुपास्ते यावद्वाचो गत तत्रास्य ययाकामचारो भवति ।

छान्दो उप ७ १२

वाकृतत्व ही पुरुष का सार है छान्दोग्य उपनिषद् ने बहुत सुन्दर शब्दों में
कहा है कि पुरुष में वाकृतत्व ही सारभाग है, वाकृतत्व का सार ऋग्वेद
है और ऋग्वेद का सारभाग सामवेद है और सामवेद का सारभाग
यजूगीय है। ओंकार अथवा ओम्, जिसको योगदर्शन ने प्रत्यक्ष कहा है, यजूगीय
है। वह अक्षरतत्व ही ओम् है, जो कि उपासनीय है, प्राण है और प्रत्यक्ष
करने योग्य है।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीयमुपासीत ।

पुरुषस्य वाग् रसो वाच ऋग् रस ऋच साम रस ताम्न उद्गीयो
रस । छान्दो० उप० १, १-२

वाकृतत्व और मनस्त्व के समन्वय का सुन्दर उपदेश पेत्रेय उपनिषद् के
मंगलाचरण और उपसंहार से प्राप्त होता है कि वाकृतत्व की मनस्त्व में प्रतिष्ठा
होनी चाहिये और मनस्त्व की वाकृतत्व में।

वाक् मे भवसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् । पेत्रेय उप १

स्फोटवाद और पञ्चकोश तथा उपसंहार

तैत्तिरीय उपनिषद् में पञ्चकोशों की व्याख्या विस्तार से की गई है।
ब्रह्मण्डवल्ली और सृगुणवल्ली में पञ्चकोशों के क्रम से साधना करने से
जो आत्मत्व की सिद्धि प्राप्त होती है उसका उल्लेख किया गया है।
पाँच कोश निम्न हैं — अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्द-
मय। प्रत्येक को ब्रह्म बताकर उसका स्पष्टीकरण किया है। इनमें से उत्तरो-
त्तर भेद हैं। अन्नमय कोश से प्राणमय कोश सूक्ष्म है। प्राणमय कोश से
मनोमय, मनोमय से विज्ञानमय और विज्ञानमय कोश से आनन्दमय कोश
भेद है। आनन्दमय कोश के ज्ञान से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। वैयाकरणों
ने इस पञ्चकोश के भाव को, जैसी कि महोद्विधीविवृत एवं कौयल महृ ने
वैयाकरणमूषण में और भीष्णमहृ ने स्फोटवस्त्रिका में विस्तृत व्याख्या की
है, स्फोटवाद से स्पष्ट किया है। इसका रूप निम्न है — वर्णस्फोट, पदस्फोट,
वाक्यस्फोट अक्षरपदवाक्यस्फोट और शक्तिस्फोट। वैयाकरणों के मतानुसार
ये उत्तरोत्तर भेद हैं। वर्णस्फोट सिद्धान्त अर्थात् वर्ण सार्थक हैं, इन सिद्धान्त
की अपेक्षा पदस्फोट अर्थात् पद सार्थक हैं, पण नहीं, यह सिद्धान्त भेद है।
इससे भी वाक्यस्फोट का सिद्धान्त भेद है। वाक्य ही सार्थक है, न प्रत्येक
वर्ण और न प्रत्येक पद। वैयाकरण वर्णस्फोट की अन्नमयकोश से तुलना
करते हैं। पदस्फोट की प्राणमय कोश से और वाक्यस्फोट की मनोमयकोश

से, यही पर विचारों की इतिमी नहीं हो जाती। वे अखण्ड अर्थात् अवयव रहित अनेकता-रहित एक वाक्यस्फोट या पदस्फोट को भेद्य समझते हैं, सब्द वाक्यस्फोट को नहीं। इस प्रकार से वे मनोमयकोरा से आगे विज्ञानमय कोरा की सिद्धि करते हैं, इससे भी आगे अखण्ड वाक्यस्फोट के साथ ही आतिवाक्यस्फोट की सिद्धि करते हैं। नित्य, निरञ्जन, अजर, अमर, अक्षर, आख्यात्मक ब्रह्म की सिद्धि करते हैं। अखण्ड आतिवाक्यस्फोट मानने पर ब्रह्मण्ड के ब्रह्म का एक मूर्ध शरीर समझा जाता है। और सृष्टि में ब्रह्म को ही एकमात्र तत्त्व। ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी सत्ता को वे सत्य और नित्य नहीं मानते हैं। उपनिषदों ने आनन्दमयकोरा की सिद्धि करके उस भाव को व्यक्त किया है। इनमें से पूर्व पूर्व स्फोट उत्तरोत्तर सिद्धि के सापान हैं। बर्धमान से पदज्ञान, पदज्ञान से वाक्यज्ञान, वाक्यज्ञान से अखण्ड-ज्ञान, अखण्डज्ञान से ब्रह्मज्ञान।

मट्टोबी दीक्षित ने पांच वृत्तियों का जो अन्वेषण किया है, वह भी उक्त भाव को स्पष्ट करता है। पञ्चवृत्तियों का परिगणन योगदर्शन के अनुसार पांच वृत्तियों के परिगणन को सत्य में रखकर किया गया है, (हेलो योगदर्शन, समाधिपाद)। सांख्य सिद्धान्त के सत्त्व, रजस्, तमस् तीन गुणों के अनुसार सार्विक, राजस और तामस तीन वृत्तियाँ हैं। पाणिनि के अनुसार कृत, वक्षित और समास इन तीनों वृत्तियों के ही ज्ञान से संक्षेप में पांचों (कृत, वक्षित समास, एकरोप, सनादन्त आद्यरूप) वृत्तियों का संक्षेप हो जाता है। शब्द नित्यताभाव को स्वीकार करने पर स्फोटवाद को भी तीन रूप में रखकर बर्धस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट इन तीन पदों के विवेचन से ही स्फोट सिद्धान्त के पांच भेद और आठ भेद जो किये गये हैं, उनका संग्रह हो जाता है और शब्द नित्यता के आधार पर ही समस्त दर्शनों आदि को तीन मार्गों में विभक्त कर दिया गया है, बर्धस्फोटवादी, पदस्फोटवादी और वाक्यस्फोटवादी। इस प्रकार समस्त विवेचन सम्पूर्ण किया जाता है।

अध्याय २ शब्द और अर्थ का स्वरूप

शब्द-ब्रह्म की व्यापकता - शब्दतत्त्व और अर्थविज्ञान के सूक्ष्मतत्त्वों का वेद, ब्राह्मण उपनिषद् एवं निठक में जो वर्णन मिलता है, उसका उल्लेख करते हुए यह लिखा गया है कि वेद ब्राह्मण आदि शब्द को ब्रह्म मानते हैं। वाक्यादि के द्वारा इस संसार की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं। वेदादि में जो शब्दवाचि या वाक्यादि का निरूपण मिलता है वह एकत्र और दार्शनिक विवेचन के रूप में संगृहीत नहीं मिलता है। व्याकरणियों ने इन शब्द और अर्थ सम्बन्धी तत्त्वों को एकत्र करके दार्शनिक विवेचन द्वारा स्पष्ट किया है। पतञ्जलि ने जिसको दार्शनिक रूप दिया, उसको मण्डूकि ने और तदनन्तर हेत्वाचार्य नागेश आदि ने अपने सुविशद विवेचन द्वारा व्याकरण वर्णन के पक्ष पर प्रतिष्ठापित किया है। मण्डूकि की विवेचन पद्धति सर्वथा दार्शनिक है। वाक्यपदीय में जो शब्द और अर्थ का विवेचन प्राप्त होता है, वह व्याकरण तक ही सीमित नहीं है। मण्डूकि ने समस्त ग्रन्थ में तुलनात्मक विवेचन किया है। मीमांसा, म्याय आदि वैदिक वर्णनों तथा बौद्ध, जैन आदि भवैदिक वर्णनों का स्वसन्-स्वसन् पर निर्देश किया है और उनके सिद्धान्तों का व्याकरण वर्णन की दृष्टि से विवेचन और परोक्षण किया है। मण्डूकि तुलनात्मक विवेचन और अध्ययन के महत्त्व पर लिखते हैं कि विभिन्न आगमों के सिद्धान्तों के पर्यालोचन से महा विवेक को प्राप्त होती है। अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तों का आलोचन किए बिना केवल स्वशास्त्रीय तर्क से उन्नति नहीं हो सकती।

प्रकाशिवैक समत मिश्रेयगमदर्शनैः ।

किपद् वा शक्यमुच्येतु स्वतर्कमनुभावता ॥ वाक्य २, ४६२

पुण्यबाराज ने इसकी व्याख्या करते हुए तुलनात्मक अध्ययन और विवेचन की महत्ता का प्रतिपादन किया है और लिखा है कि असदिग्ध रूप से स्व सिद्धान्तों को परिष्कृत करने की शक्ति विभिन्न शास्त्रों के वर्णन से प्राप्त होती है।

निस्तदिग्ध स्वसिद्धान्तमेव सपरिष्कर्तुं भिन्नागमवर्णनैः शक्तिजायते ।

शब्द विवर्तनवाद और शब्द-परिष्कारवाद - मण्डूकि ने अपने ग्रन्थ का शरत्तम शब्दब्रह्म के स्वरूप के वर्णन से ही किया है। शब्दब्रह्म आदि और

अन्त से रहित है, अक्षर है, उसका ही अर्थ रूप में विवर्त होता है, जिससे इस संसार का काय ब्रह्मा है ।

अनादिनिघनं ब्रह्म शम्भुतत्त्वं यदक्षरम् ।

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः । वाक्य० १, १

शम्भुब्रह्म का ही पारिभाषिक नाम स्फोट है। (मंजूपा० पृ० ३६०) वैयाकरण स्फोटवाद् के समर्थक हैं । स्फोट अनादि, अनन्त अक्षर है । उसका ही विवर्त अर्थ है । परिणाम और विवर्त दोनों शब्दों में पारिभाषिक अन्तर है । "विवर्त" अतार्विक ज्ञान (भ्रम, माया) को कहते हैं । यथा, शुक्ति में रजतमुक्ति विवर्त है । 'परिणाम' तार्विक विकार को कहते हैं, यथा दुग्ध का दधि रूप होना । भर्तृहरि अर्थ को शब्द का विवर्त मानते हैं । पुण्यराज ने बत दिया है कि भर्तृहरि का मन्तव्य पारिभाषिक विवर्त ही है और अर्थ को शब्द का विवर्त बताते हुए सिद्धा है कि एक ही वस्तु का अपने स्वरूप से च्युत न होते हुए भिन्न रूप में असत्य ज्ञान-विवर्त है, यथा, स्वप्नस्थ वस्तु-दर्शन ।

एकस्य तत्त्वात्प्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्या विभक्त्याम्यरूपोपमादिता विवर्तः । पुण्यराज, वाक्य० १ १

अतएवतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः ।

स तत्प्रतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः ॥ वेदान्तसार ।

विवर्त शब्द का प्रयोग साधारणतया संस्कृत साहित्य में पारिभाषिक अतार्विक विकार के अर्थ में नियमित न होकर परिणाम या विकार के अर्थ में भी प्राप्त होता है । भर्तृहरि ने उपर्युक्त श्लोक में विवर्त शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु इसी भाव को व्यक्त करते हुए अस्य ३ परिणाम शब्द का प्रयोग किया ।

शब्दस्य परिणामोऽपमित्पाम्नायविदो विदुः ॥ वाक्य० १, १२

शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में भर्तृहरि के 'अनादिनिघनम्' श्लोक का अनुवाद करते हुए विवर्त शब्द के स्थान पर परिणाम शब्द का प्रयोग किया है ।

नाशोत्पादसमाप्तीर्षं ब्रह्म शब्दमर्थं च यत् ।

यत् तस्य परिणामोऽर्थं भावप्रामा प्रतीयते ॥

अन्त में म्यायमहारी में शब्दविवर्तवाद् और शब्दपरिणामवाद् दोनों का लक्षण किया है, इससे ज्ञात होता है कि यह दोनों ही वाद् वैयाकरणों के अभिमत हैं । शब्दविवर्तवाद् के अनुसार यह अर्थ रूप संसार शब्द का विवर्त अतार्विक रूप है । और शब्दपरिणामवाद् के अनुसार यह अर्थ रूप संसार शब्द का परिणाम या विकार है । प्रथम मतानुसार अर्थ की सच्ची अवास्तविक है और द्वितीय मतानुसार यह वास्तविक है ।

शब्दब्रह्म और सृष्टि—महर्हरि का कथन है कि शास्त्रों का मत है कि यह संसार शब्द का ही परिणाम स्वरूप है। सृष्टि के आदि में यह विरव ब्रह्मोमयी वाक् से ही विवर्त को प्राप्त हुआ है।

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याग्नायविदो विदुः।

ब्रह्मोम्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत ॥ वाक्य १ १२०।

भूति का कथन है कि वाक्शक्ति ही संसार को उत्पन्न करती है। वाणी से ही अविनाशशील और विनाशशील समस्त संसार की सृष्टि होती है।

वागैव विश्वा भुवनानि जज्ञे, वाच इत्सर्ममभूतं पञ्च भूतान्।

महर्हरि शब्द की तीन अवस्थाओं को मानते हैं। परमन्ती, मध्यमा और वैश्वरी। नागेश ने जिसको चतुर्थ अवस्था अर्थात् 'परा' नाम दिया है उसको महर्हरि पृथिवी अवस्था अर्थात् परमन्ती अवस्था मानते हैं उसी से इस संसार की सृष्टि होती है।

वैश्वर्या मध्यमायाश्च परमन्त्याश्चैतद्वसुतम्।

अनेकतीर्थमेवापास्त्रय्या वाचः परं परम् ॥ वाक्य० १,१४३

शिवदृष्टि मध्य का उद्धारण मिलता है जिसमें यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है कि परमन्ती ही शब्दब्रह्म है, और उसी को परावाक् भी कहते हैं। वही अनादि और अक्षय है।

इत्याहुस्ते परं ब्रह्म धवनादि तयाऽक्षयम्।

तद्वचरं शब्दरूपं सा परमन्ती परा हि वाक् ॥ वाक्य० १,१४३,

सूर्यनारायण शुक्ल की टीका।

महर्हरि के मतानुसार सृष्टि की उत्पत्ति का स्वरूप निम्न है। सृष्टि के आदि में अनादिनिघन, सर्वमात्र माहकाकार बर्धित परमन्ती वाणीरूप शब्दब्रह्म रहता है। वह अपरिमित शक्तिशाली मायायुक्त होता हुआ प्रथम नामरूपात्मक समस्त प्रपञ्च को बुद्धि में स्थापित कर यह संकल्प करता है कि यह करूँगा। तब वह अपनी कला नामक स्वतन्त्र शक्ति से पुच्छ होकर आकारा आदि पञ्चतन्मात्राओं को उत्पन्न करता है, उससे पञ्चभूतों की सृष्टि होती है, और तदनन्तर समस्त सृष्टि का विस्तार होता है। सृष्टि का विकास शब्दब्रह्म से होता है और उसी में वह सृष्टि लीन होती है।

तथेवममृतं ब्रह्म निर्विकारमविधया।

कन्तुपत्त्वमिवापन्नं मेरुरूपं विवर्तते ॥

ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।

विद्युत्तं शब्दमात्राभ्यन्तान्त्वेव प्रविशियते ॥

परब्रह्म और शब्दब्रह्म—नागेश परब्रह्म और शब्दब्रह्म को एक नहीं मानते। शब्दब्रह्म की अस्यनित्यता को म मानते हुए नागेश तान्त्रिक मत से विरोध प्रमाहित हैं। वे शब्दब्रह्म का तान्त्रिक मतानुसार निरूपण क्षणमूर्त्या में करते हैं। शब्दब्रह्म की उत्पत्ति का वर्णन निम्नरूप से किया है। पृ. १६८-७४

महाप्रलय के समय मुक्तभोग्य समस्त प्राणियों का माया में लय हो जाना है और माया चेतन ईश्वर में लीन हो जाती है। लय का अर्थ सर्वथा नारा और अप्रतीति नहीं है, अम्यथा सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्राणियों के कर्म जब अपरिपक्व अवस्था से काष्ठवशात् परिपक्वावस्था को प्राप्त हो आते हैं, तब उनको फलप्रदान करने के लिए परमात्मा की इच्छा जगत् की सृष्टि करने की होती है। यह जगत् की सिसृक्षामिका वृत्ति माया है। उस माया वृत्ति से बिन्दु रूपी अव्यक्त त्रिगुणात्मक (सत्त्वजस्तमोगुणात्मक) उत्पन्न होता है। इसी को शक्ति तत्त्व कहते हैं। इसके तीन विभाग हुए बीज, नाद और बिन्दु। अर्थात् अंश बीज हुआ। चिद्विभिमिश्रित अंश नाद और चित् अंश बिन्दु हुआ। अर्थात् शब्द से शब्द और अर्थ दोनों के संस्काररूप अविद्या का मह्य है। इस बिन्दु से शब्दब्रह्म नामक बर्णादि विरोध रहित, ज्ञानप्रधान, सृष्टि के उपयोगी अवस्था विरोध युक्त चेतना-मिश्रित नाद उत्पन्न होता है। यह जगत् की उत्पत्ति का उपादान कारण है, इसी-को रव और परा आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। यह रव या परा नामक नाद ही शब्दब्रह्म नाम से सम्बोधित किया जाता है।

चिन्बोस्तस्माद् मिषमानाद् रवोऽव्यक्तरमकोऽभवत् ।

ए एव धृतिसम्पन्नाः शब्दब्रह्मेति गीयन्ते ।

यह सर्वव्यापक होते हुए भी प्राणियों के मूलाधार चक्र में स्थित रहता है। इसमें स्वयं किसी प्रकार की गति नहीं होती। परन्तु जब ज्ञात अर्थ के बोध की इच्छा से प्रयत्न होता है तब उसमें गति होती है और उससे शब्द की अभिव्यक्ति होती है।

नागेश का उपर्युक्त बर्णन प्रपञ्चसार, अथवा लयक आदि तान्त्रिक ग्रन्थों के अनुसार है। मात्करराय के क्षणितसहस्र नाम की व्याख्या, शारदाविष्णुक, सूतसंहिता आदि में इसका विस्तार से बर्णन है।

मर्दुहरि और नागेश में मतभेद—यहाँ पर यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि नागेश ने मर्दुहरि के 'अनादिनिघनम्' श्लोक को उद्धृत किया है, परन्तु मर्दुहरि के अनादि और अनन्त शब्दब्रह्म को अनित्य माना है, उसकी उपर्युक्त रूप से उत्पत्ति बताई है। अनादि निघनम् का अर्थ यह किया है कि अर्थ-सृष्टि में शब्द के आवि या जन्म की उपलब्धि नहीं होती है, अथवा वह अनादि और अनन्त है। परन्तु यह मर्दुहरि के सिद्धान्त एवं मत के विरुद्ध है। मर्दुहरि शब्द को सर्वथा अनादि और अनन्त मानते हैं।

इनके मतानुसार अस्की उत्पत्ति नहीं होती। शब्दब्रह्म का उत्पत्तिपात्र जिसका नागेश ने वर्णन किया है, व्याकरणशास्त्र के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। यह तान्त्रिक मतानुसार ही है और व्याकरण में इसका प्रवेश नागेश के तान्त्रिक मत की ओर मुद्राव का परिणाम है। नागेश के मतानुसार शब्द ब्रह्म और परब्रह्म दो भिन्न सत्ताएँ हैं। परन्तु भर्तृहरि के मतानुसार पर ब्रह्म और शब्दब्रह्म एक ही सत्ता है, दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अतएव शब्दब्रह्म की सिद्धि ही परब्रह्म की प्राप्ति है। भर्तृहरि कहते हैं कि शब्दसंस्कार अर्थात् शब्दों का अपभ्रंशों से विवेचन परमात्मा की प्राप्ति का उपाय है। शब्दों के वास्तविक प्रवृत्तितत्त्व को जानने वाला परब्रह्म को प्राप्त करता है।

तस्माद्गुणः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः ।

तस्य प्रवृत्तितत्त्वहस्तद् ब्रह्माभूतमश्नुते ॥ १, १३२

शब्द ही सत्ता का एक सूत्र में बाँधे हुए हैं—भर्तृहरि ने शब्दशक्ति की व्यापकता का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। शब्दशक्ति का व्यावहारिक जीवन में क्या उपयोग है, इसका भी विराट् विवेचन किया है। शब्द ने कहा है कि 'वाक्य ब्रह्म विहितं तावती वाक्' अर्थात् जितना ब्रह्म व्यापक है, उतनी ही वाक्येशी भी व्यापक है। एतरेय, शतपथ, छेमिनीय, गोपय आदि ब्राह्मण ग्रन्थ उसी वाक्शक्ति को साक्षात् ब्रह्म मानते हुए कहते हैं वाग्ब्रह्म (गो० पू० २, १) वाग्वै ब्रह्म (जै० उ० २, १, ६) वाग्वै ब्रह्म च सुब्रह्म च (ऐ० ६, ३) अर्थात् वाक्शक्ति ही ब्रह्म है। भर्तृहरि बड़ों और ब्राह्मणों में प्रतिपादित वाक्शक्ति या शब्दशक्ति का स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि शब्दों में ही यह शक्ति है कि वह संसार को एकमूर्त में बाँधे हुए है। शब्द ही नेत्र है, अर्थात् समस्त वस्तुओं का ज्ञापक है। समस्त अर्थ प्रतिमा रूप है शब्द ही बाध्य और वाचक रूप से भिन्न प्रतीत होता है।

शब्देऽप्येवाभिता शक्तिविरहस्यास्य भिषग्यमी ।

यज्ञेय प्रतिभात्माय मेदरूपः प्रतीयते ॥ वाक्य० १, ११६

शब्द की व्यवहारोपयोगिता पुनश्च न इसकी व्याख्या में एक भूति बचन उद्धृत किया है। भूति का अर्थ है कि वाक्शक्ति ही अर्थ को देखती है अर्थात् वाक्शक्त्य ही जब बुद्धिरूप विषय को प्राप्त होता तब अर्थ का ज्ञान करता है। वाक्शक्ति ही बोधती है अर्थात् समस्त व्यवहार की साधनभूत है। वाक्शक्ति ही शक्तिरूप से विद्यमान अर्थ को विस्तृत करती है। समस्त संसार नाना रूपों को धारण करता हुआ उसी में निबद्ध है। उसी एक वाक्शक्ति का विभाजन करके समस्त संसार का व्यवहार चलता है।

वागेवार्थं पश्यति वाग् धर्वाति वागेवार्थं निहितं सम्यनोति ।
 वागीव विश्व बहुरूप निबन्ध तदेतदेक प्रथिमज्योपमुक्ते ॥
 वाक्य० १, ११६

शब्द की त्रिविध स्थिति भट्ट हरि का कथन है कि शब्दब्रह्म पद्यपि एक है वही ससार का बीजरूप है। उसी से संसार की उत्पत्ति होती है। वही त्रिविधरूप में विद्यमान है, अर्थात् मोक्ष, मोक्ष्य और भोग वही है। शब्दब्रह्म ही मोक्षा रूप पुरुष है, मोक्ष्य विषय शब्द ही है और विषयोपभोगजन्यसुखदुःखादि का अनुभव रूप भोग भी वही है। ससार में मोक्षा, मोक्ष्य और भोग रूप में जो कुछ विद्यमान है वह शब्दब्रह्म ही है। उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

एकस्य सर्वपीडस्य यस्य चैपमनेकधा ।

भोक्तृभोक्तव्यरूपेषु भोगरूपेषु च स्थिति ॥ वाक्य १ ४

अर्थ का आधार शब्द—शब्द के द्वारा ही समस्त भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। असमाख्येय और समाख्येय सब प्रकार के अर्थों के बोध का साधन शब्द ही है। शब्दों के द्वारा ही असमाख्येय पद्म, अक्षय, गान्धार, मध्यम, पद्म, देवत और निपाद स्वरों का अर्थ रूप से विवेचन किया जाता है और समाख्येय गी आदि अर्थों का भी शब्दों से ही निरूपण किया जाता है। अतएव समस्त अर्थों का आधार शब्द ही है।

पद्मवादिमेव शब्देन व्याख्यातो रूप्यते यतः ।

तस्मादर्थविधा सर्वा शब्दमात्राद्यु निभिता ॥ वाक्य० १, ११६

वाचस्पति ने तात्पर्य टीका में इसी भाव को व्यक्त करते हुए लिखा है कि पद्म आदि स्वरों में शब्द के अपकर्ष से अर्थज्ञान में भी अपकर्ष (म्यूनता) होती है। शब्द के उत्कर्ष होत से अर्थज्ञान में भी उत्कर्ष होता है। ज्ञान का उत्कर्ष श्रेय के उत्कर्ष के अधीन है। शब्द के उत्कर्ष से अर्थ का उत्कर्ष होता है। अतः शब्द और अर्थ दोनों में तादात्म्य भाव सम्बन्ध है।

पद्मवादिषु शब्दापकर्षे अर्थप्रत्ययापकर्षात् तदुत्कर्षे त्वर्थप्रत्ययोत्कर्षात् प्रत्ययस्य च प्रत्येतद्व्योत्कर्षत्वात् नामधेयोत्कर्षेणार्थोत्कर्षे अर्थस्य तादात्म्यं कथयति ।

विश्व की शब्दरूपता का स्पष्टीकरण यहाँ पर यह धरन स्वामाधिक रूप से उत्पन्न होगा कि भट्ट हरि शब्द का अतिरिक्त कुछ नहीं मानते। समस्त ससार को शब्द का ही विश्व या परिणाम मानते हैं। घटादि को भी शब्द का परिणाम यदि माना जाएगा तो जिस प्रकार मूर्त्तिका के परिणाम घट में मूर्त्तिक के स्वरूप की प्रतीति होती है, उसी प्रकार शब्द का परिणाम मानने पर

पटादि में शब्द के स्वरूप की प्रतीति होनी चाहिये। मर्तुहरि हम शब्द का समाधान करते हुए लिखते हैं कि वस्तुतः समस्त ज्ञान में शब्द के स्वरूप की प्रतीति होती है। संसार में त्रिवेदा जो कुछ भी लोकव्यवहार है, वह शब्द के ही अधीन है। यदि यह कहा जाय कि नवजात बालक को शब्दज्ञान नहीं है, उसे किस प्रकार प्रतीति होगी। इसके विषय में मर्तुहरि कहते हैं कि बालक भी पूर्वजन्म के संस्कार के कारण शब्दों के द्वारा ही इतिकर्तव्यता को जानता है।

इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यगमया ।

या पूर्वाहितसंस्कारो बाह्योऽपि प्रतिपद्यते ॥ वाक्य० १, १०१ ।

अर्थ के स्वरूप के बर्णन में आगे यह स्पष्ट किया जायगा कि वैयाकरण्य प्रतिमा से ही वाक्याय मानते हैं। जो कुछ देखा सुना जाया है उसका ज्ञान प्रतिमा से ही होता है अतः वस्तुतः की प्रतिमा का ही नाम देते हुए 'प्रतिमा स्माऽयम्' कहा है। प्रतिमा का अर्थ शब्दों के द्वारा व्यवहार करते समय शब्द के द्वारा होता है। पूर्वजन्म के संस्कार से भी इसका उद्भव होता है। पशु पक्षियों आदि में जो ज्ञानशक्ति है, वह भाषनामूलक ही है, पूर्वजन्म के संस्कार से ही वह अर्थ के ज्ञान करते हैं। अतः किसी प्रकार के भी ज्ञान को प्रतिमा से प्रकृत नहीं कर सकते।

साक्षात् शब्दम जनितां भावनाऽनुगमनं वा ।

इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिद् विवर्तते ॥ वाक्य० २, १४२ ।

ज्ञान की शब्दरूपता मर्तुहरि कहते हैं कि संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्दज्ञान के बिना हो। समस्त ज्ञान शब्द के साथ संसृष्ट सा प्रतीत होता है।

न सोऽस्ति मत्प्रयो लोके वा शब्दानुगमादृते ।

अनुविद्यमिष ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ वाक्य० १, १२३ ।

शब्द और अर्थ की एकरूपता—मर्तुहरि के उपर्युक्त कथन के मूल में उनका एक निश्चित मत जो कि वैचारकों का सिद्धांत है, विशेष रूप से स्मरणीय है। मर्तुहरि कहते हैं कि शब्द और अर्थ एक ही आत्मा (एकोऽत्मा) के दो स्वरूप हैं। दोनों की एक-दूसरे स्थिति नहीं है अर्थात् शब्द और अर्थ अविभक्त रूप से सम्बद्ध हैं। इनमें कोई घातबिक भेद नहीं है। जो बाह्य जगत् में भेद पाए जाता है, वह धारितिक नहीं है।

एकस्वैवात्म्यो मेरी शब्दायावपूयकस्त्वितौ ॥ वाक्य० २, ३१ ।

शब्दार्थावनिभावेऽस्यान्तरस्य तस्यस्यसम्बन्धिनो वस्तुतः बहिरीयतो मेदाविष्य मतिमासते । (पुराणराज) ।

कविद्वन्द्वगुरु कालिदास ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए प्रसिद्ध श्लोक लिखा है कि शिव और पार्वती इसी प्रकार अभिन्न हैं जैसे शम्भु और अर्थ ।

वागर्थाविध सम्पूक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।

अगत वितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ रघुवंश, १, १,

शब्द और अर्थ का प्रकाश-प्रकाशक सम्बन्ध—इस विषय में एक जिज्ञासा यह उत्पन्न होती है कि लोक में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध वाच्य और वाचक रूप प्रसिद्ध है । वाच्य और वाचक की सत्ता भिन्न होती है अतः मर्दहरि ने दोनों को अभिन्न किस प्रकार बताया है । इसका स्पष्टीकरण करते हुए मर्दहरि ने कहा है कि शब्द और अर्थ का वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध नहीं है, अपितु प्रकार्यप्रकारकभाव या कार्यकारणभाव सम्बन्ध है । शब्द प्रकारक है, अर्थ प्रकार्य है । शब्द कारण है, अर्थ कार्य है । स्फोट के ही शक्तिमेव से दोनों में भेद प्रतीति होती है अतएव 'एकस्य सर्वथीवस्य०' स्फोट के विषय में कहा गया है ।

प्रकाशकप्रकाश्यत्वं कार्यकारणरूपता ।

अन्तम आत्मनस्तस्य शब्दतत्त्वस्य सर्वदा ॥ वाक्य० २ ३२

शब्द की प्रकाश-संपत्ता ज्ञान में प्रकरारीक्षता अर्थात् बोधन शक्ति सभी तक है, जब तक कि उसमें वाक्शक्ति (शब्दशक्ति, प्रतिभा) विद्यमान है । यदि ज्ञान में नित्य रूप से रहने वाली वाक्शक्ति निकल जाय तो ज्ञान किसी भी वस्तु का बोध नहीं करा सकता । उस अवस्था में ज्ञान की स्थिति ऐसी ही होगी, जैसे चैतन्यहीन आत्मा या तेजोहीन अग्नि की । क्योंकि वाक्शक्ति ही प्रकारों की भी प्रकाशिका है ।

वाक्प्रपत्ता वेगिनकामेदबबोधस्य शाहवती ।

न प्रकाश प्रकाशोत्त सा हि प्रत्यववर्शिनी ॥ अक्षय १ १२४

शैवे मत्ताबलम्बी विमर्श और प्रकारा को दो तत्त्व मानने हैं । वे विमर्श को प्रकारा का भी प्रकारा मानते हैं । उस स्थिति में शब्द को विमर्श रूप ही मानना चाहिए । आचार्य षण्डी ने शब्द की इस प्रकाशशीलता को दृष्टि में रखते हुए कहा है कि यदि शब्द रूपी व्योम इस समस्त संसार में न प्रवीत रहे तो तीनों लोकों में अन्धकार ही अन्धकार रहे ।

इदमन्धन्तम इत्स्मं जायेत भुवनत्रयम् ।

यदि शब्दाहृत्यं ज्योतिवत्ससारं न दीप्यते ॥

काव्यार्थ १ ४

प्रकाशरीतवा के कारण ही राज्य की संसार की तीन व्यक्तियों और प्रकाशों में गणना की गई है। भ्रुति का कथन है कि इस संसार में तीन व्यक्तियाँ और तीन प्रकार हैं जो अपने रूप और पररूप के प्रकाशक हैं। उनमें एक यह ज्ञानदेवस् (अग्नि) है, दूसरा पुरुषों में विद्यमान आंतरप्रकार (आत्मा), और तीसरा प्रकार राज्य है, जो कि अकार और प्रकाश दोनों को प्रकाशित करता है। इसी में यह समस्त चर और अचर जगत् निबद्ध है।

श्रीचि ज्योतीषि त्रया प्रकाशा स्वरूपपररूपयोरबधोतका, तद्यथा वाऽप जातवेदा परश्च पुरुषेऽन्तर. प्रकाशः, पश्च प्रकाशामकाशयो प्रकाशयिता शब्दाख्य प्रकाशः, तत्रैतत् स्वप्नपमिषश्च यावत् स्यान्नु चरिष्यु च। वाक्य० १, १२

शब्दमूलक समस्त ज्ञान—महर्षि का मत है कि संसार का समस्त ज्ञान शब्दमूलक है। अतएव वे कहते हैं कि समस्त विद्याएँ और समस्त ग्राह्यशास्त्र और समस्त कलाएँ (इष्ट कलाएँ गीत, वाद्य मूल्य, आलेख्य आदि) शब्दराशि से सम्बद्ध हैं। शब्द ही वह शक्ति है, जिसके द्वारा ज्ञान हुई समस्त बस्तुओं का विवेचन और विभाजन किया जाता है।

सा सर्वाविद्याशिक्षणा कलानां शोपबन्धनी।

तद्ब्रह्मशास्त्रमिष्यश्च सर्वं बस्तु विमन्यते। वाक्य० १, १२५

शब्द की चैतन्यरूपता शब्दशक्ति ही समस्त प्राणियों में चैतन्यरूप से विद्यमान है। इसकी सत्ता बाहर और अन्दर दोनों स्थानों में है। बाह्यजगत् लोकाध्यबहार का साधन है और अन्दर सुख दुःख आदि के ज्ञान रूप है। समस्त प्राणिमात्र में ऐसा कोई नहीं है, जिसमें वह शब्दशक्ति रूपी चैतन्य न हो। कोई यह मानते हैं कि चित्ति क्रिया वाक्शक्ति के बिना नहीं रहती। अन्य आचार्यों का मत है कि वाक्शक्ति ही चैतना है।

सैवा ससारिकां सधा पहिरन्तश्च वर्तते।

तन्मात्रामनतिक्रान्त चैतन्य सर्वजन्तुषु ॥ वाक्य० १, १२६

जो इन्द्र भी शौकिक व्यवहार है वह वाक्शक्ति के द्वारा ही चल रहा है। वाक्शक्ति ही प्राणियों को प्रत्येक कार्य में प्रेरित करती है। यदि वाक्शक्ति न रहे तो वह समस्त संसार काष्ठ और मिट्टि के तुल्य मरचेतन ही बिसाई पड़ेगा।

अप्यक्षिपासु वाक् सर्वान् समीक्षयति देहिनाः।

तत्तुक्कान्तौ विस्त्रोऽयं दहयते काष्ठशुद्ध्ययत्। वाक्य० १, १२७

महर्षि वाक्शक्ति की जामत् अवस्था में ही प्रवृत्ति नहीं अपितु स्वभावस्था में भी उसकी स्थिति का बयान करते हुए लिखते हैं कि प्रविभाग (जामत् अवस्था)

में मनुष्य वाक्शक्ति के द्वारा कार्य में प्रवृत्त होता है। किन्तु स्वभावस्था में वही वाक्शक्ति कार्य रूप में विद्यमान रहती है (वाक्य० १, १२८) स्वभावस्था में जो कृत्र हरण है तथा जो कृत्र विचार आदि होता है, सब वाक्शक्ति का ही रूप है।

शब्दशक्ति से असदर्थ का बोध शब्दशक्ति न केवल सत्यार्थ का ही प्रत्यायन करती है, अपितु असत्य अर्थ का भी बोध शब्दों द्वारा कराया जाता है। यह शब्दशक्ति की ही महिमा है कि वह असत्य असत्य अर्थ का भी बोध करती है। मट्टहरि शब्द की इस उभयविध शक्ति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप का वाक्शक्ति के द्वारा जिस प्रकार भेद या अभेद रूप में बोध कराया जाता है, वैसे ही वह अर्थ रूढ हो जाता है। वाक्शक्ति उस अर्थ को उपस्थित करती है। वाक्य० १, १२६।

शब्द के द्वारा ही अभिन्न में भी भिन्नता का बोध कराया जाता है। राहु और उसका शिर भिन्न रूप नहीं है, फिर भी 'राहो शिर' (राहु का शिर) प्रयोग किया जाता है। शराभिषाण, उपुष्य आदि असत् अर्थ का भी बोध शब्दशक्ति का साहाय्य है। श्री हर्ष खण्डनखण्डलाय में अतएव कहते हैं कि अस्मत् असत् अर्थ का भी बोध शब्द कराता है।

अस्यस्तासत्यपि इयं शार्गं शब्दं करोति च।

पतञ्जलि योगसूत्र में विकल्पात्मक ज्ञान का सहाय्य करते हुए लिखते हैं कि विकल्पात्मक ज्ञान वह है, जो बाह्यार्थ से शून्य हो, जिसकी प्रतीति केवल शब्द ज्ञानमात्र से होती है। 'शब्दज्ञानानुपायी वसुशून्यो विकल्प' (योग० १, ६)। मट्टहरि कहते हैं कि अलातक आदि में जो चक्र आदि का वास्तविक निरूपण किया जाता है, वह केवल शब्दशक्ति के द्वारा ही होता है। वाक्य १, १३।

शब्द का स्वरूप और अर्थ का विकास—इस शब्द का निवास कहाँ है, इस पर मट्टहरि का कथन है कि शब्दज्ञान का निवास ब्रह्म के हृदय में है। वह महान् अपम अर्थात् महान् देव है। उसका सातुष्य (ऐक्य) प्राप्त करना ही मनुष्य का इष्ट है। शब्द ही जब तक अविद्या के वश में है वह जीव रूप होता है। वही अविद्या से रहित शुद्ध ब्रह्म है। वाक्य १, १३१।

पतञ्जलि ने 'चत्वारि गृह्या' मन्त्र की व्याख्या करते हुए शब्द-ज्ञान रूपी महादेव का निवास मनुष्यों के अन्दर बताया है। महा भा १।

भागवतपुराण में शब्द के स्वरूप का स्पष्ट वर्णन किया है। शब्द ही जीव है, वह विचरों अर्थात् हृदय आदि आकारों में अभिव्यक्त होता है, वही माखबायु के परिणाम स्वरूप घोष (ध्वनि) से हृदय, शिर, कण्ठ रूपी गुहा में प्रविष्ट होकर

अपने सूक्ष्मरूप को छोड़कर मनोमयरूप अर्थात् अन्तःकरण परियामरूप विकार को प्राप्त होता है और मात्रा स्वर वर्ण नामों से प्रसिद्धि को प्राप्त होता है।

स पय जीवो विवर्त्यसृतिः प्रायेण बोधेषु शुद्धां प्रविष्टः ।
मनोपर्यं सूक्ष्ममपेत्य रूपं मात्रा स्वतो वर्षं इति प्रसिद्धः ॥

शब्दज्ञान व्याकरण द्वारा—मर्त्यहरि शब्द का व्याकरण से क्या सम्बन्ध है इस पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि समस्त व्यावहारिक क्रियाकलाप के आधार शब्द हैं। व्यवहार शब्दमूलक है। किन्तु शब्दों का मयार्थ ज्ञान बिना व्याकरण के नहीं होता। अतएव शब्दों के तात्त्विक ज्ञान के लिए व्याकरणज्ञान आवश्यक है। वाक्य १, १३।

शब्द के दो रूप हैं, एक शब्दस्व और दूसरा सामुह्य। शब्द के शब्दस्व का ज्ञान भोत्रेन्द्रिय से हो जाता है, परन्तु उसके सामुह्य का ज्ञान व्याकरण से ही होता है। अतः कुमारिल का यह कथन कि शब्दों का तात्त्विकज्ञान भोत्रेन्द्रिय के बिना नहीं होता, “वक्ष्यामवबोध” शब्दानां नास्ति भोत्रेन्द्रियादहते।” यह युक्ति-संगत नहीं है।

पतञ्जलि ने व्याकरण को शब्दानुरासन नाम से बाधित करते हुए महाभाष्य का प्रारम्भ किया है। कैपट और नागेरा ने शब्दानुरासन शब्द की व्याख्या करते हुये लिखा है कि यह व्याकरण का अन्वर्थ नाम है, क्योंकि व्याकरण के द्वारा शब्दों का अनुरासन अर्थात् विवेचन किया जाता है। पतञ्जलि ने व्याकरण का विषय सांकेतिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों को बताया है। “सांकेतिकानां वैदिकानां च” महा० भा० १।

शब्द क्या है ? पतञ्जलि का मत

स्फोटं और ध्वनि शब्द हैं—पतञ्जलि ने शब्द का अनुरासन व्याकरण का विषय बताया है। अतः यह स्वामायिक है कि शब्द क्या है, उसका क्या स्वरूप है। वह नित्य है या अनित्य, इन सब विषयों का भी विवेचन पतञ्जलि करते। पतञ्जलि ने इसी लिए अपना मन्तव्य स्पष्ट करने के लिए प्रश्न उठाया है कि “अथ गौरित्यत्र कः शब्दः” अर्थात् गौ यह जो ज्ञान हावा है इसमें प्रतीत होने वाली वस्तुओं में क्या शब्द है। पतञ्जलि ने शब्द क्या है, इसको स्पष्ट करने के लिए गौ शब्द को उदाहरण रूप में लिया है। श्लोक में शब्द और अथ में अमेह रूप से व्यवहार देखा जाता है, यथा, “अथ गौ” “अथ शुक्ल” यह गौ है, यह शुक्ल है, इन प्रयोगों में गौ शब्द और गौ वस्तु को प्रत्यक्ष रूप से नहीं समझते। अतः यह ज्ञान आवश्यक है कि शब्द और द्रव्य आदि में अथ भेद है या शब्द ही द्रव्य है। शब्द द्रव्य आदि से भिन्न है। इसी को मनो-

चर द्वारा स्पष्ट करते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि "क्या शब्द सात्त्वा, काङ्गुल, कङ्क, सुर आदि से युक्त वस्तु है" "नहीं, वह तो द्रव्य है"। यदि शब्द और द्रव्य में अन्तर न होता तो शब्दानुशासन के स्थान पर द्रव्यानुशासन कहा जाता। 'क्या इतित् चेषित् आदि शब्द है' "नहीं, वह क्रिया है।" क्या शुक नील आदि शब्द है, नहीं, वह गुण है। क्या भिन्न वस्तुओं में अंमम रूप से और जिन्नों में भी अक्षिन्न रूप से रहने वाली शक्ति शब्द है, नहीं, वह शक्ति है। इन उक्तों द्वारा पतञ्जलि ने स्पष्ट किया है कि शब्द द्रव्य, गुण, क्रिया, और शक्ति से भिन्न कोई पृथक् पदार्थ है। वह क्या है, इसका उत्तर देते हैं कि शब्द वह है, जिसके उच्चारण से सात्त्वा, काङ्गुल आदि से युक्त वस्तु का ज्ञान होता है।

येनोच्चारितेन सात्त्वालाङ्गुलकङ्कदसुरविपाणिना संप्रत्ययो भवति स शब्दः । महा० भा० १

फ्रेयट और नागेरा ने पतञ्जलि के भाष को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वह सत्ता जिसको शब्द कहते हैं और जिसके द्वारा अर्थबोध होता है, वह स्फोट है। स्फोट नित्य है। नाभ (ध्वनि) के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है। पदरूप या वाक्यरूप स्फोट को वैयाकरण वाचक मानते हैं। प्रत्येक वर्ण को वाचक नहीं मानते। वर्ण पद या वाक्य में से वाचकवा किसमें रहती है, इस विषय पर भारतीय दार्शनिकों में बहुत मतभेद है। इसका विस्तृत विवेचन स्फोटवाद के प्रकरण में किया जाएगा। पतञ्जलि स्फोट के अतिरिक्त श्लोक के प्रचलित ध्वनि को भी शब्द कहते हैं, जिससे अर्थ की प्रतीति होती है। श्लोक भ्रमहार में शब्द के द्वारा ध्वनि अर्थ ही समझी जाती है। अतएव ध्वनि को शब्द मानते हुए कहते हैं कि 'शब्द शुक' (शब्द करो) 'मा शब्दं कर्षी' (शब्द मत करो)। अतः ज्ञात होता है कि ध्वनि भी शब्द है।

अमशा प्रतीतपदार्थको श्लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते । तस्माद् ध्वनिः शब्दः ।

फ्रेयट और नागेरा लिखते हैं कि पतञ्जलि स्फोट और ध्वनि को भिन्न मानते हैं, तथापि यहाँ पर दोनों को शब्द कहने का यह अभिप्राय है कि द्रव्य गुण क्रिया आदि शब्द नहीं है। शब्द इनसे भिन्न है उसे शास्त्रीय दृष्टि से स्फोट कहते हैं अतः श्लोकिक दृष्टि से ध्वनि।

स्फोट और ध्वनि में अन्तर—पतञ्जलि ने 'उपरस्तत्कालम्' (१, १, ७०) सूत्र की व्याख्या में स्फोट और ध्वनि का अन्तर स्पष्ट किया है। स्फोट ही वस्तुतः शब्द है। स्फोट नित्य है, अममें अस्पृता, महत्ता आदि की स्थिति नहीं है। ध्वनि शब्द का गुण है अर्थात् वह शब्द का व्यञ्जक है। ध्वनि के द्वारा

शब्द की अभिव्यक्ति होती है, अतएव स्फोट अर्थ है और ध्वनि व्यञ्जकी व्यञ्जक ध्वनि के बिना स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं होती। शब्द नष्ट होता है, ऊँचा शब्द नीचा शब्द भाषि जो व्यवहार होता है, वह ध्वनि का शब्द समझते हुए होता है। पतञ्जलि ने इसको व्याहरण करते हुए समझाया है कि जैसे मेरी बजाने पर मेरी का शब्द कोई २० गज आता है, कोई ३०, और कोई ४०। स्फोट (शब्द) ध्वना ही होता है। लघुता, वृद्धि, अल्पता, महत्ता यह ध्वनि के कारण होती है।

एव तर्हि स्फोटः शब्दः । ध्वनिः शुभ्रगुण । कथम् नैर्घातवत् ।
स्फोट स्तावामव भवति । ध्वनिरुता ध्वनि ॥ महा १ १ ७० ।

अतः पतञ्जलि यह निष्कर्ष निकालते हैं कि शब्द के दो स्वरूप हैं, एक स्फोट और दूसरा ध्वनि। इनमें से ध्वनि की ही अल्प या महान् रूप में देखा पाते हैं। मनुष्यों में स्फोट और ध्वनि दोनों का महण होता है, अर्थात् मनुष्य जो शब्द बोझते हैं वह वर्णालोक होने के कारण ध्वनि के साथ ही स्फोट का भी बोध कराते हैं अतएव अर्थज्ञान होता है। पशु पक्षी आदि में केवल ध्वनि का ही महण होता है।

ध्वनि स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु ऋतु सञ्चयते ।
अस्यो महार्थव केवाञ्जितुमर्थं तस्त्वभावत ॥

महा० १, १, ७० ।

शब्द विषयक मतभेद—मनु हरिने वाक्यपर्याय के प्रथम अरण्य में स्फोट का बिलुप्त रूप से वर्णन किया है। पतञ्जलि ने स्फोट और ध्वनि का जो भेद किया है, इसका विशदीकरण बिरौप रूप से किया है। इसका वर्णन कुछ विस्तार से अध्याय ६ में किया जायगा। मनु हरि ने शब्द के विषय में विद्यमान कविपय मतभेदों का वर्णन किया है।

शिक्षाकारों का मत—शिक्षाकार और प्रातिशास्त्रकार वायु को शब्द मानते हैं अर्थात् वायु ही शब्दरूप को प्राप्त होता है। कथ्य जब शब्द के प्रयोग की इच्छा करता है, तब इच्छानुसूल प्रयत्न से प्राय वायु में किया जल्पन होती है। वह कंठ, गाल आदि स्थानों में जब शब्द जनक संयोग का आश्रय होता है, अर्थात् जब प्राय वायु, कंठ, गाल आदि स्थानों में पर्याय को प्राप्त होता है तो क ल आदि शब्द बन जाते हैं। (वाक्य० १, १-२)। शुक्ल यजु प्रातिशास्त्र ने 'वायु सायु, शब्दस्तम्' (१, ६-७) द्वारा शब्द को वायु का परिर्याम बताया है। वायु सम्भ्यापक होने पर भी जब साधनबिरौपों को प्राप्त होता है तभी शब्द रूप में सत्य होता है। संकरोपहितः, शुक्ल यजु ० ।

मनु हरि शिक्षाकारों के मत के अतिरिक्त जैन और वैशाखियों के मतानुसार

कमला वायु और ज्ञान को शब्द बताते हैं और कहते हैं कि इस विषय में अनेक भिन्न मत हैं।

वायोरणुनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते ।

कैशिकद्वयदर्शनमेवोऽत्र प्रधादेभ्यनघस्थिताः ॥

भाष्य १, १०७ ।

जैनों का मत—जैनों के मतानुसार परमाणु (पुद्गल) सर्वशक्तिमान् हैं, उनमें भेद और संसर्ग होना रहता है। यही ज्ञानाभाव अन्धकार और शब्दरूप में परिणत होते हैं। (भाष्य १, ११)। परमाणु सर्वदा विद्यमान होने पर भी शब्द रूप को तभी प्राप्त होते हैं जब अर्धबोध की दृष्टि से उत्पन्न प्रयत्न से प्रेरित शब्दतन्मात्रारूप परमाणु अपनी शक्ति (षट्शक्त्याविरूप) के व्यक्त होने पर वर्षा-काल में जैसे मेघ के परमाणु वर्षत् एकत्र होते हैं। (भाष्य० १, १११)। प्रमेयकमलमार्तव्य में शब्द के आकार गुणत्व के संयोजन प्रकरण में (पृ १६८) शब्द को पौद्गलिक (परमाणु ज्ञान) निरूपित किया गया है।

पतञ्जलि का मत—वैयाकरण शब्द को ज्ञान का परिणाम मानते हैं। पतञ्जलि ने इसका उल्लेख 'व्याख्यातोपयोगे' (अष्टा० १, ४, २६) सूत्र में किया है। पतञ्जलि का कथन है कि 'व्योतिर्ब्रह्मानानि भवन्ति' ज्ञान व्योति के तुल्य होते हैं। कैपट इसको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि यथा व्यासा रूप व्योति निरन्तर प्रसृत होती रहती है, सादृश्य के कारण उसे तद्रूप समझते हैं, वह अविच्छिन्न है, इसी प्रकार ज्ञान भी भिन्न है, परन्तु शब्दरूपता को प्राप्त होकर वह समस्त (अविच्छिन्न) कहे जाते हैं। ऐसा श्राव होता है कि पतञ्जलि का मत है कि ज्ञान ही शब्दरूप को प्राप्त होता है। महीप, महा १, ४, २६।

महेश्वरि इसको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि आन्तर ज्ञाता (वृत्तिविरहित अन्तःकरण) सूक्ष्म वाक् के रूप में स्थित रहता है। वही अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए शब्द रूप में परिणत होता है।

अथापमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मवागात्मना स्थितः ।

व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ॥

भाष्य १, ११२।

ज्ञान तबूत शब्दरूप को किस प्रकार प्राप्त होता है इसके विषय में महेश्वरि लिखते हैं कि वह ज्ञाता (अन्तःकरण) अर्धबोधन की दृष्टि युक्त मनोरूप होकर जाठराग्नि से पाक (वाह, ज्ञाता के विषयग्रहण सामर्थ्य की बोधकता) को प्राप्त होकर प्राणवायु को प्रेरित करता है। तब प्राणवायु ऊपर को उठती है। प्राणवायु मन का आगम होकर, मन के धर्म से युक्त हो तेज (जठराग्नि) के द्वारा बाहर शब्दरूप हो जाती है। बाह के कारण ही प्राण अपने धर्मियों (क आदि बर्षों)

को पूरक स्थापित करके मयमाण ध्वनियों से बर्यों को अभिव्यक्त करके बर्यों में ही लीन हो जाता है। वाक्य० १, ११३ ११५।

पाणिनिशिष्टाकार इसी क्रम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्मा बुद्धि से संयुक्त होकर अर्थ के बोधन की इच्छा से मन को युक्त करता है। मन शरीर-राशि को प्रेरणा करता है, वह मायवायु को प्रेरित करता है। मायवायु ऊपर उठकर शिर में टकराती है, वहाँ से सुत के मार्ग में आकर बर्यों को उत्पन्न करती है।

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युक्तो विबुधया।
मनः कापाम्निमाहन्ति स प्रेरयित्वा मादतम् ॥
सोदीर्यो मूर्ध्यमिहतो वक्त्रमापाद्य मादतम् ॥
वर्षान् जनयते। पाणिनीय शिष्टा०।

एक अन्य मत का उल्लेख करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि सूक्ष्म वायु के मुख्य ध्वनि रूपी शब्द सर्वव्यापक होने पर भी सूक्ष्म होने के कारण अपलम्ब नहीं होता जिस प्रकार सूक्ष्म वायु व्यञ्जन से अभिव्यक्त होती है, वही प्रकार सूक्ष्म ध्वनि रूपी शब्द भी वक्त्र के प्रयत्न से भोज प्रवेशों को प्राप्त होकर उपलम्ब होता है। वाक्य० १, ११६।

भर्तृहरि का मत—सिद्धान्त पक्ष का निर्देश करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द दो प्रकार का है, एक प्राण में अधिष्ठित और दूसरा बुद्धि में अधिष्ठित। उसकी प्राण और बुद्धि में जो शक्ति (बाह्य शब्द रूप होने की) विद्यमान है, वही शक्ति कठ, वायु आदि स्थानों में विवर्त को, प्राप्त होकर क आदि भेद को प्राप्त होती है।

तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता।

विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रपद्यते ॥

वाक्य० १, ११७।

शब्द अर्थ का बाध किस प्रकार कब करता है, इसका स्पष्टीकरण पुष्करराज ने उक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए किया है कि शब्द प्राणविज्ञान और बुद्धय-विज्ञान को प्रकट करे। प्राण और बुद्धि दोनों से अभिव्यक्त शब्द अर्थ का बोध कराता है। पुष्करराज।

अर्थ का बुद्धि और प्राण से अनिष्ट सम्बन्ध है। शब्द बुद्धिगत भाव को प्रस्तुत करता है, वही अर्थ है।

अन्य विभिन्न मत—कुमारिल मठ ने श्लोकार्थिक के शब्दनिस्त्यताधिकरण में शब्द विपर्यय अन्य विभिन्न मतों का बख्शेष्ट किया है। कुमारिल का कथन है कि—

त्रिगुणः पौद्गलः वाऽयमाकाशम्याधवा गुणः ।
 वर्षावन्वोऽथ मादात्मा वायुश्चपोऽर्घवाचकः ॥
 पद्वाकवाऽऽत्मकः स्फोटः साहचर्यान्वगिबर्तने ।

श्लोक ३१६ से ३२० ।

२. सांख्य का मत है कि शब्द सत्त्व रजस् तमस् स्वभाव युक्त है, अतः त्रिगुण-
 स्मक है। जैन पौद्गल (परमाणुरूप) शब्द को मानते हैं। नैयायिक और
 वैशेषिकों का मत है कि शब्द अनित्य है, वृत्तीयक्षण में उसका प्यस हो जाता है,
 आकाश का गुण विशेष है। शौकिक व्यवहार में वर्ष से विभक्त भाव (ध्वनि) को
 ही शब्द माना जाता है। शिखाकार उसे वायु रूप मानते हैं। यही अर्धबोध
 करता है। वैयाकरण पदस्फोट या वाक्यस्फोट को शब्द मानते हैं। व्याचार्थ
 विन्ध्यवासी सारूप्य (सादर्य) को शब्द मानते हैं। बौद्ध अपोह अर्थात् अभ्य
 की निवृत्ति को शब्द मानते हैं, वे शब्द को दृष्टिक मानते हैं। बौद्धों के मतानुसार
 शब्द ज्ञानस्वरूप है या असत् स्वरूप है। मीमांसकों में प्रमाकर (गुण) का मत है
 कि शब्द बोधप्रकार का है। ध्वनि रूप और वचनरूप। दोनों आकाश के गुण हैं।
 इनमें से ध्वन्यात्मक शब्द अनित्य है और वर्णात्मक शब्द नित्य है। उपर्युक्त,
 भाषि मीमांसकों का मत है कि वर्ष ही शब्द है, पद में जितने वर्ष होते हैं, वे
 सब शब्द कहे जाते हैं। कुमारिल (मठ) शब्द को नित्य मानते हैं। शब्द वर्णरूप
 है। ध्वनि के द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति होती है।

अर्थ का सञ्चय - कात्यायन और पतञ्जलि अर्थ का सञ्चय करते हुए कहते
 हैं कि—

— सर्वे भावाः स्वेन भावेन संबन्धि स तेषां भावः । किमेभिस्त्रिमिर्भावप्रसूरी
 क्रियते । एकेन शब्दे प्रतिनिविरहपते द्वाभ्यामर्थः । यद्वा सर्वे शब्दा स्वेना
 येन संबन्धि स तेषामर्थः । महा० ५, १, ११६ ।

कात्यायन ने। अर्थ के सञ्चय में 'भाव' शब्द का तीन बार प्रयोग किया है।
 उसका स्पष्टीकरण करते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि प्रथम भाव शब्द का
 अर्थ है शब्द, और अभ्य दोनों का अर्थ है अर्थ। अतः अर्थ का सञ्चय यह होता
 है कि समस्त शब्द स्वयं अर्थ बोधन के क्षिये होते हैं, जिस जिस अर्थ के बोध के
 लिए शब्द का प्रयोग होता है वही उसका अर्थ है।

३. श्लेष और आरोह उपयुक्त माध्य की व्याख्या करते हुए अर्थ
 का सञ्चय करते हैं कि समस्त शब्द जिस प्रवृत्ति निमित्त से अर्थात्
 जिस वाच्य अर्थ के बोधन के लिए प्रयोग को माध्य होते हैं, वही प्रवृत्ति
 निमित्त रूप अर्थ (वाच्य अर्थ) इन शब्दों का अर्थ है। प्रदीप और उद्योत,
 महा ५, १, ११६ ।

सर्वहरि अर्थ का सञ्चय करते हैं कि जिस शब्द के सञ्चारण से जिस अर्थ
 की प्रतीति होती है, वह उसका अर्थ है।

राष्ट्र और अर्थ का स्वरूप

परिस्फुरिते राष्ट्रे यथा योऽर्थः प्रतीयते ।
। तमाहुरर्थं तस्यैव नाम्यर्थस्य लक्षणम् ॥

वाक्य० २, ३३० ।

अथन्त न्यायमंजरी में अर्थ का लक्षण करते हैं कि कोई मानते हैं कि यह इस पर का अर्थ है, अर्थात् सांकेतिक है, जिस राष्ट्र से जिस अर्थ का संकेत किया जाता है, वह उसका अर्थ है। दूसरा लक्षण यह है कि जिस राष्ट्र से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही उसका अर्थ है।

अथमस्य पदस्यार्थं इति केचित् स तेन वा ।
योऽर्थः प्रतीयते यस्मान् स तस्यार्थं इति स्मृतिः ॥

न्याय० पृ २६६ ।

कुमारिलमठ श्लोकवार्तिक के व्याख्याधिकार्य में अर्थ का लक्षण करते हैं कि जो अर्थ जिस राष्ट्र के साथ सम्बद्ध रहता है, वह उसका अर्थ है अर्थात् राष्ट्र का वह अर्थ होता है जो उसके साथ सदा विद्यमान रहता है, उस अर्थ को जोड़ना नहीं है।

तत्र योऽन्वेति यं राष्ट्रमर्थस्तरय मवेदसौ । श्लोक० १६

अर्थ का स्वरूप

पतञ्जलि का मत पतञ्जलि के अर्थ विषयक विभिन्न सिद्धान्तों का यथा स्थान विस्तार से वर्णन किया आया है। यहाँ पर अति संक्षिप्त रूप से उनका शिर्षक किया जाता है, क्योंकि मणुहरि ने उनको विशेष रूप से स्पष्ट किया है और उसकी व्याख्या में पतञ्जलि की भी व्याख्या संशुद्ध हो जाती है।

अर्थ राष्ट्र से अमिष्ट—पतञ्जलि का मत है कि अर्थ राष्ट्र से अलग नहीं है। राष्ट्र और अर्थ अमिष्ट हैं। अर्थ राष्ट्र की ही अन्तर्गत शक्ति है। अतएव कहते हैं कि राष्ट्रराष्ट्र से बहिर्भूत है, किन्तु अर्थ अबाहिर्भूत अर्थात् अग्रहण है।

राष्ट्रश्च राष्ट्रात् बहिर्भूत । अर्थोऽबाहिर्भूत ।

महा १, १, ६६ ।

दो प्रकार का अर्थ, स्वरूप और माह्य—सर्व रूपम् (अष्टा० १, १, १७) सूत्र की व्याख्या में पतञ्जलि कहते हैं कि अर्थ दो प्रकार का होता है, एक राष्ट्र का स्वरूप और दूसरा अर्थ। (बाह्य-बस्तु या बन्धु पदार्थ)। व्याकरण में राष्ट्र अपने स्वरूप का ही बोध कराते हैं। यथा, जब यह कहा जाता है

कि अग्नेर्बक् (अग्नि से ठक् प्रत्यय होता है), तो यहाँ पर अग्नि शब्द भौतिक अग्नि का बोध नहीं कराता है अपितु अग्नि शब्द को बोधित करता है । परन्तु लोक व्यवहार में अग्नि शब्द के प्रयोग से वाच्य वस्तु अर्थात् अग्नि नामक पदार्थ का बोध होता है । गाय साधो, वही साधो, में उच्यते शब्द से पदार्थ ज्ञाया जाता है, और पदार्थ ज्ञाया जाता है ।

अस्त्यस्यद् रूपात् स्वं शब्दस्येति ।। किं पुनस्तत् ? अर्थ । शब्देनो-
च्यारितेनायौ गम्यते । गामानय वृष्यशानेति अर्थ आनीयते अर्थश्च मुज्यते ।

महा १, १, ६७।

अर्थ ज्ञान शब्द के द्वारा—पदच्छक्ति का कथन है कि अर्थज्ञान शब्द के द्वारा होता है । जब कोई शब्द सुना जाता है तब वह प्रथम अपने स्वस्व का बोध कराता है और तदनन्तर अर्थ का । जब तक शब्द ठीक न सुना गया हो वह अर्थ का बोध नहीं कराता ।

शब्दपूर्वको ह्यर्थे सम्प्रत्यय । महा १, १, ६७।

फ्रेट ने इसकी व्याख्या में स्पष्ट सिद्धा है कि शब्द केवल सत्तामात्र से अर्थ का बोध नहीं कराता । अपितु जब इसकी उपस्थिति होती है अर्थात् ज्ञाप्य होने पर ही अर्थ का बोध कराता है ।

नागेरा का कथन है कि शब्द अर्थज्ञान का कारण है । शब्द के द्वारा स्वस्व और अर्थ दोनों की उपस्थिति होती है । यदि अर्थ का बोध कराना सम्भव नहीं होता है, तो शब्द अपने स्वस्व का ही बोध कराता है । यदि अर्थ में कार्य सम्भव होता तो शब्द अर्थ का ही बोध करायेगा । अतएव उपस्थित अर्थ का शब्द बोध में परिस्वाग नहीं हो सकता । उच्यते, महा १, १, ६७ ।

चार प्रकार के अर्थ—शब्दों की अर्थ में जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रवृत्ति निमित्तमेव से चार प्रकार की है अतः अर्थ चार प्रकार का होता है । वे चार प्रकार के अर्थ हैं, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य । गो आदि जातिवाची शब्दों से गो आदि जाति का बोध होता है । गुणवाची शब्दों से शुक्र आदि गुण का । क्रियावाची शब्दों से क्रिया का, पचा, पलना आदि । पदच्छा शब्द, जो कि व्यक्ति विनाष्ट द्वारा किसी के नाम रखे गये हैं, उनसे व्यक्ति या द्रव्य का, पचा द्रव्य, कपित्थ आदि नाम ।

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः, जातिशब्दा गुणशब्दा, क्रियाशब्दा
पदच्छाशब्दाश्चतुर्धाः । महा आदिश्लोक २ ।

—अर्थ-नित्यता पर विचार—अर्थ की नित्यता या अनित्यता के विषय में कौत्सायन और पदच्छक्ति का मत है कि अर्थ नित्य है । अतएव कहते हैं कि शब्द

अर्थ और इनका सम्बन्ध नित्य है। 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे,' अन्यत्र पतञ्जलि कहते हैं कि शब्द का अर्थसे सम्बन्ध नित्य है।

नित्या अर्थवतामर्थैरमिसम्बन्धः । महा० भा० १ ।

यहाँ पर अर्थ की नित्यता से क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट ज्ञान लेना आवश्यक है। अर्थ-विषयक इस नित्यता पर यह व्याख्ये किया जाता है कि पतञ्जलि भाषाविद्वांस के सिद्धान्त को सर्वथा नहीं मानते। शब्द का एक ही अर्थ सदा नहीं रहता, हममें भाषाविद्वांस के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। किसी शब्द के अर्थ का विस्तार किसी अर्थ का संकोच तथा किसी अर्थ की अभ्यास में प्रवृत्ति होती है। महाभाष्य के वर्णन, कैवट, नागेश और महाहरि की व्याख्या से ज्ञात होता है कि पतञ्जलि अर्थनित्यता का यह भाव नहीं मानते ये कि अर्थ में कभी परिवर्तन नहीं होता। इस विषय पर निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं। पतञ्जलि स्वयं नित्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—

तद्यपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहास्यत । किं पुनस्तत्त्वम् ? तस्यभावस्तत्त्वम् ॥
महा० भा १।

अर्थात् नित्य वस्तुको भी कहते हैं, जिसमें इसके मूलवस्त्व का नाश नहीं होता। पतञ्जलि स्वयं उदाहरण देते हुए समझते हैं कि जैसे मुखर्ष के विभिन्न आमुष्य बनाये जाते हैं। उनको गलाकर पुनः अन्य आमुष्य बनाये जाते हैं। आकृषिवां मित्र-मित्र होती रहती हैं परन्तु मुखर्ष वस्त्व सदा विद्यमान रहने के कारण उसे नित्य ही कहेंगे।

नागेश इसकी व्याख्या में कहते हैं कि नित्य का अर्थ है, जिसके नष्ट होने पर भी तद्गत धर्म नष्ट नहीं होता। यदि अर्थ अनित्य है तो उसे नित्य कैसे कहते हैं, इसको स्पष्ट करते हुए नागेश कहते हैं कि इसको प्रवाह-नित्यता समझना चाहिए। कैवट और नागेश दोनों ने अर्थ को प्रवाह-नित्यता समझना चाहिए। शब्द का अर्थ अनादि काल से ब्रह्मा था रहा है उसमें प्रवाह के कारण अर्थ परिवर्तन होने पर भी वह अपने स्वरूप को नहीं खोड़ता, अतः नित्य ही कहा जाता है। उद्योतः, महा० भा० १।

कैवट 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' की व्याख्या में अर्थ-नित्यता को स्पष्ट करते हैं कि यदि अर्थ की जातिरूप मानें तो जाति की नित्यता के आधार पर अर्थ को नित्य कहेंगे। यदि अर्थ को इन्द्र (व्यक्ति) रूप मानते हैं तो अर्थ को प्रकृति से नित्य कह सकते हैं, एक तो यह कि शब्दों का मुख्य रूप से प्रकृतत्व ही अर्थ है, गीष्म रूप से यह शब्द अनादि अर्थ है। अतः नित्य है, अतः अर्थ को नित्य कहेंगे। दूसरा प्रकार यह है कि अर्थ प्रवाह से नित्य है। शब्द अर्थ के सम्बन्ध को जो नित्य कहा गया है। वह भी हमी स्पष्ट कि वह व्यवहार की परम्परा से अनादि है। अर्थः, महा० भा १।

पतञ्जलि आग कहते हैं कि यह जो मुक्ति प्रस्तुत की गई है कि जैसे गोपा (गोह) सर्पस्य क्रिया के कारण सर्प नहीं कहाती, इसी प्रकार अथ भी अनुबचन से अन्वयार्थक नहीं हो सकता। इसके विषय में यह ध्यान है कि द्रव्यों में ऐसा मन्ने ही हो कि गोह सर्प न हो जाय, परन्तु राज्य में तो ऐसा परिवर्तन होता है। राज्य जिस जिस विशेष से सम्बन्ध होता है, उस उस का विशेषक हो जाता है। जैसे 'गो-शुक्र' में शुक्र राज्य गो की शुक्रता बताता है और 'अरव-शुक्र' में अरव का विशेषक होकर अरव की शुक्रता बताता है।

शब्दस्तु येन येन विशेषेणाभिसम्बध्यते, तस्य तस्य विशेषको मन्वति ।
महा १, १, २२।

अर्थ की अनिश्चितता का व्याकरण पतञ्जलि ने किया है कि ये उच्च और नीच राज्य अनिश्चितार्थक हैं। वही किसी के लिए उच्च है, किसी के लिए नीच। एक व्यक्ति पढ़ते हुए को कहता है कि 'क्यों उच्च स्तर से थिस्ता रहा है, धीरे पढ़ा' वही को बुरा कहता है कि 'क्या गुनगुनाकर पढ़ रहा है, उच्च स्तर से पढ़'। आप्तप्राण (निर्बल) पूरे बल से जितना ऊँचा बोलेंगा वह उतक जितने सबसे उच्च ध्वनि है, परन्तु महाप्राण (बलवान्) के जितने वह ध्वनि सबसे नीची ध्वनि है। अतः अर्थ का निश्चित रूप नहीं बता सकते। उच्च और नीच किसे कहें, वह निश्चित नहीं बताया जा सकता। इसी प्रकार प्रत्येक राज्य का अर्थ पूर्ण और निश्चित इयत्ता रूप में नहीं बताया जा सकता है। महा १, २, ३।

अर्थ बौद्ध है—राज्य का अर्थ बौद्ध है या बाह्य। इस विषय पर पतञ्जलि का कथन है कि बाह्य अर्थ का बोध राज्य कराता है। गाय लाओ, बही लाओ कहने पर गाय लाई जाती है और बही लाई जाती है। इस प्रकार राज्य बाह्य अर्थ का बोध कराता है परन्तु अर्थ मुख्य रूप से बौद्ध ही है। राज्य और अर्थ का सम्बन्ध सुनिश्चित ही है।

शुद्धौ श्रुत्वा सर्वाशेषेष्टा कर्ता धीरस्तम्बधीति ।

शब्देभ्योऽन्वयं भाष्यान् इन्द्रोऽप्युद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम् । महा० १, ४, १ ६।

अर्थात् विद्वान् धीर बुद्धि में ही कठ, तालु आदि के आघात से अन्य शब्दों को करके राज्य के द्वारा बाध्य अर्थों को बुद्धि में ही वेत्तकर, वही शब्दों का पौर्वापर्य करे।

महर्षिहरि का विवेचन अर्थ के विषय में १२ मत

महर्षि ने अर्थ के विषय में प्राचीन समय में बतमान १२ मतों का द्वितीय का (६) में विवेचन किया है। अर्थविज्ञान की दृष्टि से यह मत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अर्थ के विभिन्न अर्थों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। इन मतों के अर्थन में ही महर्षिहरि इनका साथ ही विवेचन करते गए हैं और अपनी सम्मति

प्रकट करते गए हैं। पुरयराज ने जो भर्तृहरि के भावों की व्याख्या की है, उसको समझ करते हुए उन मतों का विवरण नीचे दिया जाया है।

अर्थ निराकार है—समस्त राज्य आकारविरोध से रहित केवल अर्थ मात्र का बोध कराते हैं। अर्थ निराकार है। जिस प्रकार धर्म अर्थमें वेष्टा स्वर्ग आदि राज्यों से आकारहीन अर्थवत्त्व का बोध कराता है। जो कि गो आदि राज्यों के उच्च-राज्य से आकार विरोध कुछ पदार्थ की प्रतीति होती है, वह अविनाभाव (समवाय) सम्बन्ध के कारण होती है। स्थूल पदार्थ को अर्थ से पूरक नहीं कर सकते, अतएव गो आदि राज्य का निराकार अर्थ होते हुए भी तत्त्वव्यक्तिविरोध से सम्बन्ध के कारण तत्तद्वाकार अर्थ की आकार आदि से कुछ प्रतीति होने लगती है। अन्यथा यदि अर्थ साकार हो तो धर्म, अर्थ, स्वर्ग, नरक, बुद्धि आदि राज्यों से भी साकार अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए।

अस्त्यर्थः सर्वश्रमतामिति प्रत्याप्यलक्षणम् ।
अपूर्वदेवतात्वं सममाहुरर्गवादिषु ॥ वाक्य० २, १२१।

गो अर्थ आदि राज्यों से आकारविरोध आदि की भी प्रकृति बेसी गई है अतः अर्थ को निराकार न मानकर साकार क्यों नहीं मानते ? इस प्रश्न का उत्तर भर्तृहरि देते हैं कि गो आदि राज्यों से जो सात्वा सांगूल आदि वाले आकृतियिशिष्ट का ज्ञान होना है, वह राज्य का विषय नहीं है। गो राज्य का प्रयाग सात्वाविनाम् पशु क क्षिप देखते हैं और इसी प्रकार के प्रयोग के देखने का अभ्यास पढ़ जाने के कारण आकृति विशिष्ट गौ का अर्थ समझते हैं। आकार आदि का बोधन राज्य का विषय नहीं है, इसका कारण ऐसे प्रयोग का देखना और देखने का अभ्यास ही है। अतः राज्यों का अर्थ निराकार ही है। वाक्य० २, १२२।

अर्थ साकार है—कतिपय अचार्यों का मत है कि अर्थ साकार है। कुछ आकारों का बोध राज्य कराया है और कुछ आकार अविनाभाव सम्बन्ध से रहते हैं। कुछ भेद जैसे जाति आदि, वह राज्य के वाच्य हैं। व्यक्तिगत भेद समवाय सम्बन्ध से जगति में रहते हैं, अतः राज्य उनका भी बोध कराया है। वाक्य० २, १२३।

भर्तृहरि इस पक्ष का खरबन करते हुए कहते हैं कि जातिवापी राज्य जाति मात्र का ही बोध कराते हैं। व्यक्ति का आनुपंगिक रूप से बोध होता है, क्योंकि जाति बिना व्यक्तियों के नहीं रह सकती। जातिवापी राज्य व्यक्तिगत भेदों का बोध नहीं कराता।

जातिप्रत्यायके राज्ये या व्यक्तिरनुपङ्गिणी ।
न तान् व्यक्तिगतान् भेदान् जातिराज्योऽपह्नवत ॥

वाक्य २, १२४।

अर्थ की अपूर्णता—इसको व्याकरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जैसे घटादि शब्द घट जातिमात्र का बोध कराते हैं। घट आदि के विभिन्न आकारों का बोध नहीं कराते। प्रत्येक आकार वाले घट को घट कहते हैं, यदि आकार विशेष का बोध कराता तो अन्य आकारवाले घट को घट नहीं कह सकते। पुस्त्यराज कहते हैं कि शब्द में यह शक्ति नहीं है कि वह समस्त विशेषताओं से युक्त अर्थ का बोध करावे। अतएव अर्थ को अपूर्ण और अनिश्चित कहा जाता है।

गहि सकलविशेषसहितमर्थं शब्दं प्रत्यापयितुमक्षम् ॥

। वाक्य ९, १२५ ।

व्यक्तिगत भेद आनुपंगिक रूपसे जाति में रहने पर भी शब्दार्थ किस प्रकार नहीं होते, इसको सर्वहृदि स्पष्ट करते हैं कि क्रिया बिना साधन के नहीं रहती। जैसे पहल करो, इस शब्द से बोध्य यजन रूपी क्रिया कर्ता, कर्म, साधन आदि सामग्री के बिना नहीं हो सकती। परन्तु "यजेत" का अर्थ कर्ता कर्म आदि नहीं होता। इसी प्रकार जाति शब्दों से व्यक्तियों का समुदाय सम्बन्ध होने पर भी व्यक्तिगतभेदशब्द के अर्थ नहीं हैं। वाक्य० २, १२६।

अर्थ आकार का भी बोधक—समस्त आकार मुख्य या गौण रूप से शब्द के ही अर्थ हैं। जातिहीन व्यक्ति नहीं है और व्यक्तिहीन जाति नहीं है। एक दूसरे के बिना अन्य की रिति नहीं है। अतएव साम्यसाधन-विशिष्ट सम कुञ्ज (व्यक्तिविशिष्ट जाति) शब्द का अर्थ है। गौण या मुख्य रूप से समस्त आकार जाति में गृह्यते हैं अतः आकारविशिष्ट जाति का भी बोधक शब्द है। द्वितीय मत से इस मत में अन्तर यह है कि द्वितीय मत बलम्बी कुञ्ज आकारों को शब्द का साक्षात् अर्थ मानते हैं, अन्य आकारों को अविनाभाव से श्रेय मानते हैं। इस मतावलम्बियों का मत है कि शब्द किसी विशिष्ट आकार का नहीं, अपितु समस्त आकार जाति के अन्वगत होने के कारण सर्वाकारविशिष्ट जाति शब्द का अर्थ है।

सर्वं एवाकारा गुणप्रधानभावेन पदस्वार्थं । पुस्त्यराज,

वाक्य० २, १७ ।

समुदाय (अवयवी) अर्थ है—शब्द का अर्थ समुदाय है, जिसमें विकल्प और समुच्चय न हों। यदि प्रत्येक शब्द अवयव का बोध कराएगा अर्थात् आकार समुच्चय रूप शब्द को माना जाएगा तो प्रत्येक शब्द बहुवचन होगा, क्योंकि इसमें कितने ही आकारों का समावेश है। यदि वैकल्पिक माने अर्थात् अवयवसमुच्चय भी है, और अवयवी भी है तो कमी बहुवचन होगा और कमी एकवचन। अतः अवयवातिरिक्त अवयवी शब्द का अर्थ है।

समुदायोऽभिधेयं स्यादधिकरूपसमुच्चयः ।

वाक्य २, १२८ ।

अर्थ असत्य (अनित्य) है, अर्थ संसर्ग रूप है—अर्थ जाति, गुण या क्रिया रूप है। घट आदि शब्दों से घट आदि वस्तुओं का जाति गुण या क्रिया रूप से संसर्ग (सम्बन्ध) कहा जाता है। संसर्ग सम्बन्ध वस्तुओं के बिना रहता सम्भव नहीं है, अतः सम्बन्ध असत्य रूप कहा जाता है। यही असत्य सम्बन्ध शब्दों का अर्थ है। पदार्थ जाति से संसृष्ट होने पर ही सत्य रूप से है, अन्यथा नहीं।

असत्यां चाऽपि संसर्गं शब्दाय कैश्चिद्विपर्यते । वाक्य ० २, १ = ।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही अर्थ है। घट आदि शब्द का घट आदि वस्तु अर्थ है। जाति गुण आदि सब अर्थ अनित्य हैं, अतः अर्थ भी अनित्य है।

पतञ्जलि ने 'आकृष्टिरनित्या' (महा भा १) आकृति (जाति) अनित्य है, कहा है, उसकी व्याख्या में नागेश ने इस भाव को स्पष्ट किया है कि ब्रह्म-वर्तन होने पर गोत्व आदि जाति भी असत्य प्राप्त होती है, अतः जाति भी अनित्य है, केवल ब्रह्म ही सत्य है, ब्रह्म के अतिरिक्त सब असत्य है। इसलिये जाति आदि से सम्बद्ध अर्थ भी असत्य और अनित्य है। नागेश महा भा १।

ससार की समस्त वस्तुओं जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया, रूप अर्थ असत्य है, अनित्य है, अतः असत्य और अनित्य के साथ सम्बद्ध होने के कारण अर्थ भी अनित्य है। जाति द्रव्य आदि रूप अर्थ से सम्बन्ध ही शब्द का अर्थ है।

अर्थ असत्यामास सत्य ई—अर्थ सत्य है, किन्तु असत्य वस्तु से सम्बद्ध होने के कारण असत्य प्रतीत होता है।

असत्योपाधि यत्सत्यं तद्वत् शब्दनिश्चयतम् ।

सत्यमेधामत्योपाधिभिधित्तिं शब्दमाच्यम् । वाक्य २, १२९ ।

पतञ्जलि द्रव्य को भी पदार्थ मानकर अर्थ को नित्य बताता है कि 'द्रव्यं हि नित्यम्' (महा भा १) द्रव्य नित्य है। इसकी व्याख्या करते हुए नागेश ने उपर्युक्त भाव को स्पष्ट किया है। कैट और नागेश का कथन है कि सारे शब्दों का एक ब्रह्मत्व ही अर्थ है। ब्रह्म ही असत्य रूप में द्रव्यरूप है। अर्थात् नाम रूपात्मक अणु असत्य है, केवल ब्रह्म सत्य है। शब्द ब्रह्मरूप अर्थ का बोध कराते हैं, अतः अर्थ सत्य और नित्य है। लौकिक अमत्य वस्तुओं से सम्बन्ध होने के कारण असत्य और अनित्य प्रतीत होता है। कैट और नागेश।

अर्थ अत्यासुरूप है, शब्द और अर्थ में अभिधेयता—शब्द का स्वरूप ही अर्थ है। शब्द ही अभिधेयत्व (अध्यासरूप) को प्राप्त होकर स्वरूप का ही बोध कराता है।

राष्ट्रस्य स्वरूपमेवामिधेयम् ।

राष्ट्रो वाऽभिन्नम्यत्वमागतो याति वाक्यताम् ॥ वाक्य० २, १२६ ।

अभिन्नम्यत्व या अभ्यास पारिभाषिक शब्द है। इनका स्पष्टीकरण करते हुए भट्ट हरि कहते हैं कि 'मोऽयम्' वही है। इस प्रकार के सम्बन्ध अर्थात् वाक्यस्य सम्बन्ध को अभ्यास या अभिन्नम्य कहते हैं। अब अभ्यास के द्वारा पदार्थ का स्वरूप आच्छादित करके एककार सा प्रतीत कराया जाता है, तब उस शब्द को 'अभिन्नम्य (वाक्य)' नाम से बोधित किया जाता है। अभ्यास के कारण शब्द और अर्थ में एकत्वता है। शब्द और अर्थ में वाक्यस्य सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध के द्वारा अब शब्द की अर्थ के साथ एकत्वता का बोध कराया जाता है तब अर्थ को शब्द से भिन्न न करके शब्द ही करते हैं। शब्द अभिन्न रूप से अर्थ का बोध कराता है। पुस्तक, वाक्य २, १३०।

भागेरा ने मञ्जूषा में इसी भाव को स्पष्ट करते हुए पाठशाला भाष्य का उद्धरण दिया है कि संकेत पद और पदार्थ में इतरेतराभ्यास (पारस्परिक वाक्यस्य) का निरूपण करता है, स्मृति रूप है कि 'जो यह शब्द है वही अर्थ है और जो यह अर्थ है वही शब्द है'। मञ्जूषा पृ० २७।

अर्थ की प्रधानता—यदि अर्थ शब्द का अभिन्न रूप है तो राष्ट्रों की प्रधानता है या अर्थ अर्थ की। इस पर पुस्तक कहते हैं कि शब्द और अर्थ की एकत्वता होने पर भी अर्थ अर्थ की ही प्रधानता होती है, क्योंकि इसका ही उपयोग होता है।

राष्ट्राद्यंयोरेकारमत्वेऽप्यर्थोऽस्तीति प्रधान्यमुपयोगवशात् ।

वाक्य २, १३० ।

भट्ट हरि कहते हैं कि शब्द और अर्थ की अभिन्नार्थकता होने पर भी विषय भेद से दोनों की भी प्रधानता देखी जाती है। कहीं पर शब्द का अर्थ प्रधान होता है और कहीं अर्थ का अर्थ। वाक्य २, १३१।

भट्ट हरि का मत है कि लौकिक प्रयोग में अर्थों की ही प्रधानता रहती है। श्लोक में अर्थ के साथ एकत्व को प्राप्त हुआ सा ही शब्द प्रयोग में आता है। यथा, 'अर्थ गी' यह गी है ऐसे प्रयोगों में अर्थ वाक्य अर्थ में विद्यमान होने के कारण मुख्य रूप से प्रतीत होता है। वाक्य० २, १३२।

जहाँ तक शास्त्र का सम्बन्ध है, शास्त्र में विषय के अनुसार दोनों रूप ही देखे जाते हैं। कहीं पर शब्द अपने स्वरूप का ही बोध कराता है तब राष्ट्रों की प्रधानता रहती है कहीं पर अर्थ का मुख्य रूप से निरूपण होता है, तब अर्थों की प्रधानता होती है, यथा की इच्छा के द्वारा प्रधानता का निर्णय होता है। वाक्य० २, १३२।

अर्थ असर्वशक्तिमान है—अर्थ में पूंजक शक्ति नहीं है, अपितु वह राज्यों के अधीन है। राज्यों के द्वारा जिस प्रकार अर्थ का बोध कराया जाता है, उसी प्रकार उनसे बोध होता है। अतएव अर्थ राज्य के स्वकीय माहात्म्य से अयापित किया हुआ ही है अतएव अर्थ असर्वशक्ति इस प्रकार से निरूपित है। वाक्य अर्थ कमी क्रिया रूप से कहा जाता है और कमी प्रत्यय रूप से। इस प्रकार नियम से राज्याय के रूप में क्रिया या प्रत्यय का प्रतिपादन किया जाता है।

अशक्तं सबशक्तेशां शब्दीरेव प्रकल्पिता ।

एकस्वार्थस्य नियता क्रियादिपरिकल्पना ॥ वाक्य २ १३३ ।

अर्थ परिवर्तनशील है—अर्थ को असर्वशक्ति इतना ही कहा गया है कि उसमें जो शक्ति है वह राज्य के द्वारा प्राप्त होती है। अर्थ की सत्ता राज्य के अधीन है। राज्य के बिना अर्थ की अनिच्छकति नहीं होती। पुण्यराज कहते हैं कि अर्थ निरात्मक (आत्महीन) और असत्यमूल है क्योंकि विषया के अनुसार अर्थ जिस जिस प्रकार निरूपण किया जाता है, यह उसी प्रकार की अवस्था को प्राप्त होता है। विषया के अनुरूप ही अर्थ का निरूपण होता है। यहाँ पर अर्थ के लिए निरात्मक राज्य का प्रयोग इस बात को स्पष्ट करता है कि अर्थ में निरिपतता या स्वायत्ता नहीं है, अतएव अर्थ में परिवर्तन होता है। पुण्यराज, वाक्य २, ४४१ ।

अर्थ सर्वशक्तिमान् है—अर्थ सर्वशक्तिमान् है। राज्य के द्वारा प्रत्येक नियत शक्ति का बोध कराया जाता है, अतः अर्थ को सवशक्तिमान् कहते हैं। (वाक्य २, १३३)। मतवाहरी कहते हैं कि सब कुछ अर्थ ही है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो अर्थ न हो। संसार की सब कुछ वस्तुएँ वाक्य हैं। अतएव अर्थ भी सर्वात्मा होता है। जिस प्रकार राज्य सर्वबोधकता-शक्ति के कारण सवशक्तिमान् है, इसी प्रकार सब कुछ बोध्य होने के कारण अर्थ भी सवशक्तिमान् है। राज्य के द्वारा वचन रूप से निरूपित अर्थ बोध का विषय हो जाता है। पुण्यराज ।

सर्वात्मकत्वाद्यस्य निरात्म्याद् वा व्यवस्थितम् ।

अत्यन्तपतशक्ति-वाच्यस्य एव नियम्यतम् ॥ वाक्य २, ४४१

क्यटन कहा है कि राज्य में समस्त अर्थों को बोध करने की शक्ति है। और अर्थ में यह शक्ति है कि यह समस्त राज्यों द्वारा बोध्य है।

सर्वायप्रत्यापनशक्तिपुक्तो हि शब्दः, सबशब्दप्रत्याप्यशक्तिपुक्तश्च य इति व्यवहाराय नियमः कियते । प्रदीप, महा० १ १ ६७ ।

मागेरा ने पैयाकरखों का सिद्धान्त लिखा है कि 'सर्वे सर्वायं चका' समस्त राज्यों में यह शक्ति है कि यह समस्त अर्थों का बोध करा सकें। व्यवहार के

द्वारा राज्य की शक्ति को नियमित किया जाता है। जिस प्रकार राज्य के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार केंपट के भाव हैं कि प्रत्येक अर्थ प्रत्येक राज्य द्वारा वाच्य है। व्यवहार के लिए यह नियम किया जाता है कि यही अर्थ इस राज्य का वाच्य है। महान् से महान्, सूक्ष्म से सूक्ष्म, असमाख्येय तत्त्व तक अर्थ के रूप में बोध्य है, अतः अर्थ को सर्वशक्तिमान् कहा गया है।

अर्थ बौद्ध है बुद्धिगत अर्थ ही राज्य का अर्थ है, बाह्य नहीं। राज्य बुद्धिगत रहता हुआ बुद्धिगत अर्थ का बोध कराता है अर्थात् राज्य और अर्थ का सम्बन्ध बौद्ध है, बाह्य नहीं। बाह्य वस्तुएँ भ्रम उत्पादन द्वारा बौद्ध अर्थ से सम्बद्ध हैं। यह विकल्पात्मक अर्थ भ्रम के कारण द्वारा वस्तु के साथ एकाकार रह कर यद्यपि बौद्ध है तथापि बाह्य वस्तु के साथ अभ्यास को प्राप्त होकर बाह्य अर्थ का बोध कराता है। पुण्यराज।

यो बाधो बुद्धिविषयो बाह्यवस्तुनियन्धनम् ।

एत बाह्यवास्थितिं ज्ञात शब्दाद्य कैश्चिद्विष्यते। वाक्य २, १३४।

बुद्धियुपाख्य एव शब्दारथो न बाह्य। पुण्यराज।

अर्थ बौद्ध ही है या बाह्य भी है। इस विषय पर राज्याय सम्बन्ध के अभ्यास में विशेष विचार किया गया है। नागेश इस मत को मानते हुए अर्थ को बौद्ध मानते हैं और शब्दार्थ-सम्बन्ध को भी बौद्ध मानते हैं। वे बाह्य अर्थ को भ्रमात्मक ज्ञान मानते हैं। पतञ्जलि महेश्वरि एवं पुण्यराज आदि बौद्ध अर्थ को मुख्य मानते हुए भी बाह्य अर्थ को भी शब्दार्थ मानते हैं।

अर्थ बौद्ध और बाह्य दोनों हैं—राज्यों का आकार विशेष से युक्त बाह्य अर्थ होता है। अपूर्व देवता स्वर्ग आदि राज्यों का आकारविशेष रहित बौद्ध अर्थ होता है। कतिपय राज्यों से बोध्य अर्थ आकारविशेष से युक्त है और बाह्य वस्तु की स्मृति के कारण है। कतिपय राज्यों के द्वारा निराकार बौद्ध अर्थों की प्रतीति होती है, तदनुसार ही अर्थ की व्यवस्था की जाती है। पुण्यराज।

आकारवस्तु संविद्या उपलब्धस्मृतिनियन्धनाम् ।

ये ते प्रत्यक्षमास्तस्य संविन्नात्र त्वतोऽभ्यथा ॥

वाक्य २, १३५।

अर्थ अनिश्चित है—प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी निश्चित वासना (संस्कार) के अनुसार ही अर्थ का स्वरूप होता है। यस्तुतः कोई भी निश्चित अर्थ राज्य का नहीं होता।

प्रतिनियतवासनापश्यनेन प्रतिनियताच्छरोऽयम्, तद्वस्तु परिषद्वि
नियतो मामिधीयते। पुण्यराज, वाक्य २, १३६।

भर्तृहरि कहते हैं कि जिस प्रकार एक ही पाण्डवसु को वासना या दृष्टिदोष के कारण इन्द्रिय नाना रूपों से युक्त प्रदर्शित करती है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी वासना के अनुसार राज्य का अर्थ विभिन्न रूप में ग्रहण करता है। अतएव राज्य का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं है। वाक्य० २, १३६।

नास्ति करिषन्मिपत एकः शब्दस्यार्थः । पुण्यराज ॥

वाक्य० २, १३६।

अर्थ भोता की युक्ति के अनुरूप—भर्तृहरि अपने भाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि वक्ष्य अपनी युक्ति के अनुरूप अर्थ में राज्य का प्रयोग करता है, किन्तु मिश्र-मिश्र भोता अपनी अपनी युक्ति के अनुसार उस-राज्य का विभिन्न अर्थ समझते हैं।

वक्षन्नान्येष्व प्रकाम्यो मिन्नेषु प्रसिपत्तपु।

रक्षप्रत्ययागुकारेण शब्दार्था प्रसिभज्यते ॥

वाक्य० २, १३७।

पुण्यराज ने इस श्लोक का भाव स्पष्ट करते हुए बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिया है कि सांख्य, जैन, बौद्ध आदि सभी अपने अपने ज्ञान के अनुसार विभिन्न रूप से अर्थ को ग्रहण करते हैं। यथा, वैशेषिक दर्शन के विद्वान् ने अपने ज्ञान के अनुसार पद राज्य का प्रयोग किया। वह यह भाव प्रकट करना चाहता था कि पद अवयवी है, यह कपालद्वय के संयोग से निर्मित है, परन्तु सांख्य पाषी पद राज्य से समझता है कि यह सत्व, रजस, तमस्—इन तीन गुणों का समाहारमात्र है। जैन और बौद्ध यह समझते हैं कि यह परमाणु-संघयमात्र है। प्रत्येक का ऐसा ही ज्ञान होता है। एक पद राज्य का वक्ष्य ने अपने ज्ञानानुसार एक अर्थ में प्रयुक्त किया, परन्तु विभिन्न भोताओं ने उसका अर्थ अपने ज्ञानानुसार विभिन्न समझा। ऐसी स्थिति में यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि वस्तुतः पद का क्या अर्थ है? यह अवयवी है, गुण-समाहार है या परमाणु-संघयमात्र है।

ज्ञान के अनुसार ही अर्थ भी परिवर्तनशील है—भर्तृहरि कहते हैं कि यही नहीं है कि एक ही दरम वस्तु को विभिन्न व्यक्ति अपने ज्ञान और वासना मेद से विभिन्न समझते हैं, अपितु काल या अवस्था मेद से एक ही व्यक्ति एक वस्तु को विभिन्न रूप में देखने लगता है।

एकस्मिन्नपि दृश्येऽर्थे वर्तनं मिघरो पूयक् ।

कज्जाम्तरंख ईकोऽपि तं पण्यत्पन्वथा पुनः ॥

वाक्य २ १३८।

पुण्यराज काल या अवस्थामेद से एक ही व्यक्ति के विचारों में किम प्रकार परिवर्तन हो जाता है और वह काज्जाम्तर में एक ही शब्द का अर्थ विभिन्न

समझने लगता है, इसका उदाहरण देते हैं कि एक मनुष्य जब कि बसने बीस वर्षों का अध्ययन किया था, एक राज्य के अर्थ को एक समझता था, परन्तु कालान्तर में वैशेषिक दर्शन के अध्ययन से वही राज्य के अर्थ को कुछ अन्य समझने लगता है।

मतृ हरि अतएव कहते हैं कि निमित्त अभ्यवस्थित हैं अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का ज्ञान और उसकी वासना सदा एक सी नहीं रहती। ज्ञान के साधन प्रत्येक शास्त्र या दर्शन एक ही व्यवस्थित अर्थ नहीं बताते। अतः एक ही राज्य का अर्थ एक व्यक्ति शास्त्र और वासना की अनियतता के कारण क्रमशः विभिन्न रूप में समझता है। विभिन्न व्यक्ति एक ही राज्य का स्वज्ञानानुसार विभिन्न अर्थ समझते हैं। वाक्य २, १२६।

पुण्यराज कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान के अनुसार ही अर्थ विभिन्न और परिवर्तित होता रहता है, यह स्वामाबिक है, इसमें किसी का क्या बरा है। पुण्यराज।

अर्थ और ज्ञान के परिवर्तन का कारण माननीय अपूर्णता—मतृ हरि अपूर्ण विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मनुष्य पूर्ण तत्त्वज्ञ नहीं है। उसका ज्ञान अपूर्ण और अभ्यवस्थित है। अतएव दर्शाता के कारण उसका ज्ञान त्रुटिपूर्ण और अनेक स्तरों से युक्त है। अतएव उसका राज्यप्रयोग भी सर्वथा अभ्यवस्थित, अवास्तविक, त्रुटिपूर्ण और स्तरों से युक्त है।

तस्माद्दृष्टवत्वानां सापरार्थं बहुव्ययम् ।
दर्शनं बचनं चापि मित्यमेवानव स्थितम् ॥

वाक्य० २, १४ ।

अर्थ वक्ता की इच्छा के अनुरूप—मतृ हरि ने अर्थ के विषय में कुछ अन्य आश्चर्यक वक्तव्य अपूर्ण १२ विभिन्न मतों के अतिरिक्त विभे हैं। मतृ हरि और पुण्यराज कहते हैं कि अर्थ का कोई रूप नहीं है। वक्ता जिस प्रकार शब्द के अर्थ का निरूपण करता है वही उसका अर्थ हो जाता है। एक ही शब्द को एक वक्ता एक रूप से प्रयोग करके एक भाव को व्यक्त करता है और दूसरा वक्ता वही शब्द को दूसरे रूप में प्रयोग करके दूसरा अर्थ बोधित करता है। पुण्यराज, वाक्य० २, ४४४।

सद्यथाद् व्यतिष्ठन्ते पदार्था न तु वस्तुतः ।

उपकारात् स एवार्थं कथयित्वनुगम्यत ॥

वाक्य २, ४४४ ।

शब्द अर्थ का केवल सफेद करता है—मतृ हरि और पुण्यराज का कथन है कि शब्द अर्थ के स्वरूप को स्पष्ट नहीं करते, अपितु वृत्त करते हुए ही अर्थ का

संकेत मात्र करते हैं तथा इस प्रकार व्यवहार के लिए उपयोगी होते हैं। राज्य में यह शक्ति नहीं है कि वह अर्थ के स्वरूप को स्पर्श कर सके। पुरयराज, वाक्य० २, ४४२।

वस्तुपलाक्षर्षुशब्दो नोपकारस्य कारकः।

न स्वशक्तिः पदार्थानां संस्पर्शं तत्र शक्यते ॥

वाक्य० २, ४४२।

अर्थ अनुमेय है, संकेत से भी अर्थ ज्ञान—राज्य का अर्थ जो वस्तु के दृश्य में है, वह है, या जो श्रोता के दृश्य में है, वह है। क्या वस्तु जो भाव प्रकट करना चाहता है वह भाव उसी रूप में श्रोता के दृश्य में व्यक्त होता या विभिन्न रूप से। इस विषय पर मनुहरि और हेसा राज का कथन है कि अर्थ की जो व्यवस्था की जाती है, वह वस्तु के अभिप्राय पर ही निर्भर रहती है या राज्य शक्ति भी उसमें कुछ कार्य करती है। इसका उत्तर मनुहरि देते हैं कि जहाँ तक अर्थज्ञान का सम्बन्ध है वह राज्य अर्थ है। राज्य ही विभिन्न अर्थों का विभाजन करता है। अर्थनिकोष (आर्थिक बन्द करना) आदि संकेतों से भी जो अर्थबोधन कराया जाता है वह राज्य के आश्रित ही है। राज्यों के द्वारा ही अर्थों का सूक्ष्म विवेचन करके उनका विस्तार किया जाता है। अर्थज्ञान प्रत्यक्ष है या अनुमेय, इस विषय में उत्तर है कि श्रोता वस्तु की विवक्षा का अपने अनुमान द्वारा अर्थ समझता है। श्रोता वस्तु के द्वारा परस्परित राज्य को सुनकर यह अनुमान करता है कि वस्तु अमुक अर्थ का बोध कराना चाहता है। श्रोता अनुमान द्वारा स्वज्ञान के अनुरूप वस्तु का अर्थ ग्रहण करता है। हेसा राज, वाक्य ३, पृ० ४४०।

वस्तुरभिप्रायाद्युक्तानां व्यवस्था न शक्यधर्मतः।

शब्दादर्था प्रतीपत्ते स भेदानां विधायकः ॥

अनुमानं विवक्षाया शब्दादन्वयस्य विधायते ॥

वाक्य ३, पृ ४४०।

अर्थ कार्यात्मिक है, शब्दसृष्टि में व्यक्ति का महत्त्व मनुहरि और पुरयराज ने इस बात पर भी विचार किया है कि किसी राज्य का अर्थ और उनका वाच्य-वाचक भाव व्यक्ति की रूपना का फल है या अनादि। इस पर उनका कथन है कि यह समस्त साध्य-साधन (वाच्य-वाचक) व्यवहार कार्यात्मिक है। इन दोनों साध्य और साधनों का परस्पर सम्बन्ध आपेक्षिक है। अर्थान् व्यक्ति की रूपना का फल है, वास्तविक नहीं है। अतएव पदार्थ असत्य है। पुरयराज २, ४३३।

यद्वाच्य (वाच्य) है, और यद्वाचक (वाचक) है, इन दोनों का यह संबंध है,

यह सब कारुणिक है। अतः वास्तविक रूप से शून्य ही है। प्रयोक्ता के कल्पना मात्र से साम्य-साधन और दोनों के सम्यग् की स्थिति है। प्रयोक्ता ही किसी को साम्य (अर्थ) और किसी को साधन (शब्द) मानकर उनका उर्वर्य में सम्बन्ध करता है और प्रयोग करता है। हेखापज वाक्य २, ४३५।

प्रयोक्तैवापिसम्बन्धते साम्यसाधनरूपताम्।

अर्थस्य वाऽपिसम्बन्धकल्पनां प्रसमीहते।

वाक्य २, ४३५।

पुण्यराज बहुत स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि यदि साम्य-साधन और इनका सम्बन्ध वास्तविक होता है तो वस्तु स्वभाव को ज्ञान भी अर्थात् संसार की कोई भी बड़ी से बड़ी शक्ति इसको बदल नहीं सकती, और यह शब्द अर्थ तथा इनका सम्बन्ध निरन्तर ही होता परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता, अतः यह श्रौत होता है कि यह कारुणिक और वैयक्तिक सृष्टि है। इसी भाष का मत्व हरि ने प्रतिपादन किया है। साधन-समुद्देश में मत्व हरि ने यह विस्तार से प्रतिपादन किया है कि यह सब मुख्य वैयक्तिक (कारुणिक) है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी कारुणिक है। पुण्यराज, वाक्य २, ४३६।

यदि हि वास्तवमेतत् स्यात् तदा वस्तुस्वभावस्य ज्ञानाऽप्यस्यथा कृतमशक्यत्वाद् व्यवस्थितमेवैतद् मयेत्, न च तथा परिदृश्यते। पुण्यराज वाक्य २, ४३६।

अर्थ परिवर्तनशील है—मत्व हरि का कथन है कि इस विषय पर एक मत यह भी है कि अर्थ यद्यपि सर्वशक्ति युक्त है तथापि प्रयोक्ताओं के द्वारा जिस उद्देश्य से जिस रूप में विवक्षित होता है, वही उसका रूप हो जाता है।

योऽसौ येनोपकारेण प्रयोक्तृणां विवक्षितः।

अर्थस्य सर्वशक्तिवात् स तथैव व्यवस्थितः।

वाक्य २, ४३७।

अर्थ तीन प्रकार का है—सीरदेव ने परिभाषायुक्ति में बताया है कि अर्थबला ३ प्रकार की है, १, लौकिक, २, अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्य ३, प्रतिज्ञाज्ञापित। सीरदेव के मतानुसार अर्थ को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। परिभाषा, १२८।

१—लौकिक अर्थ को स्पष्ट करते हुए सीरदेव कहते हैं कि लौकिक अर्थ पद में नहीं रहता। लोक में प्रवृत्ति और निवृत्ति से शब्द अर्थवान् होता है। अर्थात् लोक में सार्वक शब्द पसी को कहते हैं, जिसके भवण से प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है। लोक में प्रवृत्ति या निवृत्ति वाक्य में ही होती है, अतः वाक्य ही सावक है। वाक्य का अर्थ ही लौकिक अर्थ है।

लौकिक-ज्ञावत् पद एव
अर्थवान् ॥

। अन्वयव्यतिरेक शब्दो लोकेऽ-
इति तस्यैव ल-

मनुहरि इस विषय पर अपनी सम्मति बहुत स्पष्ट शब्दों में दे चुके हैं कि पशु में सब एक सार्वक्यता नहीं आती, अब तक कि वे वाक्य रूप को प्राप्त नहीं होते। वाक्य के अतिरिक्त पशु की कोई सार्वक्यता नहीं है। वाक्य ही सार्वक्य होता है।

तथा पदानां सर्वेषां पृथगर्थनिषेधिनाम् ।

वाक्यैभ्यः प्रथिमत्तानामर्थैश्चानभिद्यते ॥ वाक्य २, ४२७ ।

२ - अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्य अर्थ की व्याख्या सीमवैय करते हैं कि राज्य में प्रकृति और प्रत्यय का पृथक्-पृथक् अर्थ क्या है, इसका निर्णय अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा होता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में सबसे प्रथम अन्वयव्यतिरेक के महत्त्व पर ध्यान आकृष्ट किया है और अर्थ निर्णय या अर्थज्ञान के लिए अन्वय और व्यतिरेक को मुख्य साधन बताया है। अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा यह निर्णय स्पष्ट रूप से किया जाता है कि राज्य में इतना या यह अर्थ प्रकृति का है और इतना या यह अर्थ प्रत्यय का।

सिद्ध एवमव्यतिरेकान्याम् । महा० १, ५५ ।

३ - प्रतिज्ञाज्ञापित, अब यह है, जो कि लौकिक और अन्वयव्यतिरेकान्य नहीं है, अपितु पाणिनि आदि भाषार्यों ने इन शब्दों को इन अर्थों में पढ़ा है, अतः इन शब्दों का वही अर्थ लिया जाता है। पतञ्जलि ने इस प्रकार के अर्थ को "भाषार्याचारान् संज्ञासिद्धिः" (महा० १, १, १) अर्थात् भाषार्यों के व्यवहार से अर्थ-निर्णय को बताते हुए भाषार्य व्यवहारमूलक अर्थ बताया है। पाणिनि ने जो बृद्धि, गुण्य रूपया निष्ठा पि, नदी आदि पारिभाषिक शब्द विषय हैं, उनके अर्थ प्रतिज्ञाज्ञापित ही हैं।

अर्थ १८ प्रकार का है, पुण्यराज का विवेचन

पुण्यराज ने मनुहरि के उपर्युक्त विभिन्न विचारों को स्पष्ट करने के अतिरिक्त लिखा है कि अर्थ १८ प्रकार का है। अर्थविज्ञान की दृष्टि से पुण्यराज का यह विवेचन विशेष उपयोगी है। पुण्यराज ने जो १८ अर्थों का विवरण दिया है, वह निम्न है।

अर्थोऽष्टादशधा, तत्र वस्तुमात्रमभिधेयमथ० । पुण्यराज,

वाक्य० २, ८१, पृ० ११० ।

१ - वस्तुमात्र, समस्त वास्तव अर्थ जो कि प्रतिपादन का विषय नहीं है, वास्तव अर्थ जो कि स्वमत्ता रूप से विद्यमान है, परन्तु जितका बोधन नहीं कराया जा रहा है। ऐसी स्थिति में अर्थ वस्तुमात्र होगा।

२ - अभिधेय, वास्तव अर्थ ही जब प्रतिपाद्य विषय होगा, तब उसे अभिधेय (बोध्य या वाच्य) कहेंगे।

यह सब कार्पनिक है। अतः वास्तविक रूप से शून्य ही है। प्रयोक्ता के कल्पना मात्र से साम्य-साधन और दोनों के सम्बन्ध की स्थिति है। प्रयोक्ता ही किसी को साम्य (अर्थ) और किसी को साधन (शब्द) मानकर इनका तदर्थ में सम्बन्ध करता है और प्रयोग करता है। हेताराज वाक्य २, ४३५।

प्रयोक्तैवापिसम्बन्धते साम्यन्नाद्यमरूपताम्।

अर्थस्य वाऽपिसम्बन्धकल्पनां प्रसमीहते।

वाक्य २, ४३५।

पुरयराज बहुत स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि यदि साम्य-साधन और इनका सम्बन्ध वास्तविक होता है तो वस्तु स्वभाव की अज्ञा भी अर्थात् संसार की कोई भी बड़ी से बड़ी शक्ति उसको बधत नहीं सकती, और यह शब्द अर्थ तथा इनका सम्बन्ध निरिषय ही होता परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता, अतः यह ज्ञात होता है कि यह कार्पनिक और वैयक्तिक सृष्टि है। इसी भाव का मतु हरि ने प्रतिपादन किया है। साधन-समुद्देश में मतु हरि ने यह विस्तार से प्रतिपादन किया है कि यह सब कुछ वैयक्तिक (कार्पनिक) है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी कार्पनिक है। पुरयराज, वाक्य २, ४३६।

यदि हि वास्तवमेतत् स्यात् तदा वस्तुस्वभावस्य द्रष्टृणाऽप्यन्यथा-
वत्तुमशक्यत्वाद् व्यवस्थितमेतत् मवेत्, न च तथा परिदृश्यते। पुरयराज
वाक्य ० २ ४३६।

अर्थ परिवर्तनशील है—मत्तु हरि का कथन है कि इस विषय पर एक मत यह भी है कि अर्थ अद्यपि सर्वशक्ति युक्त है तथापि प्रयोक्तृओं के द्वारा जिस दृश्य से जिस रूप में विवक्षित होता है, वही उसका रूप हो जाता है।

योऽसौ येनोपकारेण प्रयोक्तृणां विवक्षितः।

अर्थस्य तस्यैव विवक्षितत्वात् स तथैव व्यवस्थितः।

वाक्य २, ४३७।

अर्थ तीन प्रकार का है—सीरवेच न परिमाणावृत्ति में यथाया है कि अर्थवत्ता ३ प्रकार की है, १, लौकिक, २, अन्वयव्यतिरेकसमभिगम्य ३, प्रतिज्ञाज्ञापित। सीरवेच के मतानुसार अर्थ को तीन मार्गों में विभाजित किया जा सकता है। परिमाणा, १२८।

१—लौकिक अर्थ को स्पष्ट करते हुए सीरवेच कहते हैं कि लौकिक अर्थ पद में नहीं रहता। लोक में प्रवृत्ति और निवृत्ति से शब्द अर्थवान् होता है। अर्थात् लोक में सार्वक शब्द वसी को कहते हैं, जिसके अन्वय से प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है। लोक में प्रवृत्ति या निवृत्ति वाक्य में ही होती है, अतः वाक्य ही सार्वक है। वाक्य का अर्थ ही लौकिक अर्थ है।

लौकिकी तावत् पद एव नास्ति। प्रवृत्तैव निवृत्तैव शब्दो लोकेऽ-
र्थवान् भवति। वाक्य एव प्रवृत्तिनिवृत्ती दृष्टे इति तस्यैव लौकिकी।

भर्तृहरि इस विषय पर अपनी सम्मति बहुत स्पष्ट शब्दों में वे बुके हैं कि एवों में तब तक सार्थकता नहीं आती, जब तक कि वे वाक्य रूप को प्राप्त नहीं होते। वाक्य के अतिरिक्त पद की कोई सार्थकता नहीं है। वाक्य ही सार्थक होता है।

तथा यदानां सर्वेषां पृथगर्थनिवेशिनाम् ।

वाक्यैर्म्यः प्रथिमकानामर्थवशात् न विद्यते ॥ वाक्य २, ४२७ ।

२ - अन्वयव्यतिरेकसमाधिगम्य अर्थ की व्याख्या सीरक्षेय करते हैं कि राज्य में प्रकृति और प्रत्यय का पृथक्-पृथक् अर्थ क्या है, इसका निर्णय अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा होता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में सबसे प्रथम अन्वयव्यतिरेक के महत्त्व पर ध्यान आकृष्ट किया है और अर्थ निर्णय या अर्थज्ञान के लिए अन्वय और व्यतिरेक को मुख्य साधन बताया है। अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा यह निर्णय स्पष्ट रूप से किया जाता है कि राज्य में इतना या यह अर्थ प्रकृति का है और इतना या यह अर्थ प्रत्यय का।

सिद्ध एवन्वयव्यतिरेकाम्याम् । महा० १, २, ४४ ।

३ - प्रतिष्ठाशापित, अर्थ वह है, जो कि लौकिक और अन्वयव्यतिरेकगम्य नहीं है, अपितु पाणिनि आदि आचार्यों ने उन शब्दों को उन अर्थों में पढ़ा है, अतः उन शब्दों का सही अर्थ शिवा जाता है। पतञ्जलि ने इस प्रकार के अर्थों को "आचार्याचारान् संहासिद्धिः" (महा० १, १, १) अर्थात् आचार्यों के व्यवहार से अर्थ-निर्णय को बताते हुए आचार्य व्यवहारमूलक अर्थ बताया है। पाणिनि ने जो दृष्टि, गुण रूपमा निष्ठा पि नदी आदि पारिभाषिक शब्द दिए हैं, उनके अर्थ प्रतिष्ठाशापित ही हैं।

अर्थ १८ प्रकार का है, पुण्यराज का विवेचन

पुण्यराज ने भर्तृहरि के उपर्युक्त विभिन्न विचारों को स्पष्ट करने के अतिरिक्त लिखा है कि अर्थ १८ प्रकार का है। अर्थविज्ञान की दृष्टि से पुण्यराज का यह विवेचन विशेष उपयोगी है। पुण्यराज ने जो १८ अर्थों का विवरण दिया है, वह निम्न है।

अर्थोऽष्टादशधा, तत्र वस्तुमात्रमभिधेयम् ० । पुण्यराज,

वाक्य० २, ८^१, पृ० ११० ।

१ - वस्तुमात्र, समस्त वाद्य अर्थ जो कि प्रतिपादन का विषय नहीं है, बाह्य अर्थ जो कि स्वतन्त्र रूप से विद्यमान है, परन्तु जिसका बोधन नहीं कराया जा रहा है। ऐसी स्थिति में अर्थ वस्तुमात्र होगा।

२ - अभिधेय, बाह्य अर्थ ही जब प्रतिपाद्य विषय होगा, तब उसे अभिधेय (बोध्य या वाच्य) कहेंगे।

३—शास्त्रीय, अभिधेय दो प्रकार का है, एक शास्त्रीय और दूसरा लौकिक। श्रेय और शास्त्रादि द्वारा प्रतिपाद्य अथ शास्त्रीय कहा जाता है। इसमें आवाप और अकार होता है। अर्थात् एक अर्थ को निकालना और अर्थान्तर का आच्छेप किया जाता है, अथ शास्त्रीयअर्थ को 'आवापोद्धारिक' कहते हैं।

४ लौकिक, लोकप्रसिद्ध अर्थ, ऊपर लिखा जा चुका है कि लौकिक अर्थ वाक्यार्थ रूप अर्थ होता है। लौकिक अर्थ में आवापोद्धार नहीं होता, अतएव लौकिक अर्थ को असंख्य मानते हैं। (लौकिकस्वत्वरथ)।

५—विशिष्टाद्यमहसम्प्रत्ययहेतु, पञ्चलि ने महामाध्य में 'कंस घातयति' (कंस को मारता है), 'वलि वधयति' (वलि को बाँधता है), व्याहरणों द्वारा इसका अर्थ स्पष्ट किया है। कंस और वलि अतीत के पुरुष हैं उनका मारना या बाँधना वर्तमान काल में कैसे सम्भव हो सकता है। यहाँ पर अर्थ वस्तुत्व रूप नहीं है, किन्तु विशिष्ट आकारयुक्त ज्ञान से उसका प्रत्यक्ष किया जाता है असत्य अर्थ को भी सत्य अर्थ के तुल्य प्रयोग में लाया जाता है। ऐसे अर्थ को विशिष्टाद्यमहसम्प्रत्ययहेतु इसलिये कहा जाता है, क्योंकि अर्थ इस प्रकार विशिष्ट आकार से युक्त होकर प्रस्तुत हुआ है कि यह वस्तुत्व अविद्यमान वस्तु में भी विद्यमानता का ज्ञान कराता है। इसको काव्यनिक अर्थ कह सकते हैं।

६—विशिष्टाद्यमहसम्प्रत्ययहेतु के विपरीत अर्थात् असत्य या काव्यनिक न होकर वास्तविक अर्थ, जैसे शुक्ल गाय आदि अर्थ वास्तविक रूप में वास्तवगत में विद्यमान है।

७—मुख्य, शब्द का अभिधा शक्ति से जो अर्थ बोधित किया जाता है वह मुख्य अर्थ है। यथा सात्ता आदि से युक्त गाय, इसमें गो शब्द अपने मुख्य अर्थ गो का बोध कराता है।

८—परिकल्पितरूपविपर्यास, झड़ना शक्ति या व्यंजना शक्ति के द्वारा जो अर्थ सूचित या व्यञ्जित किया जाता है, उसे परिकल्पितरूपविपर्यास अर्थ कहते हैं, क्योंकि इसमें रूप अर्थात् वास्तविक अर्थ किसी निमित्त विरोध के कारण विपर्यास परिवर्तन आदि किया जाता है, अतएव इसे गौश्व अर्थ कहते हैं यथा, "गोर्वाहीक" में गो शब्द वाहीक पञ्चनवमासीय की निमित्त-विरोध मूर्त्तता के बोधन के लिये प्रयुक्त हुआ है। अपने सुसमार्य गो-पशु को छोड़कर गौश्व अर्थ 'मूर्त्त' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

९—अव्ययपदस्य, जिसका बर्णन किया जा सके ऐसे अर्थ का अव्ययपद अर्थ कहते हैं। जैसे आवि या व्रम्य आदि। मतुर्हरि ने ऐसे अर्थ को "समा-ख्येय" नाम दिया है।

१०—अव्ययपदस्य, जिसका वक्ष्यन वास्तविक रूप से न किया जा सके,

ऐसे अर्थ को अस्यपदेस्य अर्थ कहते हैं। मत्तुं हरि ने ऐसे अर्थ को 'असमाख्येय' नाम दिया है। इन्द्रिय से अदृश्य सूक्ष्म अर्थ जिसका ठीक-ठीक वर्णन नहीं किया जा सकता।

११—सत्त्वमावापन्न जो अर्थ किसी बाह्य वस्तु का बोध कराता है, जो दृश्य अदृश्य है, उसको सत्त्वमावापन्न अर्थ कहते हैं, क्योंकि वह सत् वस्तु का बोध कराने के स्वरूप होता है।

१२—अमत्त्वमूढ, जब अर्थ असत् वस्तु का बोध कराता है, तब वह असत्त्व मूढ अर्थ होता है। क्योंकि उस स्थिति में बाह्य कोई सत्त्वस्तु नहीं है।

१३—स्थिरलक्षण, जो अर्थ स्थिर रूप से विद्यमान रहे, उसे स्थिर लक्षण कहते हैं। यथा, 'राजपुरुष' में पुरुष शब्द राज सम्बन्धी पुरुष का ही बोध कराता है। स्थिर रूप से अर्थ बोध करने के कारण इसे स्थिर लक्षण अर्थ कहते हैं।

१४—विषयप्रापितसन्निधान, स्थिर लक्षण के विपरीत यहाँ पर अर्थ विषय के अधीन रहता है उसे विषयप्रापितसन्निधान अर्थ कहते हैं। यथा, "राजपुरुषस्य" में निरिच्छत अर्थ नहीं है क्योंकि दोनों शब्द पट्यन्त हैं। जिसको यहाँ विरोपण मानें और दूसरे को विरोध्य। यहाँ पर अर्थ वक्त्रा पर निर्भर है। अतः अनिरिच्छत है।

१५—अभिधीयमान, जो अर्थ प्रस्तुत रूप से वर्णन किया जाता है, उसे अभिधीयमान अर्थ कहते हैं। यथा, 'राजसखा' में 'राजा का मित्र' ऐसा अर्थ प्रस्तुत रूप से वर्णित होने के कारण अभिधीयमान है।

१६—प्रतीयमान, प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त जो अर्थ व्यंजना या ध्वनि से ज्ञात होता है, उसे प्रतीयमान अर्थ कहते हैं। यथा 'राजसखा' में ही राजा का मित्र यह अर्थ ध्रुक्कर 'राजा है मित्र जिसका' इस प्रकार का बहुव्रीहि समास का अर्थ प्रतीय होने से यह अर्थ प्रतीयमान है।

१७—अभिसहित, भाष्य अर्थ। यथा, गो शब्द से जाति या व्यक्तित्व जो अर्थ ज्ञात होता है, यह अभिसहित है।

१८—मान्तरायक, अविनाभाव से रहने वाला अर्थ। यथा गो शब्द से जो विभिन्न शुक्र, नील, पीत आदि बण विरोप का भी ज्ञान होता है, वह अर्थ गो शब्द में अविनाभाव से रहता है अतः उसे मान्तरायक अर्थ कहते हैं।

ओगडेन और रिचार्डस का विवेचन

ओगडेन और रिचार्डस ने अपनी पुस्तक 'मीनिङ्गभाष् मीनिङ्ग' अध्याय (१ पृष्ठ १८५ से २०८) में आपुनिक विद्वानों के बताये हुए १६ अर्थ के लक्षणों का उल्लेख किया है तथा उनका विवेचन भी किया है। उपर्युक्त विवेचन से

३—शास्त्रीय, अभिवेद्य दो प्रकार का है, एक शास्त्रीय और दूसरा लौकिक। वेद और शास्त्रादि द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ शास्त्रीय कहा जाता है। इसमें आवाप और अकार होना है। अर्थात् एक अर्थ को निरूपण और अर्थान्तर का प्रत्येक किया जाता है, अतः शास्त्रीयअर्थ को 'आवापोद्धारिक' कहते हैं।

४ लौकिक, लोकप्रसिद्ध अर्थ, ऊपर लिखा जा चुका है कि लौकिक अर्थ वाक्यार्थ रूप अर्थ होता है। लौकिक अर्थ में आवापोद्धार नहीं होता, अतएव लौकिक अर्थ को असत्य मानते हैं। (लौकिकस्त्यस्यह)।

५—विराष्टावप्रहसम्प्रत्ययहेतु, पठस्रसि ने महामाध्य में 'कंस पाठयति' (कंस को मारता है), 'बलि बंधयति' (बलि को बंधता है), व्याहरणों द्वारा इसका अर्थ स्पष्ट किया है। कंस और बलि अतीत के पुरुष हैं इनका मारना या बंधना वर्तमान काल में कैसे सम्भव हो सकता है। यहाँ पर अर्थ वस्तुतः तद्रूप नहीं है, किन्तु विशिष्ट आकारयुक्त ज्ञान से उसका प्रत्येक किया जाता है असत्य अर्थ को भी सत्य अर्थ के तुल्य प्रयोग में लाया जाता है। ऐसे अर्थ को विराष्टावप्रहसम्प्रत्ययहेतु इसलिये कहा जाता है, क्योंकि अर्थ इस प्रकार विशिष्ट आकार से युक्त होकर प्रस्तुत हुआ है कि वह वस्तुतः अर्थमान वस्तु में भी विद्यमानता का ज्ञान कराता है। इसको कार्पनिक अर्थ कह सकते हैं।

६—विराष्टावप्रहसम्प्रत्ययहेतु के विपरीत अर्थात् असत्य या कार्पनिक न होकर वास्तविक अर्थ, जैसे शुक्ल गाय आदि अर्थ वास्तविक रूप में वाद्य जगत में विद्यमान है।

७—मुख्य, शब्द का अभिधा शक्ति से जो अर्थ बोधित किया जाता है वह मुख्य अर्थ है। यथा सात्ता आदि से युक्त गाय, इसमें गो शब्द अपने मुख्य अर्थ गो का बोध कराता है।

८—परिकल्पितरूपविपर्यास, लक्षणा शक्ति या व्यंजना शक्ति के द्वारा जो अर्थ लक्षित या व्यक्त किया जाता है, उसे परिकल्पितरूपविपर्यास अर्थ कहते हैं, क्योंकि इसमें रूप अर्थात् वास्तविक अर्थ किसी निमित्त विरोध के कारण विपर्यास परिवर्तन आदि किया जाता है अतएव इसे गौण अर्थ कहते हैं यथा, 'गोर्वाहीक' में गो शब्द वाहीक पञ्चम्यान्तीय की निमित्त-विरोध मूर्खता के बोधन के लिए प्रयुक्त हुआ है। अपने मुख्यार्थ गो-पशु को छोड़कर गौण अर्थ 'मूर्ख' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

९—व्यपदेश्य, जिसका वर्णन किया जा सक ऐसे अर्थ का व्यपदेश्य अर्थ कहते हैं। जैसे जाति या श्रेण्य आदि। मत्स्य हरि ने ऐसे अर्थ को 'समा-क्ष्येय' नाम दिया है।

१०—अव्यपदेश्य, जिसका वर्णन वास्तविक रूप से न किया जा सके,

ऐसे धर्म को अध्यापकेय धर्म कहते हैं। भर्तृहरि ने ऐसे धर्म को "असमाख्येय" नाम दिया है। इन्द्रिय से अदृश्य सूक्ष्म धर्म जिसका ठीक-ठीक वर्णन नहीं किया जा सकता।

११- सत्त्वमावापन्न जो धर्म किसी वाद्य वस्तु का बोध कराता है, जो दृश्य कारण है, उसको सत्त्वमावापन्न धर्म कहते हैं, क्योंकि वह सत् वस्तु का बोध कराने के स्वरूप होता है।

१२- असत्त्वमूढ, जब धर्म असत् वस्तु का बोध कराता है, तब वह असत्त्व मूढ धर्म होता है। क्योंकि उस स्थिति में वाद्य कोई सत्त्वस्तु नहीं है।

१३- स्थिरसङ्घ, जो धर्म स्थिर रूप से विद्यमान रहे, उसे स्थिर सङ्घ कहते हैं। यथा, 'राजपुरुष' में पुरुष राज्य राज सम्बन्धी पुरुष का ही बोध कराता है। स्थिर रूप से धर्म बोध कराने के कारण इसे स्थिर सङ्घ धर्म कहते हैं।

१४- विवक्षाप्रापितसन्निधान, स्थिर सङ्घ के विपरीत जहाँ पर धर्म विवक्षा के अधीन रहता है उसे विवक्षाप्रापितसन्निधान धर्म कहते हैं। यथा, "राजपुरुषस्य" में निश्चित धर्म नहीं है क्योंकि दोनों राष्ट्र पट्टयन्त्र हैं। जिसको चाहे विरोध माँगे और दूसरे को विरोध। यहाँ पर धर्म वक्ता पर निर्भर है। अतः अनिश्चित है।

१५- अभिधीयमान, जो धर्म प्रस्तुत रूप से वर्णन किया जाता है, उसे अभिधीयमान धर्म कहते हैं। यथा, 'राजसस्य' में 'राजा का मित्र' ऐसा धर्म प्रस्तुत रूप से वर्णित होने के कारण अभिधीयमान है।

१६- प्रतीयमान, प्रस्तुत धर्म के अतिरिक्त जो धर्म व्यंजना या ध्वनि से प्राप्त होता है, उसे प्रतीयमान धर्म कहते हैं। यथा, 'राजससा' में ही राजा का मित्र यह धर्म छोड़कर 'राजा है मित्र जिसका' इस प्रकार का बहुव्रीहि समास का धर्म प्रतीत होने से यह धर्म प्रतीयमान है।

१७- अभिसंहित, वाच्य धर्म। यथा, गो राष्ट्र से जाति या ध्वस्त्ररूप जो धर्म प्राप्त होता है, वह अभिसंहित है।

१८- नाम्मरीयक, अविनाभाव से रहने वाला धर्म। यथा गो राष्ट्र से जो विभिन्न शूद्र, नीच पीठ आदि वष्य विरोध का भी ज्ञान होता है, वह धर्म गो राष्ट्र में अविनाभाव से रहता है, अतः उसे नाम्मरीयक धर्म कहते हैं।

ओग्डेन और रिचार्ड्स का विवेचन

ओग्डेन और रिचार्ड्स ने अपनी पुस्तक 'मीनिङ्गल्ल्याम् मीनिङ्ग' अध्याय (६ पृष्ठ १०४ से २०८) में आधुनिक विद्वानों के बताये हुए १६ धर्म में सङ्घों का वर्णन किया है तथा उनका विवेचन भी किया है। उपयुक्त विवेचन से

जसकी बहुत कुछ अर्थों में समानता है। दोनों की तुलना विरोध उपयोगी प्रतीत होती है।

ओग्डेन और रिचार्ड्स का विवेचन

आधुनिक मापाविशेषकों द्वारा अर्थ के १६ लक्षण

ओग्डेन और रिचार्ड्स ने अपनी पुस्तक 'मीनिङ्ग भाव मीनिङ्ग' (अध्याय ६ पृष्ठ १८२ से २८) में आधुनिक मापाविशेषकों द्वारा बताए गए अर्थ के १६ लक्षणों का विरोध उद्घापोह-पूर्वक विवेचन किया है। वे अर्थ के १६ लक्षण निम्न हैं—

(क)

- १—साहित्यिक भाग अर्थ है।
- २—अन्य वस्तुओं के साथ एक अनुपम अनिर्बन्धनीय सम्बन्ध अर्थ है।

(ख)

- ३—शब्दकोश में एक शब्द के साथ जोड़े गये अन्य शब्द अर्थ हैं।
- ४—शब्द का लक्ष्य अर्थ है।
- ५—सारांश अर्थ है।
- ६—वस्तुरूप में निरूपित क्रियात्मकता अर्थ है।
- ७—(क) अभिमत लक्ष्य अर्थ है।
(ख) सकस्य अर्थ है।
- ८—राष्ट्रीय प्रक्रिया में निर्विष्ट भाव अर्थ है।
- ९—हमारे भावी अनुभवों से सिद्ध किसी वस्तु के क्रियात्मक परिणाम अर्थ हैं।
- १०—किसी बह्वच्य में वाच्य या लक्ष्य रूप में निहित विचाररत्मक परिणाम अर्थ है।
- ११—किसी वस्तु के द्वारा उद्बोधित मनोभाव अर्थ है।

(ग)

- १२—किसी निर्धारित संबन्ध के द्वारा किसी संबन्ध से वस्तुतः संबद्ध पदार्थ अर्थ है।
- १३—(क) किसी प्रेरणा के स्मरणोद्बोधक परिणाम अर्थ हैं। सम्प्राप्त संबन्ध अर्थ हैं।
(ख) कोई अन्य घटना जिससे किसी अन्य घटना के स्मरणोद्बोधक परिणाम संबद्ध हैं, अर्थ हैं।

- (ग) किसी संकेत का अभिमत पदार्थ अर्थ है।
 (घ) जिस अर्थ को कोई वात अभिव्यक्त करती है, वह अर्थ है।
 (संकेतों के विषय में -)
 वह वस्तु, जिसको संकेत का प्रयोज्य वस्तुत्व संकेतित करता है, अर्थ है।
 १४—संकेतों के प्रयोक्ता को जिसका निर्वोरा करना चाहिये, वह अर्थ है।
 १५—संकेतों के प्रयोक्ता को जो स्वयं अभिमत भाव है, वह अर्थ है।
 १६—(क) व्यक्ति संकेत के द्वारा जिस अर्थ को समझता है, वह अर्थ है।
 (ख) व्यक्ति संकेत के द्वारा जिस अर्थ की अपने हृदय में भावना करता है, वह अर्थ है।
 (ग) व्यक्ति संकेत के द्वारा जिस भाव को वचन का अभिप्रेत भाव समझता है, वह अर्थ है।
 अर्थ के इन १६ लक्षणों की उपर्युक्त अर्थों के लक्षणों से तुलना विशेष उपयोगी प्रतीत होती है।



अध्याय—३

अर्थविकास

अर्थविकास के कारण—पूरे अध्याय में इस बात पर ध्यान आकृष्ट किया गया है कि राज्य का एक ही अर्थ नियमित रूप से नहीं रहता है। बल्कि और मोटा के विद्यमानुसूक्त एक ही राज्य का अन्य अर्थ में भी विशेष माणामिष्यति के लिए प्रयोग किया जाता है। इस अध्याय में अर्थ-विकास के कारणों पर प्रकाश डाला जायगा कि किन कारणों से एक राज्य के अर्थ का कमी बित्तर, कमी संकोच और कमी अन्याय बोधकता होती है। कमी एक राज्य नानार्थक हो जाता है और कमी अनेक राज्य एकार्थक हो जाते हैं।

अर्थ की परिवर्तनशीलता

कैपट ने अर्थ के विषय में लिखा है कि यदि एक राज्य का एक ही अर्थ नियमित रूप से प्रयोग होता तो अर्थ विषयक संदेह ही उत्पन्न न होता, परन्तु ऐसा नियम नहीं है, अथ संदेह होता है।

यथाका शब्द एकस्मिन्नर्थे नियतः स्यात् तत एतद् युज्यते वक्तुम्, यतस्त्वनियम तता प्रकृतेरेव सर्वे अर्थाः स्युः। प्रथीप, महा० १, २, ४२।

नागेश ने कैपट का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि प्रकृति और प्रत्ययों का अर्थ अनियत है।

प्रकृतिप्रत्यययोरर्थवत्ताया अत्रैतत्वं दर्शयति।

उद्योत, महा० १, २, ४२

इसी अनियतता के आधार पर पतञ्जलि ने कहा है कि “एकरथ राज्यो वद्वध” एक राज्य के नाना अर्थ होते हैं। महा० १, २, ४२। अथ, माप और पाद इन तीन शब्दों को उदाहरण के रूप में रखते हुए उन्होंने बताया है कि ये तीनों शब्द माना अर्थों के बोधक हैं। एक शब्द के नाना अर्थों का होना अर्थ विकास का परिचायक है। वेद न कहा है कि इम संसार की समस्त वस्तुएँ जगत् हैं, पञ्च हैं। “यत् किं च धगन्तां जगत्” यजु० ४०, १। मापा और अथ का साक्षात् सम्बन्ध मनुष्य से है, मनुष्य मर्त्य है, इससे सबद वस्तुओं की भी वही गति होती है। इसमें परिवर्तन और चलन आ जाता है।

अर्थविकास के तीन स्वरूप

पास्क ने इस विषय पर निरुक्त में बिचार करते हुए अर्थविकास पर प्रकाश डाला है। गमनशीलता के कारण सर्वप्रथम पृथ्वी को गो नाम दिया गया। यह अर्थ वहाँ से बिस्तार की दिशा में प्रगतिशील हुआ और गमनशीलता के सामर्थ्य से गाय को भी गौ कहा जाने लगा। इसमें मी आगे चढ़कर बायी को भी प्रगतिशील होकर गो कहा गया। इपु, आदित्य, रश्मि आदि में इस अर्थ का सामर्थ्यनिरूपित विस्तार हुआ। इसके अतिरिक्त सुभ्यार्थ गाय को होकर गीय अर्थ हुए, चर्मासन, चर्म, स्नायु आदि के लिए भी इसका प्रयोग होने लगा। यह एक स्वरूप है अर्थात् अर्थविस्तार की ओर प्रवृत्ति, जिससे एक राज्य अपने मौलिक अर्थ से परिचरित होवा हुआ माना अर्थों में प्रयुक्त होने लगा। पास्क ने वेद के उदाहरणों द्वारा अपने कथन की पुष्टि की है कि किस प्रकार वैदिक काल में ही एक राज्य का व्यापक रूप में प्रयोग होवा था।

निरुक्त २, ५-६।

इसी प्रश्न का दूसरा स्वरूप भी है। एक राज्य ही जो कि अपने निर्बचनात्मक अर्थ के आचार पर मानार्थक होना चाहिए था, वह अर्थसंकोच के द्वारा संकुचित अर्थ में ही प्रयुक्त होने लगावा है। इसका विवेचन राम्पराजित के रूढि और बोगरूढि के विवरण में किया गया है। पास्क ने इसी प्रश्न को निम्न रूप में रक्खा है कि यदि वृक्षप्रक्रिया के व्यापार पर ही वृक्षा (वर्द्ध) कहा जावे, तो प्रत्येक वृक्षप्रक्रिया करने वाले को वृक्षा क्यों नहीं कहा जावा। प्रत्येक माग पर रक्षने वाले को अरव (पोड़ा) क्यों नहीं, और प्रत्येक खेद करने वाली वस्तु को वृक्ष क्यों नहीं, (निरुक्त १, १२)। इसका उत्तर देते हुए पास्क न अर्थसंकोच की ओर ध्यान दिलाया है और कहा है कि लोक में ऐसा ही देखा जाता है कि निबचनात्मक अर्थ के आचार पर वह नाम सय को नहीं दे दिया जाण (निरुक्त १, १४)। पतञ्जलि ने भी इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि “अथा यह उचित है कि शब्दों का किसी स्व अर्थ में प्रयोग हो। उत्तर दिया है “हाँ यह युक्त है। लौकिक व्यवहार में भी ऐसा ही देखा जाता है।”

युक्तं पुनर्यत् नित्यतद्विषया नाम शब्दाः स्युः। पाठ युक्तम्। अन्वयापि तद्विषयदर्शनात्। महा २, २, २६।

इस प्रश्न का एक तीसरा स्वरूप भी है, वह है अर्थोदेश। कभी-कभी राज्य अपने मुख्य एवं स्वाभाविक अर्थ का छोड़कर अन्यार्थ में भी प्रयुक्त होने लगता है, ऐसी स्थिति में उसको अर्थोदेश कहते हैं। इससे एक और अर्थसंकोच है, दूसरी ओर अर्थविस्तार। पाणिनि के ‘शास्त्रीनक्षीपीने अष्टाध्यायी’ (अष्टाध्यायी ४, २, २०) सूत्र की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि ने

कोपीन राज्य का अर्ध अकार्य अर्थात् दुष्कर्म किया है और इसका संबन्ध रूपरूपन के योग्य कार्य से किया है। परन्तु यह राज्य कृषार्थ के साध संबन्ध और अकार्य दोनों को छोड़कर कोपीन नामक वस्त्र के लिए प्रयुक्त होने लगा। वस्तु सूत्र की व्याख्या में कैपट ने इस अर्थादेश का विवरण भी दिया है। भातुष्य राज्य का मुख्य अर्ध भ्राता का पुत्र था, परन्तु पतञ्जलि ने 'अम् सपत्ने' (अष्टा० ४, १, १४५) सूत्र का माध्य करते हुए बताया है कि भातुष्य राज्य अपने अपत्यार्थ को छोड़कर शत्रु के अर्ध में बल पड़ा है। कैपट ने कहा है कि भातुष्य राज्य शत्रुमात्र के लिए प्रयुक्त होया है, ऐसा नहीं है कि समस्त शत्रु भाई के ही पुत्र हैं। इस प्रकार भातुष्य राज्य सुष्यार्थ को छोड़कर शत्रु का पर्यायवाची हो गया। सप्तम राज्य का पश्चिनि ने शत्रु अर्थ में प्रयोग किया है। कारिकाकार ने इसका संबन्ध सपत्नी राज्य से बताया है, परन्तु सप्तम राज्य सपत्नी के अर्ध को छोड़कर प्रत्येक शत्रु के लिए प्रयुक्त होता है, चाहे इसका सपत्नी (सौतेली माँ) से संबन्ध हो या नहीं। (कारिका, अष्टा० ४, १, १४५)।

तीनों स्वरूपों का विवेचन

अर्धसंकोच

अर्धबिज्ञान की तीन धारणाएँ हैं, अर्धसंकोच, अर्धवितार और अर्धादेश। पष्ठ अध्याय में रुद्धि, योगरुद्धि, और यौगिकरुद्धि शक्तियों के विवेचन में बताया गया है कि राज्य के सुष्यार्थ या निर्बन्धन के आचार पर मानार्थक और व्यापक होना चाहिए था, परन्तु इनके अर्थों में संकोच हो जाने से इनका व्यापक रूप से प्रयोग नहीं हो सकता है। सर्वप्रथम यास्क ने इस पर ध्यान आकृष्ट किया है और सामंजस्य के मूल पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि निर्बन्धन के आचार पर राज्य का सामान्य रूप से प्रयोग नहीं हो सकता है। गो, अरब, एण, भूमि, परिप्राजक, जीवन के अर्थों में संकोच होने के कारण इनका निर्बन्धनात्मक अर्थ सामान्य में प्रयोग नहीं हो सकता है।

पतञ्जलि, अष्टादश, कैपट, नागेश और हेताराज आदि ने अर्धसंकोच के विभिन्न अर्थों पर विरोध महत्त्वपूर्ण विचार किया है। कैपट ने कहा है कि यद्यपि राज्य की शक्ति अनन्त है, वह सर्वाधिकोपक है, तथापि जब एक राज्य विशिष्ट अर्थ में व्यवहार के लिये नियंत्रित कर दिया जाता है, तब वह वही अर्थ का बोध कराता है, अन्य का नहीं। सर्वाभिधानशक्तियुक्तः शब्दो यदा विशिष्टेऽर्थे संव्यवहातय नियम्यते, तथा तत्रैव प्रतीति जनयति नाम्नात्। कैपट, महा० १. २. १२। नागेश ने लिखा है कि रुद्धि शक्तियों में किया का निर्देश केवल इसकी व्युत्पत्ति

के ज्ञान के लिए होती है। जैसे 'गच्छतीति गौ' वस्तुतः उसका अर्थ रुड़िसझा हो जाने के कारण समाप्त-भाव हो जाता है, अतएव गमनक्रिया के अभाव में भी इसे गौ कहते हैं और अन्य वस्तुएं जो गमनक्रिया करती हैं, उन्हें गौ नहीं कहते।

रुड़िशब्देयु क्रिया केवल व्युत्पत्त्यवभाषीयते गच्छतीति गौरिति। तेन गमनक्रियारहितोऽपि गर्भवति गोपितृष्वान्धान्योऽपि गमनविशिष्टोऽपि गर्भवति। नागेश, महा ३, २, ३६।

हेकाराज ने अतएव कहा है कि गमनक्रिया के कारण मनुष्य को गौ नहीं कहते, और प्रचुरक्रिया के कारण न्यग्रोध को प्लक्ष नहीं कहने लगते। स्व्य हीन से शब्द अपन निर्बचनात्मक अर्थ को छोड़ देता है।

रुड़िशब्दस्य लौकिकस्वार्थस्य प्रचुरत्वमात्राद् न्यग्रोधो प्लक्षो मोक्षते, न हि गमनाद् गौरिति पुरुषोऽपि गौरित्यभिधीयते। वाक्य का० ३ पृ० ४६५।

अतएव निरवनाय ने साहित्यदर्पण में कहा है कि शब्दों की व्युत्पत्ति का आधार शुद्ध होता है और प्रवृत्ति का कुछ अन्वय।

अन्वयि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्वय प्रवृत्तिनिमित्तम्।

सा० दर्पण १, २, ५।

नागेश ने रूपमरूपा में लिखा है कि प्रवृत्ति प्रबलित अर्थ को संकर कहती है। इसके उदाहरण मिले हैं कि ब्याघ्र, मण्डि, मूपुर, मयदप आदि शब्द रुड़ हैं, इनमें व्युत्पत्त्यर्थ का बोध नहीं होता। वैच शब्द भी रुड़ हो गया है। (मंरूपा पृ० १७, महा ३, २, ३६)।

मागेश ने परिभाषेन्दु में लिखा है कि माद शब्द के दोनों अर्थ हैं मादा और धोलने वाला। परन्तु प्रसिद्धि के आधार पर अर्थसंकोच हो जाने से मादा का अर्थ मादा जननी ही लिया जाता है, धोलने वाला नहीं।

अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बन्धीयसी। परिभाषेन्दु, परि १७।

कितने ही शब्द पहलेनाश अर्थों के बोधक रहते हैं, परन्तु प्रसिद्धि के कारण उनके अर्थों में संकोच होने से कोई अर्थ शेष रह जाता है, अन्य अर्थ अमशुद्ध हो जाते हैं। पुत्रवराज ने लिखा है कि घेतु शब्द प्रत्येक दूध देने वाले पशु का वाचक था, परन्तु इसका अर्थ संकोच होने के कारण गाय ही अर्थ शेष रह गया है। वाक्य० २, ३१७। यास्क ने लिखा है कि वेद में न शब्द निषेध और उपमा हो अर्थों का बोधक था, परन्तु वेद संकोच से निषेधार्थक ही रह गया है।

नेति प्रतिषेधाधीनो भाषायाम् उभयमन्वयावयम्। निरुक्त १, ४

वेद में पशु शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। शतपथ ब्राह्मण ने पाँच पशुओं में मनुष्य का भी उल्लेख किया है। शत० ६, २, १ २। यजुर्वेद २३, १७ में अग्नि, वायु और सूर्य के लिए भी पशु शब्द का प्रयोग हुआ है। कौपीतकि, शतपथ, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मणों में आत्मा, यजमान, अन्न, मी, सोम आदि के लिए भी पशु शब्द का प्रयोग होता बताया है। परन्तु इसका अर्थ केवल गाय आदि पशु ही रह गया है।

इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अग्नि, इन्द्र, सोम, ऋषि, पितृ, पुरुष, यज्ञ, ब्रह्मन्, विष्णु, इन्द्र, हरि, हिरण्य, समुद्र, माण्डिरिषम् आदि शब्द बहुत ही व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होते थे। परन्तु संस्कृत साहित्य में इनके अर्थों में बहुत संकोच दिखाई देता है।

यास्क ने निरुक्त के अध्याय तीन, चार और पाँच में वेद के मानार्थक शब्दों की वेदग्रन्थों के उद्धरणपूर्वक बहुत विस्तार से व्याख्या की है। संस्कृत साहित्य में इन शब्दों के अर्थों में बहुत संकोच हो गया है। उदाहरणार्थ कठिपथ शब्द तथा उनके वैदिक अर्थ निम्न हैं — गौ (घृष्णी, सूर्य गाय, किरण, वाण आदि।) काष्ठा (विशा, उपविशा, सूर्य, जल।) शिरस् (आहित्य मिर।) रजस् (व्योति, जल, लोक।) अन्ध (अन्न, अन्धकार, अन्धा पुरुष।) अर्क (देव, मन्त्र, अन्न, अर्क का वृक्ष।) पवित्र (मन्त्र, किरण जल, अग्नि, वायु, सोम, सूर्य, इन्द्र।) अरि (शत्रु ईश्वर।) वृक (चन्द्र सूर्य, रवा, मृगाल, हल।) आश्विनी (घावापृषिणी, होरात्र आदि।)

अर्थसंकोच कई प्रकार से होता है। पतञ्जलि और मधुहरि ने लिखा है कि समास से अर्थसंकोच या अर्थ का विरोधावस्थान हो जाता है। यथा अक्षमक्ष, वायुमक्ष (जल या वायु पर ही जीवित रहने वाले), कर्षेजप (पिशुन), परयतोहर (स्वर्णकार) ध्यम्बक त्र्यक्ष, कपठेकाक्ष (शिब)। महा० भा० १, वाक्य० क० ३, पृ० ३३६।

उपसर्ग के संयोग से अर्थसंकोच या विरोधावस्थान हो जाता है। यथा, इ घातु के आहार विहार, महार, सहार, नी घातु के प्रणय, अनुत्थय, विनय, निषय, भू घातु के प्रभाव, अनुभाव, अनुभव, सम्भव, प्रभाव आदि।

विशेषणों के संयोग से अर्थ का संकोच हो जाता है और वह शब्द विशेष अर्थ का वाचक हो जाता है। जैसे "शुक्ल पटः" "शुक्ला गौ" आदि।

सर्वश्च शुद्धाऽप्येव शुद्धेनामिसंप्रथ्यमाना विशेषवचनं संपद्यते।

महा० २, १, ३५।

पतञ्जलि ने बताया है कि शब्दों का अर्थ लोकाप्रसिद्धि के आधार पर संकु-

पिठ हो जाता है और उस शब्द का विशेष स्थान पर ही प्रयोग हो सकता है सर्वत्र नहीं।

गुण पुनर्यन्मियतविपया नाम शब्दाः स्युः। बाई युक्तम्। अन्यत्रापि नियतविपया शब्दा वृत्त्यन्ते। महा० २, २, २६।

रक्त, मोहित और शोण शब्द पर्यायवाची हैं। परन्तु लाल भरव को "भरव शोण" ही कहेंगे। शोण शब्द का भरव के साथ ही प्रयोग होता है। इसी प्रकार कृष्ण अर्थ में भरव के लिए हैम, अरवो हैम। शुक्र अर्थ में भरव के लिए कर्क शब्द है, भरव कर्कः। शोण हम कर्क के रक्त कृष्ण और श्वेत के पर्याय हैं पर इनका प्रयोग अर्थ के साथ होने से अर्थ संकुचित हो गया है।

जिस प्रकार व्याकरण में पारिभाषिक शब्दों का नाम है, उसी प्रकार वेद, शास्त्र, उपनिषद्, स्मृति, धर्म, गृह्य और मौढ सूत्र तथा साहित्य के प्रत्येक अंग में अपने-अपने पारिभाषिक शब्द हैं, जो शब्द एक अर्थ में एक शास्त्र में उपयोग में लाने गये हैं, वही शब्द अन्य शास्त्र में दूसरे अर्थ में। प्रत्येक शास्त्र के अध्ययन के समय इन शब्दों का वही पारिभाषिक अर्थ लिया जाता है, प्रचलित और व्यापारिक अर्थ नहीं। इस प्रकार एक शब्द का व्यापक अर्थ होते हुए भी संकुचित अर्थ में ही शास्त्र में प्रयोग होता है। जैसे व्याकरण में आगम का अर्थ है किसी वर्ष की वृद्धि, परन्तु अन्यत्र इसका अर्थ है शास्त्र आय या आगमन। प्रत्येक पारिभाषिक शब्द की अन्य शास्त्रीय प्रयोगों से तुलना से इस प्रकार का अर्थसंकोच बहुत व्यापक रूप से दृष्टि गोचर होता है।

सब प्रकार के नामकरण अर्थसंकोच के उदाहरण हैं। प्रत्येक संज्ञा अपने यौगिक अर्थ के अनुसार बहुत व्यापक अर्थ का बोध कराती है यदि व्यापक अर्थ का मह्य किया जाए तो कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसको कि एसा नाम दिया जा सके जो अव्याप्ति और अविन्याप्ति से रहित हो सके। इस प्रकार व्यवहार भी अर्थमय हो जाएगा। अतएव नामकरण के मूल में ही अर्थसंकोच है। जो नाम जिस भाव को दे दिया जाता है, वह उस अर्थ में रूढ हो जाता है और यौगिक अर्थ का बोध नहीं कराता। जिस प्रकार माणियों तथा व्यक्तियों के नाम रूढ हैं, उसी प्रकार शास्त्रों, संस्कारों एवं अन्य सभी भावों की संज्ञाएँ रूढ हैं। व्याकरण का यौगिक अर्थ है विभाजन या अपो-कार, यह प्रकृति प्रत्यय आदि के विभाजन के आधार पर व्याकरण शास्त्र के लिए रूढ हो गया है। साहित्य (सहितय भाष), धर्म (तत्त्वधरान), वेद (ज्ञान) निष्क (निषधनशास्त्र) उपनिषद् (आत्मा का सामीप्य प्राप्त करना) आदि नाम यौगिक अर्थ के आधार पर पड़े हैं, परन्तु वे विशेष अर्थों

में रूढ़ हो गए हैं। संस्कार का अर्थ है युक्ति, परन्तु वह संस्कारविरोधों के लिए रूढ़ हो गया है। संस्कारविरोधों के नाम भी इसी प्रकार रूढ़ हो गए हैं। निष्कर्मण्य (निकराना), अपनयन (समीप लाना), समाचर्दन (छोटकर आना), गृहस्थ (गृह में रहना), वान प्रस्थ (वन में जाना), सम्पास (त्याग) आदि शब्दों का यौगिक अर्थ में प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

पाणिनि और पतञ्जलि ने उद्धृत और कृत्यन्त प्रकरण में कतिपय उदाहरण देकर बताया है कि उद्धृत और कृत्यन्त प्रत्ययों के योग से शब्द किसी विरोध अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं। कितने ही स्थानों पर उनका भात्वर्थ या प्रातिपदिकार्थ अर्थविज्ञान में विशेष सहायक नहीं हो पाता। पतञ्जलि ने कहा है कि—

अन्यभाष्यविशेषविहितो शब्दा नियतविपया हरण्यो ।

महा० ७ १. ६६ ।

धातुओं के अर्थ सामान्य रूप से किये गये हैं, परन्तु कतिपय प्रत्ययों के योग से उनका अर्थ नियत हो जाता है। उन प्रत्ययों के योग से शब्द किसी नियत अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। पतञ्जलि ने इसका उदाहरण देते हुए किया है कि घृ धातु का सामान्य रूप से सेवण और क्षीण अर्थ उन्नेस किया गया है, परन्तु घृत (घी), घृष्टा (कृपा, दया), घर्म (कृष्ण, मीन शत्रु) शब्द विरोध अर्थों में ही प्रयुक्त होते हैं। राशि, रश्मि, और रशना शब्द रश् धातु से ही बने हैं, पर सब विभिन्न विरोध अर्थों में ही प्रयुक्त होते हैं। मन् (मनन करना) धातु से ही मधि, मान, मनन, मनस्, मत् आदि शब्द बने हैं, परन्तु सब विशिष्ट अर्थों में नियमित हैं।

अमा (साय) शब्द से अमात्य शब्द मधिव के अर्थ में रूढ़ हो गया है, परन्तु अमावास्या का अर्थ विशिष्ट ही है। महा ४, २, १४। सप्तपद (सात पद) शब्द से सप्तपदी (विवाह संस्कार की एक विधि) के लिये रूढ़ हो गया है और सातपदीन का अर्थ मित्रता हो गया है। अष्टा० ५, २, २२। अत्र शब्द से पतञ्जलि ने अत्र शब्द की व्युत्पत्ति बताई है, यह विद्यार्थी के अर्थ में रूढ़ हो गया है। पतञ्जलि ने इसकी व्याख्या करते हुए बताया है कि गुठ अत्र है, क्योंकि वह शिष्य को आश्वासित करता है अर्थात् शिष्य के अज्ञान को दूर करता है। जिस प्रकार अत्र उपाधि को दूर करता है, वही प्रकार वह अज्ञान को दूर करता है। अत्र अत्रवत् गुठ की सेवा श्रुतया करता है, अतः विद्यार्थी अत्र है।

शुक्र्या शिष्यरद्ववत् छाद्यः । शिष्येण च शुद्ररद्ववत् परिपास्यः ।

महा ४. ४ १२ ।

पाणिनि और पतञ्जलि ने अप्याय चार और पाँच में अर्थसंकोच वाले कितने ही शब्दों का उन्नेस किया है, जो विरोध अर्थों में ही रूढ़ हो गए हैं। जैसे, आस्तिक, नास्तिक मोक्षिय, क्षेत्रिय, साही, इन्द्रिय आदि।

पतञ्जलि ने उक्तल किया है कि कुछ शब्द अपन भाव के आधार पर विरोध का बोध कराते हैं, इनके साथ वाक्य में स्व शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। जैसे सन्नधी शब्दों का प्रयोग।

संन्यिगशब्दैर्वा तुल्यम् । मातरि वर्तितव्यम्, पितरि वर्तितव्यम्, न चोच्यते स्वस्यां मातरि, इतिमन् पितरि । संन्याश्चैतद् गम्यते, या यस्य माता यो यस्य पितेति । महा १ १ ७ ।

माता के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये पिता के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये आदि स्थलों पर बिना कह ही अपनी माता और अपने पिता का बोध होता है। व्यवहार में प्रसंग और सामर्थ्य के आधार पर विरिष्ट अर्थ का ही बोध होता है।

अर्थ विस्तार

मर्तुहरि ने अर्थविस्तार और अर्थादेश के विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातों पर ध्यान आकृष्ट किया है। मर्तुहरि का कथन है कि कहीं पर अर्थ का मुख्य-प्रधानभाव विवक्षित नहीं रहता है, कहीं पर अर्थ का सामान्य ज्ञान में कारण नहीं होता, कहीं पर जो शब्द के द्वारा समूहित नहीं है उसका ज्ञान होता है और कहीं पर प्रधान अर्थ ही अन्य अर्थ का भी बोध कराता है।

कश्चिद् मुख्यप्रधानत्वमर्थानामविवक्षितम् ।

कश्चित् भावित्यमन्वेषां प्रतिपत्तावकारणम् ॥

पद्यानुपात्तं शब्देन तत् कस्मिंश्चित् प्रतीयते ।

कश्चित् प्रधानमेवाथो भवत्यन्यस्य सत्त्वम् ॥

वाक्य० २ ३०६—३२७।

इसको स्पष्ट करते हुए पुष्यराज ने कहा है कि मर्तुहरि ने अर्थ के विषय में चार बातों का निर्देश किया है। १—मुख्यप्रधान का विषय, २—पदार्थ के एक-देश की अविवक्षा, ३—समस्त पदार्थ की अविवक्षा, ४—इपात्त अर्थ का परित्याग किए बिना ही अन्य अर्थ का समझ।

अथ य मुख्यप्रधानताविपर्ययः पदार्थैकदेशाविवक्षा, सत्त्वपदार्थाविवक्षा, उपात्तपदार्था परित्यागनेभाव्याघोपलक्षणम् इति मकरचतुष्टयस्योद्देशः कृतः । पुष्यराज ।

इनमें से प्रथम और तृतीय अर्थादेश का निर्देश करते हैं, अर्थात् १—शब्द का जो मुख्य अर्थ था, वह मुख्य अर्थ न रहकर गौण हो जाता है और जो गौण अर्थ था वह मुख्य अर्थ का स्थान ले लेता है। २—शब्द का जो वास्तविक अर्थ था, वह अविवक्षित हो जाता है और जो अर्थ नहीं था, उसका बोध हो जाता है।

अर्थ की इन दो अवस्थाओं को अर्थविरा नाम से सूचित किया जाता है। द्वितीय और तृतीय अर्थविस्तार का निर्देश करते हैं। १—शब्द के अर्थ के एक अंश की अविवक्षा द्वारा शब्द के अर्थ का विस्तार करना। २—अपने अर्थ का बोध कराते हुए अर्थ संवद के अर्थ का भी बोध करना। इन दोनों प्रकारों से शब्द का अर्थ विस्तृत हो जाता है और उसका एक से अधिक प्रसंगों में प्रयोग होने लगता है।

अभयविस्तार के विषय का भर्तृहरि ने विराट् विवेचन किया है। भर्तृहरि कहते हैं कि जिस प्रकार वीपक पटादि के दर्शन के लिए प्रयुक्त किया जाता है, परन्तु वह पट के साथ ही साहचर्य और सामीप्य के कारण अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। इसी प्रकार शब्द भी जिन अर्थों में प्रयुक्त होता है, उनके साहचर्य से अन्य अर्थों का भी प्रकाशन करता है। शब्द अपने मुख्यार्थ का भी बोध कराता है, परन्तु जो अर्थ विवक्षित नहीं है, उसका भी सामान्य के आधार पर बोध कराता है।

संसर्गिणु तथाऽप्येणु शब्दो येन प्रयुज्यते ।
 तस्मात् प्रयोजकादभ्यासपि प्रत्यापयत्यसौ ॥
 तथा शब्दाऽपि कस्मिंश्चित् प्रत्याप्याद्यां विवक्षिते ।
 अविबक्षितमप्यर्थं प्रकाशयति सधियोः ॥

वाक्य० २, ३००—३ ३।

अर्थविस्तार किस प्रकार होता है, इस विषय में भर्तृहरि ने लिखा है कि किसी समानता के आधार पर अर्थ का तदनु रूप प्रतिपादन होता है।

क्रिधित् सामान्यमाहित्य स्थिते नु प्रतिपादनम् । वाक्य० कांड ३ पृ ३१४ ।
 पतञ्जलि का कथन है कि अर्थविस्तार विरोध की अविवक्षा और सामान्य की विवक्षा से होता है।

विरोधस्याविबक्षितत्वात् सामान्यस्य च विवक्षितत्वात् सिद्धम् ।

महा १, २, २८ ।

क्रेयट ने अर्थविस्तार का उदाहरण लिखा है कि प्रवीण शब्द का अर्थ है “प्रकृष्टो वीणायाम् (वीणावादन में सुशेण) परन्तु यह शब्द अपने संकुचित अर्थ वीणावादन की विरोधता को छोड़कर किसी भी कृष्य में कौराल के लिए प्रवीण शब्द का प्रयोग होन लगा। अपने मुख्यार्थ के विस्तार हो जाने से वीणा में ही तुर के लिए “वीणायाम् प्रवीण” (वीणा में प्रवीण) प्रयोग होता है, क्योंकि प्रवीण शब्द वीणा में प्रवीणता का नियमित रूप से बोध नहीं कराता।

क्रेयटं त्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् । तेन वीणायाम् प्रवीण इत्यपि भवति ।

महा० ५, २, २१ ।

कुरास शब्द का मुख्यार्थ या कुरासों के रहने की योग्यता, परन्तु अर्थविस्तार से योग्यता और कौरास का बोधक रह गया। विरोध अर्थ कुरासैहिन छोड़कर सामान्यार्थ योग्यता के आधार पर इसके अर्थ का विस्तार हो गया है।

पतञ्जलि ने अर्थविस्तार के कतिपय अत्युत्तम उदाहरण "सप्रोक्षर कटप्" (अप्ता० ४, २, २६) सूत्र के भाष्य में दिये हैं। कैबट ने अपनी टीका में इस विषय का बहुत उत्तम रूप से स्पष्टीकरण किया है। पतञ्जलि ने गोष्ठ विल गोवुग, कट आर पट इन पाँच शब्दों के अर्थविस्तार के उदाहरण दिए हैं। ये पाँचों शब्द मुख्यार्थ के आधार पर विरोध के बोधक थे, परन्तु ये अपने मुख्यार्थ को छोड़कर साम्य के कारण अन्य अर्थों का समान रूप से बोध करते हैं। मुख्यार्थ में रुद्ध न रहने के कारण जिस प्रयोग "वीक्षाप्रवीण" प्रयोग होने लगा उसी प्रकार इन शब्दों का भी मुख्यार्थ के बोध के लिए पुनः प्रयोग होता है।

गाष्ट शब्द का मुख्यार्थ या गायों के रहने का स्थान, परन्तु साम्यमूलक अर्थ विस्तार से गोष्ठ शब्द का अर्थ रह गया "रहने का स्थान", इसमें विरोध गो शब्द का अर्थ अविद्युत हो गया। अतएव कात्यायन ने गोष्ठ शब्द को स्थान का पर्यायवाची प्रत्यय बना दिया है। "गोष्ठाश्च स्थानादिपुपशुनामादिभ्यः" यथा, अविगाष्टम् (भेड़ों के रहने का स्थान) स्पष्टार्थघोतकता के लिए गाय के निवासस्थान के लिए "गोगोष्ठम्" प्रयोग हुआ। पतञ्जलि ने "अपमानाद् वा सिद्धम्" साम्य के आधार पर यह प्रयोग होने लगे हैं ऐसा उल्लेख किया है। वर्तमान गोरक्षा शब्द का प्रयोग भी इसी प्रकार है।

गोयुग का अर्थ या गायों का युग्म, परन्तु सामान्यवचनता के कारण फल युग्म अर्थात् जोड़े का वाचक रह गया। अतः कात्यायन ने कहा है "द्वित्वे गोयुगम्", यथा अष्टगोयुगम्, (छैंटों का युग्म), अष्टगोयुगम् अष्टमयुग्म आदि।

कट शब्द का मुख्यार्थ या कट्ट, बीरण एक पात आदि का समूह, परन्तु यह फल समूह का वाचक रह गया। अतएव कात्यायन ने 'संपाते कटप्' लिखा है। यथा, अविकट (भेड़ों का समूह), अष्टकट (अष्टसमूह)।

पट का मुख्यार्थ या पट्ट, उसके सादर्य से सामान्यवाचक होकर केवल विस्तार का वाचक रह गया। अतः कात्यायन ने 'विस्तारे पटप्' लिखा है। जैसे, अविपट (भेड़ों का विस्तार) अष्टपट (छैंटों का विस्तार)। कैबट ने लिखा है कि अग्रस्त समूह के लिए कट शब्द और प्रस्त समूह के लिए पट शब्द का प्रयोग होता है।

विल शब्द का मुख्यार्थ या विल का स्वरभाग, परन्तु मुख्यार्थ विल शब्द का

अर्थ छोड़कर सामान्यवचनता से केवल स्नेह (द्रव) का वाचक रह गया। अतएव कात्यायन ने 'स्नेहने सेलच्', द्वारा सेल शब्द को स्नेह का पर्याय बताया है। जैसे, सर्पपतैलम् (सर्पों का तेल), इंगुवी सेलम् (इंगुवी का तेल)। तिल के स्नेह के लिए स्वय्यार्थकता के लिए तिलतैलम् (तिल का तेल) प्रयोग होने लगा।

पुगव रूपम और रूपम शब्द सेल के मुख्यार्थ रूप से बोधक थे। परन्तु भेद्यता और उत्कृष्टता गुण के कारण सामान्यवाचक होकर ये शब्द केवल भेद्य अर्थ के बोधक रह गए हैं। अतएव भरतर्षम (भरतों में भेद्य), नरपुंगव (नरों में भेद्य) प्रयोग होने लगे।

लक्ष्यों का विवेचन पद्य अभ्यास में हुआ है। साहित्यिक प्रयोगों के द्वारा अर्थ का विस्तार होता है। इसके उदाहरण भी विरोध रूप से वहाँ दिए गए हैं। मरु हरि ने जो प्रकार अर्थविस्तार के बताए हैं, उनमें एक प्रकार अर्थात् शब्दार्थ के एक अर्थविरोध की अभिव्यक्ति करना के उदाहरण गाछ, सेल आदि शब्द हैं। द्वितीय प्रकार अर्थात् अपने अर्थ का बोध कराते हुए साहचर्य से अन्य अर्थ का बोध करना है। मरु हरि ने इसका उदाहरण दिया है "काकेभ्यो रक्ष्यतासर्पि" 'काकेभ्यो वधि रक्ष्यताम्' (कौबों से धी बही की रक्षा करना), में ऐसा नहीं होता कि कौबों से धी बही को बचाव आय और कुत्ते बिस्ली को खिला दिया जाय। यहाँ पर काक शब्द उपलक्ष्यमात्र है, अतः काक तथा क्रकेतर सभी से धी और बही की रक्षा इष्ट होने से काक शब्द काक से इतरों का भी बोध कराता है।

काकेभ्यो रक्ष्यता सर्पिरिति बालोऽपि बोधितः।

उपघातपरे वाक्ये न रक्षादिभ्यो न रक्षति ॥

वाक्य २, ३१४।

इसी प्रकार "भोजनमस्योपपाद्यताम्" (इसके लिए भोजन बना दो) में भोजन बनाना मुझ् पातु का अर्थ केवल भोजन बनाना ही नहीं है अपितु पात्रों का मार्जन प्रशासन आदि उसके अंग भी इसी कथन से अनुक्त होने पर भी गृहीत होते हैं।

पचल्लि ने पच् पातु का उल्लेख उदाहरण रूप में करते हुए बताया है कि पच् पातु का अर्थ पकाना है, परन्तु पच् पातु से पात्र पढ़ाना, पानी डालना, अग्नि जलाना आदि सभी क्रियाएँ लक्ष्यार्थ होने के कारण इसी शब्द से गृहीत होती हैं। महा० १ ४, २३।

साहरय, सामीप्य, साहचर्य आदि के अर्थ शब्द के अर्थ का विस्तार हो जाता है।

अर्थादेश के जिन दो प्रकारों का अन्वेषण मरुहरि ने किया है, उनके अन्य कतिपय उदाहरण आगे दिये गये हैं। वेद में सह घातु का अर्थ या जीवना, अधिकार करना, परन्तु संस्कृत साहित्य में इसका अर्थ सहन करना रह गया है। वेद में कवि राज्य का अर्थ या क्रान्तवर्ती, जैसे, 'कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूः (यजु ४०, ८) पतञ्जलि न मी क्रान्तवर्ती, मेधावी के अर्थ में कवि राज्य का प्रयोग किया है, 'वा जाति कवयो विभु' (महा० ४, १ ६३) परन्तु इसका अर्थ संस्कृत में वनों या पर्वों का रक्षयिता रह गया है। मृग राज्य वेद में पशुमाय का बोधक था, 'मृगो न मीम कुचरो गिरिष्ठा' (यजु० ५, २०) वात्सीकि रामायण में मृग राज्य सिंह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु यह राज्य हिरण्य के ही अर्थ में, प्रचलित हो गया है। वेद में (यजु १८, ३८—४३) गन्धर्व राज्य अग्नि सूर्य, चन्द्रमा, वायु, वज्र आदि के लिए आया है और अप्सरस् राज्य घोषधि, सूर्य की चिरयों और नक्षत्र आदि के अर्थ में आया है, परन्तु संस्कृत में ये राज्य जातिविशेष और दिव्य स्त्रियों के लिए रह गए हैं।

सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसः ।

चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसः । यजु १८, ३६—४० ।

अर्थ की अनुभवजन्यता

मरुहरि ने अर्थ की अनुभवजन्यता पर विरोध बिल्लार से विचार किया है और लिखा है कि अर्थ का मह्य अनुभव और ज्ञान क अधीन है।

प्रत्ययार्थानमर्थतत्त्वावधारणम् । वाक्य० २, २८ ।

मरुहरि और उनके व्याख्याकार पुरयराज ने इस विषय को समझया है कि किस प्रकार अनुभवजन्यता, क कारण अर्थ में भेद हो जाता है। एक ही अर्थ का नाना व्यक्ति अपने अनुभव के अनुरूप उसका अर्थ लेते हैं। एक ही व्यक्ति के विचारों में कालभेद से अर्थ के विषय में अन्तर हो जाता है। अर्थविक्रम के प्रारंभ पर मकारा डाकने के लिए मरुहरि का निम्न कथन बहुत ही महत्वपूर्ण और अर्थपूर्ण है।

राज्य वस्तु किसी नियत अर्थ का बोध नहीं कराता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वासना और अनुभव के अनुरूप ही उसका स्वरूप निर्धारित कर लेता है, जैसे एक ही वस्तु को वासना के अनुरूप बहुत नाना रूप से मह्य करती है।

प्रतिनियतवासनाबोधैव प्रतिनियताकारोऽयम्, तद्वत्तस्तु कश्चिदपि नियतो नाभिधीयते ।

पद्येन्द्रियं सनिपतव् वैश्विभ्येणोपदर्शकम् ।

तथैव शब्दादर्धस्य प्रतिपत्तिरनङ्गत्वात् । वाक्य० २, १३१ ।

‘नास्ति करिबन्धियत् एकं शब्दस्यार्थः’ अर्थात् शब्द का निरिपत्त कोई एक अर्थ नहीं है । इसी को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि वचन अपनी भावना के अनुसार एक शब्द का एक अर्थ में प्रयोग करता है, परन्तु भिन्न-भिन्न जोवा अपने-अपने ज्ञान के अनुसार उसका पूर्य-रूप अर्थ समझते हैं ।

वचनस्यैव प्रकाशतो मिन्नेषु प्रतिपत्तयु ।

समस्तयानुकारेण शब्दार्थं प्रविमन्वते ॥

वाक्य० २, १३३ ।

व्यक्तियों का अनुभव समयानुसार परिवर्तित होता रहता है और उसके फल स्वरूप वही व्यक्ति जो एक वस्तु कुछ काल पूर्व दूसरे रूप में देखता या समझता था वही को कालान्तर में अन्य रूप में देखता और समझता है । इसी को मरु'हरि लिखते हैं कि—

एकस्मिन्नपि दृश्येऽप्ये रश्मिं भिद्यते पूर्यम् ।

कालान्तरस्य वैकोऽपि तं पश्यत्यन्यथा पुनः ॥

वाक्य० २, १३८ ।

एक व्यक्ति जो कि बौद्ध दर्शन के अध्ययन में अर्थ को तदनुसार ही समझता है कालान्तर में वैशेषिक दर्शन के अध्ययन से वह ऐसी वस्तु को अन्य रूप में समझने लगता है, वह घट को परमाणुपुच्छ न समझ कर एक अवयवी समझने लगता है ।

इस प्रकार मरु'हरि ने दिखाया है कि एक ही अर्थ का नाना व्यक्ति अपने अनुभव के अनुरूप नाना रूप में समझते हैं और एक व्यक्ति भी अपने परिवर्तन होते रहने के कारण समयान्तर में विभिन्न रूप से समझने लगता है । वाक्य० २, १३६ । उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मरु'हरि आगे लिखते हैं कि इसका अर्थविकास पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है । अर्थ की अनुभवजन्यता के कारण व्यक्तियों का ज्ञान अपूर्ण और अनिश्चित है । उसका वचन भी वही प्रकार अपूर्ण, अनिश्चित और अन्यवस्थित है ।

—) त्रिमावऽष्टतत्त्वानां सांपर्यं पदुच्छतम् ।

दर्शनं वचनं चापि नित्यमेवानवस्थितम् ॥

वाक्य० २, १४ ।

अर्थ की इस अनुभवजन्यता के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति का अर्थविवेक ज्ञान प्रतिष्ठय बदलता रहता है । समूह में भी इसी परिवर्तन के कारण अर्थविकास

एक भ्रूज सत्य है। नैयत्तिक और सामूहिक ज्ञान में परिवर्तन का प्रतिबिम्ब अर्थविकास है।

अर्थ अनिश्चित और अपूर्ण

अर्थ अनिश्चित और अपूर्ण होता है, इसका विवेचन मरु'हरि न द्वितीय और तृतीय काण्ड में कई स्थानों पर किया है। अर्थ की इस अनिश्चितता और अपूर्णता के कारण राज्यों के अर्थों में अन्तर हो जाता है। मरु'हरि और पुण्यराज ने लिखा है कि पदों के अर्थों का स्वतः कोई निश्चित स्वरूप नहीं है, जिस जिस प्रकार से उनका निरूपण किया जाता है, उसी प्रकार से उनका अर्थ हो जाता है। पुण्यराज, वाक्य २, ४४४।

सङ्गाद् व्यवतिष्ठन्ते पदार्था न तु वस्तुतः।

उपकारात् स एवार्थं कथञ्चिदनुगम्यते ॥

वाक्य० २ ४४४।

पद का अर्थ वस्तुतः व्यवस्थित नहीं है, निरूपण से ही उसकी व्यवस्था होती है। एक ही अर्थ निरूपण भेद से अन्वया प्राप्त होता है।

अर्थ की अनिश्चितता के कारण अर्थ में विकास किस प्रकार होता है इसका एक सुन्दर उदाहरण पतञ्जलि न दिया है। 'भोग राज्य के अर्थ के विषय में उन्होंने लिखा है कि इसका अर्थ है द्रव्य जैसे 'भोगवानय देश' का अर्थ है; जिस देश में गौ अन्न आदि प्रचुर मात्रा में हैं। भोग राज्य का अर्थ उपभोग भी है। जैसे 'भोगवानर्थ ब्राह्मण' का अर्थ है जो ब्राह्मण धनादि का सम्यक्त्वया उपभोग करता है। कैपट ने लिखा है कि इसीलिए धनवान् को भी जो कि धनादि का उपभोग नहीं करता है उसे भोगवान् नहीं कहते। अपितु 'निर्भोग' (कृपण) कहते हैं। इसका तृतीय अर्थ है शरीर। यह अर्थ सर्प के शरीर के लिए रख हो गया। आगे चल कर यही सर्प के फण के लिए भी प्रचलित हो गया। कैपट न इसपर विवेचन करते हुए लिखा है कि भोग राज्य समुदाय अर्थान् शरीरमात्र के लिए था, परन्तु उसका एकदेश फण के लिये प्रयोग जान लगा। कतिपय आचार्यों का कथन है कि सर्प के फण को ही भोग कहते हैं उसके समस्त शरीर को नहीं। कैपट ने इस कथन को अयुक्त बताया है और महत्त्वपूर्ण राज्यों में कहा है कि प्रयोग का विषय अनन्त है, उसकी इच्छा निर्धारित नहीं की जा सकती है।

अमभारवात् प्रयोगविषयस्यावधारणस्य कर्तुमशक्यत्वात्

प्रदीप, महा० ५. १. १।

कैपट के कथन से यह स्पष्ट है कि किसी राज्य के अर्थ की इच्छा या निश्चितता निर्धारित नहीं की जा सकती है, क्योंकि एक ही राज्य का विभिन्न

रूप से विभिन्न अर्थों में प्रयोग होता रहता है, अतः प्रयोग का विषय अनन्त है।
हेलाराज न अतएव खिला है कि—

विबल्लोपाकरोद्धार्यः शब्दानाम् । वाक्य० ३ पृ० ४६७ ।

शब्दों का अर्थ वस्तु की इच्छा के अधीन होता है। वस्तु एक ही शब्द का विभिन्न रूप से प्रयोग करता है और उसके अर्थ में अन्तर हो जाता है।

अर्थ अनिश्चित ही नहीं, अपितु अपूर्ण भी होता है। इसका विवेचन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। मनु हरि ने खिला है कि अर्थ अपूर्ण होता है, अर्थ वस्तु के किसी एक अंश का बोध कराता है, सम्पूर्ण का नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि अर्थ संक्षिप्त और अपूर्ण होने के कारण विकल्पों का कारण होता है। इसी अपूर्णता और अनिश्चितता से अर्थ में भी विकास और परिवर्तन होता रहता है।

अहस्मविषयामास शब्दः प्रत्ययमाश्रितः ।

अर्थमाहारम्परूपेण स्वरूपेणानिकृपितम् ॥

वाक्य० ३, पृ० १२४ ।

हेलाराज ने इसकी व्याख्या करते हुए खिला है कि शब्द अपूर्ण अर्थ का बोध कराता है। शब्द से विकल्पात्मक (संक्षिप्त) ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः कहा गया है कि शब्द विकल्पों के कारण हैं और विकल्प शब्दों के।

तदुक्तम् विकल्पयोग्यं शब्दा विकल्पाः शब्दयोग्यं । हेलाराज ।

पतञ्जलि ने (महा० २, १, ३५) वधि शब्द के विषय में खिला है कि वधि के कई भेद हैं। वधि कहते ही मन्दक (कमजमी हुई), पत्तरक (मलापी वाली), निह्नीनक (न जमी हुई) आदि का बोध होता है। अर्थ की अनिश्चितता और अपूर्णता के कारण वधि शब्द से वधि के निश्चित और पूर्ण स्वरूप का ज्ञान नहीं होता अतः वधि के जितने प्रकार मिलते हैं उन सब को ही वधि शब्द के द्वारा सम्बोधित किया जाता है।

शाब्दभाष्य और अर्थ विकास

पष्ठ अध्याय में शाब्दबोध किस प्रकार होता है, इसका विवेचन करते हुए खिला गया है कि शाब्दबोध भासजनों के व्यवहार, आवाप, उद्वाप उपदेश, अन्वयव्यतिरेक आदि के द्वारा होता है। मनु हरि ने खिला है कि अर्थज्ञान प्रत्येक को अपनी प्रतिभा के अनुरूप ही होता है। जिसकी वैसी प्रतिभा होती है, उसी प्रकार उसको अर्थमध्य शीघ्र या बिहम्ब से होता है।

अध्यासात् प्रतिभाहेतुः शब्द सर्वा परैः स्मृतः ।

वासानां च तिरदर्शा च पथापप्रतिपादनम् ॥

वाक्य० २, ११६ ।

मनुहरि ने आगे बताया है कि प्रत्येक की प्रतिमा समान नहीं होती है, किसी की मनु और किसी की शीम। मनुष्य अपनी प्रतिमा के अनुरूप शब्दों का अर्थ भी शुद्ध या अशुद्ध समझता है। स्वल्प वस्तुओं का अर्थ दृश्य होने के कारण अशुद्ध ज्ञान होने पर भी ज्ञानवृद्धि के साथ साथ शुद्ध हो जाता है। परन्तु सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान दृश्य न होने के कारण प्रतिमा पर ही निर्भर रहता है और प्रत्येक का अपना अपना विचार इन सूक्ष्म वस्तुओं के विषय में भिन्न भिन्न रहता है। अतएव मनुहरि ने कहा है कि वस्तु एक अर्थ में शब्द का प्रयोग करता है, परन्तु भिन्न-भिन्न श्रोता उसको अपनी अपनी वृद्धि के अनुसार भिन्न भिन्न अर्थों में लेते हैं। वाक्य २,१३७।

मनुहरि ने इस प्रकार से शब्दबोध की प्रक्रिया को ही अर्थविकास का मूल कारण बताया है। सब की प्रतिमा, अनुभव ज्ञान और ग्रहण शक्ति समान नहीं है, अतएव अर्थ समान व्यवस्थित और निरिष्य नहीं रहता। एक शब्द का नाना व्यक्ति ही नाना अर्थ नहीं समझते, अपितु एक ही व्यक्ति एक शब्द के अर्थ को वाक्यावस्था में कुछ अन्य समझता है और सुखा या दुःखावस्था में अन्य। एक शास्त्र के अभ्ययन से एक वस्तु को कुछ समझता है, दूसरे शास्त्र के अभ्ययन से कुछ अन्य। अतः मनुहरि कर्तव्य है कि —

एकस्यापि च शब्दस्य निमित्तैरव्यवस्थितैः।

एकेन बहुभिर्धार्था बहुधा परिचर्यते ॥ वाक्य २,१३६।

अर्थ व्यावहारिक है वैज्ञानिक नहीं

मनुहरि ने लिखा है कि “शब्दा लोफनिबन्धना” वाक्य २,२२६।

अर्थात् शब्द लोफ व्यवहार के चलाने के लिए हैं। पुण्यराज ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि अर्थ का वाचन के लिए शब्द है वे लोफ-व्यवहार के निमित्तमूत हैं। अर्थ की गीण और सुष्य की व्यवस्था इसी आधार पर की जाती है कि वह शिथिल है या अश्लिथिल। स्वसद्गति वाले अर्थ का गीण कहा जाता है, और अस्वसद् गति को सुष्य, अर्थात् प्रचलित अर्थ सुष्य होता है और अप्रचलित गीण। पुण्यराज।

अर्थ सबका शुद्ध आग वैज्ञानिक नहीं होता है। अतः मनुहरि और पुण्यराज ने कहा है कि शब्द अर्थ के स्वस्या को वस्तुतः सरा नहीं करना है, केवल दूर से अर्थ का संकल्पना करता है और उसको व्यवहारोपयोगी बना देता है। शब्द अर्थ का शुद्ध रूप में वाचक नहीं होता है। शब्द में वस्तुतः यह शक्ति नहीं है कि वह अर्थ की शक्ति को स्वरा कर सके। पुण्यराज वाक्य २, ४४२।

वस्तुपक्षेण शब्दा मापचारस्य वाचकः।

न सशक्ति पदापानां संस्पष्टं तेन शक्यते ॥

वाक्य २, ४४२।

मरुहरि ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए लिखा है कि राज्य की शक्ति नियमित है, अर्थ की शक्ति बहुत व्यापक है, अतः राज्य अर्थ के पूर्ण स्वरूप का स्पर्श नहीं कर पाता।

अनेकराक्षिरपि द्वयौ न राज्ये साकश्येन स्वरयते नियतविषयत्वात् राज्य-
शक्तीनाम् । पुण्यराज, वाक्य० ३ पृ ५ ३ से ५ ४ ।

मरुहरि ने लिखा है कि राज्य और अर्थ का सम्बन्ध वृद्धा की इच्छा के अर्थात् रहता है। प्रयोक्ता जिस राज्य का जिस अर्थ में प्रयोग करता है, उसी प्रकार उसका स्वरूप हो जाता है, अतः राज्य और अर्थ का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है, अपितु कल्पनिक है, असत्य है। पुण्यराज ।

प्रयोक्तैवामिसन्धचे साध्यसाधनरूपताम् ।

अर्थस्य वामिसन्ध कल्पनां प्रममीहते ॥

वाक्य० २, ४३५ ।

राज्य और अर्थ के सम्बन्ध में प्रयोक्ता की इच्छा का बहुत ही महत्त्व है। प्रयोक्ता ही एक राज्य का विभिन्न रूप में प्रयोग करके विभिन्न अर्थों का बोध कराता है। पुण्यराज ने इसीलिए आगे लिखा है कि यदि राज्य और अर्थ का सम्बन्ध वास्तविक होता तो वस्तु के स्वभाव को ज्ञान भी अन्यथा नहीं कर सकता। क्योंकि वस्तु स्वभाव को अन्यथा करने की सामर्थ्य उसमें भी नहीं है। अर्थ व्यवस्थित होना चाहिए था परन्तु ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता है। मरुहरि ने साधन समुद्देशप्रकरण में विस्तार से यह प्रदर्शित किया है कि यह राज्यार्थ सम्बन्ध यदि सब दृष्ट्य विवक्षाधीन है। सम्बन्ध कल्पनिक ही है। पुण्यराज, वाक्य० २, ४३६ ।

यदि हि वास्तवमेतत् स्यात् तदा वस्तुस्वभावस्य ब्रह्मसाध्यन्यथाकर्तुमराज्य-
त्वाद् व्यवस्थितमेवैतद् भवेत् न च तथा परिहरयते । पुण्यराज वाक्य० २, ४३६ ।

पेठरेय ब्राह्मण (३, ४४) और गोपथ ब्राह्मण उत्तर (४, १०) यह बताते हैं कि सूर्य न कमी अस्त होता है और न कमी बढ़ता होता है, जो कि सूर्य को 'अस्त होता है' कहा जाता है वह दिन की समाप्ति को देखकर और जो कि 'सूर्य बढ़ता होता है' कहा जाता है वह रात्रि की समाप्ति को देखकर, वस्तुतः न तो सूर्य बढ़ता होता है और न कमी अस्त होता है ।

स वा एष (आविरया) न कदाचिनास्तमति नोवेति तं पदस्तमेतीति
मप्यन्तेऽह्न एव तदन्तमित्वाऽप्य यदेनं प्रावद्देतीति मप्यन्त रात्रेरेव तदन्त
मिवा । स वा एष कदाचन निद्रोचति । पेठरेय ब्राह्मण ३, ४४ ।

यद्यपि सूर्य बढ़ता होता और सूर्य अस्त होता है ये वाक्य वैज्ञानिक दृष्टि से असंगत है, परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से ऐसा प्रयोग किया जाता है। मरुहरि ने अर्थ-अवैज्ञानिक है, इसके बहुत से उदाहरण दिए हैं। वाक्य० २, १५५ से

२६८। यथा, व्यावहारिकता के आधार पर ही गम्भर्वनगर, स्रपुष्प, आकाश-कुसुम, वन्म्यासुत आदि की स्थिति है। चित्र में भी नदी, पर्वत, नगर आदि की सत्ता प्रत्यक्ष की जाती है जो कि वैज्ञानिक दृष्टि से असंगत है। मूर्तिनिर्मित सिंह इस्ती, भरव आदि बने जाते हैं। आजकल भी चीनी के बने हुए सिंह, भरव, उष्ट्र, एवं विविध प्रकार के पशु पक्षी खाये जाते हैं, वस्तुतः उपर्युक्त नाम इनको देना वैज्ञानिक दृष्टि से अनुचित है। गगन में तल की ओर स्रघोत में अग्नि की सत्ता का प्रयोग किया जाया है। परन्तु ये सभी प्रयोग और इनके अर्थ अवैज्ञानिक और अशुद्ध हैं। अतएव मर्तुहरि कहते हैं कि—

तलववु दृश्यते ध्योम स्रघोतो हृष्यवाङ्मिव ।
न चेन्नास्ति तर्ष ध्योभिर्न यद्योसे मुताश्रयाः ।

वाक्य० २. १४२।

वस्तुतः न तो आकाश में तल है और न स्रघोत में अग्नि। यह केवल व्यावहारिक बक्ति है। मर्तुहरि ने अर्थ की व्यावहारिकता का उल्लेख करके सिखा है कि जिन वस्तुओं का वर्णन शब्दों द्वारा ठीक-ठीक नहीं किया जा सकता है, उनके विषय में विद्वानों को भी उचित है कि वेसा उस विषय में लोकव्यवहार में प्रयोग होता हो उसे ही अपना कर व्यवहार पलायें।

असमाभयेयतत्त्वानामर्धानां लौकिकैर्यथा ।

व्यवहारे समाख्यातं तत्प्राज्ञो न विकल्पयेत् ।

वाक्य० २. १४४।

इस व्यवहारोपयोगिता के कारण कितने ही शब्दों का अन्य अर्थ में प्रयोग होने लगता है यथा, अथगम्भीर्यं, ज्ञानालोक, ज्ञानवृष्टि, प्रज्ञाचक्षु, गुणगौरव आदि।

यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिये कि वैवाक्यियों का दृष्टिकोण केवल व्यावहारिक नहीं है और व्यावहारिकता के आधार पर दारानिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अपलाप नहीं किया जा सकता है। जो व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है, वह दारानिक और वैज्ञानिक दृष्टि से असत्य सात होता है अतएव मर्तुहरि ने कहा है कि उपर्युक्त जो व्यावहारिक किये गये हैं, उनको व्यावहारिक दृष्टि से अपना लेना चाहिये। परन्तु इनके फिर भी दारानिक विवेचन करना आवश्यक है। स्थूल प्रत्यक्ष से जो ठीक समझ जाता है, वह सूक्ष्म दृष्टि से प्रायः सत्य नहीं होता है। अतः केवल स्थूल प्रत्यक्ष पर ही विरवास करके सूक्ष्म और वैज्ञानिक अर्थ अर्थान् परमार्थ का अपलाप न करें।

वामाप्रयत्नमप्यर्थं विद्वानीसेत युक्तिः ।

न यशस्य प्रामाण्यात् दृश्यमथ प्रकल्पयेत् ।

वाक्य २. १४३।

अर्थ की अस्पष्टता और अर्थ विकास

पण्डित ने जातिवाची और गुणवाची शब्दों के विषय में विरोध रूप से लिखा है कि इनका अर्थ अस्पष्ट रहता है। ये जो वस्तु जितनी और जैसी होगी, वैसा और जतना ही उसका अर्थ बोधित करेंगे।

वेदविद्यावेदेव तद् मवति तावदेवाद्, य एते जातिशब्दा गुणशब्दाश्च।

महा० १, १, ७१।

व्याकरण के रूप में उन्होंने लिखा है कि जैसे तेल या घृत कहने से इसके परिणाम रूप भावि का बोध नहीं होता। एक बूँद तेल भी तैल है और मन भर भी। गो शब्द के कहने से कौन सी गाय, किस रंग की, कितनी बड़ी इत्यादि का बोध स्पष्ट रूप से नहीं होता। प्रत्येक प्रकार की गाय का गाय शब्द बोध कराता है, इसी प्रकार गुणवाची शब्द। यथा, शुक्र, कृष्ण, नील आदि बड़ी से बड़ी और छोटी से छोटी वस्तु की शुद्धता, को व्यक्त करते हैं। प्रत्येक वस्तु की शुद्धता कृष्णता और नीलता में अन्तर होता है। जिस वस्तु में जैसी शुद्धता भावि होगी, वैसा ही शुद्ध भावि शब्द अर्थ होता जाएगा। वाक्य० का० २ पृ ११६

स्फटिक के ऊपर जिम रंग की जो वस्तु रखी जाती है, उसका रूप रंग उद्भूत हो जाता है। इसी प्रकार शब्दों का अर्थ भी जिस जिस वस्तु के साथ सम्बन्ध होता है वैसा ही अर्थ व्यक्त करता है। हेमचन्द्र ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि शब्द के अर्थ में पदान्तर के साथ सम्बन्ध होने के कारण विरोध रूप आ जाता है। अतः शब्दार्थ औपचारिक सत्ता से मुक्त होता है। हेमचन्द्र, वाक्य २ पृ ११६।

पण्डित ने ऐसे स्थलों का क्या और कैसा अर्थ होता है, इसके विषय में लिखा है कि इस प्रकार के सामान्य शब्दों (जातिवाची और विरोध शब्द) का जिस प्रकार उन्होंने या जिस विरोध शब्द के साथ प्रयोग होता है, उसी प्रकार से अपना अर्थ बोधित करते हैं, और विरोध अर्थ में व्यवस्थित होते हैं।

सामान्यशब्दाश्च भास्तरेश विरोधं प्रकरत्वं वा विरोधेऽत्रवतिष्ठते।

प्रकरत्वादिस्वापेक्षतयाऽप्यप्रत्यायकत्वं सामान्यशब्दत्वम् ॥

(उद्योत्)। महा० १, २ ४५।

इस प्रकार से सामान्य शब्दों का मनुष्य या वस्तु, भसी या घुरी, छोटे या बड़े जिसके साथ प्रयोग होगा तदनुसार अर्थ परिवर्तित होता जाएगा। जैसे "सुन्दर स्त्री" और "सुन्दर चित्र" में सुन्दर शब्द के अर्थ में अन्तर है। "शामनेशविवाह" और "शोमनो जन" में शोमन शब्द के अर्थ में समानता नहीं है। गुणवाची शब्दों के अर्थों में किस प्रकार सामान्यवाचिता के कारण विरोध अर्थविकास उपलब्ध होता है।

सादृश्य और अर्थ विकास

पास्क ने सादृश्य के अर्थविकास का मुख्य कारण माना है और जानार्थक शब्दों के अर्थ का विस्तार प्रदर्शित करते हुए सादृश्य को ही मुख्यता दी है। यथा, पाद राज्य का मुख्य अर्थ था पैर। उसी से सादृश्य के आभार पर पशु के एक पैर को चतुर्थांश देखकर चतुर्थांश के लिए भी पाद राज्य प्रयोग होने लगा। सादृश्य के आभार पर इसका इतना अधिक अर्थविस्तार हुआ कि खाट भाँड़ के पाँवों के लिए पाद राज्य (चतुष्पादिका), वृक्ष की जड़ के लिए पाद राज्य (पादप) का प्रयोग होने लगा। सादृश्य के आभार पर ही सूर्य की किरण (वाल्सत्यापि रश्मे पादा), अध्याय का चतुस्र भाग (प्रथमपाव), रुपय का चतुर्थांश (सपादा रूप्यक), एक रसोढ़ का चतुर्थांश आदि के लिए पाद राज्य प्रयुक्त होने लगा। निरुक्त २, ७।

क्रिया साम्य के कारण एक शब्द के अर्थ का विस्तार हो जाता है। पास्क ने गा राज्य का नियमन करते हुए लिखा है कि गम् घातु के आभार पर घृष्ठी को गो कहा जाता है, क्योंकि वह दूर तक विलुप्त है गतिशील है, इसी गमनशीलता के कारण गाव को भी गो कहा गया। गमनक्रिया के सादृश्य को देखकर वायु, सूर्य की किरण आदि को भी गो कहा जाने लगा। निरुक्त २, ५ से ६।

इसी प्रकार क्रिया साम्य अर्थात् क्रान्त होना, व्याप्त होना, अर्थ को लेकर छात्रा राज्य का विराग, उपविशा, आदित्य, जल और गन्तव्य स्थान के लिए प्रयोग होने लगा। (निरुक्त २, १५)। वस्तु के सादृश्य के कारण कृष्ण राज्य जिसका अर्थ अरब की कृष्ण काल था, मनुष्य की कृष्ण के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। (निरुक्त २, २)। गुण के सादृश्य के कारण मधु राज्य जो सोम रस के लिए प्रयुक्त होता था, मादकता के कारण शहव, सुरा, आदि का भी वापक हो गया। निरुक्त ४, ८।

पाणिनि ने सादृश्य के आभार पर चित्रों, मूर्तियों आदि के लिए भी उसी शब्द का प्रयोग होना लिखा है। यथा चित्रों और मूर्तियों को भी शिब, विष्णु अर्जुन, युधिष्ठिर। अष्टा ५, ७, ६६ से १००।

लक्षण और अर्थ विकास

पठञ्जलि ने लक्षण के द्वारा अर्थविकास होना बताया है। पठञ्जलि ने लिखा है कि "चतुर्भिः प्रकारैस्त्वस्मिन् स इत्येवम् भवति, वात्स्यायान्, वात्स्यायान्, तत्सामीप्यात्, तत्सादृश्यादिति। महा० ४, २, ४८।

सांख्यिक प्रयोगों के मूल में पार तप्य हैं, जिनके आभार पर अर्थ के लिए अन्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। तत्त्वता, तद्भवता, तत्समीपता और तत्सादृश्य के कारण अन्य को ही उसी शब्द से लक्षण किया जाता है। इनके उदाहरण देते हुए उन्होंने लिखा है कि 'मया हसन्ति (मजान हसते हे) 'गिरिदम्ते' ('पथत जसदा

है), इन प्रयोगों में मंचस्य बालकों को मंच और पर्वस्य वृक्षादि को गिरि राज्य से लक्षित किया है। गुणों की समानता (वाच्यार्थ) के कारण 'सिंहो माखवकः और 'गौर्वाहीक' में माखवक को सिंह और वाहीक को गौ कहा गया है। पहले में बालक की शूरवीरता को लक्षित किया गया है दूसरे में वाहीक वैरावासी को मूर्खता के कारण गौ कहा गया है। समीपस्थता के आधार पर गंगा में घोष, और कूप में गर्गकुल, गङ्गातीर के लिए गङ्गाराष्य और कूप के समीपस्थ स्थान के लिए कूप राज्य का प्रयोग किया गया है। साहचर्य के कारण 'कुन्धाम् प्रवेशम्' और 'यष्टीः प्रवेशम्' में भाले वालों को कुन्ध और यष्टिवारियों को यष्टि नाम से सम्बोधित किया गया है।

अर्थविविधान में लक्षणा का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अर्थविविधान और अर्थविवेक में मुख्य रूप से लक्षणा की प्रवृत्ति कार्य करती है। एक राज्य का ही गुण, क्रिया, रूप या अन्य साम्य को देखकर उसको इस नाम से सम्बोधित करने की भावना सर्वत्र समान रूप से कार्य करती है। भव हरि और नागेश ने इसका बहुत विस्तार से विवेचन किया है। राज्यशक्ति अध्याय में लक्षणा के विवेचन में इसके विभिन्न रूपों पर विस्तार से प्रकारा बाला गया है। यास्क ने साहचर्य के ऊपर जो बल दिया है, वह लक्षणा का ही एक अंग है। लक्षणा के आधार पर राज्य के अर्थ का विकास होना प्रारम्भ होता है। विभिन्न अर्थ जो कि लक्षणा के आधार पर प्रथम लाक्षणिक या गौण अर्थ रहते हैं, राने राने समय परिवर्तन से वे गौण अर्थ मुख्य अर्थ की समानता करने लगते हैं और मुख्यार्थ के तुल्य ही उनका प्रयोग होने लगता है। यास्क ने गो राज्य के पञ्चाहरण में गो का मुख्यार्थ पृथ्वी तथा निषपनसाम्य के आधार पर गाय के लिए भी गो राज्य का प्रयोग किया है। दोनों अधसाहित्य में गो राज्य के लिए प्रयुक्त हैं। यास्क जिस अर्थ (गाय) को गौण बताते हैं, वह सरकृत साहित्य में मुख्य अर्थ पृथ्वी की अपेक्षा अधिक प्रचलित है। पाद और कच राज्य के पञ्चाहरणों में तिन अर्थों का उल्लेख किया गया है वे सभी अर्थ मुख्यार्थ के रूप में व्यवहृत होते हैं। लक्षणा के आधार पर अर्थों में विकास इस विरोध गति से होता है कि पर काल में यह यथाना कठिन हो जाता है कि राज्य का प्राथमिक या मुख्यार्थ क्या था और गौण क्या। एक से अधिक अर्थ भी राज्य के मुख्यार्थ के तुल्य प्रचलित हो जाते हैं।

भव हरि ने अर्थविविधान के विषय में लिखा है कि एक राज्य ही माना अर्थ का बोध कराता है। इस पर यह आपत्ति की गई है कि ऐसी अवस्था में ऐसे राज्य के प्रयोग से एक ही स्थान पर समस्त अर्थों की उपस्थिति होने लगेगी, अतः इसका उच्छर देते हुए बहोने लिखा है कि निमित्तभेद से समस्त अर्थों की उपस्थिति नहीं होती है। अर्थ प्रकरण या अन्य राज्यों के साहचर्य से तत्तत्प्रकरण में एक ही प्रासंगिक अर्थ लिया जाता है, अन्य नहीं। वाक्य० २, २५२ से २५३।

राज्यों का सापार्यायता मुख्यार्थ एक होता है, अन्य अर्थ गौण। गौण अर्थों

क विकास का कारण मनुहरि निमित्तविरोध बताते हैं। किसी विरोध कारण गुण प्रयोग रूप भादि के सादर्य के कारण एक शब्द का अन्याय के लिए प्रयोग करते हैं। शब्द साक्ष्यार्थ का बोधक होते हुए भी अपन अर्थ को सुरक्षित रखता है। वाक्य० २, २५०।

'गो' शब्द "गौर्वाहीक" में आद्य गुण के आधार पर वाहीक के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पर प्रयोग का निमित्त गो की मूर्खता का सादर्य वाहीक में होना है। अतएव मनुहरि कहते हैं कि अर्थविकास के द्वारा गो शब्द गाय और वाहीक दोनों का बोधक हो गया है। वाक्य० २, २५४।

मनुहरि ने इस प्रकार में व्याकरणों का सिद्धांत लिखा है कि "सर्वे सर्वार्थ वाचका" अर्थात् शब्द सर्वशक्तिमान् है उसमें समस्त अर्थ, क बोध की शक्ति है। मुख्य और गण्य अर्थ जिनका कहा जाता है, वह प्रसिद्ध और अप्रसिद्धि के आधार पर ही है। जो अर्थ प्रसिद्ध है उसे मुख्य कहते हैं, जो अप्रसिद्ध है उसे गण्य। वाक्य० २, २५५।

मनुहरि ने लिखा है कि सृष्टिका के वने हुए सिंह इस्वी भरव को भी सिंह भादि के नाम से सम्बोधित किया जाता है। केवल रूपसाम्य क आधार पर ऐसे स्थलों पर मुख्य शब्द का प्रयोग होने लगता है। गुण और अर्थ की दृष्टि से दोनों में महान् अन्तर स्पष्ट है, सृष्टिर्मित सिंह से न डर है और न भरव वाहन के योग्य है। वाक्य० २ २६५।

संज्ञा के द्वारा 'असमाख्येय वस्त्रों' के लिए स्थूल 'वस्त्रों' के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रयोग किया जाता है। यथा, ज्ञान में गम्भीरता, उच्छ्रिता, आलोक और गुरुता नहीं है, परन्तु स्थूलवस्त्रों के अनुमान का आरोप सूक्ष्म वस्त्रों पर करके इन भाषों को व्यक्त किया जाता है, अतएव, ज्ञानालोक, ज्ञान-गरिमा ज्ञानगम्भीर्य, भादि प्रयोग होते हैं। वीक्षणबुद्धि, कुरामबुद्धि, कुठित बुद्धि, गुणगौरव, उच्छ्रितबुद्धि, महान् आत्मा भादि में संज्ञा क आधार पर ही बुद्धि, विचार, गुण, आत्मा भादि सूक्ष्म वस्त्रों क लिए इनक गुण बोधनार्थ स्थूल पदार्थों के अनुकूल व्यवहार सम्भव होता है। अतएव मनुहरि ने कहा है कि ऐसे स्थलों पर बिज्ञानों को भी लोकव्यवहार के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। वाक्य० २ १४४।

पशु-पक्षी और जीव जन्तुओं क विभिन्न गुणों को ब्रह्मकर संज्ञा के आधार पर वत्सहरा गुणबुद्ध मनुष्यादि क लिए इन शब्दों का प्रयोग किया जाने लगता है। यथा मूर्खता क सादर्य से 'गौर्वाहीक' शब्द के सादर्य से 'सिंहा माणवक' और अस्पृष्टता के कारण रूपमंडक, रूपकण्ठप, अनुस्वरनराक, अघटकण्ठप, दि शब्द अनुभवहीन के लिए अस्थिरचित्त, मात्र को वीषण्वाक, वीषण्वाक। ऐति न इस प्रकार के बहुत से मनोरंजक उदाहरणों का 'पात्रसमितादपरण' (पृ० २, १, ४८) सूत्र के गणपाठ में समावेश किया है।

मर्तुहरि ने बताया है कि लक्षणा के आधार पर ही तद्गुणसाम्य को देख-कर पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष भी कहा जाता है।

केचित् पुमासो मापन्ते स्त्रीवत् पुबन्ध योपित ।

प्यमिचारे स्वधर्मोऽपि पुनस्तेनोपदिश्यते ।

वाक्य० ३, पृ ७१६।

अत्यन्त लक्षणाशील वक्त्र पुरुष को कहा जाता है कि “क्या स्त्रियों के मुख्य बोल रहे हो, पुरुष के तुल्य बोलो” और अतिप्रगल्भभाषिणी स्त्री को कहा जाता है कि “क्या पुरुषों के तुल्य बोल रही हो, स्त्रियों के तुल्य बोलो”। हेमाराज ने कहा है कि “पुरुष को भी कायगता के कारण कहा जाता है कि (यह पुरुष स्त्री है) और स्त्री को निर्धन्यता के कारण कहा जाता है कि (यह स्त्री पुरुष है)”। यहाँ पर पुरुष और स्त्री शब्द अपने से सर्वाधि विपरीत ‘खिग’ वाले के लिए गुणसाम्य के कारण प्रयुक्त होते हैं। हेमाराज, वाक्य ३, पृ० ४४८।

कात्यायन और पतञ्जलि ने इस विषय पर विचार करते हुए कि अन्य लिंग के लिए अन्य लिंग का शब्द किस प्रकार प्रयुक्त हो सकता है, और वह तदर्थप्रतिपादन कर सकता है, लिखते हैं कि “ऐसे स्थलों पर सामान्य गुण की विषया की जाती है और विशेष गुण की अविषया।”

विशेषस्याविबक्षितस्मात् सामान्यस्य च विबक्षितस्मात् सिद्धम् ।

महा० १ २. १८।

इस सामान्य की विषया से ही लक्षणात्मक प्रयोग सम्भव होते हैं, अन्यथा ‘यह पुरुष स्त्री है’, और ‘यह स्त्री पुरुष है’ जैसे प्रयोग सर्वाधि असंगत और अनर्गल प्रमाण सिद्ध होते हैं।

साहचर्य और अर्थ विकास

वाल्क्य, पतञ्जलि और मर्तुहरि ने साहचर्य के द्वारा अर्थविकास का विस्तार से निरूपण किया है। वाल्क्य ने (निरुक्त ०, २०) सिखा है कि साहचर्य के कारण एक शब्द का अन्य अर्थ में प्रयोग होता है। उन्होंने बताया है कि अग्नेव में भी इस प्रकार के उदाहरण विद्यमान हैं, जिनमें साहचर्य के कारण अर्थ विकास हुआ है। सूर्य को अग्ने के साहचर्य से ‘वत्स’ (बछड़ा) नाम से निर्दिष्ट किया गया है।

कशद्भत्सा कशठी श्वेतपागावुरैशु कृष्या सव्रतान्यस्या ।

अग्० १ ११३, २ ।

सूर्यमस्या वत्समाह साहचर्यात् । निरुक्त २, २० ।

ब्रह्ममाधव ने भी अपने अग्नेव भाष्य में सिखा है कि—

सूर्य वत्समाह साहचर्यात् । वैष्ण्व, ऋग् १, ११३, २।

अर्थात् सूर्य को वत्स कहा गया है, क्योंकि वह उषा के साथ रहता है। इसी प्रकार साहचर्य के आधार पर उषा को सूर्य की बहन और सूर्य को उसका भाई भेद में बताया गया है।

उपसमस्य स्वसारमाह साहचर्यात् । निरुक्त ३, १६।

यास्क ने साहचर्य के द्वारा अर्थविक्रम के अन्य उदाहरण दिए हैं। "कृष्णा" शब्द का मुख्यार्थ है "कृष्णवर्ण" परन्तु वेद में कृष्णा शब्द रात्रि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि कृष्ण गुण का रात्रि के साथ साहचर्य है। अर्जुन शब्द श्वेतगुण का वाचक है, परन्तु दिन के साथ श्वेतता का साहचर्य होने से वेद में अर्जुन शब्द विषय का वाचक प्रयुक्त हुआ है।

अहरय कृष्णमहरजुनं च । कृष्णा कृष्णवर्णा रात्रिः । अहरय कृष्ण रात्रिः । शुक्ल आहरजुनम् । निरुक्त २, २० से २१।

कृष्णा, कृष्ण और अर्जुन शब्दों का प्रयोग संस्कृत साहित्य में द्रोपदी, वासुदेव और पार्य के लिए होता है, परन्तु वेद में कृष्णा और कृष्ण शब्द रात्रि के लिए और अर्जुन दिन के लिए प्रयुक्त हुआ है। साहचर्य के कारण इन तीनों शब्दों का गुणवाचकता के स्थान पर रात्रि और दिन के अर्थ में प्रयोग होने से अर्थसंकोच हुआ है।

साहचर्य के द्वारा अर्थविक्रम पर पतञ्जलि लिखते हैं कि —

शब्दस्तु क्षलु घेन येन विशेषेणाभिसम्बन्धते, तस्य तस्य विरोधको भवति ।

महा० १, १, २२ ।

शब्द का त्रिभन्जित विरोध के साथ सम्बन्ध होता है, वह उसी का विरोधक हो जाता है। शुक्ल कृष्ण आदि शब्द त्रिभन्जित वस्तु के साथ सम्बन्ध हो जायेंगे, वह उन विशिष्टों का ही बोध कराएंगे। प्रत्येक वस्तु की शुक्लता, कृष्णता सुन्दरता आदि में अन्तर होता है, उसी प्रकार इनके अर्थों में भी अन्तर रहेगा।

साहचर्य के कारण शब्द का अर्थविक्रम हो जाने से तत्सहचरित को उसी नाम से सम्बोधित किया जाता है। यथा यस्मत्प्रत्यय के साहचर्य से उस काल को ही वसन्त कहते हैं।

साहचर्यात् ताष्युर्ध्वं भवति । महा० ४, २६३ ।

पाणिनि ने 'नक्षत्रेणयुक्त काल' (अष्टा ४, २, ३) सूत्र के द्वारा बोधित किया है कि नक्षत्रवाची शब्द साहचर्य के कारण काल का भी बोध कराते हैं। मासों के नाम इसी प्रकार पड़े हैं। चित्रा नक्षत्र से युक्त काल को चित्रा कहेंगे, और इस मास को वैश्र। इसी प्रकार विशाखा से वैशाख श्वेत्णा से श्वेत्, अषाढा से आषाढ, भवणा से भावण, फल्गुनी से फल्गुन मास आदि। इन मासों से पूर्वमा

के दिन भित्रा आदि नक्षत्र होते हैं। भित्रा नक्षत्र शुक्ल पूर्णिमा मिस गस में हो उसे 'भित्र', इसी प्रकार वैशाख आदि। अष्टा० ४, २, २१।

साहचर्य के कारण गुणवाची शब्द द्रव्य वाची हो जाते हैं। पतञ्जलि ने लिखा है कि—

कर्म न पुनरय गुणवचनं सन् द्रव्यवचनं सम्पद्यते। गुणवचनेभ्यो भद्रुपो लुगिति। तथा, 'शुक्लगुण' शुक्लः, 'कृष्णगुण' कृष्ण'। महा० २, १, ३०।

गुणवाची शब्द गुणी के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। शुक्लगुणयुक्त वस्तु को शुक्ल और कृष्णगुणयुक्त को कृष्ण। इस प्रकार समस्तगुणवाची शब्द गुण और उनके साहचर्य से गुणी दोनों का बोध कराते हैं। एक स्थान पर वह गुणवाची है, दूसरे स्थान पर द्रव्यवाची।

साहचर्य के द्वारा अर्थ का विस्तार होना भी पतञ्जलि ने बताया है। गंगा और यमुना शब्द उन नदियों के बोधक हैं, परन्तु जो नदियाँ उनमें आकर मिल जाती हैं, उनको भी गंगा और यमुना ही कहा जाता है। पर्वत के मध्यस्थ प्रदेश को भी पर्वत ही कहा जाता है।

तदेकदेशभूतस्तद्रूपद्वयेन वृहते। महा० १, १, ७१।

गृह के साहचर्य से स्त्री के लिए भी गृह शब्द "गृहा वारा" का प्रयोग होता है। इसी भावना के आधार पर कवि का कथन है कि घर को घर नहीं कहते हैं अपितु घरवाली को घर कहते हैं।

न गृह गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।

भर्तृहरि ने लिखा है कि साहचर्य के आधार पर एक शब्द अन्यार्थ के लिए भी प्रयुक्त होता है। यथा, "द्वित्रिंशो यन्त्रि" (द्वययुक्तजन जा रहे हैं) "स्वत्रिनो यन्त्रि" (स्वजायुक्त जन जा रहे हैं) "ते विष्णुमित्रा" (वे विष्णुमित्र हैं)। इन अवाहरणों में जा द्वय या स्वजायुक्त नहीं हैं उनको भी तत्सहचरित होने के कारण द्वयी और स्वजी कहा गया है। विष्णुमित्र के साहचर्य से विष्णुमित्र अर्थों का भी कहा गया है। सहचरितों के लिए भी उस शब्द के प्रयोग से शब्दों का अर्थ का विस्तार होता है। वाक्य० ३, पृ० ४६३।

पतञ्जलि ने लिखा है कि साहचर्य के कारण अत्येक शब्द के अर्थ में विरोधता आ जाती है।

सर्वदृश्य शब्दाऽन्येन शब्देनामिसम्बन्धप्रमाणा विग्रहवचनं सम्पद्यते।

महा २, १ ४२।

सीरद्ध न इसी भाव को व्यक्त करते हुए दूसरे शब्दों में लिखा है कि पदान्तर के सन्निधान हान पर पदों की अर्थविरोध में वृत्ति होती है।

परिभाषा-वृत्ति, परि० १३०।

वैसे बाबरक सिंह है आदि वाक्यों में दोनों शब्द पूरक रखने से उनके सादर आदि की जो अभिव्यक्ति वाक्य में होती है वह नहीं हो सकती है। वीरता आदि मातृ की अभिव्यक्ति साहचर्य के कारण ही हुई है। इसी प्रकार प्रत्येक शब्द में साहचर्य के कारण विरापता आ जाती है।

पण्डित ने कहा है कि एक शब्द अनक अर्थों का बोध कराता है, यह ग्राह्य है।

एषोऽपि न्याय्य एव यद्व्येकेतानेकस्याभिधानं भवति ।

महा० १ २, ६४ ।

कैपट न इसकी व्याख्या में लिखा है कि एकरोप समास इसीलिए किया जाता है कि एक के द्वारा अनेक का बोध हो। यथा, "पितरौ" कहने से माता और पिता दोनों का बोध होता है। हेमराज ने इसको साहचर्य का प्रभाव बताया है। साहचर्य के कारण जो शब्दों में यह पारस्परिक शक्ति आ जाती है कि एक शब्द भी दोनों का अर्थबोध करा सकता है, वैसे प्रत्येक व्यक्ति पूरक-पूरक एक मार को नहीं उठा सकते हैं परन्तु सामूहिक रूप से उसको उठा लेते हैं। इसी प्रकार शब्द भी पारस्परिक शक्ति के आभिमान से एक शब्द के अभाव में भी दोनों शब्दों का अर्थबोध कराते हैं। हेमराज । वाक्य० ३ पृष्ठ ४६५ ।

एकरोप समास में जिन शब्दों का पाठ है, उनका साहचर्य प्रसिद्ध है, अतः एक शब्द के शेष रहने पर भी दोनों अर्थों का बोध होता है, जिनका साहचर्य नहीं है उनका एक शेष नहीं हो सकता क्योंकि वैसे दोनों अर्थों का बोध नहीं होगा। इसी साहचर्य मूलक शक्ति को ही लक्ष्य में रखते हुए मरु हरि ने कहा है कि अर्थान्तरवाची शब्द भी अर्थान्तर का बोधक होता है।

अर्थान्तराभिधापितव तथाऽर्थान्तरवर्तिना । वाक्य० ३ पृ० ४६३ ।

सांस्कृतिक विकास और अर्थ-विकास

सांस्कृतिक विकास के अनुसार भाषा के प्रत्येक अंगों और अंगों में विभिन्न भाषाओं को व्यक्त करने के लिए अनेकों नए शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। साधारणतया जो शब्द पूर्वप्रचलित होते हैं, उनको ही उपयोग में लाया जान लगता है। शब्द का मौखिक अर्थ कुछ रहता है परन्तु विभिन्न शास्त्रियों आदि विभिन्न भेदियों में उसके द्वारा विभिन्न अर्थों का बोध कराया जान लगता है। इस प्रकार से एक शब्द ही समाज की विभिन्न भेदियों में विभिन्न अर्थों का बोधक हो जाता है। पण्डित ने इसका आचार बताया है कि प्रथम ऐसे अर्थों का बोध आचार्य या आप्त व्यक्ति कराते हैं। उनके आचरण से विभिन्न अर्थों में उन शब्दों का प्रचलन हो जाता है। राष्ट्रीय और पारिभाषिक शब्दावली को पण्डित ने कानून कहा है और प्रचलित एवं प्रसिद्ध अर्थ को अर्थानुक्रम। इन अर्थों का प्रचलन आचार्यों के व्यवहार से होता है।

भाषार्याचारत् सञ्ज्ञासिद्धिः । भाषार्याणां व्यवहारात् ।
इहापि कृतं पूर्वैरमित्यन्वयः कैः ? भाषार्यैः ।

महा० १ १ १ ।

नागेश का कथन है कि कृत्रिम संज्ञाओं को अनित्य इसलिये कहा जाता है क्योंकि इनका अर्थमहत्त्व पाणिनि आदि के उपदेश से होता है ।

मध्या ५० ६५ ।

पचञ्छलि का कथन है कि साधारणतया कृत्रिम और अकृत्रिम संज्ञाओं में से कृत्रिम का ही महत्त्व होता है । महा १ १ २२ ।

पृथि, गुण्य, अंग, प्रकृति धातु, गति आदि शब्दों का पाणिनि ने पारिभाषिक रूप में प्रयोग किया है । इनका प्रचलित अर्थ अन्य है । एक ही शब्द का प्रचलित अर्थ एक होता है और पारिभाषिक अर्थ दूसरा । जिस प्रकार पाणिनि ने व्याकरण के लिए प्रचलित शब्दों का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है, उसी प्रकार प्रत्येक परांत, साहित्य, शास्त्र, उपनिषद्, स्मृति और विज्ञान ग्रन्थों में प्रचलित शब्दों का पारिभाषिक रूप में प्रयोग किया जाता है । प्रत्येक शास्त्र का विद्वान् अपने शास्त्र में उसी पारिभाषिक अर्थ को लेगा, प्रचलित को नहीं । इस प्रकार संस्कृति के विकास के अनुसार ही अर्थ का विकास स्वाभाविक रूप से होता जाता है । गुण्य शब्द प्रथम गुण्य का बोधक था, परन्तु संस्कृति विकास के साथ उसके अनेकों अर्थ हो गए हैं यथा, १—गुण्य, (सद्गुण्य, दुर्गुण्य), २—वैयाकरणों के अनुसार अदेशगुण्य अ, ए ओ अहर, ३—वैशेषिकों के अनुसार सात पदार्थों में से एक । (इष्य, गुण्य कम आदि) ४—सांख्यों के अनुसार तीन गुण्य (सत्त्व, रजस् तमस्) ५ रूप, रस, गन्ध आदि पांच विषय, ६—साहित्यिकों के अनुसार रसों के उत्कर्ष के हेतु शौर्य आदि गुण्य, (काव्यप्रकारा उच्छ्वास, ८) ७—माधुर्य, भोज और प्रसाद तीन गुण्य (कर्म्यप्रकारा उच्छ्वास ८), ८—राजनीति में, राजनीति का प्रयोग (सधि, विमह आदि ६ गुण्य), ९—व्याकरण और मीमांसा में शुरुवा आदि गुण्य, (जातिगुण्य, क्रिया द्रव्य रूपी चार प्रकार के शब्दार्थ में से एक) । इसी प्रकार प्रकृति धातु, गति, विभक्ति, कारक, पुरुष, मन्वन्ध समास आदि शब्द भिन्न भिन्न शास्त्रों और श्रेणियों में विभिन्न अर्थों के बोधक हैं ।

इस अर्थविकास का वैयाकरण एवं साहित्यिक आदि सदुपयोग भी विरोध रूप से उठाते हैं । एक शब्द के प्रयोग से ही एक से अधिक अर्थों का बोध करते हैं । अतएव पचञ्छलि और मनु इति ने लिखा है कि प्रचलित और पारिभाषिक दोनों अर्थों का भी एक शब्द से ही महत्त्व किया जाता है । महा० १ १, २२ तथा वाक्य २, ३७६ ।

अर्थविकास साधारणतया अज्ञातत्त्व से संस्कृति विकास के साथ होता रहता है । प्रथम जिन कारणों का उल्लेख किया गया है, उनके द्वारा अर्थविकास

अष्टक रूप से होता रहता है, परन्तु कुछ अर्थों का विकास ऐच्छिक भी होता है। प्रसिद्ध जर्मन भाषा विरोप्ल हर्मनपाइल का मत है कि अर्थों में परिवर्तन अष्टक रूप से होता रहता है। ऐच्छिक प्रयत्न के द्वारा भी अर्थ विकास का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि (पृष्ठ १२) व्यक्तिविरोप के ऐच्छिक प्रयत्न के कारण भी अर्थ परिवर्तन होता है। विज्ञान साहित्य और वाणिज्य की पारिभाषिक शब्दावली उपाम्भावों, अन्वेषकों और आविष्कारकों द्वारा ही स्थिर और समृद्ध की गई है।

मानव-सुलभ स्तलन और अर्थविकास

भर्तृहरि का कथन है कि मनुष्य तत्त्वदर्शी नहीं है, अपितु अल्पज्ञ है। मनुष्य का ज्ञान त्रुटिपूर्ण है। उसका कथन भी उसी प्रकार अपूर्ण है और त्रुटि युक्त है। अतएव मानवज्ञान और बचन त्रुटि युक्त, अल्पव्यस्त और दोषपूर्ण है।

तस्मादष्टकप्रवामा सापयार्थं बहुचक्षुसम्।

दर्शनं पक्षम चापि नित्यमेवानवगम्यितम् ॥

पाण्य० २, १४०।

अर्थियों और महर्षियों का ज्ञान कुछ अर्थ तक व्यवस्थित और त्रुटिरहित होता है। परन्तु सांसारिक व्यवहार जनक ज्ञान के आधार पर नहीं चलता। वक्तव्य ज्ञान शब्दगति का विषय नहीं है। पाण्य २, १४१।

भर्तृहरि का मत है कि जहाँ तक सांसारिक व्यवहार, वस्तुनिष्पत्त, मापण, वार्तालाप आदि का सम्बन्ध है, बालक और पशु समान ही हैं। अपि महर्षि भी व्यापहारिक अवस्था में वही त्रुटियाँ करते हैं, जोकि बालक करते हैं। पुत्रराज, पाण्य० २, पृ ४१ तथा अ० ३ पृ० १२४।

अतएव अज्ञान, त्रुटियुक्त स्मरणशक्ति, अस्पष्टबोध, मिथ्याज्ञान, अशुद्धप्रयोग, प्रमाद और आलस्य के कारण शब्दों के अर्थों में अन्तर पड़ जाता है। वही पदमूल होन पर अनुसार्थक व्यवहार ज्ञान लगता है। भर्तृहरि इसी का स्पष्ट करते हुए लिखते हैं ज्ञान आलेख्य (विषयवस्तु बोध, प्रसाद आदि) के कारण अशुद्ध हो जाता है और इस प्रकार से अर्थ भी अपने स्वरूप से दूर चला जाता है। वही अर्थविकास है।

यथा च ज्ञानमालेख्याशुद्धौ व्यवतिष्ठते।

तथाप्यध्ववानथ स्वरूपाद् विमहृष्यते ॥

पाण्य० ३ पृ० १-६।

हेनाराज न हमची व्याख्या में लिखा है कि प्रमाद आदि एक कारण जन शब्दों का अर्थ वेना ही समझ जाता है और वेना ही प्रयोग किया जाता है, इस प्रकार वह अर्थ व्यापहारिक हो जाता है। हेनाराज।

मनु हरि ने यह भी लिखा है कि यह विपर्यय अर्थ में ही नहीं होता, अपितु राज्य, धन और ज्ञान चीजों में होता है।

एवमर्थस्य राज्यस्य ज्ञानस्य च विपर्यये।

मावामायावभेदन व्यवहारानुपातिनी ॥

घाष्य का० ३ पृ० १२९।

इस राज्य अर्थ और ज्ञान के विपर्यय का ही फल है कि राज्यशास्त्र में अर्थ परिवर्तन अर्थविक्रम और अर्थभेद होता रहता है। मनु हरि ने इस विपर्यय का इस प्रकार से विशेष विस्तार से विवेचन किया है।

वैद्यनाथ ने महाभाष्य की छाया टीका में इसको अनृत नाम से बोधित करते हुए लिखा है कि—

द्विविधममृतम् अर्थानृतं राज्यानृतं च। महा आ १।

राज्य और अर्थ दो प्रकार का असत्य है। राज्यों का अशुद्ध प्रयोग, अशुद्ध व्यवहार और अर्थ का अशुद्ध अर्थ में प्रयोग और व्यवहार।

जैमिनि ने मीमांसा दर्शन में त्रुटियुक्त प्रयोग के कारण की मीमांसा करते हुए लिखा है कि राज्य का प्रयोग प्रयत्नपूर्वक होता है, और प्रयत्नसाम्य। कार्य में त्रुटि होना स्वामाविक है, जैसे कि कोई व्यक्ति प्रयत्न करता है कि कूकुर शुष्क स्थल पर गिर, परन्तु वह कीचड़ में गिर पड़ता है। इसी प्रकार प्रयत्न साम्य होने के कारण अशुद्ध प्रयोग भी होता है।

राज्ये प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य मागित्वम्। मीमांसा० १,३,२५।

पतञ्जलि ने शुद्ध और अशुद्ध प्रयोग में पुण्य और पाप की व्यवस्था करके अन्तर बताया है। अशुद्ध प्रयोग के द्वारा अर्थभोग होता ही है। अतएव रावर स्वामी ने कहा है कि राज्यों का प्रयोग अर्थभोग के लिए किया जाता है, धर्म के लिए नहीं। मनुपा० पृ ८३।

लोकाव्यवहार में प्रयोग के समय धर्म की चिन्ता नहीं की जाती है, अतएव अशुद्ध प्रयोग भी किए जाते हैं। यह प्रयोग ही व्यवहारिक होने पर वर्धमतिपादक हो जाते हैं।

पतञ्जलि ने त्रुटिपूर्ण प्रयोग से किस प्रकार अर्थविक्रम हो जाता है इसके कुछ उदाहरण भी दिए हैं। प्रमाण अर्थ के बोधन के लिए इयत्, इम और मात्रप्रत्यय होते हैं और इनका राज्य के साथ प्रयोग होना चाहिए। यथा चरुम्, चरुमात्रम्, परन्तु इन प्रत्ययों का राज्यों से पूषक् भी प्रमाण अर्थ के बोध के लिए भी प्रयोग होने लगा। “किमस्यद्वयसम्, किमस्य मात्रम्” (इसका क्या परियाम है)। महा ३ १, २।

कियट ने लिखा है कि पूषक अर्थ में राज्य के साथ त्रिवीराज्य का प्रयोग होता था। यथा, बहुविधी (बहुव से), परन्तु भ्रम से इसमें त्रिवि राज्य को वैदिक

एक भी इसका प्रयोग प्रचलित हो गया और "काष्ठविधी" (आज क्या विधी है), कहा जाने लगा। विधिशब्द का स्त्रीप्रत्ययों "विधी" प्रयोग हुआ है।
कियट, महा० ३, १, २।

गुप्त काल के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि बधि और मुधि शब्द बहुलपक्ष विषस (कृष्णपक्ष का विषस) और शुक्लपक्ष विषस (शुक्लपक्ष का विषस) शब्दों के संज्ञित प्रथमाक्षर हैं, परन्तु भ्रम से इनको पूर्ण शब्द माना जाता है।

प्रसिद्ध दार्शनिक धाक का कथन है कि मनुष्य वास्तविकता से ही इस बात का अभ्यस्त हो जाता है कि वह शब्दों का पूर्ण अर्थ जाने बिना भी अनामास जो शब्द सीखे जाते हैं उनको सीखता है और प्रयुक्त करता है। वह जीवन भर ऐसा ही करता रहता है। इसी प्रकार मनुष्य अपने समीपियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों को सीखता है और उन शब्दों के निश्चित अर्थ के जानने का प्रयत्न न करके, जैसा प्रयोग के आधार पर हुआ अर्थ समझता है, उसी अर्थ में विरवास पूर्वक प्रयोग करता रहता है।

ब्रह्म अपनी बुद्धि के अनुसार शब्द का प्रयोग करता है और श्रोता अपनी बुद्धि के अनुसार उसका अर्थ समझता है। इस प्रकार कहीं अर्थ का विस्तार होता है और कहीं अर्थ का संकोच।

आलंकारिक तथा व्यङ्ग्य प्रयोग और अर्थ-विकास

शब्दशास्त्रि अभ्यास में कतिपय प्रयोगों द्वारा यह धरताया गया है कि शब्द जब आलंकारिक या व्यङ्ग्य रूप में प्रयुक्त किया जाता है तो वह अपने मुख्यार्थ का बोध नहीं कराता अतएव आलंकारिक और व्यङ्ग्य प्रयोगों में मुख्यार्थ की अवहेलना की जाती है। व्यङ्ग्य प्रयोगों में उस शब्द या वाक्य का सर्वथा विपरीत अर्थ लिया जाता है, मनु हरि ने अतएव कहा है कि व्यङ्ग्य प्रयोगों में जो अर्थ शब्दों द्वारा प्रतीत होता है, वह अर्थ वास्तविक नहीं होता है। स्तुतिसूचक वाक्य का अर्थ निन्दा होती है और निन्दासूचक का अर्थ स्तुति। वाक्य २, २४६।

आलंकारिक एवं व्यङ्ग्य प्रयोगों से शब्दार्थ में विरोध विकास लक्ष्य होता है।

प्रकरणभेद आदि स अर्थभेद

मनु हरि ने लिखा है कि वाक्य, प्रकरण, अर्थ, औचित्य, देश और काल से शब्दों के अर्थों में भेद हो जाता है। वाक्य० २, ३१६।

एक ही शब्द का विभिन्न वाक्यों, विभिन्न प्रकरणों आदि में कुछ विभिन्नता को सते हुए प्रयोग किया जाता है इस प्रकार से एक ही शब्द के अर्थों में भेद हो जाता है। इन कारणों के द्वारा अर्थभेद से शब्द नानायक रूमे हो जाते हैं, इसके विषय में पतञ्जलि न पाणिनि के सूत्रों (अष्टा १, ३, १४ म ३५) की व्याख्या में स्पष्ट किया है कि प्रकरणभेद से पाठुओं आदि के अर्थों में परिवर्तन हो

जाता है। यथा, 'आवित्यमुपविष्टते' (आविष्म की अपासना करता है) 'रमिन्नमुपविष्टते' (रमिकों का साथ करता है), 'महामात्रानुपविष्टते' (महामात्रों से मित्रता करता है), 'गंगा यमुनामुपविष्टते' (गंगा यमुना से मिलती है), 'अयं पन्थाञ्जुषन्मुपविष्टते' (यह मार्ग आगरा को जाता है)। एक ही धातु का प्रकरण भेद से अर्थभेद हुआ है।

औचित्य के कारण अर्थभेद होता है, यथा, 'परदाराम् प्रकुर्यते' (पर स्त्रियों में गमन करता है), गाथा प्रकुर्यते (गाथा सुनाता है) 'जनापवाषाम् प्रकुर्यते' (जनापवाद फैलाता है), 'शतं प्रकुर्यते' (१०० रुपये धमार्थ जगाता है)। औचित्य के कारण कृ धातु के अर्थों में भेद है। अण् १, ३, ३ ।

वेशाभेद से अर्थभेद हो जाता है। यास्क और पाणिनि ने उदाहरण दिया है कि शब् धातु का कम्बोज वृक्ष के व्यक्ति गम् धातु अर्थान् जाना के अर्थ में प्रयोग करते हैं और आर्य लोग इसका देहावसान क अर्थ में प्रयोग करते हैं। यथा शब् (महा० आ० १, तथा निरुक्त २, २)। जयन्त ने स्यायमंजरी (पृ २२२) में लिखा है कि वाङ्मयात्मवत्स्वरबाधक और शब्द क ओदन मात के अर्थ में प्रयोग करते हैं।

एक ही भाषा के शब्दों में वेश से अर्थभेद हो जाता है। यदि विभिन्न भाषाओं का संग्रह करें तो वेशाभेद से अर्थभेद बहुत व्यापक हो जाता है। अन्य वेश की भाषाओं का मौलिक अन्तर है अतः उसे केवल ध्वनि साम्य कह सकते हैं। संस्कृत में 'ना' का अर्थ है नहीं किन्तु चीनी भाषा में ना का अर्थ है 'वह' और रूसी भाषा में इसका अर्थ है 'पर या ऊपर'। संस्कृत में पा' धातु का अर्थ है, पीना या रक्षा करना, परन्तु चीनी भाषा में 'पा' संख्या है, इसका अर्थ है आठ। संस्कृत में 'नाक स्वर्ग' है और चीनी में 'वह'। जर्मन, इंग्लिश, ग्रीक लैटिन और रूसी आदि आर्य परिवार की भाषाओं में संस्कृत के शब्दों का कुछ ध्वनि परिवर्तन के साथ बहुत से शब्दों में अर्थ साम्य है। चीनी भाषा के शब्दों से संस्कृत शब्दों का अर्थ साम्य सबका नहीं है।

फलभेद से अर्थों में भेद हो जाता है। वैदिक और संस्कृत साहित्य की तुलना से इसके अनेकों उदाहरण मिलते हैं। वेद में अहि और पर्वत शब्द का अर्थ भेद भी है, परन्तु बाद में इनका अर्थ फलसत्प और पहाड़ रह गया है। वेद में सह धातु का अर्थ है "जयकरन" परन्तु संस्कृत साहित्य में इसका अर्थ "सहन करना" हो गया है, वेद में "नरयर" धातु का अर्थ है "प्राप्त करना" काम होना परन्तु उमका अर्थ नष्ट करना या नष्ट होना हो गया।

मरु हरि ने अक्षयामेव से भी शक्ति होना लिखा है।

अवम्यादेशकालानां भेदाद् भिन्नास्तु शक्तिषु ॥

मनुष्य की अवस्था के भेद से वाक्यावस्था, युवा और वृद्धावस्था में उसके ज्ञान में बहुत अधिक अन्तर पड़ जाता है। वाक्यावस्था में उसे सूक्ष्म तत्त्वों का अर्थ कुछ ज्ञात होता है, परन्तु बुढ़ावस्था में शास्त्राध्ययन से इन तत्त्वों का स्पष्ट ज्ञान होता है। कितने ही राष्ट्रों का अर्थ जो कि उस समय कुछ समझ था, वह आंगिक या पूर्णरूप से मिम हो जाता है।

राजनैतिक सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक अवस्था में भी अन्तर हो जाने से राष्ट्रों के अर्थों में अन्तर हो जाता है। प्रत्येक समय में राजनीति, समाज, धर्म आदि की अवस्था समान नहीं रहती है। समय परिवर्तन के साथ जनता अवस्थाओं में अन्तर आ जाता है। कितने ही राष्ट्रों का अर्थ जो पहले कुछ लिया जाता था, बाद में अवस्थाओं में अन्तर हो जाने से इनके अर्थ में परिवर्तन अवस्था के अनुसार ही अर्थभेद हो गया। पण्डित न इस प्रकार के अर्थपरिवर्तन एवं अर्थभेदों के उदाहरणों का भी उल्लेख किया है।

समास स अर्थभेद

पण्डित न कहा है कि समास में एक राष्ट्र परार्थ का भी बोध कराता है, अतएव उसमें वाक्य की अपेक्षा अर्थ में अन्तर हो जाता है। 'परार्थोपनिधानवृत्ति' महा (२, १, १)। मनुहरि ने अतएव कहा है कि वाक्य में पद पृथक्-पृथक् सामान्य अर्थ का बोध करते हैं परन्तु समास होने से वे विशेष अर्थ का बोध कराते हैं।

वृत्ती विशेषवृत्तित्वाद् भेदे सामान्यार्थावता । वाक्य० व० ३ पृ० ४६८ ।

समास होने पर "निष्क्रीशाम्बि" शब्द में निष्कृपसर्ग निष्कान्त का बोध कराता है, पृथक् होने पर ऐसा नहीं होता। समास होने से कितने ही शब्द जाति-विरोध के बाधक हो गए हैं। अतएव पण्डित न ने कहा है कि,

अस्यत्र विशेषो जात्यात्र सम्बन्धः क्रियते ।

समास और असमस्त में अर्थभेद का पर्यन करते हुए मनुहरि ने लिखा है कि—

भेदे सति निरादीनां क्रान्तापार्थेष्वसंभवा ।

माग्युशोर्जातिवाचित्वं न च गौरवरादिषु ॥

वाक्य० ३ पृ० ४६६ ।

ममाम होने "सेसभेनिष्क्रीशाम्बि" में त्रिभ प्रकार विशिष्ट अर्थ प्रतीत होता है, वसी प्रकार 'द्व्योदन' में द्वि शब्द द्विमिमित, "शुद्धपाना" में शुद्ध शब्द शुद्धमिमित, शाकपार्थी में शाक शब्द शाकीप्रिय का बोधक है। गौरवर, कृष्णसर्प लोहितरालि शब्द वर, सर्प, शालि की जातिविरोध का बाधक है। प्रत्येक कान्ते सर्पको कृष्णसर्प नहीं कह सकते। समास में समुदाय का अर्थ प्रधान होता है और नहीं लिया जाता है। पद का अर्थ नहीं। अथ मनुहरि कहते हैं कि—

पादषाब्धो यथा नार्थं कश्चिद् गौरवराविष्णु ।
सत्यपि प्रत्ययेऽत्यन्त समुदाये न गम्यते ॥

भाष्य० २, २१८ ।

समस्त पद में पदार्थ कहीं पर इतना लुप्त हो जाता है कि उसका अर्थ सर्वथा लिया ही नहीं जाता है। यथा, ओदनपाकी शंङ्कुफली, शंङ्कुपुष्पी, वासीफली, बर्ममूली, गोवाली। ये सारे शब्द औपधियों के नाम हैं, अतएव मट्टोजिदीचिंत कहते हैं कि “औपधिविशेषे रूढा पठे” (अष्टा० ४, १ ६४) यह औपधियों के लिए रूढ हैं। मंडप में मंड (मांड) के पान का अर्थ नहीं रहता। समास का एक भेद एकरोप समास है। इसमें एक शब्द ही समास के कारण एक से अधिक का अर्थ बोध कराता है। इसका पाणिनि ने (अष्टा० १, २, ६५ से ७३) विस्तार से विवेचन किया है। यथा, “पितरौ” का अर्थ है माता पिता “भ्रातरौ” का अर्थ है भाई बहन, और “रत्नसुरौ” का अर्थ है साठ ससुर।

पाणिनि ने अलुक् समास (अष्टा ६, ३, १ से ३३) का भी बख्तेल किया है। इसमें समस्त पदों के सम्बन्ध विभक्ति का बोध नहीं होता है। समस्त होने से एक पद होते हैं और इनके अर्थों में अन्तर हो जाता है, पतञ्जलि ने बहुत से इसके उदाहरण दिए हैं। यथा, अप्सुचर (अलप्रभु), गोपुचर (कुक्कुट), वर्षासुत्र (इन्द्रगोप, एककीट), सरसिज (कमल), स्वप्नेरम (हाथी), कर्णेजप (सूचक पुगलबोर), परयसोहर (स्वर्णकार), देवानांप्रिय (मूर्त्ति), कट्टेकाल (शिय), परस्मैपद् आत्मपनेद, युधिष्ठिर, वास्यापुत्र (एक गाँधी है) इनमें कहीं पर क्रम और कहीं बहुत अधिक अर्थों में अन्तर पड़ गया है।

उपसर्ग-संयोग से अर्थभेद

शक ने उपसर्गों से अर्थभेद की आज करते हुए शाकटायन और गार्ग्य का मत लिखा है कि उपसर्गों के संयोग से शब्द और धातुओं के अर्थ में अन्तर पड़ जाता है। (निरुक्त० १, ३)। शक और यजु प्रातिशाक्य ने लिखा है कि—

उपसर्गो विशेषकत् । यजु प्रातिशाक्य ८ ५४ तथा शक प्राति० १२, २५ ।

उपसर्ग अर्थ में विशेषता उत्पन्न कर देता है। वैकट माधव ने भी उपसर्गों के द्वारा अर्थभेद का अपने श्रृंग्णेषु के माध्य में (अष्टक ३, ७) बर्णन किया है।

शकटायन और पतञ्जलि कहते हैं कि “क्रियाविशेषक उपसर्ग” (महा० १, ३, १) अर्थात् उपसर्ग धातुवर्ध में विशेषता के आभायक हैं। उपसर्ग के संयोग से शब्दों और धातुओं के अर्थ में महान् अन्तर पड़ जाता है, एक ही शब्द अपने बिरुद्ध अर्थ का भी बोध कराने लगता है। मट्टोजिदीचिंत न इसके उदाहरण देते हुए लिखा है कि—

उपसर्गेषु धातुवर्धो धत्ताद्यम्यत्र भीयते ।

महाराहारसहारविहारमतिहारवत् ॥

सिद्धान्त० ८, ४, १८ ।

उपसर्ग के द्वारा धातु का अर्थ बहुत दूर जाता जाता है। यथा, 'हृ' धातु का अर्थ है 'हृण्य' परन्तु उपसर्गों के कारण इसी का अर्थ प्रहार, आहार, संहार, विहार, प्रतिहार, आदि हो जाता है। 'स्वा' धातु का अर्थ है रुकना, परन्तु मस्थान में इसका अर्थ विपरीत है 'प्रस्थान करना इसी के इत्थान, संस्थान, अनुष्ठान, निष्ठान, निष्ठा, में भिन्न अर्थ हैं। 'ईच्' धातु क प्रेषण, निरीक्षण, परीक्षण, समीक्षण, अन्वीक्षण, आदि में अर्थ भिन्न हैं। आकार, प्रकार विचार, उपकार, अनुकरण, संस्कार, संस्करण, सब विभिन्न अर्थों के बोधक शब्द 'कृ' धातु क ही हैं। विजय और पराजय क्रि' धातु से भिन्नार्थक शब्द हैं। प्रत्येक धातु के अर्थों में उपसर्गों के लगाने से अन्तर पड़ जाता है। पठञ्जलि न इस प्रकार के पठ्ठ से उदाहरण (अष्टा० १, ३, १७ से १३) सूत्रों की व्याख्या में दिए हैं।

उपसर्ग के संयोग से धातु अकर्मक के स्थान पर सकर्मक भी हो जाती है।

अकर्मका अपि वै तोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति । महा० १. १ ४३ ।

यथा, 'भवति' अकर्मक है और 'अनुभवति' (अनुभवनुभवति) सकर्मक है।

वाच्य भेद स अर्थभेद

वाच्यभेद से धातुओं के अर्थों में अन्तर हो जाता है। यथा 'द्विनति काष्ठम्' और "द्विघते काष्ठम्" में वाच्यभेद से द्विद् धातु का अर्थ काटना और दूसरे में फटना अर्थ हो जाता है। इसी प्रकार भिद् धातु का टूटना और तोड़ना, पच् धातु का पकना और पकाना अर्थ होता है। भिनति काष्ठम्, भिघते काष्ठम्, पचति ओदनम्, पच्यते ओदनम्, पठञ्जलि न इसका 'कर्मणश्च फर्मणा तुल्यक्रियः' (महा० ३, १, ८७) सूत्र का व्याख्या में विशेष विचार किया है।

भतृ'हरि ने कहा है कि पच आदि धातु स्वार्थ का भी बोध कराती हैं। कहीं पर कतृ वाच्य प्रयोग होता है और कहीं कर्मवाच्य। वाक्य० का० ३ पृ० ४१६।

भतृ'हरि का मत है कि ज्ञानों अर्थों (पकना, पकाना) में अन्तरहोन के कारण दोनों प्रयोगों में पच् धातु को समानार्थक नहीं मानना चाहिए। वाक्य० का० ३ पृ० ४२१।

एक ही धातु में इस प्रकार वाच्यभेद से अर्थभेद हो जाता है। धातु में इस प्रकार के अर्थभेद का ज्ञान किया क समीपस्थ पद् स होता है।

अत्र रूपपदेनायमर्थभेदा प्रतीयत । वाक्य० ३ पृ० २८ ।

भतृ'हरि ने कुछ भास प्रयोगों का उल्लेख किया है, जिनमें शिबन्त का प्रयोग किम् बिना ही अन्तर्भावित स्वार्थ मानकर धातुओं का प्रयोग किया गया है और स्वार्थ का बोध कराया गया है। (वाक्य० ३ पृ० ४१८)। 'त्वात्मानं प्रीणीष्व' 'धिरामभ्रुवपते' 'अत्रेणा पत्नी रेता पचे' आदि भास प्रयोग हैं, इनमें प्रीणीष्व आदि का शिबन्त में प्रयोग किया है।

पामिनि न पेश पठ्ठ से तपसो का संबद् किया है जहाँ पर पशो अर्थात् आत्म

नेपथ और परस्त्रीपद् के अन्तर से अर्थों में अन्तर पड़ जाता है। महोच्चिदीशित ने इन सूत्रों को आत्मनेपद् और परस्त्रीपद् प्रक्रिया में संमद्ध कर दिया है। अष्टा १, ३, १३ से ६३।

मयू हरि ने ऐसे अर्थभेद को उपग्रह नाम सम्बोधित किया है और कहा है कि आत्मनेपद् और परस्त्रीपद् के भेद से अर्थभेद होता है। वाक्य ३ पृ ४१५।

इतके कुछ उदाहरण बहुत प्रचलित हैं। यथा, मुञ्ज् बाहु आत्मनेपदी का अर्थ है मोक्षण करना और परस्त्रीपदी का रक्षा करना, ओदनं मुञ्ज (मात खाता है), और राजा नहीं मुनक्ति (राजा पृथिवी की रक्षा करता है)।

लिंगभेद से अर्थभेद,

मयू हरि ने लिंगभेद से अर्थभेद का होना बताया है। मयू हरि का कथन है कि जिस प्रकार स्वरभेद से अर्थभेद होता है, वही प्रकार लिंगभेद से भी अर्थभेद होता है।

स्वरभेदाद्यथा शब्दा साधवो विषयान्तरे।

लिंगभेदात् तथा सिद्धात् साधुत्वमनुगम्यते, ॥ वाक्य० ३, पृ० ४४१।

पठञ्जलि ने इस अर्थभेद का उदाहरण दिया है कि अर्ध शब्द नपुंसकलिंग में समप्रविभाग वाचक है और पुल्लिंग में अवयववाची है। महा २, २, २।

इसी प्रकार बृहवाची शब्द पुल्लिंग होने पर बृह के वाचक होते हैं और नपुंसकलिंग होने पर फल के, यथा पीलुषु च, पीलु फलम् आश्रः, आश्रम्, महा ७, १, ७६

हेकाराज ने इसके उदाहरण देते हुए लिखा है कि नपुंसकलिंग सार शब्द का अर्थ है न्यायसंगत यथा, "नैतत् सारम्" और पुल्लिंग का अर्थ है उत्कर्ष या सारभाग, यथा चन्दनसार, लहिरसार। पदम और रास शब्द क्रमल के अर्थ में नपुंसक हैं और निधि के अर्थ में पुल्लिंग। लिंगभेद से अर्थभेद कहीं-कहीं पर इतना अधिक है कि उनका सवधा विभिन्न शब्द के तुल्य ही प्रयोग होता है। निम्नराश्यों में इसी अर्थभेद की तुलना कीजिए।

लक्षणाः, लक्षणा लक्षणा। व्यञ्जना, व्यञ्जना, अभिषा, अभिषा। मित्र मित्रम्। राम, रामा, अभिरामम्। वाम, वामा, वप्या, वप्या, वप्यम्। अनुतः, अनुतम् अनुनी। श्याम, श्यामा। पाप पापम्। धमः, धर्मम्। सूर्वा, सूरी, सूर्य।

पुल्लिंग शब्दों का साधारणतया स्त्रीलिंगमें स्त्री अर्थ होता है, यथा प्राण्य, प्राण्यी चत्रिय, चत्रिया, अन्य स्त्रियों पर स्त्रीलिंग के द्वारा इस्त्वता का घोटन करया जाता है, यथा, कुनी अरबका, आदि। परन्तु पठञ्जलि ने कुछ ऐसे स्थलों का भी निर्देश किया है जहाँ स्त्रीलिंग से महत्ता का बोध होता है। यथा, महद्दिम शिमानी, महद् अरबयम् अरबयानी। यह शब्द से स्त्रीलिंग यवानी का अर्थ हो जाता है दुष्टयव। यवनानी यवनों की स्त्रियों का बोधक है। महा० ४, १, ४६।

पाणिनि ने ऐसे स्थलों का भी समग्र किया है, जहाँ पर एक लिंग के शब्दों का ही प्रत्यय में बोझा अन्तर होने से अर्थभेद होता है। स्त्री प्रत्यय में जीप् जीप् और टाप् के अन्तर से अर्थभेद के बहुत से उदाहरण दिये गए हैं। यथा आचार्या (स्वर्ण शिक्षिका), आचार्याणी (आचार्य की धर्मपत्नी), पाणिगृहीठी (भार्या) पाणिगृहीथा (कोई भी स्त्री जिसका हाथ पकड़ा हो)। इसी प्रकार 'जानपद' (अध्या० ४, १, ४२) सूत्र में कुण्डी, कुण्डी, गोष्ठी गोष्ठा, कसुकी कसुका, नीली नीला, मागी नागा, भागी भाजा आदि शब्दों में अन्तर बघाया गया है।

स्वरभेद स अर्थभेद

पाणिनि ने लिखा है कि स्वर या वर्ण के भेद से शब्द के अर्थ में भेद ही नहीं अस्तित्व अर्थ का अनर्थ हो जाता है। स्वरभेद से वह शब्द उस अर्थ का योपक नहीं रहता।

बुध्ः शब्द स्वरतो वर्णतो वा, इत्यादि । महा० आ० १ ।

वृत्र ने इन्द्र के नारायण अभिचारयज्ञ कराया। वसमें "इन्द्रशत्रुर्बर्ष" में वल्लुह्य समास द्वारा इन्द्रशत्रु शब्द अन्तोदात्त अस्तिञ् को पढ़ना चाहिए था। परन्तु उसने बहुव्रीहि समास साम्य आद्युदात्त पढ़ दिया, इससे वृत्त का इन्द्र को मारने के स्थान पर वृत्र ही मुख्य का पात्र बना। यह केवल स्वर के अन्तर का फल था।

संस्कृत साहित्य में स्वरों का उपयोग नहीं किया जाता है, अतः स्वरभेद से अर्थभेद के उदाहरण वहाँ नहीं मिलते। वैदिक साहित्य में स्वरज्ञान का बहुत ही अधिक महत्त्व है। मन्त्र का ठीक ठीक अर्थ जानने के लिए स्वर का ज्ञान आवश्यक है। स्वर के आधार पर वेद में कितने ही स्थानों पर अर्थ निर्णय में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त होती है। अतएव ऋक्सामिशाख्य का कथन है कि वेदान्वायी को स्वर आदि का ज्ञान आवश्यक है। मन्त्राय ज्ञान के लिए स्वरदि का सदा ध्यान रखें।

सरो वल्लोऽह्वरं माभा देवं धागार्धमिव च ।

मन्त्र जिघ्रासमामत्र वेदितव्यं पद पदे ॥

ऋक्सामिशाख्य पू० ३४ ।

इसमें स्वर को मुख्यता ही गई है। एक स्थान पर अन्यत्र भी कहा है कि उदात्त अनुदात्त आदि स्वरों का ज्ञान वेदान्वायी के लिए आवश्यक है। ऋक्सामि० पू० १४।

गुणयजुः प्रातिशाख्य का कथन है कि लौकिक संस्कृत की अपवा वेद में स्वर भी विरोधता है। अतएव उत्तम नियम सिखा गया है।

स्वरसंस्कारयोश्चन्द्रसि नियमः । गुणयजुः० प्राति० पू० १ ।

मन्त्र में यदि स्वर या बण की बोझी भी उच्चारण में त्रुटि होने से न केवल कार्य की घटि होती है अपितु वह विममारक होकर पाप का कारण होता है।

मन्त्रस्तु यदि मनागपि स्वरतो वर्धतो वा होनो भवति न केवलं कर्मात्मवृत्तिः किन्तुहिं पुरिष्टहेतुः प्रत्यवायाः स्यात् । शुक्लयजु ० प्राति० पृ ३ ।

अथर्वप्रातिशास्य का क्यन है कि वेद के पढ़ाठ का उपयोग भी यही है कि उसके द्वारा स्वर, अर्थ आदि का ठीक ज्ञान हो जाया है।

पदाध्ययनमस्तादि शब्दस्वरार्थज्ञानार्थम् । अथर्वप्राति० पृ० २३४ ।

वैकटमाश्रय न सिन्ना है कि प्रकृति या प्रत्यय में जहाँ स्वर ठीक ठीक प्राप्त होता है, वहाँ मन्त्र का अर्थ वदनुसार करे। ऐसे भी स्थल हैं, जहाँ पर कि पढ़कारों ने पक्कधेन नहीं किया है, उन स्थलों का भी अर्थ निर्याय स्वर के आधार पर ही करे। यदि शब्द का अर्थ बही होगा तो स्वर भी वही होगा, परन्तु यदि स्वर में अन्तर हा तो उसका वदनुसार अस्यया ही अर्थ करे। अथर्वभाष्य, अष्टक १, ४ से ५ ।

पाणिनि ने स्वर विषयक छिन नियमों का बस्तेक किया है, इनके कतिपय उदाहरण जिनमें स्वरभेद से अर्थभेद है, निम्न हैं—इसाराश ने अक्ष शब्द का उदाहरण देते हुए लिखा है कि 'अक्षस्यादेवस्य' के नियमानुसार शटक पुरायाची अक्ष शब्द आघुवाच है, और देवनाशवाची अक्ष अन्तोदात्त है। वाक्य (का० ३ पृ० ४४१) । 'रक्षस्' शब्द आघुवाच का अर्थ है 'राक्षसी कृत्स्व' और अन्तोदात्त का उदात्त वातु शब्द आघुवाच का अर्थ है 'बैता' और अन्तोदात्त का 'दाता'। वृन् और वृच् प्रत्यय द्वारा पाणिनि ने इन दोनों शब्दों में अन्तर किया है। 'सद् मन्' आघुवाच का अर्थ है 'बैठने का स्थान' और अन्तोदात्त 'बैठने वासा'। 'व्येष्टाकनिष्ठयोर्बभसि (अन्तव्वाक्त)' नियम से व्येष्ट और कनिष्ठ शब्दों के दोनों अर्थों में अन्तर किया गया है। आघुवाच व्येष्ट और कनिष्ठ का है। (सबसे बड़ा, और सबसे छोटा), परन्तु अन्तोदात्त का अर्थ है (सबसे बड़ा माई और सबसे छोटा माई)। 'अमित्र' शब्द वृद्धीहि समास से अन्तोदात्त का अर्थ है, 'मित्ररहित' परन्तु वस्तुथय से 'मि उवाच होने पर इसका अर्थ है 'रात्रु'। अपम् आघुवाच का अर्थ है 'कार्य' और अन्तोदात्त का 'क्रियाशील'। पाणिनि ने अप्य्य प्यायी के अन्तिमसूत्र 'अ अ' द्वारा विभूत के स्थान पर संपूव करके अर्थभेद प्रदर्शित किया है।

अर्थ की अस्पष्टता और अर्थभेद

यास्क ने बहुत से ऐसे वैदिक शब्दों का संग्रह किया है, जिनका वास्तविक अर्थ अज्ञात हो गया था और उन शब्दों के अर्थों के विषय में विद्वानों में मतभेद हो गया था, कोई उसका कुछ अर्थ लेता था, कोई कुछ। इस प्रकार इन शब्दों के एक से अधिक अर्थ विभिन्न शाखाओं में प्रचलित हो गये। यास्क ने

कौत्स का बचन लिखा है कि पटुव से मन्त्रों के अर्थ व्युत्पन्न हैं, यथा, अम्यक्, माहस्मिन्, जाग्यायि, काणुक्, (निरुक्त० १, १५) । पतञ्जलि न (महा २, १, १) में लिखा है कि जर्मरी (भरणकर्ता), दुर्गरीत् (हनन करने वाला) आदि शब्दों का अर्थ ज्ञात नहीं होता है । वाक ने निरुक्त (अध्याय २, ८ और १२) में लिखा है कि वृत्र का अर्थ निरुक्तकर मेष मानते हैं और पतिहासिक स्वप्न का पुत्र एक राक्षस । अरिक्नी का अर्थ कोई यावावृषिवी मानते हैं कोई अहोरात्र, कोई सूर्यचन्द्र, कोई वो पश्चिमात्मा राजा । नगधंस का अर्थ कात्स्यय मानते हैं वही आर शाकपूषि अभि ।

आगम आदि स अर्थ में अमद् — पतञ्जलि न बदाहरणों द्वारा प्रशंसित किया है कि आगम, आदेश, द्वित्व, स्निग्धेद, प्वनि के होने पर भी बहुत स्थलों पर अर्थ में परिवर्तन नहीं होता । (महा० १, १, १६) । आगम उसी के अगमूत हो जाते हैं, अथ अर्थ परिवर्तन नहीं होता । स्वायिक प्रत्ययों के लिए लिखा है कि स्वायिक प्रत्ययों स अर्थभेद नहीं होता है । यथा, देवदत्तक, अरवक (महा० १, १, २६) । प्वनिभेद से भी कितने स्थानों पर अर्थभेद नहीं होता । (महा० १, १, ५५) । बलु प्रातिशाक्य न (पू० ४१४ से ४२६) कतिपय नियमों का उल्लेख किया है कि मन्त्रों में किन् स्थानों पर व को ष, र को रे, ऋ को र्, ए को ल् और म को ग्बक् बोधना चाहिये ।

प्रातिशाक्यप्रदीप शिक्षा में (पू० ३००) लिखा है कि इस प्रकार के उच्चारण से अर्थभेद नहीं होता है । 'अथयिचारे तु मकृत्वा ये बर्णा, त एष, न स्वयं भेदः ।'

। मन्त्र में यदि स्वर या वर्ण की थोड़ी भी उच्चारण में भ्रुति होने से न केवल कार्य की त्रुटि होती है अपितु यह विप्रमार्क होकर पाप का कारण होता है।

मन्त्रस्तु यदि मनागपि स्वरतो वर्णतो वा हीनो भवति न केवलं कर्मात्ममुक्तिं किन्तार्हिं दुरिष्टहेतुः प्रत्यवायाः स्यात् । शुक्लपञ्च० प्राति० पृ ३ ।

अथर्वप्रातिशाख्य का कथन है कि वेद के पदपाठ का उपयोग भी यही है कि उसके द्वारा स्वर, अर्थ आदि का ठीक ज्ञान हो जाता है।

पदाध्ययनमस्तादि शब्दस्वरार्थज्ञानार्थम् । अथयप्राति० पृ० २३४ ।

ब्रह्मभाष्य ने लिखा है कि प्रकृति या प्रत्यय में जहाँ स्वर ठीक ठीक श्राव्य होता है, वहाँ मन्त्र का अर्थ तदनुसार करे। ऐसे भी स्थल हैं, जहाँ पर कि पदशरों न पदच्छेद नहीं किया है, उन स्थलों का भी अर्थ निर्णय स्वर के आधार पर ही करे। यदि शब्द का अर्थ वही होगा तो स्वर भी वही होगा परन्तु यदि स्वर में अन्तर हो तो उसके तदनुसार अन्वया ही अर्थ करे। ऋग्वेदभाष्य, अष्टक १, ४ से २ ।

पाणिनि ने स्वर विषयक जिन नियमों का उल्लेख किया है, उनके कतिपय उदाहरण जिनमें स्वरभेद से अर्थभेद है, निम्न हैं—हेलाराज ने अथ शब्द का उदाहरण करते हुए लिखा है कि 'अथस्वादेवस्म' के नियमानुसार शटक घुरायायी अथ शब्द आधुवाच है, और वेनारायायी अथ अन्तोदाच है। वाक्य (का० ३ पृ० ४४१) । 'रघस्' शब्द आधुवाच का अर्थ है 'राघसी कृत्स्व' और अन्तोदाच का उदास वातु शब्द आधुवाच का अर्थ है 'वेना' और अन्तोदाच का 'वाता'। तुन् आर वृष् प्रत्यय द्वारा पाणिनि ने इन दोनों शब्दों में अन्तर किया है। 'सद् मन्' आधुवाच का अर्थ है 'बैठने का स्थान' और अन्तोदाच 'बैठन वाञ्छा'। 'श्वेष्टाकनिष्ठयोर्बयसि (अन्तउदाच)' नियम से श्वेष्ठ और कनिष्ठ शब्दों के दोनों अर्थों में अन्तर किया गया है। आधुवाच श्वेष्ठ और कनिष्ठ का है। (सबसे बड़ा, आर सबसे छोटा), परन्तु अन्तोदाच का अर्थ है (सबसे बड़ा भाई और सबसे छोटा भाई)। 'अभिन्न' शब्द बहुव्रीहि समास से अन्तोदाच का अर्थ है, 'मिश्ररहित' परन्तु वल्लुहय से 'मि भवाच होने पर इसका अर्थ है 'शत्रु'। अपस् आधुवाच का अर्थ है 'कार्य' और अन्तोदाच का 'क्रियारहित'। पाणिनि ने अण्वप्यायी के अन्तिमसूत्र 'अ अ' द्वारा विद्वत् के स्थान पर संवृत करके अर्थभेद प्रदर्शित किया है।

अर्थ का अस्यष्टता और अर्थभेद

यास्क न बहुत से ऐसे वैदिक शब्दों का संग्रह किया है, जिनका वास्तविक अर्थ अज्ञात हो गया था और उन शब्दों के अर्थों के विषय में विद्वानों में मत भेद हो गया था, कोई उसका कुछ अर्थ लेता था, कोई कुछ। इस प्रकार उन शब्दों के एक से अधिक अर्थ विभिन्न शाखाओं में प्रचलित हो गए। यास्क ने

कौत्स का ध्यान लिखा है कि बहुत से मन्त्रों के अर्थ अस्पष्ट हैं, यथा, अन्पक्, यादस्मिन्, नारयायि काण्ठक, (निरुक्त० १, १५) । पतञ्जलि ने (महा २, १, १) में लिखा है कि जर्मरी (मरयुक्ता), गुर्परित् (हनन करने वाला) आदि शब्दों का अर्थ ज्ञात नहीं होता है । यास्क ने निरुक्त (अध्याय २, ८ और १२) में लिखा है कि पुत्र का अर्थ निरुक्तकार मेष मानते हैं और ऐतिहासिक त्वष्टा का पुत्र एक राक्षस । अरिषनी का अर्थ कोई धावापृथिवी मानते हैं कोई अहो-रात्र, कोई सूर्यपन्त्र, कोई वो पवित्रात्मा रामा । नरारांस का अर्थ कात्मन्व्य मानते हैं महे और शाकपूर्णि अग्नि ।

आगम आदि से अर्थ में अमद्—पतञ्जलि ने उदाहरणों द्वारा प्रदर्शित किया है कि आगम, आवेरा, द्वित्व, स्निग्मेद्, ध्वनि के होने पर भी बहुत स्थलों पर अर्थ में परिवर्तन नहीं होता । (महा० १, १, १६) । आगम वसी के अगमूत हो जाते हैं, अतः अर्थ परिवर्तन नहीं होता । स्वार्थिक प्रत्ययों के लिए लिखा है कि स्वार्थिक प्रत्ययों से अर्थभेद नहीं होता है । यथा, इवदत्तक, अरवक (महा० १, १, २६) । ध्वनिभेद से भी कितने स्थानों पर अर्थभेद नहीं होता । (महा० १, १, ५५) । यजु प्राविशाख्य ने (पृ० ४१४ से ४२६) कतिपय नियमों का उल्लेख किया है कि मन्त्रों में किन स्थानों पर य को ज, र को रे, अ को ऐ, पू को ख और म को ग्बु बोलना चाहिए ।

प्राविशाख्यप्रवीप शिखा में (पृ० ३००) लिखा है कि इस प्रकार के उच्चारण से अर्थभेद नहीं होता है । 'अर्थविनारे तु प्रकृत्या ये अर्णाः, त एव, न स्वर्थ भेदः ।'

अध्याय—४

अर्थ-नियम के साधन

पदार्थों को नाम कैसे दिए जाते हैं—पहले अध्याय में यह बतलाने किया गया है कि एक शब्द एक ही अर्थ में रूढ़ नहीं है, एक से अधिक अर्थों का भी बोध एक शब्द द्वारा होता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि इस अव्यवस्था एवं अनिश्चितता में अर्थ का निर्यय किस प्रकार होता है। पतञ्जलि का सिद्धान्त यह है कि “अथगत्यर्थ” ‘शब्दप्रयोग” अर्थ बोधन के लिए शब्द का प्रयोग होता है। यदि यह अर्थबोधकता संदिग्ध हो जाय तो अर्थबोधन के लिए शब्दप्रयोग एक निश्चित साधन न हो सकेगा। अतः इस प्रकरण में इस विषय पर विचार किया गया है कि अर्थ की नानार्थकता एवं सदिग्धार्थकता होने पर भी वाक्य में प्रयुक्त शब्दों द्वारा किस प्रकार निश्चित अर्थ ज्ञात होता है और अर्थ बोधनार्थ शब्दप्रयोग एक सर्वोत्तमसाधन बना रहता है।

अर्थ निरपय के साधनों पर विस्तृत विवेचन से पूर्व यह ज्ञान आवश्यक है कि पदार्थों के नाम कैसे पड़ते हैं। नामकरण के प्रकरणों का ज्ञान अर्थनिरपय के साधनों पर विशेष प्रकाश डालता है। अतः प्रथम इसी विषय का अन्वेषण किया जाता है।

नामकरण के विषय में वेद और श्रुति आदि का मत

नामकरण का महत्त्व—श्रुग्वेद (१० ७१, १) का कथन है कि वाकराकित के विकास का सर्वप्रथम कार्य था, वस्तुओं का नामकरण। इसके द्वारा श्रुतियों ने सर्वश्रेष्ठ एवं निर्दोष ज्ञान जो कि अज्ञात और अप्रकट था, उसको ज्ञात और प्रकट किया। अतएव छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि “नामरूपे भ्याकरोत्” परमात्मा ने सबप्रथम वस्तुओं के नाम और स्वरूप का विभाजन किया है, जिससे यह ज्ञान प्राप्त हुआ कि किम वस्तु का क्या नाम है और प्रकटा क्या स्वरूप है। मनु हरि का कथन है कि इस समस्त ससार को एक सूत्र में बाँधने की शक्ति शब्दों में ही है। शब्द ही अर्थबोध का साधन है। यह शब्दशक्ति ही प्रतिमा के अनु रूप भिन्न होकर लोकायमहार करती है। (वाक्य० १, ११८)। प्रत्येक वस्तु का भिन्न-भिन्न नामकरण यह मानवीय प्रतिमा का ही फल है, शब्द ही एक सामय है जिसके द्वारा समस्त विचार, कर्माण, शिष्य आदि सब एक सूत्र में ओत-

प्रोत हैं। शब्दों के द्वारा ही ससार की समस्त वस्तुएँ हैं वस्तुओं में नामकरण द्वारा विभाजन किया जाता है। (वाक्य १, १२५) हरिवृषभ ने भर्तृहरि के उक्त श्लोक की व्याख्या में कहा है कि समस्त वस्तुएँ हैं वस्तुओं में जो कि समान आकारवाली हैं, रत्नरूप नामकरण के द्वारा ही विभेद किया जाता है। अथर्ववेद में इस भाव को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है कि बाष्पी (अर्थ) सरूप, बिरूप और एकरूप है, अग्नि उनके नामों को इष्टि (नामकरण) द्वारा जानता है।

याः सरूपा बिरूपा एकरूपा या सामाग्निरिष्ट्या नामानि वेद।

श्रृंग १०, १६१।

वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों में नाम किस प्रकार पढ़ते हैं, इस विषय पर पर्याप्त विवेचन है। वेदों में स्थान-स्थान पर संकेत किया गया है कि इस वस्तु का, यह नाम क्यों पड़ा है। ब्राह्मणग्रन्थों में यह विचार विशेष विस्तार से है। मुख्य भाव निम्न है :—

कार्य के अनुरूप नाम—(क) अर्थों के नाम उनके कार्य के अनुरूप पढ़ते हैं। मैत्रायणी संहिता में लिखा है कि अग्नि का नाम जातवेदस् इसलिए पड़ा क्योंकि उसने वृषभ होते ही पशुओं को प्राप्त किया। मैत्रायणीसंहिता (१, ८, २)। पेटरेव माहण (१, १६) ने भी इसका ऐसा ही वर्णन किया है। शतपथ ब्राह्मण (३, ३, १, ६८) ने इसके नामकरण का कारण लिखा है कि अग्नि को जातवेदस् इसलिए कहते हैं क्योंकि प्रत्येक वृषभ होने वाले जीव को यह प्राप्त होता है। वृत्र नाम इसलिए पड़ा क्योंकि उसने सब लोगों को घेर लिया। वैश्वि० सं० २, ४ (१२, २)। "वृत्र" नाम इसलिए पड़ा क्योंकि वह दहाता है वैश्विरीय सं० (१, ३, १, १)। शतपथ ब्राह्मण (८, १, १, ६) और छन्दोग (९, १४) इसी अर्थ को मानते हैं। परन्तु काठकसंहिता (२५, १) ने इसका कारण लिखा है कि वह रोता है, अथ दह हुआ।

एक अर्थ के लिए अनेक नाम—(ख) एक भाव को व्यक्त करने के लिए एक से अधिक नाम भी होते हैं। इसका कारण निम्न-निम्न व्यक्तियों का एक ही भाव को निम्न प्रकार से धोतन करना है। वेद ने इसको उदाहरण द्वारा समझाया है, जैसे अग्निज् वस्तुओं को दूसरे नाम से पुकारते हैं और कन्याएँ उनको दूसरे नामों से। श्रृंग १, १६१, ३।

एक के अनेक नाम—(ग) एक ही वस्तु के नाना नाम उनके विभिन्न गुणों के कारण पढ़ जाते हैं। यजुर्वेद (अ ८, ४३) में गौ के ११ नाम एक ही मन्त्र में बतलते हैं और स्पष्ट लिखा है कि ये ११ गौ के नाम हैं। यथा इवा इत्या, काम्या, सरस्वती मही, चन्द्रा, अदिति, अण्वा आदि। ये अर्थ स्पष्ट रूप से उसके विभिन्न गुणों का बोध कराते हैं। अथर्ववेद (१, १६४, २६) में लिखा है कि 'परमात्मा' एक है, उसी को विद्वान् लोग इन्द्र मित्र, वरुण, अग्नि, यम, वायु आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं।

पौगणिक नाम—(घ) व्यक्तियों के किस प्रकार निर्वचनान्तरक नाम पड़ते हैं इसका उदाहरण वेद में नाम उसका निर्वचन देकर निर्देश किया गया है। यथा, "पुत्रं हन्ति वृत्रहा शतक्रतुः" (यजु ३३, ६६) में इन्द्र को वृत्रहा क्यों कहते हैं इसका स्पष्टीकरण साम ही है कि वह वृत्र को मारता है। इसी प्रकार "यद्भवत्तत्पृथिवी" (काठक स० ८, २) में विस्तृत होने के कारण पृथिवी कहते हैं यह निर्देश है। विश्वामित्र नाम के विषय में (ऐतरेय ब्राह्मण ० २६, ४, १८) का कथन है कि वह सब के मित्र थे, अप्रथवा सब उनके मित्र थे। अतः विश्वामित्रनाम पड़ा। यास्क ने भी ऐसा ही इसका कारण बताया है। निरुक्त० २, २४।

नाम प्रवाह से आत हैं, ध्वन्यनुकरणात्मक नाम—(ङ) जैमिनि तथा शबर स्वामी न मीमांसा दर्शन पू० मी० (१, १ ३० से ३१) में नामों के विषय में विचार किया है और कुछ मुख्य भाषों की ओर निर्देश किया है। १, वस्तुओं के नाम प्रवाह से बने आ रहे हैं। सूर्यचन्द्रादिवत् राज्य और नाम प्रवाह रूप से नित्य हैं। इसके लिए वेद का मन्त्र "धाता यथा पूर्वमकलयत्" परमात्मा ने पूर्व सृष्टि के अनुसार ही सब वस्तुएँ निर्मित की हैं, यह ब्यपस्यत किया है। २, वस्तुओं के ध्वन्यनुकरणात्मक नाम पड़ जाते हैं। यथा, "बबरः प्रावाहाखिरकामयत्" बबरध्वनि के कारण वायु को बबर कहा गया है। ३, प्रवृत्ता के नाम से वस्तु का नाम पड़ जाता है। यथा, कठ और चरक अथि ने जिन मन्त्रों पर सूक्तों का प्रवृत्त किया है, वे सूक्त कठ और चरक कहलाने लगे।

नव शब्द निर्माण के लिए पूर्व संचित सामग्री का आधरण—(च) मनु ने निर्देश किया है कि समस्त नए आए हुए भाषों के लिए पूर्वसंचित सामग्री का आधरण किया जावे और उसी आधार पर नए भाषों के लिए पूरे शब्दकोष से शब्द लेकर उनके नाम ढाले जाते हैं। अतः मनु ने कहा है कि प्रारम्भ में जब प्रत्येक भाषों वस्तुओं आदि को नाम देने की आवश्यकता हुई तो वेद के शब्दों से ही नाम ढाले गए। यथा, व्यक्तियों को वैदिक व्यक्तियों के नाम, ऋषियों को ऋषियों के नाम और नदियों को नदियों के नाम इत्यादि।

सर्वेषां यानि नामानि कर्माणि च पूषक-पूषकः।

वैश्वन्त्रेभ्य एवादी पूषकः संस्पाश्च निर्मेते ॥ मनु० अ० १।

नामकरण के विषय में यास्क का सिद्धान्त

नाम का लक्षण—यास्क ने नाम का लक्षण करते हुए लिखा है कि नाम में सत्व (द्रव्य) की प्रधानता होती है। (निरुक्त० १, १)। मण्डूकि ने भी (पाक्ष्य० २, ३४६) द्रव्य की प्रधानता नाम की विशेषता मानी है (शुद्ध प्रातिशाप्य १२, ५), अथवा प्रातिशाप्य (४, १), आर यजु प्रातिशाप्य (८, ५५) ने संज्ञा का लक्षण किया है जिसके द्वारा सत्य (यस्य) का बोध कराया जाय।

शब्द से नामकरण में साधन

यास्क ने नाम के साधन के परभाव महत्त्वपूर्ण शब्दों में इस भाव को अभिव्यक्त किया है कि शब्द से ही संज्ञाएँ बन्यो की जाती हैं, संकेत या अन्य साधनों से बन्यो नहीं ? इसका उत्तर यास्क ने देते हुए लिखा है कि संसार में व्यवहारार्थ शब्द के द्वारा ही संज्ञाएँ की जाती हैं, क्योंकि शब्द व्यापक और अणुतर है। निरुक्त० (१, २) । मसूहिरि (वाक्य० २, ३४८) ने भी शब्दों के द्वारा व्यवहार के यही दो महत्त्वपूर्ण क्षाम परिगणित किए हैं। संकेत या अन्य साधन बहुत सीमित और संकुचित होंगे। उनसे अर्थ अस्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं हो सकता। संकेत शब्दवत् अल्पप्रयत्नसाध्य नहीं होगा। शब्द व्यापक है, एक शब्द द्वारा बहुत व्यापक अर्थ बताया जा सकता है। शब्द के द्वारा अर्थबोध अस्पष्ट होता है। शब्द के द्वारा अर्थबोधन बहुत ही अल्पप्रयत्नसाध्य है। अतः शब्दों के द्वारा ही नामकरण होते हैं। अतएव मसूहिरि ने कहा है कि संसार में कोई ऐसा ज्ञान नहीं है, जो कि शब्दों के बिना सम्भव हो सके। समस्त ज्ञान शब्दों के साथ जोड़-जोड़ होकर प्रकटित होता है। वाक्य १, १२३।

सष नाम धातुज हैं

पूर्व उल्लेख किया गया है कि वेद और ब्राह्मणादि ग्रन्थ सब नामों को धातुज मानते हैं। यास्क ने प्राचीन परम्परा के अनुसार अपना तथा समस्त निरुक्तकारों का मत दिया है कि सारे नाम धातुज हैं। (निरुक्त १, १२)। यास्क ने व्याधि सूत्रों के रचयिता शाकटायन का भी उल्लेख किया है कि वह भी इसी मत के पोषक हैं। शौनक ने बृहदेकता (१, ३० से ३१) में भी इस विषय का उल्लेख करते हुए अपना मत लिखा है कि "समस्त नाम कर्मों के आधार पर ही पड़ते हैं"। प्रत्येक नाम किसी न किसी क्रिया के आधार पर पड़ते हैं। अतः सष नाम धातुज हैं। यास्क के कथन का अभिप्राय है कि प्रत्येक नाम जो भी किसी वस्तु को दिया गया है, उसका आधार कोई क्रिया है। वस्तुगत किसी क्रियाविरोध को देखकर प्रारम्भ में उसका तत्पुरुष नाम रक्त किया जाता है। यथा गतिशीलता के आधार पर पृथिवी के लिए "गो" शब्द प्रकटित हो गया। व्यापकता और विस्तार के आधार पर पृथ्वी और पर्वी नाम पड़े। मननशीलता के कारण मनुष्य नाम पड़ा। चलने के कारण अरव नाम हुआ और जेदनशीलता के कारण वृष। इसी प्रकार अन्य सभी नाम किसी न किसी क्रिया के आधार पर पड़े हैं।

यास्क ने गार्ग्य और अन्य वैयाकरणों के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे समस्त नामों को धातुज नहीं मानते। वे धातुज, उन्हीं नामों को मानते हैं, जिनकी सिद्धि व्याकरण के नियमानुसार प्रकृति और प्रत्यय से हो सके। अन्य शब्द जिनकी सिद्धि व्याकरण के नियमानुसार नहीं हो सकती, वे अभ्युत्पन्न

और परस्परगत ही हैं। यथा, गौ, अरब, पुरुष, इस्ती, आदि। पठञ्जलि में 'अष्टादशोक्तम्' (अष्टा ३, ३, १) की व्याख्या करते हुए संज्ञाओं के घातुज होने का समर्थन किया है। निरुक्त १, १२।

यास्क के सिद्धान्त पर कुछ आक्षेप

१—यास्क ने निरुक्त (१, १२—१३) नाम को घातुज मानने में जो अन्यो द्वारा आक्षेप किए गए हैं, उनका भी उत्तर दिया है। १—यदि सब नामों का घातुज ही माना जायगा तो प्रत्येक राष्ट्र घातुज अर्थ (धौमिक) का बोध कराएगा। इससे आपत्ति यह होगी कि जो भी उम कार्य को करेगा उसी का वह नाम पड़ जायगा। यथा मार्ग पर चलने से अरब नाम हुआ, तो जो भी मनुष्य पशु, आदि भाग पर चलते हैं, उन्हें भी अरब कहा जाएगा। जो भी वस्तु खेद करने वाली होगी, यथा सूई, माला आदि सब को तुल्य कहा जाएगा।

२—यदि सब नाम घातुज हैं तो एक वस्तु का जितनी क्रियाओं से सम्बन्ध होगा, उतने ही उसके नाम होने चाहिये। यथा, लम्बे का दरराया और "संज्ञनी" भी नाम पड़ना चाहिये, क्योंकि वह गहरे में रखा जाता है और बल्लो को आश्रय देता है। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता कि एक वस्तु के उसके कर्म-रूप सारे नाम पड़ते हों।

३—यदि नाम घातुज ही हैं तो वर्तमान नामों के विषय में कतिपय प्रश्न उपस्थित होते हैं, यथा, यदि प्रथम (विस्तार) के कारण "पृथिवी" कहा गया है तो इसका विस्तार किसने किया कब किया, क्या आधार था जिस पर स्थित होकर इसका विस्तार किया, इत्यादि।

४—क्रिया से पूर्व कर्त्ता की स्थिति होती है। भावी क्रिया के आधार पर पूर्व प्राप्त द्रव्य का नाम नहीं पड़ सकता।

आक्षेपों का उत्तर

यास्क ने (नि० १, १०) उपर्युक्त आक्षेपों का उत्तर बहुत ही उत्तमता से दिया है, जिनसे नामों के स्वरूप पर विशेष प्रभाव पड़ता है। उत्तर निम्न है:—

१—लोकम्यबहार में देखा गया है कि समान कर्म करने वालों में से किसी को वह नाम दिया जाता है अन्य को नहीं। यथा तच्छा, परिमात्रक, जीवन, और भूमिज। प्रत्येक तच्छा क्रिया करने वाल को तच्छा (बड़ई) नहीं कहा जाता। प्रत्येक धूमन बाल का परिमात्रक (संख्यासौ) नहीं कहा जाता। प्रत्येक ज्ञानने बाल का जीवन नहीं कहते और प्रत्येक भूमि से उत्पन्न वस्तु को भूमिज (मंगल पद) नहीं कहते। दुर्गापार्य म जीवन का रूढ अर्थ इधुरस एव राकधियेप बताया है यथा भूमिज का मंगल और वृत्त।

२—लोकम्यबहार में देखा गया है कि एक वस्तु का कितनी ही क्रियाओं से

सम्बन्ध होता है, परन्तु उनका नाम किसी विरोध क्रिया के आधार पर पड़ जाता है। अन्य क्रियाओं के आधार पर नहीं।

निर्वचनात्मक विवेचन प्रयुक्त नामों के विषय में ही होता है। नाम पहले से प्रयुक्त हैं। पृथिवी ब्रह्मने में पृथु (व्यापक) है, अतः इसे पृथिवी कहा गया है। इसका किसी ने विस्तार भन्ने ही न किया हो।

३—श्लोक में देखा जाता है कि मावी क्रियाओं के आधार पर भी वस्तुओं के नाम पड़ते हैं। यथा, “विल्बाव” और “लम्बचूडक” नाम। वच्छे क्व नाम भावी क्रिया के आधार पर भी डाल दिया जाता है। ‘बेख जाने वासा’ “लम्बी शिखा बाला” यह दोनों मावी कार्य हैं, इनके आधार पर नाम डाला गया है।

शास्त्र के उपयुक्त विवेचन से नाम के विषय में कुछ विरोध प्रकार पड़ता है। शास्त्र ने त्रिन वातों का उल्लेख या संकेत किया है, वे निम्न हैं—

१—वस्तुओं के नाम किसी क्रियाविरोध के आधार पर पड़ते हैं, प्रारम्भ में नाम अपने धौगिक अर्थ से पड़ते हैं, परन्तु परचात् वह योग्य हो जाते हैं।

२—समान क्रिया के आधार पर प्रत्येक वस्तु का वही नाम नहीं पड़ता।

३—नाम किस क्रिया के आधार पर पड़ेगा, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता।

४—एक ही वस्तु के नाना क्रियाओं से सम्बन्ध होने पर भी तदनुसार नाम नहीं पड़ते हैं।

५—नाम प्रथम प्रयोक्ता की अनुमति पर पड़ते हैं। एक बार नाम पड़ने पर फिर उनकी सन्निवृत्ता होने पर भी नाम बही बने रहते हैं।

६—नामकरण, उसकी बोधकता आदि के विषय में श्लोकव्यवहार सबसे मुख्य है। व्यवहार में जिसके जो नाम पड़ गए हैं, उसके वही नाम रहेंगे। अन्यार्थ में प्रयोग, अन्य नामों का पड़ना आदि सब श्लोकव्यवहार पर स्थित है।

७—मावी क्रियाओं के आधार पर भी नाम पड़ते हैं।

८—व्यक्तियों के नाम भी क्रियाविरोध के आधार पर पड़ते हैं।

नामकरण के विषय में वैयाकरणों का मत

लापवार्थ सङ्गाकरण—पठञ्जलि ने नामकरण के महत्त्व पर लिखा है कि किसी वस्तु के नाम डालने के मूल में मुख्य भावना लापवार्थ है। संक्षेप और सरलतम उपाय से उस वस्तु का ज्ञान हो सके, अतः प्रत्येक वस्तु को नाम दिया जाता है। नाम डालने में एक बात का और ध्यान रखा जाता है वह यह कि नाम बहुत संक्षिप्त हो। इस-बीस अक्षरों वाले नाम अत्यन्त नहीं रखे जाते।

सम्बन्ध हि सङ्गाकरणम् । सङ्गा च नाम पठो न लघीयः ।

नामकरण में वक्ता का महत्त्व—वाल्क ने नामकरण के विषय में ब्रिज तप्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, वैयाकरण भी उनका समर्थन करते हैं। भद्र हरि और नागेश ने लिखा है कि राज्य सृष्टि के कार्य में वक्ता की इच्छा सब से मुख्य कारण है। वक्ता की इच्छा पर ही यह निर्भर है कि किस वस्तु को क्या और कैसा नाम देता है। सर्व प्रथम प्रयोक्ता उसका किसी अर्थ में प्रयोग करता और तबनुसार वह प्रयोग बल पड़ता है। पुण्यराज वाक्य० २, ४३५ तथा मंजूपा पृ ६५।

प्रयोक्तैवामिस्तन्घरो साध्यसाधनरूपताम् ।
अर्थस्य वाऽमिस्तन्घनकल्पनां प्रसमीहते ॥

वाक्य० २, ४३५ ।

भर्तृहरि के कुछ महत्त्वपूर्ण विचार—भर्तृहरि ने इस विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण तप्यों पर प्रकाश डाला है, वे विशेष अवधेय हैं। संक्षेप में उनका विवरण निम्न है—

१—अर्थ की अवस्थाएँ नाना हैं, उन अवस्थाओं में से जो जिस अवस्था को देखा जा है, तबनुसार ही उसका नामकरण करता है। वस्तुओं के नामकरण में इसकी मुख्यता इसलिए है कि जो भाव, गुण या अवस्था प्रयोक्ता को सर्वप्रथम परिहात होते हैं वही नामकरण के आधार होते हैं। अतः मि-न-मिन्न अवस्थाओं के अर्थान से भिन्न-भिन्न नाम एक वस्तु के पड़ जाते हैं। कभी कभी अवस्था भेद के दर्शन से इस प्रकार के भी नाम बाँटे जाते हैं, जैसे किशुक (दिसु) इसका अर्थ प्रबल्य अ ध्यान इस पर जाने से है कि "किं शुको न" क्या इस पर चोता तो नहीं है। पुण्यराज वाक्य० २, १७५ ।

अभ्यधा य समाख्यातमभ्यन्मानेवर्तिभिः ।

किपते किशुकादी नामकदेशेऽवधारणात् ॥

वाक्य० २, १७५ ।

२—एक वस्तु का नाना कारणों से सम्बन्ध रहता है, अतः उसके अनेक रूप से नाम पड़ सकते हैं, परन्तु इस विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि किस निमित्त के आधार पर नाम पड़ेगा। सम्प्रदायिक विधि है, अतः किसी एक शक्ति के आधार पर नाम पड़ जाता है अन्य के आधार पर नहीं। यथा वक्ता (वर्द्ध) तक्षण, वेदन, भेदन आदि अनेक क्रियाएँ करता है, परन्तु उसका नाम कपल तक्षण क्रिया के ही आधार पर पड़ा अन्यो के आधार पर नहीं। इसी प्रकार कुम्भकार कुम्भ (घड़े) के अतिरिक्त कितने ही मृत्तिका के पात्र शराब (बोत्ते) आदि बनाता है, परन्तु उसका नाम कुम्भ के आधार पर ही पड़ा शराब आदि के आधार पर नहीं। देवाराज वाक्य ३, पृष्ठ ४४ ।

संनिधाने निमित्तानां किंचिदेव प्रवर्तकम् ।

यथा तक्षारिगृहानां सिंगेपु नियमस्तथा ॥ वाक्य० ३, पृ० ४४० ।

३—नाम साधारणतया उसके मुख्य भावों या गुणों के आधार पर पड़ते हैं क्योंकि मुख्य गुण पर ही सर्वप्रथम दृष्टि पड़ती है। पतञ्जलि ने भी इस कारण का उल्लेख करते हुए लिखा है कि नाम पड़ने में प्रधान वस्तु या गुण मुख्य कारण होता है। उन्होंने उदाहरण देकर समझाया है कि “आज्ञापामाम” नाम का नाम इसलिये पड़ गया क्योंकि उसमें आँखों की सख्या अधिक थी। ऐसा नहीं कि उस नाम में अन्य वर्णों के होंग नहीं। कम से कम ५ कमकर कुठाल, कर्मार (राज) बर्ह, माई और घोषी प्रत्येक नाम में अक्षरय होते हैं परन्तु मुख्यता के आधार पर उसका नाम ऐसा पड़ गया। प्रथीप और उद्योत महा १, १, ४७।

मुख्येणैव पदार्थेन व्यवहारो विधीयते। वाक्य० ३ पृ० १३६।

मूयस एव प्राहणानि भविष्यन्ति। महा० १, १, ४७।

४—एक ही अर्थ के क्रियामेव से नानासंज्ञार्थ पड़ जाती हैं। जिसने उसकी जिस अवस्था का बरान किया वह उसी अवस्था के अनुरूप नाम डाल देता है। एक व्यक्ति ही तृण क्रिया के कारण तथा कहलाता है वही काय वज्र देने पर लोहे का कार्य करने से “अयस्कार” (लोहार) कहलाता है। अतु एक है, परन्तु उसकी विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत् आदि नाम पड़े हैं। हेसाराज, वाक्य० ३ पृ० ३२६।

क्रियामेवात् तथैकस्मिन् तद्वाचाख्या प्रवर्तते।

क्रियामेवाद् तथैकस्मिन् श्रुत्वाचाक्योपनायते ॥

वाक्य० ३ पृ० ३२३।

वस्तुओं के नाम, जैसा कि मनु हरि ने बताया किसी एक अंश या किसी क्रिया विशेष के आधार पर पड़ते हैं अतः वस्तुओं के नामों को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि किसी नाम के द्वारा उसके समस्त गुणों का बोध नहीं होता। गमन क्रिया के आधार पर गाय को गौ कहन से उसके समस्त क्रियाकलाप का ज्ञान नहीं होता। मननशीलता से मनुष्य का और बरान की योग्यता से पशु का बोध पूर्णज्ञान नहीं है। अतएव नाम विशेषनात्मक दृष्टि से अपूर्ण होते हैं। गैरकर्मों की प्रक्रिया के अनुसार वस्तुओं के नाम यदि अश्वय माने जायेंगे तो नामों को त्रुटिपूर्ण भी मानना पड़ेगा। गमन क्रिया के आधार पर गाय को गौ कहा गया परन्तु जब सोती बैठी, खेदी, या सूत हो, तब नियमानुसार उसे गौ नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें गमनक्रिया विद्यमान नहीं है। एक विक्षिप्त निरन्धेन या सुप्त मनुष्य को मनुष्य नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें उस समय मननशीलता विद्यमान नहीं है। इसी प्रकार सभी नामों के विषय में अपूर्णता और त्रुटि विद्यमान रहती है। विरचनाय न साहित्यदर्पण में इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है कि व्युत्पत्तयश्च अर्थ के मुख्य होन पर गो शब्द का गौ के लिये शयनकाल में प्रयोग नहीं हो सकता। अतएव य स्तु न पृष्ठी शब्द के विषय में किय गय प्रयोग के उचर में कहा है कि किसी क्रिया

के आधार पर एक बार नाम पढ़ जाया है और प्रसिद्ध हो जाया है, तो फिर इसके प्रयोग में सूत्रमार्थ पर ध्यान नहीं दिया जाता। पृथ्वी का किसी ने विस्तार किया हो या नहीं, एक बार पृथ्वी नाम हो जाना पर वह नाम बसता रहेगा। सा० वर्षख २, ५।

पतञ्जलि ने नाम त्रुटिपूर्व किस प्रकार बल पड़ते हैं इसके एक उदाहरण का उल्लेख किया है। पाणिनि ने परम्परागत विधि के अनुसार उल्लेख किया है कि वैदूर्य मणि का नाम इसलिए पड़ा कि क्योंकि वह विदूर स्थान पर उत्पन्न होती है।

विदूराम्भयः प्रभवति । अष्टा० ४, ३, ८४।

पतञ्जलि ने लिखा है कि यह कथन त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि यह मणि विदूर नामक स्थान से उत्पन्न नहीं होती, अपितु बालवाय नामक स्थान से उत्पन्न होती है विदूर नगर में इसका केवल संस्कार होता है। (महा० ४, ३, ८४) प्रसिद्धि विदूर नाम के आधार पर हो गई, अतः उसे वैदूर्य कहा जाने लगा। पतञ्जलि ने पाणिनि के कथन का यह कहकर समाधान किया है कि बालवाय को विदूर नाम से भी निर्देश करते हैं। इस पर यह आपत्ति उठाई गई है कि लोकप्रचलित में तो बालवाय को विदूर नहीं कहा जाता है। इसका समाधान पतञ्जलि ने यह कहकर किया है कि जिस प्रकार वैश्य वाण्यसी को मंगलार्थ "जित्वरी" नाम से पुकारते हैं, उसी प्रकार वैशाकरण बालवाय को विदूर नाम से निर्देश करते हैं। केवल ने इस पर टीका करत हुए कहा है कि यह आपत्तिक नहीं है कि सार्वजनिक प्रसिद्धि को ही प्रसिद्ध माना जाय, वैशक्तिक आधार पर भी शब्दों की प्रसिद्धि होती है। वैशाकरण बालवाय को विदूर कहते हैं जैसे वैश्य वाण्यसी को जित्वरी। मदीप । महा० ४, ३, ८४ तथा वाक्य० २, १८१।

नाम इस प्रकार से वस्तु के संकेतराज्य होते हैं। नाम वस्तु की अपेक्षा बहुत सूक्ष्म होते हैं अतः वे वस्तु के उठने ही स्वरूप का समझ करते हैं जितना कि एक शब्द में समझ सम्भव है। प्रत्येक गुण या भाव को कि वस्तु में विद्यमान है या वस्तु के द्वारा त्रिन समस्त भावों का द्रव्य का मन में उद्बोधन होता है इसका एक शब्द में समझ करना असंभव है अतएव मर्त्यहरि ने कहा है कि नाम किसी मुख्य भाव को लेकर पड़ता है समस्त भावों का लेकर नहीं। एक वस्तु का नाना नाम पड़ने में यही कारण है कि नाम वस्तु का एक ही अंश को बोधित करता है। इसके अन्य अंशों का बोध कराने के लिए तदनुसृत अन्य नाम दिए जाते हैं। नाम वस्तु के एक गुण को लेकर बल पड़ता है और वह धीरे-धीरे संकेतराज्य रह जाता है। विरचनाय में अतएव साहित्यदर्पण में निर्देश किया है कि शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त अन्य होता है और प्रवृत्ति का निमित्त अन्य। गो शब्द की व्युत्पत्ति का निमित्त है गमनकृता, परन्तु उसका संकेतमह में कारण रूप है गीतव्यवृत्ति, जिसके आधार पर प्रवृत्ति होती है। महा० १, १ तथा सा० वर्षख २, ५।

नए भाषों के नाम कैसे पड़ते हैं

पतञ्जलि ने बताया है कि नाम परंपरा से चले आते हैं। पूर्वजों ने उन अर्थों से उन नामों का सम्बन्ध किया है। यह नाम उन अर्थों में प्रचलित हो गए हैं, उनको परंपरागत मानकर वही अर्थों में अब भी उनका प्रयोग किया जाता है। मट्टहरि ने अतएव निर्देश किया है कि संज्ञा और संज्ञी (नाम और अर्थ) का सम्बन्ध नित्य है।

इतस्तत्र पूर्वैरमित्थम्भः। महा० १११।

नित्य एव तु सम्बन्धो द्वित्यादिषु गत्रादिवत्। भाष्य० २ ३६६।

पतञ्जलि ने लौकिक और वैदिक नामों की अर्था करते हुए लिखा है कि लोक और वैदिक क्रिया कलाप में जिन वस्तुओं का जो नाम दिए गए हैं वे व्यक्तियों ने ही दिए हैं। ऋषियों और आचार्यों ने प्रथम उन अर्थों में उन शब्दों का प्रयोग किया। अतएव नागेश ने लिखा है कि सर्वप्रथम नामकरण का कार्य ऋषियों ने ही किया। यथा, स्फुय (अदिरनिर्निव लहगसहरा महिमफाण्ड) यूप (यज्ञियस्वम्भ) अपाल (यूप के भागे रक्ता जाने वाला यूपवलय नामक अणु) चोत्त, महा० १, १, १।

इस प्रकार जो भी नए शब्द आते हैं, उनका नामकरण प्रथम ऋषियों, आचार्यों और आत्मी द्वारा किया जाता है। उन सामान्य उनके प्रयोग और व्यवहार को देखकर उन अर्थों में उन्हें अपना लेता है। नागेश ने अतएव व्यवहार को सबसे अधिक मुख्यता ही है और कहा है कि व्यवहार शक्तिप्राहकपारोमणि है। किस वस्तु का क्या नाम है, इसमें व्यवहार ही मुख्य निर्णायक है। आचार्यों के व्यवहार पर बह इतलिये दिया गया है क्योंकि उनको आत (वचार्थवचन) मालते हैं। जिन अर्थों में जिन नामों का प्रयोग उन्होंने ठीक समझा है उनका ही उन्होंने प्रयोग स्वीकार किया है। प्रथम और अण्ड, महा० १, १, १।

नए भाष या विचार सत्कृति और सम्यता के विकास से उद्भूत होते हैं किन्तु ही विचार अर्थों के सम्पर्क से मनुष्य के हृदय में आते हैं। पतञ्जलि ने महाभाष्य में जो उदाहरण दिए हैं उनसे ऐसे नामों पर प्रकाश पड़ता है। नवीन भाषों के लिए पूर्व संचित सामग्री के आधार पर कभी सर्वथा नए शब्द की सृष्टि हो जाती है, कभी पुराने शब्द नवीन भाषों के उद्योग के लिये प्रयुक्त होने लगते हैं।

उदाहरणार्थ पार्थी के नवीन नाम जो कि वैदिक साहित्य में नहीं मिलते हैं, इसी प्रकार पड़ें। यथा मार्वाङ्गिक, पाण्डिक बीया, परिवादक, त्व्य आदि। संज्ञा के विभिन्न अर्थों के सुविभक्त नाम पड़े, रथिक, अरवारोही, पशवि, महारथी, अतिरथी आदि। कारिका, अष्टा० २, ४, २।

व्यक्तियों के नामों पर एक दृष्टि

चार प्रकार की संज्ञायें—मरु हरि ने लिखा है कि संज्ञायें चार प्रकार की होती हैं १—अकृत्रिम, जो प्राचीन परंपरा से बने आते हैं यथा गौ, भरव, इत्सी आदि । २—कृत्रिम, जो किसी श्रुति, आचार्य या व्यक्ति द्वारा किसी भाव का बोधित करने के लिए रक्खी जाती हैं । यह दो प्रकार की हैं । १— पारिभाषिक जो पारिभाषिक भाषों के बोधनार्थ रक्खी गई हैं, यथा, गुण, वृद्धि टि, पु आदि । २—व्यक्तियों आदि के नाम देववृत्त, यद्वृत्त आदि नाम । ३— समय विधि, जो कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों प्रकार की हैं, इनके द्वारा कृत्रिम (पारिभाषिक) और अकृत्रिम (मषक्षित) दोनों भाव बोधित किए जाते हैं । यथा, कर्म, क्रिया, संख्या आदि । ये मषक्षित और पारिभाषिक दोनों प्रकार की संज्ञायें हैं । ४—अकृत्रिम (मषक्षित) संज्ञा होत हुए भी कृत्रिम संज्ञा के विषय में भी प्रवृत्त होत जाती । यथा, सम्बोधन । यह लौकिक अर्थ के साथ ही पारिभाषिक अर्थ को भी बताता है । हेलाख्य, वाक्य० २, ३०६ से ३०७ ।

मरु हरि ने लिखा है कि व्यक्तियों के नाम व्यवहार के लिए बने आते हैं । मागरी कहते हैं कि व्यक्तियों को नाम देने में नाम देने वाले की तत्कालीन भावना ही मुख्य होती है, अतः जिसको जैसा नाम देना चाहते हैं वैसा नाम रख देते हैं । व्यक्तित्व संज्ञायें नित्य नहीं होतीं, इसको व्यक्ति विरोध अपनी भावना के अनुरूप रखते हैं । नवजात बालक को नाम माता पिता अपनी भावनाओं से प्रेरित होकर रखते हैं यथा, देववृत्त, यद्वृत्त आदि । इनके प्रयोग से अन्य व्यक्तियों को यह ज्ञान होता है कि उनका यह नाम है एक व्यक्ति के एक से अधिक नाम चल सकते हैं जिनमें एक नाम मुख्य हो जाता है, अन्य गान्ध । कैपट ने निर्देश किया है कि रायण और कुबेर के पिता के इसी प्रकार तीन नाम थे, विबभसु, विभक्त्य और इवय । इन्द्र, पुरुवृत्त, पुरन्दर, राम आदि नाम इसी प्रकार के हैं । वाक्य २, ३६६ । मंजूषा, पृ० ६५ । महा० १, १, १ । प्रवीण, महा ४, ३, ८४ ।

व्यक्तियों के नामकरण पर पाणिनि के विचार

पाणिनि ने व्यक्तियों के किस प्रकार नाम पड़े हैं इसके कुछ तर्कों पर भी प्रकाश डाला है ।

१— कितने ही नाम पिता के नाम के आधार पर पड़ते हैं । यथा, शारादि, बामुदेव, पाण्डव, शक्ति, पैत्य, आदित्य । अष्टा० ४, १, ६२ ।

२—माता के नाम के आधार पर भी नाम पड़ते हैं यथा, पार्थ, कीन्तेय, माद्रेय देवरेय, वैन्तेय, सोपर्व्य, सौमित्र । अष्टा० ४, १, १२० ।

३—मात्र के नाम पर नाम पड़ते हैं । यथा, करमण, घास्यायन, फात्यायन, मारुदाय, राधव, कौरव, यादव, जामदग्न्य । अष्टा० ४, १, ६ । त्रिकारवराण और

केराव के कोयों से ज्ञात होता है कि पाणिनि का "त्रैयच्छि" नाम "आहि" वा, गोत्र नाम पाणिनि वा ।

पाणिनिस्त्रैयच्छि वासीपुत्र शासकपाणिनौ ।
शाखातुरीय इति । त्रिकांशरोप
शाखातुरीये वाक्येयः शासकः पाणिनादिकौ ।
पाणिनि । इति केराव

४ - जन्मस्थान के नाम पर भी नाम पड़ते हैं । यथा पाणिनि का नाम शाखातुरीय । शाखातुर स्थान वर्तमान समय में "लाहुर" नाम से प्रसिद्ध है । यह सीमा प्रायः में पेशावर जिले में अटक स्टेशन से पश्चिम में १५ मील तथा वर्तमान ओहियड से ३ मील पश्चिमोत्तर में है । पठञ्जलि का इसी प्रकार नाम "गोनर्षीय" है । गोनर्ष के विषय में प्राचीनों का मत है कि यह कारमीर में है परन्तु आधुनिक विद्वान् इसे अयोध्या जिले में विद्यमान गोंडा स्थान को गोनर्ष का विकसित रूप मानते हैं ।

गोनर्षीयस्त्वाह । महा० १, १, २० ।

५—जिस ग्रन्थ या वेदा में अन्त हुआ है उसके नाम पर भी नाम पड़ते हैं । यथा केंकेयी, मात्री, गान्धारी मीयिली, कौस्तुभा । अष्टा ४, १, १७८ ।

६—जिस राशि या नक्षत्र में जन्म होता है, उसके नाम पर भी नाम पड़ता है । यथा, रोहियोप, रोहिणी नक्षत्र में जन्म होने के कारण । फल्गुन, (अर्जुन) फल्गुनी नक्षत्र में जन्म होने के कारण ।

७—प्राचीन कथानकों उपस्थानों आदि के आधार पर नाम पड़ जाते हैं । यथा, इन्द्र के नाम पुरन्धर, वृत्रहा । शिव के अश्वत्थक, त्रिपुरारि । विष्णु के मन्धरि, मधुसूदन, अन्धकारि आदि ।

८—मात्री क्रियाओं के आधार पर भी माता पिता अपनी भावनानुसार नाम रख देते हैं । सोमयाजी, अग्निपटोमयाजी बिस्वाव, लम्बबूडक । अर्थात् जो सोम आदि से यह आदि भविष्य में करेंगे । अष्टा १, ४, १ । सिद्धान्तकीमुनी तथा निरुक्त १, १४ ।

९—जिस विरोप अक्षर से व्यक्ति काम करता है, या वह जो विरोप कार्य करता है उसके आधार पर भी नाम पड़ जाते हैं । यथा स्फोटायन, स्फोटसिद्धान्त की व्याख्या उसका प्रतिपादन और विस्तार करने के कारण ।

१०—बिहवासे या व्यंग्यात्मक नाम भी किसी के किसी विरोप कारण से पड़ जाते हैं और प्रचलित हो जाते हैं । पठञ्जलि महा० आ० १ ने इसी प्रकार के नाम लिखे हैं कि "वर्षाय वर्षाय" नाम के अर्थ में ये "यहवान्, उद्धान्" के स्थान पर "वर्षायः वर्षायः" उच्चारण करते थे अतः इनका नाम ही 'वर्षायः वर्षायः' पड़ गया । वैदिक अधियों में शुनः शेष शुनः पुच्छ शुनोर्जागृह नाम

आते हैं। ये नाम भी सम्भवतः इसी प्रकार पड़े हुए प्रतीत होते हैं। पात्रेसमिता-
द्विगुण, अप्ता २, १, ४८; में ऐसे व्यंग्यात्मक वचनों एवं नामों के उदाहरण बहुत
से दिए गए हैं। यथा रूपमङ्क, रूपरूपरूप, उदुम्बरमराक, मगरषायस, तीर्थ
व्यांग्छ ।

वैयक्तिक नामों की सार्थकता

आधुनिक विद्वानों में से कुछ विद्वान्, जैसे ज्ञान स्टुम्भट मिश्र आदि यह
मानते हैं कि व्यक्तियों के नाम सार्थक नहीं होते वे केवल सकेतार्थ होते हैं। ज्ञान-
सन क्त मठ है कि नामों को निष्प्रयोजन या निरर्थक नहीं कहा जा सकता है।
भारतीय नामों पर दृष्टिपाठ करने से हाथ होना है कि नाम अधिकतर सार्थक हैं।
केवल संकेतार्थक नाम यथा, इत्थ कपिरथ आदि न्यून हैं। नामों की सार्थकता से
यह नहीं समझा जा सकता है कि जिस व्यक्ति के जो नाम हैं भावापिदाने रक्खे हैं,
बह/व्यगुण सम्पन्न अवरय होगा या हुआ है। वेदों में आने वाले नाम तथा
पुराण रामायण महाभारत आदि में आने वाले वैयक्तिक नाम प्रायः सार्थक हैं
और उनका शाब्दिक अर्थ सरलता से जाना जा सकता है। यास्क ने निरुक्त के
अध्याय २, ५, १० ११ १२ आदि में कतिपय ऐसे नामों का अर्थ स्पष्ट भी किया
है। यथा इन्द्र (प्रेरकशाली) पुरन्दर (दिव्यों के पुरों का नाराक) शूत्रहा (शूत्र-
का नाराक), रुद्र (मर्यकर तथा रूझाने वाला) शिव (कल्याणकारी), विरवा
मित्र (सहका मित्र), करमप (त्रुष्टा), पराशर (राक्षसों का नष्ट करने वाला),
श्वबन (स्तुतिकर्ता), अगस्तिस् (अंगों का रस, सारभूत), पर्वरी (बहुत व्यापक
या बहुत प्रभाव शाली), अथवा (निरपेक्ष स्वभावयुक्त) अमु (सत्यवादी या
अतिज्ञस्वी) शन्तनु (शरीर से मुझी), बृहस्पति (यज्ञों का भी पालनकर्ता)
अरिचनी (सर्वव्यापक)।

पतञ्जलि ने (महा० ३, ३, १३) रामायण महाभारत में प्रचलित व्यक्तियों के
नाम देते हुए उनका आत्मार्थ निर्देश किया है। यथा दुर्योधन (जिससे कठिनाई
से युद्ध किया जा सके) दुरात्मन (कठिनाई से शासन करने योग्य) दुर्धर्मण
दुर्मपस, रावण (रक्षान वाला), भरत (पालक), राम (रमणकर्ता) रामुम
(रात्रुनाराक), युधिष्ठिर (युद्ध में भी स्थिरचित्त), भीम (मर्यकर) आदि।

नामों के नामकरण पर पाणिनि के कुछ महत्वपूर्ण विचार

पाणिनि ने नामकरण के मूल में विद्यमान कतिपय तथ्यों का इशारा किया
है और उनका उल्लेख अप्ताध्यायी में किया है। पतञ्जलि आदि में उन तथ्यों की
व्याख्या करते स्पष्ट किया है। नामकरण के मिलात की दृष्टि से ये तथ्य अत्यन्त
महत्वपूर्ण हैं।

१—किसी वस्तुकार की कृति को वस्तुकार का ही नाम दे दिया जाता है।

यथा, कठ और परक ऋषि की बनाई संहिताओं को कठ और परक नाम दिया गया है। अष्टा० ४, ३, १०७।

२—किन्हीं आख्यायिका आदि की पुस्तकों को आख्यायिका आदि के मुख्य पात्र का ही नाम दे दिया जाता है यथा, वासववृषा, सुमनोचरा, प्रवैरी, कावन्वरी। अष्टा० ४, ३, ८७।

३—देश के राजाओं को देश के नाम से ही सम्बोधित कर दिया जाता है। यथा कम्बोज, बोज, केरल, राक, यवन। अष्टा० ४, १, १७५।

४—वृक्षों के फलों को भी वृक्ष का नाम दे दिया जाता है। यथा आम्र, अन्नु, पीलु, कुवलय, बदर, हरितकी। अष्टा ४, ३, १६३।

५—जन्तों को उसी पौधे का नाम दे दिया जाता है यथा, यव, मीहि, माय, मुद्गा, सिन्ध। महा० ४, ३, १६६।

६—फूलों को वृक्ष या खटा का नाम दे दिया जाता है। यथा, कदम्ब, अशोक, मन्त्रिका, पद्म, कुवलय। महा ४, ३, १६६।

७—मूल को वृक्ष या खटा का नाम दे दिया जाता है। यथा, विहारी, अंशु मयी, वृहती। महा० ४, ३, १६६।

८—जातियाँ जो कि यहीं निवास करती हैं, उनके नाम पर ही देश का भी नाम पड़ जाता है। यथा, पञ्चाल, कुक, अंग, बग, मगध, पुण्ड्र। अष्टा ४, २, ८१।

९—किन्हीं मुख्य वस्तुओं के नाम पर उनके समीपस्थ नगर ग्राम आदि का भी वही नाम पड़ जाता है। यथा वरख के समीपस्थ नगर को वरख, कटुक बहरी के समीपस्थ ग्राम को कटुकबहरी और मधुरा उज्जयिनी आदि के समीपस्थ ग्रामों को मधुरा उज्जयिनी आदि। अष्टा० ४, २, ८३।

१०—वभिर्मित वस्तुओं को भी वही नाम दे दिया जाता है। यथा, शकटा निर्मित को शकर्ता नाम। अष्टा ४, २, ८३।

११—शास्त्रों या कृतियों के ज्ञाताओं और पढ़ने वालों को उसी नाम से सम्बोधित किया जाने लगता है। यथा, पाणिनीय शास्त्र के ज्ञाता और ज्ञात्र को पाणिनीय। अष्टा० ४, २, ६४।

१२—एक भाग के लिए भी सम्पूर्ण का नाम प्रयुक्त किया जाता है। यथा, पूर्वपञ्चाल, उत्तर पञ्चाल। वस्तु का एक अंश भी शुद्ध या कृष्य होगा तो उसे शुद्ध या कृष्य कहते हैं। शास्त्रासमूह के लिए ग्राम शब्द प्रयुक्त होता है परन्तु एक मन्त्रन वासा भी गाँव होता है। महा० आ० १ तथा १, १, २०।

१३—सम्पूर्ण के लिए भी एक भाग प्रयुक्त होता है यथा देववृक्ष के लिए देव या वृक्ष, सत्यभामा के लिए भामा। सम्पूर्णं शुक्र, नाक, अश्व आदि के लिए शुक्र

आते हैं। ये नाम भी सम्भवतः इसी प्रकार पड़े हुए प्रतीत होते हैं। पात्रेसमिता द्विगण, अष्टा २, १, ४८; में ऐसे व्यंग्यात्मक वचनों एवं नामों के ब्याहरण बहुत से दिए गए हैं। यथा कृष्णभूक, कृष्णभूप, उदुम्बरमराक, मगरवायस, तीर्थ व्यांग् ।

वैयक्तिक नामों की सार्थकता

आधुनिक विद्वानों में से कुछ विद्वान्, जैसे जान स्टुअट मिश्र आदि यह मानते हैं कि व्यक्तियों के नाम सार्थक नहीं होते ये केवल संकेतार्थ होते हैं। जानसन का मत है कि नामों को निष्प्रयोजन या निरर्थक नहीं कहा जा सकता है। भारतीय नामों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि नाम अधिष्ठात सार्थक हैं। केवल संकेतार्थक नाम यथा, द्विस्य कपित्व आदि न्यून हैं। नामों की सार्थकता से यह नहीं समझा जा सकता है कि जिस व्यक्ति के जो नाम हैं मातापिता ने रखे हैं, वह/वह/वह सम्पन्न भवण होगा या हुआ है। वेदों में आने वाले नाम तथा पुराण, रामायण महाभारत आदि में आने वाले वैयक्तिक नाम प्रायः सार्थक हैं और उनका शाब्दिक अर्थ सरलता से जाना जा सकता है। पास्क ने निरुक्त के अध्याय २, ५, १० ११ १२ आदि में कतिपय ऐसे नामों का अर्थ स्पष्ट भी किया है। यथा इन्द्र (पेरबर्षराज्ञी) पुरम्बर (देवों के पुरो का नाराक) वृत्रहा (पुत्र का नाराक) रुद्र (भयंकर तथा रजाने वाला) शिष (कल्याणकारी), विरवा मित्र (सवका मित्र), करयप (द्रष्टा), पराशर (राक्षसों को नष्ट करने वाला), अश्विन (स्तुतिकर्ता) अगारिस् (अंगों का रस, सारमूत्र), अर्बरी (बहुत व्यापक या बहुत प्रभाव शाली), अथर्वा (निरपल स्वभावयुक्त) अशु (सत्यवादी या अतिवेदस्वी) शन्तनु (शरीर से सुखी), वृहस्पति (बड़ों का भी पालनकर्ता) अरिबनी (सर्वव्यापक)।

पतञ्जलि ने (महा० ३, ३, १३) रामायण महाभारत में प्रचलित व्यक्तियों के नाम देते हुए उनका भास्वर्य निर्देश किया है। यथा हुयौषन (जिससे कठिनाई से युद्ध किया जा सके) दुःशासन (कठिनाई से शासन करने योग्य) दुर्भपण्य दुर्मपस्य, रावण (खाने वाला), भरत (पालक), राम (रमणकर्ता) शत्रुघ्न (शत्रुनाशक), पुषिष्ठिर (पृथ्वी में भी स्थिरचित्त), भीम (भयंकर) आदि।

नामों के नामकरण पर पाणिनि के कुछ महत्वपूर्ण विचार

पाणिनि ने नामकरण के मूल में विद्यमान कतिपय तथ्यों का दर्शन किया है और उनका उल्लेख अष्टाध्यायी में किया है। पतञ्जलि आदि न उन तथ्यों की व्याख्या करके स्पष्ट किया है। नामकरण के सिद्धांत की दृष्टि से ये तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

१—किसी मन्यकर की कृति को मन्यकार का ही नाम दे दिया जाता है।

यथा, कठ और चरक ग्रन्थि की बनाई संज्ञिकाओं को कठ और चरक नाम दिया गया है। अष्टा० ४, ३, १०७।

२—किन्हीं आख्यायिका भादि की पुस्तकों को आख्यायिका भादि के मुख्य पात्र का ही नाम दे दिया जाता है यथा, वासवदत्ता, सुमनोत्तरा, चर्वरी, अश्वमेरी। अष्टा० ४, ३, ८७।

३—देश के राजाओं को देश के नाम से ही सम्बोधित कर दिया जाता है। यथा कम्बोज, चोल, केरल, शक, यवन। अष्टा० ४, १, १७५।

४—वृक्षों के फलों को भी वृक्ष का नाम दे दिया जाता है। यथा आम्र, अम्लु, पीलु, कुबज्ज, बद्ध, हरितकी। अष्टा ४, ३, १६३।

५—अन्तों को उसी पीने का नाम दे दिया जाता है यथा, यव, मीहि, माष, मुद्ग, विज। महा० ४, ३, १६६।

६—पूतों को वृक्ष या क्षवा का नाम दे दिया जाता है। यथा, कव्व, अशोक, मस्त्रिक, पद्म, कुवलय। महा० ४, ३, १६६।

७—मूल को वृक्ष या क्षवा का नाम दे दिया जाता है। यथा, विहारी, अंशु मयी, वृहती। महा० ४, ३, १६६।

८—जाटियाँ जो कि वही निवास करती हैं, उनके नाम पर ही देश का भी नाम पड़ जाता है। यथा, पंचाल, कुठ, अंग, बग, मगध, पुच्छ। अष्टा ४, २, ८१।

९—किन्हीं मुख्य वस्तुओं के नाम पर उनके समीपस्थ नगर ग्राम भादि का भी वही नाम पड़ जाता है। यथा वरख के समीपस्थ नगर को वरख, कटुक बहरी के समीपस्थ ग्राम को कटुकबहरी और मथुरा अग्रविनी भादि के समीपस्थ ग्रामों को मथुरा अग्रविनी भादि। अष्टा० ४, २, ८३।

१०—तन्निर्मित वस्तुओं को भी वही नाम दे दिया जाता है। यथा, शकरा निर्मित को शर्करा नाम। अष्टा ४, २, ८३।

११—राज्यों या कृषियों के ज्ञाताओं और पढ़ने वालों को वही नाम से सम्बोधित किया जाने लगता है। यथा, पाषिनीय शास्त्र के ज्ञाता और ज्ञात्र को पाषिनीय। अष्टा० ४, २, ६४।

१२—एक भाग के लिए भी सम्पूर्ण का नाम प्रयुक्त किया जाता है। यथा, पूर्वपंचाल, उत्तर पंचाल। वस्तु का एक अंश भी द्रव्य या कृष्य होगा तो उसे द्रव्य या कृष्य कहते हैं। शास्तासमूह के लिए ग्राम शब्द प्रयुक्त होता है परन्तु एक मन्थन वाला भी गाँव होता है। महा० भा० १ तथा १, १, २०।

१३—सम्पूर्ण के लिए भी एक भाग प्रयुक्त होता है यथा देवदत्त के लिए देव या दत्त, सत्यमाना के लिए मामा। सम्पूर्ण युक्त, नाक, अंज भादि के लिए सुस

शब्द शिरसु, हस्त पाद एक भाग के चोखक होते हुए भी सम्पूर्ण अंग के लिये प्रयुक्त होते हैं। महा० १, १, ४४।

१४—लक्ष्म के लिये लक्ष्य। जिस लक्ष्य से जीव लक्षित होता है, उसके लिये लक्ष्य का ही प्रयोग कर दिया जाता है। यथा, काय (काय्यापुरुष) अवटीट, निविड धिक्कि, चिपिट, निम्ननासिक के बोधक होते हुए नीची नाक वाले पुरुष के भी बोधक हैं। अष्टा० ५, २, ३१ से ३२।

१५—जो वस्तु जिस स्थान पर उत्पन्न होती है, उस स्थान के नाम छाप ही वस्तुका भी बोध कभी-कभी कराया जाता है। यथा, गोस्थान, अरवस्थान, गोराल, लक्ष्मेशय्य व्यक्ति को देश के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। यथा, बंगाल, बंगाल, कर्षिगा। अष्टा० ४, ३, ३३।

नए शब्दों का आगमन

नामकरण के प्रकरण के मध्य में इस बात का उल्लेख किया गया है कि संस्कृति और सम्पत्ता के विकास के साथ, नए भाष, नए पदार्थों की सृष्टि होती है और उनके नए नाम ढाल दिये जाते हैं। नवीन अनुसंधानों, आविष्कारों के वस्तुरूप ही नाम ढाले जाते हैं इस प्रकार भाषा में नए शब्दों का आगमन होता है। प्राचीन शिक्षालेखों के अध्ययन से इस प्रकार के सैकड़ों शब्द मिलते हैं जो संस्कृति के विकास के साथ अपना लिये गए हैं और इनका नवीन अर्थों में प्रयोग किया जाने लगा। अशोक ने अपने शिक्षालेखों में निम्न शब्दों का नए भाषों के लिये प्रयोग किया है। आधुनिक विद्वानों ने उनके अर्थों को निम्नरूप से माना है। मुक्ति (मान्), विपय (जिला), युक्त (जिले का सर्वोच्च अधिकारी), नगर व्यवहारक (जिले का न्यायाधीश)। पाण्ड्य ने कौटिल्य अर्थशास्त्र में इनके लिये पौर व्यावहारिक शब्द प्रयुक्त किया है, महामात्र (उच्चराजकीय अधिकारी), मन्त्रिपरिषद् (वर्तमान मन्त्रिमंडल), परिषद् (वर्तमान पाटसभा)।

गुप्तकाल के शिक्षालेखों में इसी प्रकार सैकड़ों शब्द नए भाषों के लिये मिलते हैं, यथा विपयपति (वर्तमान जिलाधीश), गौत्तिक (चुगी विभाग का अध्यक्ष) गौत्तिक (जंगल विभाग का अध्यक्ष), विबिर एवं संसक (लेखक, फलक) स्वपतिसघाट (स्वपति विभाग का अध्यक्ष), वल्लधिष्ठ (सेनाध्यक्ष), महाबलाधिष्ठ (फील्ड मार्शल), अक्षयधरधिष्ठ (रिजिस्ट्रीपर), शीनार (मुख्यमुद्रा), महानौ (जल-के अहास), महापतीहार (धारपालों का मुखिया), भौगिक (अर्थशास्त्राध्यक्ष), साम्भिविप्रहिक (संधि या विप्रह विभाग का मंत्री), अपरिक (वर्तमान गवर्नर), आयुक्त (वर्तमान मजिस्ट्रेट), हिरदयसामुदायिक (राजकीयकोष विभाग का अध्यक्ष), आदि। इन शब्दों का उस समय वास्तविक अर्थ क्या था, यह आज निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है तथापि आधुनिक पुरातत्ववेत्ताओं ने इन शब्दों का आधुनिक समकक्ष अर्थ देने का प्रयत्न किया है और उपर्युक्त अर्थ उन्हीं के अनुसार दिए गए हैं।

अनुपयोगी शब्दों का अमयोग

इस संस्कृति विकास का परित्याग यह होता है कि कितने ही प्राचीन प्रचलित शब्द साया से उठते चले जाते हैं, पतञ्जलि ने इसका उल्लेख करते हुए इसके दो कारणों पर ध्यान दिखाया है। प्रथम यह कि वह अर्थ जिनके घोटन के लिए शब्दों का प्रयोग होता था, उनका व्यवहार में पठ जाता। अर्थ शब्दप्रयोगात्" (महा भा० १) यदि वह अर्थ विद्यमान है तो शब्द विद्यमान रहता है, और यदि उस अर्थ का अप्रयोग हो जाएगा तो वह शब्द भी नहीं रहेगा। इसके उदाहरण में उन्होंने "अप्रयुक्ते दीर्घसप्रवत्" का उल्लेख किया है किन्तु ही प्राचीन शब्दों के नाम यथा मौत्रातयी, स्योतिष्टोम, अग्निष्टोम, राजसूय, अश्वमेध, गोमेध राष्ट्रभूत्, विश्वभूत्, वाजपेय आदि प्रचलित न होने के कारण लुप्त हो गए हैं। दूसरा कारण पतञ्जलि ने यह बताया है कि "अप्रयोग प्रयोगान्यत्वात्" (महा भा १) किन्तु ही अर्थ हैं जो विद्यमान तो हैं, परन्तु उनके लिए प्राचीन शब्दों के स्थान पर अन्य नवीन शब्द प्रचलित हो जाते हैं, अतः उन शब्दों का लोप हो जाता है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से ऐसे सैकड़ों शब्दों का ज्ञान होता है जो कि उस समय प्रचलित थे, परन्तु उन अर्थों के विद्यमान होते हुए भी उन शब्दों का प्रयोग नहीं रहा, क्योंकि उन अर्थों में नवीन शब्द प्रचलित हो गए हैं। धूमिवो, अन्तरिक्ष, मेघ रात्रि, वाष्पी जल, नदी पुंस आदि किन्तु ही पर्यायवाची निर्पटु, में दिए गए हैं परन्तु उनमें से बहुत ही कम संस्कृत साहित्य में प्रचलित रहे यथा पूष्पी के लिए म्ना, म्ना का, रिपः, गाधुः, मेघ के लिए अग्नि गोत्र मज षड, वराह अग्नि, अक्षर जल के लिए कबन्ध पुरीय पिप्पल, बिप करा, पुंस, मदी के लिए अवनि का पनी, वधू, र्वी, धुनि आदि शब्द संस्कृत साहित्य में सर्वथा प्राप्त नहीं होते हैं।

अर्थ निरूपण के साधन

यास्क, पाणिनि, पतञ्जलि और महर्हरि ने शब्दों की नानार्थकता पर विरोध प्रकरा डाला है। इस विषय का विस्तृत विवेचन अध्याय ३ में किया जा चुका है।

वैयाकरणों के 'सर्वे सर्वार्थवाचका' सिद्धान्त के अनुकूल तथा यास्क के निर्वचन साम्ब, साधरय आदि के अनुकूल संस्कृति के विकास के साथ एक शब्द के नाना अर्थ हो गए हैं। अनिपाराधि जब यौगिक अर्थ के आधार पर अन्य रूप से अने अर्थ का बोध कराने लगती है, तब यह आश्चर्यक होता है कि शब्दों से निरिचत अर्थ का घोटन और बोध कैसे हो, इस पर विचार किया जाय। पतञ्जलि और महर्हरि ने इस विषय पर विरोध प्रकरा डाला है। नामकरण के विषय में यह लिखा जा चुका है कि नाम मारम्भ में अन्वय होते हुए भी वाद में यौगिक अर्थ न प्रकट कर अर्थ विरोध में लक्ष हो जाते हैं और लक्ष शब्दार्थ प्रकृत होते हैं। इसके

कारण अर्थ के एक बहुत बड़े भाग के अर्थ निरचय के प्रश्न का समाधान हो जाता है। मट्टहरि ने अर्थ निरचय के निम्न साधनों का उल्लेख किया है।

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।

अथ : प्रकरणं लिंगं शब्दस्थान्यस्य सन्निधिः ॥

सामर्थ्यमौचित्यी वेशः कालो व्यक्तः स्वराद्यम् ।

शब्दार्थस्थानबन्धे विशेषस्मृतिर्हेतवः ॥

वाक्य० २. ३१७ से ३१८ ।

१—संयोग, किसी वस्तु का किसी के साथ प्रसिद्ध सम्बन्ध होता है, इसके आधार पर नानार्थक शब्द के अर्थ का संयोग-निर्देश द्वारा अर्थ निर्णय हो जाता है, हरि शब्द के कई अर्थ हैं।

यमानिलेम्प्रचन्द्रार्कविष्णुसिद्धांशुपाक्षिपु ।

शुक्राह्निकपिमेकेषु हरिर्ना कपिले पियु । अमरकोश ।

विष्णु, सिंह, वानर, किरण, अरब, सूर्य, आदि। किन्तु 'संज्ञाशब्दको हरि' में हरि से विष्णु का ही बोध होगा, क्योंकि विष्णु ही शंख चक्र से युक्त हैं, गौ के नाना अर्थ हैं, पृथ्वी, गाय, किरण बेल, वाखी, आदि परन्तु सबत्सा गौः से गाय का ही अर्थ बोध होगा। 'धेनु' शब्द गाय के अतिरिक्त प्रत्येक वृष देने वाले पशु (स्त्रीलिंग) के लिए आता है, परन्तु सबत्सा धेनु से गाय का सक्षिरोराधेनु से बड़वा (भोड़ी) का, सकरमाधेनु से इधिनी या उन्नी का। प्रवीप, महा भाष्य, १, ३, ६६ ।

२—विप्रयोग, प्रसिद्ध संयोग का वियोग निर्दिष्ट हो दो भी इसका ही बोध होगा। यथा उपर्युक्त उदाहरणों में 'अज्ञाशब्दकोहरि' से विष्णु का ही बोध होगा, क्योंकि शंख चक्र का वियोग इसी से होगा। इसी प्रकार 'अबत्सा गौ' में गाय का अबत्सा गौ अक्षिरोरा गौः में गाय आदि का।

३—साहचर्य भागश ने इसका "सहचरितासहचरितमो सहचरितस्यैव मह यम्" परिभाषा द्वारा स्पष्ट किया है कि यदि दो शब्द एकत्र हों तो जिनका साहचर्य देखा गया है उसका ही ग्रहण होगा। परि० ११२। यथा, "रामलक्ष्मणी" में लक्ष्मण के साहचर्य से शारदधि राम का, परशुराम या बलराम का नहीं। "भीमाजुनो" में भीम के साहचर्य से पार्य अर्जुन का, कार्तवीर्य अर्जुन का नहीं।

४—विरोधिता, जिनका विरोध प्रसिद्ध है उनके विरोध का साथ में उल्लेख होने से अर्थ निरचय होता है। यथा, अर्जुनो में अर्जुन के शत्रु कर्ण का उल्लेख होने से पार्य अर्जुन का, कार्तवीर्य का नहीं, रामाजुनो, में प्रसिद्ध शत्रु कार्तवीर्यअर्जुन का उल्लेख होने से राम से परशुराम का, शारदधि राम का नहीं। यहां पर दोनों शब्दों का अर्थ निरचय विरोध से है, विरोधी परशुराम का उल्लेख होने से पार्य अर्जुन का ग्रहण नहीं होगा।

५—अर्थ, पतञ्जलि ने अर्थ निरन्तर के साधनों में अर्थ और प्रकरण इन दोनों पर बहुत अधिक बल दिया और कई स्थानों पर इनका उत्तम मुख्य रूप से किया है। अर्थ का स्पष्टीकरण कैपट ने किया है कि अर्थ से अभिप्राय है, जिस प्रयोजन के लिए वह वाक्य बोला गया है, उसका ही ग्रहण होगा। साथ ही वह अर्थ गृहीत होगा, जिसमें उस अर्थ को पूर्ण करने की सामर्थ्य हो यथा, 'गोपालकमानय, मायवकमव्यापयिष्यति' गोपाल के दोनों अर्थ हैं १—गवाला, २—व्यक्ति विरोध का नाम। यहाँ पर ज्ञान के अभ्यापन की सामर्थ्य गोपाल नामक व्यक्ति में है अतः उसका ग्रहण होगा। यहाँ अभ्यापन प्रयोजन है। "स्यात् बन्धे" में बन्धना प्रयोजन के कारण शिव का ग्रहण होगा, स्वप्न का नहीं।

अर्थात् प्रकरणाद् वा लोके द्वयोरैकस्याभिनिवृत्तिः ।

महा ६, १, ८४ ।

६—प्रकरण, मर्दाहरि ने भी स्वान-स्वान पर अर्थ निरन्तर के मुख्य साधन अर्थ और प्रकरण ही बन्देख किए हैं (वाक्य० २, ३३५)। शम्भुराजि प्रकरण में जगदीश ने प्रकरण को अर्थ निरन्तर का मुख्य साधन बताया है। (शम्भुराजि पृ १७३)। वर्तमान पारथाय विद्वान् भी प्रकरण को ही मुख्य साधन मानते हैं, आग्नेय रिचार्ड्स ने 'मीनिङ् आब् मीनिङ्' (अभ्यास ३ और १) में इस पर बहुत अधिक बल दिया और प्रकरण के ही अर्थ निरन्तर को मुख्य साधन सिद्ध किया है। मागेरा ने स्पष्ट लिखा है कि नानार्थक स्थलों में अर्थ निरन्तर प्रकरण के द्वारा होता है। ऐसा ही पतञ्जलि भी मानते हैं। (उद्योत, महा० १, १, २२) सर्व प्रथम प्रकरण के महत्त्व पर ध्यान यास्क ने आकृष्ट किया है। यास्क ने लिखा है कि 'वेद में मन्त्रों का अर्थ प्रकरण के अनुसार ही करना चाहिए प्रथक् प्रथक् करके नहीं। निरुक्त १३, १२। पही नियम लौकिक वाक्यों पर भी लागू होता है। नानार्थक स्थलों पर भी प्रकरण के द्वारा अर्थ स्पष्ट और निरिचय ज्ञाप होता है। प्रकरण का अर्थ है प्रसंग, अर्थात् सा शब्द या वाक्य किस प्रसंग में कहा या लिखा गया है, इसके ज्ञान से अर्थ निरन्तर होता है। यथा, सैन्यव भानय, में सैन्यव का अर्थ भोजन का प्रसंग होता तो लक्षण का जाना और प्रस्थान या गमन का प्रसंग होता तो अरब अर्थ होगा। वक्ष्य और भेदा की बुद्धि में जो अर्थ रहता है वह प्राकरणिक अर्थ माना जाता है। यथा, "सर्वं जानाति देव" में वार्तालाप में देव का अर्थ 'आप' होगा।

७—किंग, बिह विरोध जिससे किसी विरोध का ही अर्थ समझा जाता है उस बिह का उत्तम ज्ञान से अर्थनिर्णय होता है। "कृपितो मकरपञ्ज" में मकरपञ्ज से कामदेव का ही बोध होगा, क्योंकि मकरबिह उसकी पत्नी में है। मकरपञ्ज का ग्रहण नहीं होगा।

८—अन्य शब्द का सामिप्य, अन्य शब्द की समीपता के कारण अर्थ का निरन्तर हो जाता है, पतञ्जलि ने अतएव कहा है कि "प्रत्येक शब्द अन्य

राज्य के साथ सम्बन्ध होने पर विशेष वाचक हो जाता है" (महा० २, १, ५५) यथा, "रामो जामदग्न्यः" में जामदग्न्य के सामिप्य से राम से पररगुणम का और "रामो वारारविः" में रामचन्द्र का महण होता है । 'देव' पुरारि' में देव से शिव का ।

१—सामर्थ्य, जिसमें इस कार्य या भाव की सामर्थ्य होगी, वही अर्थ का महण होगा । यथा, "मधुना मत्तः पिकः" में पिक को मत्त करने की सामर्थ्य बसव अतु में है, अतः मधु से बसन्त का महण होगा, राहव, सुग या मधु राहस का नहीं ।

१ — औचित्य, वाक्य में जो अर्थ उचित^१ एवं संगत होगा, वही का महण होगा । यथा "पातु वो दयितामुखम्" में मुख का अर्थ साम्मुख्य किया जाएगा । क्योंकि वही (प्रेयसी का साम्मुख्य) विरही नायक की रक्षा कर सकता है । पुष्यराज ने औचित्य का अभिप्राय बर्णन करते हुए लिखा है कि यदि वाक्य में कुछ शब्दों का प्रयोग न किया गया हो तो औचित्य के आधार पर वह अर्थ समझ लिया जाता है ।

११—वेरा, नानार्थ शब्द का वाक्य में स्थान या वेरा का निर्देश होने से ही अर्थ निर्णय हो जाता है । यथा, "विभाषि गगने चन्द्र" में गगन का निर्देश होने से चन्द्र का अर्थ चंद्रमा होगा, कपूर नहीं । "मात्यग्र परमेरवरः" में राजधानी का निर्देश होने से परमेरवर से राजा का पर आत्मा का नहीं ।

१२—काल, वाक्य में काल का व्यंजक होने से भी अर्थ निर्णय हो जाता है । यथा, विप्रभानु का अर्थ सूर्य और अग्नि दोनों हैं । पर "निरा विप्र भानु" में निरा कहने से अग्नि का और "दिवो विप्रभानुः" में सूर्य का । पुष्यराज ने इसका उदाहरण दिया है कि मीमा काल में "द्वारम्" कहने पर इसका अर्थ होगा, द्वार को बन्द कर दो और शिशिर में द्वारम् का अर्थ होगा द्वार खोल दो ।

१३—व्यक्ति, व्यक्ति से वाच्य है पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग का । एक ही शब्द विभिन्न लिंगों में विभिन्न अर्थ बोधित करता है अतः लिंग के द्वारा अर्थ निर्णय हो जाता है । यथा मित्र शब्द का पुल्लिङ्ग में सूर्य और नपुंसकलिङ्ग में सुहृद् अर्थ होता है । 'मित्रो भाषि' में सूर्य और "मित्रं भाषि" में सुहृद् अर्थ होगा । अर्थशब्द नपुंसक में समविभाग का और पुल्लिङ्ग में सम या विषम रूप दोनों विभाग का बोधक होता है । गी शब्द का पुल्लिङ्ग में अर्थ है वैद्य और स्त्रीलिङ्ग में गाय । अतः गी बन्धा' में गाय का अर्थ किया जाएगा ।

१४—स्वर उच्चारण अनुवाच, स्वरित आदि के द्वारा अर्थ निर्णय हो जाता है । स्वर के द्वारा अर्थनिर्णय वेद में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण अर्थ निरचय का साधन है ।

स्वर का मंत्र में निर्वेश देखकर अर्थ निरचय करने में कठिनाई नहीं होती है। पठ लक्ष्मि ने स्वर के द्वारा अर्थ निरचय के दो उदाहरण दिए हैं यथा, "इन्द्रराजुर्बर्षस्व" यदि इन्द्रराज् राज् सत्पुरुष समास द्वारा अन्वोवाच होगा तो इसका अर्थ होगा इन्द्र का राज्। अर्थात् (नाराज्) (वृत्र) विजयी हो। यदि बहुव्रीहि समास द्वारा आद्युवाच होगा तो इसका अर्थ होगा इन्द्र है राज् (नाराज्) जिसका, यह (इन्द्र) विजयी हो। वृत्र ने इन्द्र के मारने के लिए यह में इस अभिचार मन्त्र का पाठ कराया था। अन्वोवाच के स्थान पर आद्युवाच उच्चारण करने से इन्द्र के स्थान पर वृत्र का ही बंध हो गया। इसी प्रकार "स्यूलपृपतीमाभिवाद्यिमा नाह्वाहीमासमेव" में अन्वोवाच स्यूलपृपतीका अर्थ होगा स्यूल चिह्न और बहु व्रीहि समास में आद्युवाच होने पर इसका अर्थ होगा स्यूल चिह्नो ये युक्त।

१५—सत्य-यत्स्य, कारिकाओं में आदि शब्द के प्रयोग की व्याख्या में पुष्य राज ने सत्य-यत्स्य का भेद और यत्स्य-नत्व का भेद भी अर्थ निरचय का साधन परिगणित किया है। यथा "सु सिद्धम्" में अनुपसर्ग होने से मूर्धन्य प न होने से सु का अर्थ पूजा प्राप्त होता है और "सुपिद्धम्" में मूर्धन्य प होने से, यह उपसर्ग है, प्राप्त होता है।

१६—यत्स्य-नत्व, यत्स्य और नत्व के अन्तर से भी अर्थ निरचय होता है। यथा, प्रथमक का अर्थ होगा, प्रणयन कर्ता (अभ्य लेखक) परन्तु प्रनायक का अर्थ होगा, प्रगत है नायक जिसका, अर्थात् नायकहीन। (राज-रहित, देरा)।

१७—अभिनय, साहित्याचार्यों ने आदि शब्द के द्वारा अभिनय का भी महत्त्व किया है। इंगित आकार प्रकार आदि के द्वारा अर्थ निरचय होता है। ऐसे वाक्य जिनमें "इयत्, एतावत्, तावत्, यावत्" आदि शब्दों का प्रयोग एक से अधिक बार परिमाणभेद को लेकर हुआ है, अभिनय द्वारा ही निरचित बताया जा सकता है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण (परिच्छेद २) में इसका उदाहरण लिखा है,

एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राम्यामदिपत्राम्याम्।

एतावन्मात्रावस्या एतावन्मात्रैर्दिवसैः।

इसमें एतावत् शब्द का प्रयोग भिन्न परिमाण बोधन में है। हस्त संकेत के द्वारा स्तनों की पृथुता, नेत्रों की विराजता, शरीर की उज्वलता, और बिचसों (बर्षों) का उंगलियों पर गणना के द्वारा नायिका का वयन वृत्ती नायक के सम्मुख करी है।

१८—वाक्य, मत्तु हरि ने एक अन्य श्लोक में अर्थनिरचय के साधनों में वाक्य, प्रकरण अर्थ औचित्य, देरा, और काल का परिगणन किया है, अन्य साधनों के उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं। पुष्यराज ने वाक्य से अर्थनिर्याय पर प्रकारा भासते हुए लिखा है कि वाक्यगत सम्बन्ध शब्द के अर्थ का निर्याय करता है। यथा, "कटं करोति भीष्मदुषारं वरानीयम्" में कट का करोति

क्रिया से सम्बन्ध होने पर भीष्म का अर्थ होगा "बहुत बड़ी (पट्टाई)"। यहाँ भीष्म से भीष्मपितामह का ज्ञान नहीं होगा।

१६—बच्चा की भावना, पुण्यराज ने उपर्युक्त श्लोकों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि यह शब्दार्थ निर्णय के उपायों का विन्दनमात्र है। अस्य भी अर्थ निरवय के साधनों का अनुसंधान करना चाहिए।

वक्ष्यात् प्रकरणावर्थावौचित्याद् देशकालतः ।

शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपावत् केवलात् ॥

वाक्य०, २, ३१६ ।

पतञ्जलि और भट्टहरि ने बच्चा की भावना का ज्ञान प्राप्त करना अर्थ निर्णय में मुख्य साधन बताया है। मानार्थक शब्दों में बच्चा जिस अर्थ में उसका प्रयोग करता है, उस शब्द का वही अर्थ होगा। (महा १, १, ५५) तथा (वाक्य २, ४ ६)। एक ही वाक्य को बच्चा जब समानरूप से बालेगा तो उसका अर्थ एक होगा और उसका वह अर्थ रूप में या काङ्करूप में बोलेंगे तो उसका अर्थ सर्वथा विपरीत होगा। यथा—

अपकृतं बहु सच किमुष्यते सुमनता प्रथिता मन्वता परम् ।

विष्वदीदृशमेव सदा सके सुचितमास्व ततः शरदी शतम् ॥

सा० वर्षेण, परि० २ ।

इस श्लोक में सामान्यार्थ उपकारी मित्र की प्रशंसा और उसके धर्मवाद प्रतीत होता है। परन्तु यह श्लोक अर्थ रूप से एक उपकारी के लिये प्रयुक्त किया गया है। अतः इसका अर्थ सामान्यार्थ के सर्वथा विपरीत अप्रशंसा और धृष्टा प्रकट करता है।

२०—अर्बकृत आन्तर्य या अन्वय प्रातिशास्त्रप्रदीपशिष्या के प्रयोग का कथन है कि "दूरस्थस्यापि अर्बतः सम्बन्धो प्राह"।

यस्य मेतार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः ।

अर्बतो ह्यसमानावामान्तयमकारणम् ॥

दिसक दिसक साथ अर्बकृत आन्तर्य है, वह दूरस्थ होते हुए भी समीपस्थ होता है। अथ पतञ्जलि ने (महा० १, १, ५०) कहा है कि "वाक्य में विभिन्न स्थानों पर पड़े हुए शब्दों का भी वभाव म्य सम्बन्ध किया जाता है। उन्होंने इसका मनोर्दयक उदाहरण दिया है, यथा, "अनङ्वाहमुद्धारि वा त्वं हरसि शिरसा कुर्म मगिनि सापीनमभिधान्तमद्रापीः" यह वाक्य सर्वथा असंगत एवं निरर्थक प्रतीत होता है परन्तु इसका ठीक अन्वय कर देने पर इसके अर्थ का ठीक निरवय हो जाता है। इसका अन्वय करने पर इसका रूप यह होता है "उद्धारि मगिनि, वा त्वं कुर्म हरसि शिरसा, अनङ्वाह सापीनमभिधान्त मद्रापी" (हे अज्ञ-

हारिणी भगिनी, जो कि तुम सिर पर धका ले जा रही हो क्या तुमने ठिरछे भागते हुए पैल को देखा है)। केचट ने अतएव कहा है कि "पाठ क्रम से अर्थक्रम बलवान् होता है, इसीलिए अर्थक्रम के अनुसार शब्दों का सम्बन्ध किया जाता है। महीप, महा० ६, १ २०।

२१—अन्वयव्यतिरेक, पतञ्जलि या मट्टहरि ने अन्वय और व्यतिरेक को भी अर्थज्ञान और अर्थनिरणय का मुख्यकारण माना है। मट्टहरि का तो यहां तक कथन है कि अन्वय और व्यतिरेक ही सारे व्यवहार के आधार हैं।

अन्वयव्यतिरेकी तु व्यवहारनिवन्धनम्। वाक्य २, १२।

पतञ्जलि ने व्याहरण दिया है कि प्रकृति का क्या अर्थ है और मत्स्य का क्या अर्थ है इसका निरणय अन्वय व्यतिरेक से ही होता है। यथा, पचति पचत इत्यादि। घातु का अर्थ है विकल्पात् क्रिया और मत्स्य का अर्थ है कर्त्ता एकवचन द्विवचन आदि। इसी प्रकार कथानक में राजा के पूर्वोक्त वाक्यों से अन्वय के कारण अर्थ निरणय हो जाता है। यथा, राजा-राज्ञी आदि शब्दों के अन्वय से इस कथानक में उसी राजा और राज्ञी का बोध होगा।

२२—व्याख्यान, पतञ्जलि ने सिखा है कि "संदिग्ध होने पर ही नियम की आवश्यकता होती है जहाँ पर अर्थ-निरणय में संदिग्ध नहीं होगा वहाँ पर नियम की आवश्यकता नहीं होगी। आगे एक स्थल पर फिर उन्होंने सिखा है कि कहीं कहीं दोनों अर्थ मुख्य बल वाले होते हैं वहाँ पर एक भी अर्थ की प्रकृति नहीं हो सकती। कई प्रकरणों में ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है जहाँ पर दोनों अर्थ लग सकते हैं। वहाँ पर या तो दोनों ही अर्थ नहीं लग सकते या दोनों ही प्राप्त होते हैं। ऐसे स्थलों के लिए पतञ्जलि ने कहा है कि संदिग्ध मानकर अर्थ नहीं छोड़ दिया जाएगा। अपितु आचार्यों के व्याख्यान (विहरण) के आधार पर अर्थ लिया जाएगा और वही अर्थ माना जाएगा। यथा "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" में सिद्ध शब्द का अर्थ संदिग्ध है। आचार्यों के व्याख्यान में "नित्य" अर्थ स्वीकार किया गया है। महा० आ० १ तथा परिभाषेन्दु शेखर परिभाषा ६।

२३—ज्ञानरूप (बौद्ध) प्रकरण, नागेश न परिभाषेन्दु में "ज्ञानरूपप्रकरणम्" (परिभाषा० ६) ज्ञानरूप प्रकरण का भी उल्लेख किया है। ज्ञानरूप प्रकरण अर्थ-निरणय का मुख्य साधन है। मनुष्य के ज्ञान में पूर्व कही हुई बातों का संस्मरण पक्का रहता है। जब उस विषय की कोई बात पुनः कही जाती है तो पूर्व ज्ञान को स्मृति से अर्थ निरणय हो जाता है। यथा, रामायण महाभारत का कथानक जिसने सुन रक्खा है, उसके मस्तिष्क में वह कथानक विद्यमान है। अतः पुनः कभी भी रामायण में राजा आदि शब्द पढ़ते ही उस राजाविशेष का निरणय हो जाता है।

२४—सामान्यज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान, पतञ्जलि ने सामान्यज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान को भी अर्थनिरूपण का साधन बताया है।

अवचनात् आर्कविज्ञानात् सिद्धम् । महा० १ १ ६४ ।

पतञ्जलि ने बहुत से उदाहरणों द्वारा बताया है कि मनुष्य को सामान्य ज्ञान होगा तो वह वाक्य का अर्थ-निरूपण सरलता से कर लेगा। यथा, 'अमीपां ब्राह्मणानामन्त्याम् पूर्व आनीयताम्' इस वाक्य में अन्त्य से पूर्व को ले आओ, इसमें सामान्य ज्ञान से अन्त्य से पूर्व ब्राह्मण का ही आनवन होगा। कितनी ही बातें जो स्पष्ट रूप से नहीं कही जाती हैं या नहीं कही गई हैं, उनके सामान्य ज्ञान के द्वारा निरूपण कर लिया जाता है।

२५—शब्दाभ्याहार, पतञ्जलि और मण्डूक्य ने लिखा है कि पूरे वाक्य के स्थान में वाक्य के एक शब्द का भी प्रयोग होता है। ऐसे स्थलों पर अर्थ का निरूपण अग्रयुक्त शब्द के अभ्याहार के द्वारा ही किया जाता है। (महा० १, १ ४४) तथा पुत्रयराज, (वाक्य २, ३३८)। यथा प्रविश, विवर्द्धिम्, प्रविश तर्पणम् इन वाक्यों में अर्थ निरूपण अभ्याहार के द्वारा ही होगा, पर में पुंसो, मोक्षन साधो, पर में पुंसो, तर्पण कृतो, इसी प्रकार 'कुवामवान्' का अर्थ निरूपण आगच्छति क्रिया के अभ्याहार से होगा। अर्थात् आप आ रहे हैं। अभ्याहार किस प्रकार से होता है इसके विषय में पतञ्जलि और मण्डूक्य का कथन है कि अर्थ और प्रकरण से अग्रयुक्त शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है। पुत्रयराज, वाक्य० २, ३३८ ।

भवति वै कस्यचिदप्यात् प्रकरणाद् वा पेश्यं मिश्रितम् ।

महा० २, २, ११ ।

२६—युक्तिसंगतता, पतञ्जलि ने अर्थ निरूपण तथा इसी प्रकार के अन्य संक्षिप्त या विवाच्यवस्तुविषयों के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है कि 'अर्थ नाम महेतुक तन्वाच्यम्' (महा १ ३ ६) जो भी अर्थ युक्तिसंगत एवं प्राकरणिक ज्ञात हो वही अर्थ स्वीकार करना चाहिए। यह एक सामान्य नियम है जो सर्वत्र लागू होता है।

पुत्रयराज ने अर्थनिरूपण के प्रकरण में लिखा है कि कतिपय भाषाओं का मत है कि केवल सामर्थ्य ही अर्थ निरूपण का साधन है। अर्थ, प्रकरण आदि के द्वारा अर्थ निरूपण किया जाता है, वह भी सामर्थ्य से मतीव होता है। संसर्ग आदि जो ब्यापक ब्याप्य गये हैं, वह भी सामर्थ्य को ही व्यक्त करते हैं अतः केवल सामर्थ्य ही अर्थनिरूपण का साधन है। सामर्थ्य का अर्थ व्यापक रूप में यह है कि कौन सा अर्थ वाक्यार्थ का स्पष्ट करवा है तथा प्राकरणिक और युक्तिसंगत है। पुत्रयराज २, ३१७ ।

वर्तमान मापराश्री सामर्थ्य के रूपान्तर प्रकरण को ही अर्थनिरूपण का साधन मानते हैं। इन्होंने पात्रल ने अपने 'प्रतिपक्ष आत् लैन्वेज' के (अध्याय ४) में इस विषय पर विशेष विवेचन किया है। उन्होंने निम्न बातों की ओर विशेष ध्यान दिखाया है —

१—वक्ता और श्रोता का समान अवधारणा ।

२—वक्ता के पूर्वोक्त वाक्य आदि ।

३—विरोध सामर्थ्य, वह सामर्थ्य वक्ता और श्रोता की समानस्विति, समान आयु, समानभेदी, समानव्यापार या अन्य समानताओं से प्राप्त होती है ।

४—अन्य शब्दों के सांनिध्य या संयोग से ।

५—अनिश्चित अर्थ वाले शब्द के सम्बन्धी शब्द के द्वारा ।

ये कारण उपर्युक्त लिखे गए कारणों के ही अन्तर्गत आ जाते हैं, अतः यहाँ विरोध उदाहरणों के बिना आवश्यक प्रतीत नहीं होता है ।

अध्याय—५

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

शब्द की उपयोगिता पतञ्जलि ने अर्थ का बोध कराना बताया है। शब्द और अर्थ (बस्तु) में कोई सम्बन्ध है या नहीं इस विषय में भारतीय वैयाकरण्यों तथा दार्शनिकों में, पर्याप्त मतभेद है। वैयाकरण्यों के मत का वर्णन पतञ्जलि, मयूरि, कियत, नागेश आदि ने विरोध विस्तार के साथ किया है। वैयाकरण्यों के मत का प्रथम वर्णन करने के बाद अन्य दार्शनिक विचारों का संक्षिप्त वर्णन किया जाएगा।

पतञ्जलि का मत—पतञ्जलि ने 'सिद्धशब्दार्थसम्बन्ध' (महा भा १) की व्याख्या कर के यह स्पष्ट किया है कि पाणिनि और कात्यायन शब्द और अर्थ में सम्बन्ध को मानते हैं और वह सम्बन्ध नित्य है।

सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे च । नित्यो अर्थवतामर्थैरमित्यसम्बन्धः ।

महा० भा० १ ।

कियत ने यह स्पष्ट किया है कि शब्द की अर्थ के साथ सम्बन्ध की नित्यता का क्या माय है शब्द में अर्थ को बोध करने की योग्यता नामक शक्ति स्वाभाविक है। शब्द में यह स्वाभाविक योग्यता है कि वह जब उच्चारण किया जाता है, अर्थ की उपस्थिति करता है। इन्हीं रूपी अर्थ के अनित्य होने पर भी सम्बन्ध को नित्य कहते हैं, क्योंकि अर्थबोधन की योग्यता शब्द में रहती है और शब्द नित्य है।

अनित्येऽर्थे कथं सम्बन्धस्य नित्यतेति चेद्-पाग्वतालक्षणात्सम्बन्धस्य । तस्याश्च शब्दाभ्यस्तात् शब्दस्य च नित्यतात् । प्रथीप महा भा० १ ।

व्याडि का मत—हरिद्वय ने संसद् ग्रन्थ से व्याडि का श्लोक उद्धृत किया है। व्याडि का कथन है कि शब्द और वेद में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध करने वाला कोई व्यक्ति नहीं है। शब्दों के द्वारा ही शब्दों का सम्बन्ध कैसे किया जा सकता है।

सम्बन्धस्य न कर्तारित शब्दानां श्लोकशेषोः ।

शब्देऽत्र हि शब्दानां संबन्धा स्यात् छत कथम् ।

वाक्य १, २६ ।

यहाँ पर यह ध्यान रखना जरूरत है कि व्याकरण के विवेकन में अर्थ राष्ट्र हो अर्थों को लेकर प्रयुक्त हुआ है। 'अर्थ' का एक अर्थ राष्ट्रार्थ (माने) है और दूसरा वाच्य वस्तु है। राष्ट्र का राष्ट्रार्थ के साथ, जैसे 'गा' राष्ट्र का गाय अर्थ के साथ कब किस व्यक्ति ने सम्बन्ध किया है अर्थात् गा आदि राष्ट्रों का यह अर्थ है, कि कब व्यक्ति ने सर्वप्रथम यह प्रयोग प्रयोगात् यह कोई नहीं बता सकता है। अतएव इस प्रकार के सम्बन्ध को व्यवहार परम्परा के कारण अनाविमानकर राष्ट्र और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य कहा जाता है। हरियूपम और क्वेट इसी प्रकार की नित्यता का प्रतिपादन करते हैं। राष्ट्र और वस्तुओं का सम्बन्ध स्वाभाविक है। राष्ट्र का वस्तु के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध यह है कि यदि राष्ट्र का वस्तु के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध न होता तो राष्ट्र के उच्चारण करने पर वस्तु का ज्ञान नहीं होता, परन्तु अनुभव में देखा जाता है कि राष्ट्र से वस्तु का ज्ञान होता है अतः राष्ट्र और वस्तु का यह सम्बन्ध स्वाभाविक है।

सम्बन्धो हि नित्यः । स हि नेवंप्रथमतया राक्ष्यं कर्तुम्, अर्थाद्विराजस्याराक्ष्यं कर्तव्यत्वात् किन्त्वैस्वत्किञ्च स्वभावसिद्धोऽनावि प्राप्ताविच्छेद इति नित्यः । हरिदूपम, वाक्य० १, २३।

सम्बन्धस्यापि व्यवहारपरम्परयाऽगादित्वात्प्रित्यता ।

प्रदीप महा० आ० १।

व्याहृति ने जिस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, वह यह है कि राष्ट्र के साथ अर्थ सदा रहता है। जहाँ राष्ट्र है वहाँ अर्थ है और जहाँ अर्थ है वहाँ राष्ट्र है। ऐसी स्थिति नहीं बताई जा सकती जब (सायक) राष्ट्र बिना अर्थ के रहा हो और फिर किसी ने राष्ट्र और अर्थ को सम्बन्ध किया हो। यहाँ पर राष्ट्र में अर्थ बोधकता के सम्बन्ध का अभिप्राय है। राष्ट्र विशेष के अर्थ से सम्बन्ध का नहीं। एक बार राष्ट्र से अर्थ का बोध होना सिद्ध होने पर बाह्य में व्याप्तोपदेश, व्याप्त्योपदेश आदि से कितने ही राष्ट्रों की मर्जीन सृष्टि होती है और उनसे नवीन अर्थों का बोध होता है। प्रश्न सबसे प्रथम राष्ट्र और अर्थ से सम्बन्ध का है। राष्ट्र से अर्थ के सम्बन्ध का सामन्य भी राष्ट्र है, अतः जब तक पहले किसी राष्ट्र से अर्थ का सम्बन्ध ज्ञात नहीं होगा, तब तक अन्य राष्ट्रों से अर्थ का सम्बन्ध नहीं किया जा सकता। इसी भाव को व्याहृति ने अपने पद्य में व्यक्त किया है।

मर्तुः हरि का मत—महर्षि ने राष्ट्र और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता को अपना मतव्य बताते हुए लिखा है कि प्राचीन सूत्रकार, बार्तिककार और भाष्यकार महर्षियों ने राष्ट्रार्थ सम्बन्ध को नित्य ही बताया है।

नित्यः राष्ट्रार्थसंबन्धा समाप्ताता महर्षिभिः ।

सूत्रार्थां चानुत्तन्वासां भाष्यासांश्च प्रथेदभिः ॥

वाक्य० १ २३।

सूत्रकार मैमिनि ने नित्यवा का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध नि य है, अर्थात् स्वभावसिद्ध और अनादि है। शब्दरक्षामी ने औत्पत्तिक शब्द का अर्थ नित्य बताया है।

औत्पत्तिकस्तु शब्दत्पार्थेय सम्बन्ध ॥ मीमांसा० १, १, ५ ।

वार्तिककार कात्यायन ने "सिद्धेश्चाप्यर्थसम्बन्धे" स्पष्ट रूप से लिखा ही है। पतञ्जलि ने 'अभिधानं पुन स्वामाविकम्' (महा २, १, १) अर्थात् शब्द में अर्थ बोधकता का गुण स्वामाविक है, कहकर इस सम्बन्ध की स्वामाविकता का प्रतिपादन किया है।

शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता पर जो आक्षेप किए गये हैं उनका कुमाखि ने श्लोकवार्तिक में विस्तार से खरबन किया है। आक्षेपों का अर्थान आने किया आबगा।

शब्द और अर्थ (वस्तु) में सम्बन्ध है। इसके लिय निम्न कतिपय पुक्तियाँ बियाकरखों ने दी है।

श्लोक-व्यवहार—कात्यायन और पतञ्जलि ने श्लोक व्यवहार को करण बताया है, जिससे ज्ञात होता है कि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध स्वामाविकरूप से है। यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध न हो तो श्लोकिक व्यवहार नहीं चल सकता। पर शब्द करने पर यदि शब्द का वस्तु से सम्बन्ध नहीं होता तो क्या वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता।

कथं ज्ञायते सिद्धं शब्दाऽर्थं सम्बन्धश्चेति "श्लोकतः"।

महा० आ० १ ।

दृढ-व्यवहार—कैपट ने बताया है कि दृढव्यवहार से शब्द और वस्तु के सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

तन्माद् दृढव्यवहारादेव शब्दार्थसम्बन्धव्युत्पत्तिः ।

प्रतीप, महा २, १ ।

बासक आवाप और उदाप की पद्धति से शब्द का वस्तु से सम्बन्ध समझता है। जब एक दृढ दूसरे दृढ को करता है कि "गामानय" (गाय लाओ), एक दूसरा गाय लाता है। इस प्रकार 'गं मय' (गाय ले जाओ), "अम्बमानय" (बोझ लाओ) आदि आदेशों को पान पर वस्तुओं के ज्ञान से बासक को ज्ञान होता है कि इस शब्द का इस वस्तु से सम्बन्ध है। उसे गाय अथवा अग्नि शब्दों का वस्तुओं के साथ सम्बन्ध ज्ञात हो जाता है। सर्वप्रथम यह स बन्ध ज्ञान विभिन्न गुणों से युक्त व्याकृतिरूप में ही होता है। पृ० १६ तथा ४६—४६५ ।

मागरी ने उपर्युक्त उदाहरणों में इस बात पर ध्यान आकृष्ट किया है कि प्रयो-वक और प्रयोम्य दृढ के व्यवहार को दृढकर बासक इस बात का अनुमान करता है कि प्रयोम्य दृढ को गा गम्ब क अर्थ का ज्ञान हुआ है, अथ वह जाने के लिए प्रयुक्त हुआ है। इससे यह गा शब्द को गाय पशु के ज्ञान का कारण सम

भ्रता है। सम्बन्ध के बिना कारणता नहीं हो सकती, अतः गो शब्द और गाय नामक पशु में सम्बन्ध की कल्पना करता है। मञ्जूषा पृ० २१।

सम्बन्ध नियामक है—मर्तृहरि और उनके व्याख्याकार हेलाराज ने सम्बन्ध समुद्रेश (वाक्य० कांड ३ पृष्ठ ३६ से १३८) में सम्बन्ध के विभिन्न अर्थों का बहुत विस्तार से विवेचन किया है। सबसे प्रथम यह ध्यान रखना चाहिए कि शब्द के द्वारा जो अर्थ का बोध होता है, उसमें सम्बन्ध ही कारण है। यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध न हो तो प्रत्येक शब्द से प्रत्येक वस्तु की प्रतीति होने लगती।

शब्देनार्थस्याभिधाने सम्बन्धो हेतुः, अन्यथा सर्वं सर्वेण प्रत्याप्येत। हेला राज, वाक्य ३, पृष्ठ ३९।

सुप्-बोध में तीन तर्कों की सहा—मर्तृहरि का कथन है कि जब शब्दों का उच्चारण किया जाता है तो उनसे तीन तर्कों की प्रतीति होती है १—शब्द के स्वरूप का बोध होता है। यथा गो शब्द के प्रयोग में गो शब्द का २—बाह्य अर्थ—गो शब्द से गाय नामक बाह्य अर्थ में विद्यमान पशु का बोध होता है। ३—वक्ता का अभिप्राय—वक्ता ने गो शब्द को गाय का बोध कराने के लिए प्रयोग किया है, इस बात का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार से शब्द स्वरूप, बाह्य अर्थ और वक्ता का अभिप्राय इन तीनों बातों का ज्ञान शब्द से होता है। जब तक इन तीनों में यास्तविक सम्बन्ध न होगा तब तक नियमित रूप से तीनों बातों का बोध नहीं हो सकता। अतएव मर्तृहरि ने सम्बन्ध को स्वामाबिक रूप से विद्यमान माना है।

ज्ञानं प्रयोक्तृर्वाङ्मोऽर्थं स्वरूपं च प्रतीयते।

शब्दैरुच्यरितैरुक्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः।

वाक्य का० ३ पृ० ३६।

प्रयोगणाभिज्वलितैः शब्दैस्त्रितयमवगम्यते। आत्मीयं रूपमर्थस्य फलसाधनं प्रयोक्तुरभिप्रायश्च। न चैतदसति सम्बन्धे नियमेन घटत इति वास्तव सम्बन्धावसायः। हेलाराज, वाक्य० पूर्ववत्।

सम्बन्ध स्वभाषसिद्ध है—हेलाराज का कथन है कि यह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सामयिक अर्थात् किसी पुरुष के द्वारा निर्धारित (सक्रिय) नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द में अर्थ की बोधकता शक्ति का सम्बन्ध अनाविकाल से है। अतएव मर्तृहरि ने "सम्बन्धः समवस्थितः" कहा है अर्थात् यह सम्बन्ध स्वभाषसिद्ध है, किसी पुरुष के द्वारा निर्धारित नहीं। हेलाराज। पूर्ववत्।

शब्द का उपर्युक्त तीनों तर्कों में से प्रथम और द्वितीय अर्थात् स्वरूप और बाह्य अर्थ के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। शब्द वाचक है और स्वरूप तथा

अर्थ उसके वाच्य हैं। ब्रह्म के अभिप्राय के साथ शब्द का कार्य कारय्य रूप सम्बन्ध है। शब्द कारय्य है और ब्रह्म का अभिप्राय उसका कार्य है। हेताराज, पूर्ववत्।

शब्द के स्वरूपों की उपलब्धि—शब्द के स्वरूपों की जब उपलब्धि होती है, तब या तो अर्थ (वाच्यवस्तु) का बोध होता है, या कहीं पर शब्दविपन्नक ज्ञान में सम्बन्ध होता है। इस नियम का अपवाद कहीं नहीं होता। शब्दार्थ के विषय में यह नियम अर्थ के साथ शब्द के सम्बन्ध का बोध कराता है।

प्रतिपत्तिर्मवस्यर्थे ज्ञाने वा संशयः कश्चित्।

स्वरूपेदूपलम्बेषु व्यभिचारो न विद्यते।

वाक्य का ३५ १६।

शब्दार्थ में तादात्म्यबुद्धि—हेताराज ने मर्दहरि के उपर्युक्त कथन को स्पष्ट करते हुए कतिपय बातों पर प्रकाश डाला है। हेताराज का कथन है कि “अर्थ गौ” (यह गौ है) “अवमर्त्यः” (यह गाय है), गाय शब्द और गाय पशु रूप अर्थ में अभिन्नता की प्रतीति होने से शब्द अपने स्वरूप का बोध कराता हुआ ही वस्तु का बोध कराता है। शब्द और अर्थ दोनों में अभिन्नता को महसूस करते हुए ही ‘घट’ इस प्रकार का ज्ञानवाचक कहा जाता है। बुद्धव्यवहार से शब्द और अर्थ दोनों की अभिन्नता की ज्ञेयता ही सम्बन्ध का ज्ञान होता है। जब ‘अर्थ गौ’ (यह गाय है), ऐसा संकेत किया जाता है, तब ‘अवमर्त्य’ यह शब्द का प्रयोग शब्द और अर्थ दोनों में भेद रूप से बोध कराता है। “अवमर्त्य” के प्रयोग से संकेतित पशु का अर्थ बहुत समझ आता है। हेताराज ने इस प्रकार से शब्द और अर्थ में तादात्म्य विवेचन की दृष्टि से भेद रक्खा है, इस बात को स्पष्ट किया है। परन्तु साथ ही यह भी लिखा है कि संकेत की उपयोगिता है। व्यवहार और लौकिक व्यवहार में ऐसी प्रतीति होती है, वही को उचित समझना चाहिए। लौकिक व्यवहार में शब्द और अर्थ में भेद (तादात्म्य) की प्रतीति होती है। हेताराज, वाक्य का ३ प्रस १७।

अर्थ की शुद्धरूपता—शब्द के द्वारा जो अर्थ की प्रतीति होती है, उसमें शब्द अर्थ का जनक है, इस रूप से दोनों के सम्बन्ध का अनुभव नहीं होता है। अपितु अर्थ प्रतीति में अर्थ शब्द रूप ही प्रतीति होता है अर्थात् ज्ञान के समय शब्द और अर्थ में तादात्म्य की प्रतीति होती है शब्दबोध का ऐसा ही स्वभाव है। हेताराज, पूर्ववत्।

यदि अर्थ की शब्दरूप में ही प्रतीति होती है तो अर्थ में वर्णमाला की कहीं उपलब्धि नहीं होती। अर्थात् शब्द के द्वारा अर्थबोध में शब्द और अर्थ का शब्द से भिन्न न अनुभव होने पर शब्द के विभिन्न वर्णों की प्रतीति जाननी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। हेताराज ने इस प्रश्न को ही दार्शनिकप्रक्रिया के अज्ञान का सूचक पताते हुए कहा है कि यहाँ पर वाचक शब्द से अभिप्राय है चित् शक्ति

(ज्ञान) का वाणी रूप व्यापार। इसका दूसरा नाम "शब्दन" है अर्थात् ज्ञान का वाणी रूप में आना। ज्ञान ही शब्दरूप को प्राप्त होकर वाचक होता है। अर्थ का विषय न होने पर भी अर्थानुयोग में जो शब्द इस नाम से व्यवहृत होता है, वह चित्रादि का वाणीरूप व्यापार वाचक शब्द है।

हेलाराज ने इस कथन के द्वारा स्कोट की वाचकता पर ध्यान आकृष्ट किया है। स्कोट की अवस्था में शब्द और अर्थ वाचक और वाच्य में भेद नहीं रहता है। जब ज्ञान प्राण और मन दोनों का आश्रय लेकर वाणीरूप में आने लगता है, तब वाच्य और वाचक का भेद प्रतीत होता है। सम्प्रमा नामक अवस्था में शब्द को वाचक मानते हैं। इस अवस्था में शब्द स्वरूप का बोध कराया हुआ स्वरूप से भिन्न अर्थ को तादात्म्यसम्बन्ध से बोधित करता है। यथा—“गौरयमर्थ” (यह गायबस्तु है)। हेलाराज, पूर्ववत्।

ननु न अर्थमात्रार्थं समुपश्रम्यते । दर्शनानभिज्ञा हेतुना प्रिय इह शब्दो नामवाचकं स उच्यते, योऽयं चिच्छक्तवागात्मा व्यापारः शब्दतापरपर्यायोऽभ्ययमासोऽनुप्राणानुयोगो शब्द इति व्यवहृष्यते । परतस्तु प्राणपूरणनुप्राणितमनो भूमिसमबलमितिनिरस्वभावस्य वाच्यवाचकरूपभिन्नशाब्दाद्वयाऽबलमितिनिरस्वभावस्य । अस्यां च मध्यमाऽत्रस्यायां परामर्शनात्मा वाचकं शब्द । हेलाराज ।

वाच्य में वाचक शब्द वर्णों का ज्ञान इसलिए नहीं होता है कि वाच्य और वाचक का सम्बन्ध बुद्धि में ही होता है। बुद्धि में शब्द के स्वरूप ध्वनि का जो कि वर्णमात्रा रूप है, अभाव रहता है। शब्द वास्तु आवि स्थानों के संघर्ष होने पर वर्णरूप में आता है, इससे पूर्व नहीं। नागेरा ने मंजूषा (पृष्ठ ३६) में अर्थ “वर्णमात्रा नुमवापत्तस्त्विति निरस्तम्” शब्द और अर्थ के बोध अप्यास सम्बन्ध के कारण ही अर्थ में वर्णमात्रा का अनुभव नहीं होता है, कह कर इती मात्र को व्यक्त किया है।

पट्टी विमक्ति का प्रयोग—महर्षिहरि का कथन है कि शब्द और अर्थ(वस्तु) में स्वाभाविक सम्बन्ध है, इसका ज्ञान पट्टी विमक्ति के प्रयोग से ज्ञात होता है। “अस्वभावस्यायं शब्दो वाचक” (इस वस्तु का यह शब्द वाचक है), “अस्य शब्द स्वामयर्थो वाच्य” (इस शब्द का यह अर्थ वाच्य है)। इस प्रकार से पट्टी विमक्ति का प्रयोग बिना सम्बन्ध के नहीं किया जा सकता है अतएव यह ज्ञात होता है कि शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध है। जिन वस्तुओं में इस प्रकार का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है, जैसे पट पट आवि उनके विषय में इस प्रकार वाच्य-वाचकरूप सम्बन्ध का व्यवहार नहीं किया जाता। स्वाभाविक सम्बन्ध होने के कारण ही शब्द और अर्थ में तादात्म्य का व्यवहार किया जाता है। जैसे “गौरयमर्थ” (गा यह अर्थ है)। हेलाराज का० ३ पृ० ३६।

अस्यार्थं वाचको वाच्य इति पद्व्या प्रतीयते ।
योगः शब्दार्थयोस्तावमप्यतो व्यपदिश्यते ॥

वाक्य० ३ पृ० ६६ ।

नागेश ने भी (मंजूषा पृष्ठ ४५) में इसी बुक्ति का प्रतिपादन किया है ।

आप्तोपदेश—नागेश का कथन है कि समय, संकेत, आप्तोपदेश और वृत्त व्यवहार ये चारों शब्द पर्यायवाची हैं । आप्तोपदेश से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होता है । “इस शब्द का यह अर्थ वाच्य है” “इसका यह नाम है ।” “इस शब्द से इस वस्तु का बोध करता” । इस प्रकार आप्तों के उपदेश से वचनरसुर्मा में उन शब्दों का सम्बन्ध ज्ञात होता है । “यह घट है, यह पट है, यह चन्द्रमा है,” इस प्रकार के संकेतों से सम्बन्ध का ज्ञान होता है । मंजूषा पृ० ४६—४७ ।

वेङ्क ने न्यायपरिहृषि (पृष्ठ ३६५) में लिखा है कि वाचक को आप्तोपदेश से जो वस्तुओं का ज्ञान होता है, उससे यह शब्द और अर्थ (वस्तु) में सम्बन्ध की सत्ता को समझता है ।

शब्द से अर्थ की व्यपस्थिति—मदु हरि और हेमाराज ने शब्द और अर्थ में सम्बन्ध है, इसकी पुष्टि में कहा है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर ही शब्द से वस्तु का ज्ञान हो सकता है । शब्दविरोध के द्वारा वस्तुविरोध की नियम से प्रतीति सम्बन्ध को मानने पर ही हो सकती है अन्वया नहीं । वस्तु का शब्द से ज्ञान होता है, इस अर्थबोधनरूपी अर्थ से शब्द और वस्तु में सम्बन्ध है, यह निरर्थक होता है ।

सति प्रत्ययहेतुत्वं सम्बन्ध व्यपघते ।

शब्दन्वार्थे यतस्तत्र संबन्धोऽस्तीति गम्यते ॥

वाक्य० का ३ पृ० ११५ ।

हेमाराज ने मीमांसकों के कथन का खरख देते हुए कहा है कि “शब्द के ज्ञान होने पर अर्थ का ज्ञान होता है इस कार्य से शब्द और अर्थ में सम्बन्ध जाना जाता है, यह कथन भी अपर्युक्त भाव का प्रतिपादक है । हेमाराज, वाक्य पूर्ववत् ।

नागेश ने भी मदु हरि का अपर्युक्त श्लोक सम्बन्ध की सत्ता के प्रतिपादन में उद्धृत किया है । मंजूषा पृष्ठ ३८ ।

हरिद्वय ने मदु हरि के “शब्दानां पत्राच्छित्तवम्” (वाक्य १, ६) की व्याख्या में यह स्पष्ट किया है कि शब्द में वह स्वाभाविक सामर्थ्य है कि वह निवृत्त अर्थ का बोध करता है । इस स्वाभाविक सामर्थ्य से दोनों में सम्बन्ध का ज्ञान होता है ।

राष्ट्रात् यतश्चिन्तय नियतार्थं प्रत्यापनसामर्थ्यम् । हरिपृथम ।

सम्बन्ध का स्वरूप—महर्षि ने यह विचार करके कि राष्ट्र और धर्म में सम्बन्ध है, इस बात पर विचार किया है इस सम्बन्ध का क्या स्वरूप है। हेला राज ने यह प्रश्न पठाया है कि केवल यह कह देने से काम नहीं चल सकता कि राष्ट्र और धर्म में सम्बन्ध है। उसका स्वरूप भी पठाना चाहिए। महर्षि और हेला राज ने इसका उत्तर दिया है कि राष्ट्र और धर्म में जो सम्बन्ध है, वह असाधारण स्वभाव का है। पट्टी विमर्श के अतिरिक्त उसका कोई अन्य वाचक नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध का स्वरूप विशेष नहीं है, अतः 'इयम् (यह है) इस रूप में उसका बोध नहीं कराया जा सकता। इसका कारण यह है कि सम्बन्ध राष्ट्र और धर्म से पूरक कोई सत्ता नहीं रखता है, जिससे उसको पूरक किया जा सके। उसका स्वरूप केवल उसके कार्य से जाना जाता है।

नाभिधाम् स्वधर्मैश्च सवन्धस्यास्ति वाचकम् ।

आत्यन्तपरतन्त्राद् रूपं नास्याऽपदिस्पते ॥

वाक्य ३ पृ २१ ।

उपकार्य उपकारक सम्बन्ध—उपकार्य और उपकारक में उपकारक सम्बन्ध स्वभाव से रहता है, क्योंकि असंभवों में उपकार की सत्ता नहीं रह सकती। जहाँ पर उपकारक सम्बन्ध है वहाँ पर शक्ति नामक धर्म का अनुमान किया जाता है। यह सम्बन्ध ही शक्तियों का भी शक्ति है अर्थात् शक्ति के द्वारा जो कार्य होगा है, उसका निबन्धन भी सम्बन्ध ही है। यह सम्बन्ध गुणों का भी गुण है अर्थात् गुणों का द्रव्य के आविर्भाव रहना इस व्याख्या का कारण भी सम्बन्ध है। अतएव यह सम्बन्ध अत्यन्त परतन्त्र होने से अनुमान के द्वारा जाना जाता है, प्रत्यक्षरूप से नहीं।

उपकारः स यथास्ति धर्मैस्तत्रानुगम्यत ।

शक्तीनामपि सा शक्तिर्गुणानामन्वसौ गुण ॥

वाक्य का ३ पृ १० ।

संयोग और समवाय सम्बन्ध नहीं—महर्षि ने राष्ट्र और धर्म में संयोग और समवाय सम्बन्ध नहीं है, इसका विस्तार से विवेचन किया है। वाक्य ० का ३ पृष्ठ १ १०५ ।

संयोग और समवाय सम्बन्धों के अपने विशेष नियम हैं, जहाँ पर वे रह सकते हैं। राष्ट्र और धर्म में न संयोग सम्बन्ध सम्भव है और न समवाय।

संयोगसमवायाविद्मेह सम्बन्धो घन्याऽम्बेषां दर्शनम् । इलाराज ।

दो प्रकार के सम्बन्ध, योग्यता और कार्य-कारण—महर्षि ने राष्ट्र और धर्म में दो प्रकार के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है। एक योग्यता और दूसरा कार्य-कारण सम्बन्ध।

अस्यार्थं वाचको वाच्य इति पट्ट्या प्रतीयते ।

यागः शब्दार्थयोस्तावमप्यतो व्यपदिश्यते ॥

वाक्य० ३ पृ० ६६ ।

नागेश ने भी (मंजूषा पृष्ठ ४४) में इसी बुक्ति का प्रतिपादन किया है ।

आप्तोपदेश—नागेश का कथन है कि समय, संकेत, आप्तोपदेश और वृत्त व्यवहार ये चारों शब्द पर्यायवाची हैं । आप्तोपदेश से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होता है । “इस शब्द का यह अर्थ वाच्य है” “इसका यह नाम है ।” “इस शब्द से इस वस्तु का बोध करना” । इस प्रकार आप्तों के उपदेश से वचनस्तुत्यों में उन शब्दों का सम्बन्ध ज्ञात होता है । “यह पट है, यह पट है, वह पत्रमा है,” इस प्रकार के संकेतों से सम्बन्ध का ज्ञान होता है । मंजूषा पृ० ४६—४७ ।

वेङ्कट ने न्यायपरिशुद्धि (पृष्ठ ३६५) में लिखा है कि वाचक को आप्तोपदेश से जो वस्तुओं का ज्ञान होता है, उससे वह शब्द और अर्थ (वस्तु) में सम्बन्ध की सत्ता को समझता है ।

शुद्धः सं अर्थ की उपस्थिति—भट्ट हरि और हेमाराज ने शब्द और अर्थ में सम्बन्ध है, इसकी पुष्टि में कहा है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर ही शब्द से वस्तु का ज्ञान हो सकता है । शब्दविरोध के द्वारा वस्तुविरोध की नियम सं प्रतीति मन्वन्व को मानने पर ही हो सकती है, अन्यथा नहीं । वस्तु का शब्द से ज्ञान होता है, इस अर्थबोधनरूपी कार्य से शब्द और वस्तु में सम्बन्ध है, यह निरूपण होता है ।

सति प्रत्ययहेतुत्वं सम्बन्ध उपपद्यते ।

शब्दस्वार्थे पठन्तत्र संबंधोऽस्तीति गम्यते ॥

वाक्य० का ३ पृ० ११४ ।

हेमाराज ने भीमासक्तों के कथन का उद्धरण वृत्त रूप कहा है कि “शब्द के ज्ञान होने पर अर्थ का ज्ञान होता है इस कार्य से शब्द और अर्थ में सम्बन्ध जाना जाता है” यह कथन भी उपर्युक्त भाष का प्रतिपादक है । हेमाराज, वाक्य० पूर्वोक्त ।

नागेश ने भी भट्ट हरि का उपर्युक्त श्लोक सम्बन्ध की सत्ता के प्रतिपादन में उद्धृत किया है । मंजूषा पृष्ठ ३८ ।

हरिद्रुपम ने भट्ट हरि के “शब्दानां वद्व्यक्तित्वम्” (वाक्य १, ६) की व्याख्या में यह स्पष्ट किया है कि शब्द में वह स्वाभाविक सामर्थ्य है कि वह नियत अर्थ का बोध कराता है । इस स्वाभाविक सामर्थ्य से दोनों में सम्बन्ध का ज्ञान होता है ।

शब्दानां षटशक्तिषु नियतार्थं प्रत्यापनसामर्थ्यम् । हरिहरप्रभ ।

सम्बन्ध का स्वरूप—मनु हरि ने यह बिचार करके कि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध है, इस बात पर बिचार किया है हम सम्बन्ध का क्या स्वरूप है। इसलिये राज ने यह प्रश्न उठाया है कि केवल यह कह देने से काम नहीं चल सकता कि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध है। इसका स्वरूप भी बताना चाहिए। मनु हरि और हेछाराज ने इसका उत्तर दिया है कि शब्द और अर्थ में जो सम्बन्ध है, वह असाधारण स्वभाव का है। पृथी विमर्श के अतिरिक्त उसका कोई अन्य मापक नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध का स्वरूप विशेष नहीं है, अतः 'शून्य' (यह है) इस रूप में इसका बोध नहीं कराया जा सकता। इसका कारण यह है कि सम्बन्ध शब्द और अर्थ से पृथक् कोई सत्ता नहीं रखता है, जिससे उसका पृथक् किया जा सके। उसका स्वरूप केवल उसके कार्य से जाना जाता है।

नाभिधानं स्वधर्मैण सवन्धस्यास्ति बाधकम् ।

अत्यन्तपरतन्त्रत्वाद् रूपं नास्याऽपदिश्यते ॥

वाक्य ३ पृ० ६६ ।

उपकार्य उपकारक सम्बन्ध—उपकार्य और उपकारक में उपकारक सम्बन्ध स्वभाव से रहता है, क्योंकि अस. बहों में उपकार की सत्ता नहीं रह सकती। जहाँ पर उपकारक सम्बन्ध है वहाँ पर शक्ति नामक धर्म का अनुमान किया जाता है। यह सम्बन्ध ही शक्तियों का भी शक्ति है अर्थात् शक्ति के द्वारा जो कार्य होता है, उसका नियामक भी सम्बन्ध ही है। यह सम्बन्ध गुणों का भी गुण है अर्थात् गुणों का क्रम के आविष्ट रहना इस व्याख्या का कारण भी सम्बन्ध है। अतएव यह सम्बन्ध अत्यन्त परतन्त्र होने से अनुमान के द्वारा जाना जाता है, प्रत्यक्ष रूप से नहीं।

उपकार' स धनास्ति धर्मस्तथाऽनुगम्यत ।

शक्तीनामपि सा शक्तिर्गुणानामप्यसौ गुणः ॥

वाक्य का ३ पृ० १० ।

सयोग और समवाय सम्बन्ध नहीं—मनु हरि ने शब्द और अर्थ में संयोग और समवाय सम्बन्ध नहीं है, इसका विचार से विवेचन किया है। वाक्य० का० ३ पृष्ठ १ १०५ ।

संयोग और समवाय सम्बन्धों के अपने विशेष नियम हैं, जहाँ पर ब रह सकते हैं। शब्द और अर्थ में न संयोग सम्बन्ध सम्भव है और न समवाय।

संयोगसमवायाविह नेह सम्बन्धो यथाऽन्येषां पशन्म । इक्षाराज ।

दो प्रकार के सम्बन्ध, योग्यता और कार्य-कारण—मनु हरि ने शब्द और अर्थ में दो प्रकार के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है। एक सामान्य अर्थ द्वारा कार्य-कारण सम्बन्ध।

कार्यकारणभावेन योग्य भाषण च श्लिषा' । वाक्य० १, २५ ।

योग्यता-सम्बन्ध—पाणिनि ने 'उत्स्येवम्' (४, ३, १२०) सूत्र के द्वारा कार्यकारणसम्बन्ध की सत्ता को बताया है और 'उत्स्येवम्' (४, १, ६३, तथा 'उत्स्येवम्' (४, १, ११७) सूत्रों के द्वारा शब्द और अर्थ में योग्यता सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है । इसी के आधार पर पतञ्जलि और मण्डूकि आदि ने दोनों में समबता सम्बन्ध की सिद्धि की है । योग्यता सम्बन्ध का निरूपण करते हुए मण्डूकि और हेसाराज ने लिखा है कि जिस प्रकार वस्तु आदि इन्द्रियों में रूप आदि के महण करने और रूपाविविषयक ज्ञान उत्पन्न करने की स्वाभाविक योग्यता है, वही प्रकार शब्द में यह स्वाभाविक योग्यता है कि शब्द उच्चारण से अर्थ का बोध कराता है । यह योग्यता ही सम्बन्ध है ।

इन्द्रियाणां स्वविशेष्यमादिर्योग्यता यथा ।

अनादिरर्थो शब्दार्था सम्यग्भो योग्यता तथा ॥

वाक्य० ३, पृ ११ ।

शब्द समवाय या सदाग सम्बन्ध की अपेक्षा न करके उच्चारण मात्र से अर्थ का बोध कराता है अतएव यह शब्द की अकृत्रिम शक्ति समझी जाती है । वस्तु आदि में रूप के देखने आदि की शक्ति कृत्री युक्तविशेष की आवश्यकता नहीं रहती । इसी प्रकार शब्द की भी अर्थबोधकता स्वाभाविक शक्ति है । हेसाराज ।

प्रकार्य और प्रकारक सम्बन्ध से जिस प्रकार इन्द्रिय और उनके विषयों में सम्बन्ध का महण किया जाता है, वही प्रकार शब्द और वस्तु के सम्बन्ध का ज्ञान दोनों में प्रकारक-प्रकारक वस्तु रूपी योग्यता से होता है । इस बोधता का फल यह होता है जिस प्रकार वस्तु रूप का ही महण करती है और रसना रस का, वही प्रकार प्रत्येक शब्द प्रत्येक अर्थ का बोध न कराकर विशेष शब्द विशेष अर्थों का ही, जिन अर्थों में निर्णयित रूप से प्रसिद्ध हैं, बोध कराते हैं । हरिवृषभ ने इस बात पर भी यहाँ व्यास आकृष्ट किया है कि जो शब्द निश्चित रूप से प्रसिद्ध नहीं हैं, उनकी अपने अर्थों के साथ योग्यता सामयिक (सांकेतिक) है । हरिवृषभ, वाक्य १, २५ ।

हरिवृषभ का भाव यह है कि जब शब्द और अर्थ में योग्यता सम्बन्ध माना जाता है तो गाय, अरब आदि शब्द जो अनादि परंपरा से आ रहे हैं, और जिनका सम्बन्ध प्रसिद्ध है, वे अपनी स्वाभाविक योग्यता के कारण अपने निश्चित अर्थों का ही बोध कराते हैं । गाय शब्द से अरब का बोध नहीं कराया जा सकता है और न अरब शब्द से गाय का । अतएव पतञ्जलि ने लिखा है कि जो गाय को अरब कहता है, उससे कभी बोध नहीं हो सकता ।

यो द्वि गामश्च इति भूगण्य जातुन्दित् संमत्पय स्यात् । महा० ।

परन्तु जो शब्द नवीन प्रचलित होते हैं या विभिन्न भाषों के वाचन के लिए व्यक्तिविरापी द्वारा आविष्कृत किये जाते हैं, उनमें शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

संकेतिक ही माना जाता है। हेलाराज ने भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए लिखा है कि यथावधि संकेत में जैसे व्यक्तियों के इच्छानुसार नाम आदि में अपने अर्थों की बोधकता वाचकराक्ति के आधार पर नहीं अपितु संकेतिक ही है। ऐसे जो राज्य प्रसिद्ध हो जाते हैं, उनमें संकेतिक शक्ति ही होती है।

हेलाराज का पृष्ठ ११।

प्रसिद्धा अपि समप्रमात्रं तत्। हेलाराज।
हेलाराज ने संज्ञा शब्दों (नामवाचक शब्दों) के विषय में लिखा है कि संज्ञा शब्दों में यह शक्ति है कि वह प्रत्येक संज्ञी (नामधारी) का बोध कर सकते हैं, परन्तु किसी विरोध के लिए संज्ञा शब्दों का प्रयोग यह सामयिक (संकेत के कारण) है। हेलाराज, पूर्ववत्।

शब्दज्ञान और इन्द्रियजन्यज्ञान में अन्तर—शब्दों की अपमा इन्द्रियों से ही गई है, परन्तु दोनों में योद्धा अन्तर है। इन्द्रियां अपनी सत्तामात्र से विषय का ज्ञान कराती हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञान में यह ज्ञात नहीं होता कि वह वस्तु का ज्ञान करा रही है। इन्द्रियां अपना ज्ञान नहीं कराती हैं। वस्तु के द्वारा रूपवर्तन में वस्तु अपने स्वरूप (वस्तु) का ज्ञान कराए बिना ही अपनी सत्तामात्र से बोध का वर्तन कराती हैं। परन्तु राज्य में अन्तर यह है कि राज्य सत्तामात्र से रूप नहीं कराता है। राज्य आपक है। जब राज्य सुन लिया जाता है, तब वह वस्तु का ज्ञान कराता है। इसमें स्वरूप के ज्ञान के बाद वस्तु का ज्ञान होता है। इन्द्रियों और विषयों का साक्षात् सम्बन्ध है, राज्य और अर्थ का असाक्षात्। राज्य पहले अपने स्वरूप का बोध कराता है और फिर अर्थ का। दोनों में समानता इस आधार पर है कि दोनों में यह योग्यता स्वामाविक है, पुरुष के प्रयत्न से इनमें यह योग्यता नहीं आई है।

यद्यपि इन्द्रियाणि कारकत्वाद्ज्ञातान्येव ज्ञानं जनयन्ति शब्दस्तु वापकत्वात् स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः, तथापि पुरुषप्रयत्नानपेक्षा शक्तिः साधारणीति साम्यम्। हेलाराज पूर्ववत्।

सम्बन्ध राज्य के द्वारा जिस सम्बन्ध का बोध जहाँ कराया गया है, वह योग्यता रूपी सम्बन्ध है। इस योग्यता सम्बन्ध का ज्ञान राज्य की अर्थ के बोध करने की योग्यता से ही होता है। यह योग्यता स्वामाविक है।

सम्बन्धशब्दे सम्बन्धो योग्यता प्रति योग्यता।

वाक्य ३, पृष्ठ १११।

योग्यता सम्बन्ध में संकेत का स्थान—यदि यह सम्बन्ध स्वामाविक है तो राज्य से अर्थ का ज्ञान सदा अर्थों नहीं होता। इसका अन्तर मरु हरि ने किया है कि इस योग्यता का ज्ञान समय अर्थात् संकेत से होता है, जैसे भावा और पुन आदि के सम्बन्ध का ज्ञान संकेत से होता है। हेलाराज ने इसकी व्याख्या में कहा

है कि राज्य का अर्थ के विषय में व्यापार अनादिकाल से है, इसी स्वामयिक योग्यता का ज्ञान बुद्धिम्यवहार से या दूसरे शब्दों में परंपरा से किया जाता है। संकेत के द्वारा इनमें अविद्यमान सम्बन्ध का प्रादुर्भाव नहीं किया जाता और न ऐसा बधित है। जिस प्रकार कि माता और पुत्र में अम्बजनक सम्बन्ध विद्यमान है उस सिद्ध सम्बन्ध का ही संकेत के द्वारा बोध कराया जाता है कि यह इसकी माता है और यह इसका पुत्र है। इलाख ३ पृ १११ से ११२।

समपाह योग्यता विन्मातापुत्रादियोगवत्। बाल्य० ३ पृ १११।

पातञ्जलभाष्य की सम्मति—नागेश ने मञ्जूषा (पृ ३८—३९) में और कौबडमट्ट म भूष्य में (कारिका ३७, ३९) भर्तृहरि के अपर्युक्त दोनों श्लोकों को राज्य और अर्थ के सम्बन्ध का बताने के लिए उद्धृत किया है। नागेश ने इस विषय में पातञ्जल भाष्य की सम्मति उद्धृत की है। नागेश का कथन है कि राज्य और अर्थ में यह तावात्म्य (अभ्यास) सम्बन्ध व्यवहारों के आवृत्ति कर्ता ईश्वर के द्वारा किया हुआ है। अतएव पातञ्जल भाष्य में कहा गया है कि राज्य का अर्थ के साथ सम्बन्ध पहले से विद्यमान है। ईश्वरीय संकेत इस विद्यमान सम्बन्ध को ही प्रकट करता है जैसे पिता और पुत्र के सिद्ध सम्बन्ध को संकेत के द्वारा बताया जाता है कि यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र है। मञ्जूषा पृ० ३८।

मट्टेजि और कौबडमट्ट के मत का स्पष्टन—नागेश ने इस प्रकार में एक विशेष बात की और ध्यान आकृष्ट किया है और मट्टेजिजीवित तथा कौबडमट्ट के मत का स्पष्टन किया है। मट्टेजिजीवित ने गम्भकास्तुम में लिखा है कि पद आवृत्ति शब्दों की पद आवृत्ति अर्थ के बोध को उत्पन्न करने की सामर्थ्य ही शक्ति है। इसी में सापथ है। सम्बन्ध को भी मानने में गौरव होता है। (कौस्तुम का पद रथ, मञ्जूषा कशाटीका पृ० ३४)।

कौबडमट्ट ने भूष्य में “इन्द्रियाणां स्वस्वियेषु” (कारिका ३७) की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार बहुत आवृत्ति इन्द्रियों का अपने विषय पद आवृत्ति में अनादि योग्यता है अर्थात् उनकी वास्तुप आवृत्ति रूप से कारणता है, वही प्रकार शब्दों का अर्थों के साथ उनके बोध का कारण होना योग्यता है, वही शक्ति है।

दोनों में राज्य और अर्थ के सम्बन्ध को शक्ति न मानकर, अपितु गौरव दिया कर, इसके विपरीत राज्य और अर्थ में बाध्यबाधक भाव को नियमित करने वाली शक्ति का ही सम्बन्ध माना है। नागेश ने इनके स्पष्टन में भर्तृहरि और इलाख को उपस्थित करते हुए इस बात को स्पष्ट किया है कि शक्ति ही सम्बन्ध नहीं हो सकती, क्योंकि शक्ति ज्ञान पर भी जब तक इनमें सम्बन्ध नहीं होगा, तब तक बोध नहीं हो सकता। शक्ति से कार्य अभी उत्पन्न होता है जब कि शक्ति का वस्तुओं से सम्बन्ध होता है। अतएव शक्ति के रूप में एक नियामक शक्ति

है और वह है सम्बन्ध । दोषक में प्रकरा करने की शक्ति है फिर भी सम्बन्ध होने पर ही वह वस्तु का प्रकाशक होता है, अन्यथा नहीं । मञ्जूषा पृष्ठ ३४ ।

सम्बन्ध ही शक्ति है—मणुहरि ने कहा है कि सम्बन्ध शक्ति का भी शक्ति है । हेत्वा राज ने इसकी व्याख्या में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि शक्ति ही सम्बन्ध नहीं हो सकती क्योंकि शक्तियों के भी आचारपारतन्त्र्य, अर्थात् शक्ति किस वस्तु में रहती है, और नियतकार्य-जनन अर्थात् नियमित रूप से किस कार्य को उत्पन्न करती है, इन सब का नियामक सम्बन्ध ही है ।

शक्तीनामपि सा शक्तिर्गुणानामप्यसौ गुणः । वाक्य ३, पृ० १०० ।

न च शक्तिरेव सम्बन्धः, शक्तीनामप्याचारपारतन्त्र्ये नियतकार्यजनने च सम्बन्ध एव नियामकः । हेत्वा राज ।

मागेरा ने अतएव कहा है कि शब्द और अर्थ में एक सम्बन्धविरोध ही शक्ति है । इसका ही दूसरा नाम वाच्यवाचक भाव है । यह वाचक है और यह वाच्य है, यही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध शक्ति है । इस शक्ति का महत्त्व इतरेतराध्यास-मूलक अर्थात् शब्द और अर्थ में एक दूसरे के गुण का आरोपनिमित्तक, तादात्म्य से होता है । इस तादात्म्य का ही नाम संकेत है । संकेत के द्वारा शब्द और अर्थ में अभेद का अनुभव किया जाता है ।

पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः, वाच्यवाचकभावापरपर्याया । तद्भावात्कं चेतरेतराध्यासमूलकं तादात्म्यम्, तच्च संकेतः । मञ्जूषा पृष्ठ २६ ।

शब्द, अर्थ और सम्बन्ध तीनों का पूरक अस्तित्व—मणुहरि ने शब्द के स्वरूपों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए उनकी विभिन्नता का प्रतिपादन किया है । हेत्वा राज ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि शब्द के तीन विभिन्न रूप हैं, अभिधान (शब्द) अभिधेय (अर्थ) और निमित्त (सम्बन्ध) । इन तीनों के कारण मणुहरि ने स्वरूप शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग किया है ।

स्वरूपेपूपलम्बेषु व्यभिचारो न विद्यते ।

वाक्य० ३, पृ० ६६ ।

अभिधानामिधेयनिमित्तमेवाच्च मिश्ररूपमिति स्वरूपेष्वित्याह ।

हेत्वा राज ।

इनमें से अभिधान (शब्द) कारणरूप से निविष्ट है और वाचकरूप है । अर्थ वाच्यरूप है और वाच्यी के भेद से ज्ञात होता है । सम्बन्ध का ज्ञान संकेत से होता है, परन्तु इसका शब्द और अर्थ से पूरक महत्त्व नहीं होता है । सम्बन्ध नियामक है अतएव अर्थ प्रकृति-निमित्त है । ये तीनों सर्वत्र एक साथ नियम से रहते हैं । इनमें विभिन्नता का ज्ञान इसक्षिप नहीं हो पाता, क्योंकि व्यवहार में इनकी एकता का अभ्यास रहता है और तीनों के वृत्तारण्य में समानता रहती है ।

तीनों के सुनने में कोई भेद शायद नहीं होता है, अतएव इन्हें स्वरूप अर्थात् शब्द का अपने रूप में कहा जाता है। हेकारण, पूर्ववत्।

नागेश ने (मञ्जूषा पृष्ठ ३६) अतएव कहा है कि शब्द क्या है ? अर्थ क्या है ? जब यह प्रश्न किया जाता है तो इसका उत्तर दिया जाता है कि घट शब्द है और घट अर्थ है। ज्ञान भी घटरूप है। घट कहने पर शब्द, अर्थ और ज्ञान को पृथक् करके नहीं समझा जाता। इस व्यवहार के कारण ही तीनों में अभ्यास-सम्बन्ध है। अभ्यास का अर्थ ऊपर कहा जा चुका है कि अभ्य में अन्य धर्म का ज्ञान। तीनों वस्तुतः पृथक् वस्तु हैं। नागेश का कथन है कि मत् इति ने 'ज्ञानं प्रयोक्तुं' (वाक्य० ३ पृष्ठ ६६) इत्यादि के द्वारा शब्द, अर्थ और ज्ञान इनके अभ्यास का प्रतिपादन किया है। मञ्जूषा पृष्ठ ३६।

आक्षेपों का उत्तर अध्यास के द्वारा— नागेश ने नैयायिक वैयाकरणों आदि ने शब्द और अर्थ में सम्बन्ध मानने पर जो आक्षेप किए हैं, उनका समाधान इस अभ्यास के आधार पर किया है। शब्द और अर्थ में यदि वास्तविक सम्बन्ध होता तब तो यह प्रश्न ठीक होता कि घट शब्द आदि शब्द के उच्चारण से ही घट का काम चल जाना चाहिये और शब्द में ही मयु आदि का रचना होना चाहिये। अग्नि आदि शब्दों के उच्चारण से मुँह का जलना आदि होना चाहिये। अर्थ में यथोक्त अटुमण होना चाहिये। यह सब प्रश्न इसलिये निराधार हैं, क्योंकि शब्द और अर्थ में वास्तविक अभेद नहीं है। वास्तविक सम्बन्ध होता तो वे आक्षेप सार्थक होते। शब्द और अर्थ इन दोनों विभिन्नों में अभेद वास्तव्य ज्ञान के कारण है। मञ्जूषा पृ० ३६।

पतञ्जलि का मत—पतञ्जलि ने योगदर्शन में शब्द, अर्थ और ज्ञान में बिभेद के जानने की उपसोमिता का निरूपण करते हुए लिखा है कि शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों के इतरेतराभ्यास अर्थात् इनमें अवास्तविक एकता के ज्ञान से संकर (माया, अज्ञान) होता है। इन तीनों के विभाग के ज्ञान से समस्त प्राणियों के शब्दों का ज्ञान होता है।

शब्दार्थप्रत्ययानामिवदेतद्यस्यास्तात् संकरस्तत् प्रविभागस्यमातु सर्वभूतक-
तज्ञानम्। योगसूत्र ३, १७।

अ्यास मात्स्य में इन तीनों के विभाग का ज्ञान प्राप्त करने वाले को सर्वज्ञ कहा गया है।

गौरिति शब्दो गौरित्पदो गौरिति शब्दम्, य यथा प्रविभागः स सर्ववित्। व्यास।

आधुनिक विचारकों की सम्मति—आधुनिक दार्शनिक मनीषी हुस्सेल, मेसेर और गोम्पेर्त्स ने शब्दार्थ सम्बन्ध और इस त्रैत के बिरुद्ध पर जो मत

प्रकट किया है, वह उपर्युक्त विचारों से बहुत अधिक मिलता है। हुस्सेर्ल और गंसेर का कथन है कि शब्द और बोध्य या बोध्य में वास्तविक सम्बन्ध है, क्योंकि बोध्य की स्वभावानुसृत अभिव्यक्ति ही अर्थ है। जो कुछ बोध्य है वह विचारों या वाणी में वस्तुरूप से रहता है। अतएव शब्द, अर्थ और वस्तु इन तीनों में हमें अन्तर समझना चाहिए। 'मीनिङ् भाव् मीनिङ्' पृष्ठ २७।

गोम्पेर्त्स का मत है कि प्रत्येक पूर्ण वक्तव्य में हम तीन तत्त्वों का विभाजन कर सकते हैं, १—व्यनितवत्त्व, (शब्द) २—अर्थ, ३—वस्तु। कथन और बोध्य विषय में जो सम्बन्ध विद्यमान रहता है, वही अर्थ है। 'मीनिङ् भाव् मीनिङ्' पृष्ठ २७।

आटो येस्पर्सन का कथन है कि वास्तव तथा वस्तु की दृष्टि में दो तत्त्व १, वाक्यान्वितवत्त्व, २, आन्वन्तरवत्त्व, शब्द का अर्थ य दोनों अविच्छेद्यरूप से संबद्ध हैं। लैंग्वेज पृ० ११३।

प्रसिद्ध नैयायिक गंगेश ने 'तत्त्वधिन्तामसि' में कहा है कि शक्ति शब्द और अर्थ (वस्तु) का वह सम्बन्ध है जिससे अर्थज्ञान होता है। भाग ४ पृ १२७। मनु हरि ने सम्बन्ध के जिस महत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, वह वस्तुतः आवश्यक और अर्हेय है। साथ ही शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की धिमिश्रता समझ लेने पर शब्दार्थ सम्बन्ध पर जो आक्षेप दिए गए हैं, उनकी निर्मूलता भी स्पष्ट हो जाती है।

कार्य-कारण सम्बन्ध—मनु हरि ने शब्द और अर्थ में दूसरा सम्बन्ध कार्यकारणरूप बताया है। शब्द और अर्थ दोनों एक दूसरे के कारण और कार्य हैं। बोध्यता सम्बन्ध शब्द की अर्थवाचकता शक्ति पर प्रकाश डालता है, और कार्यकारण सम्बन्ध उनकी व्यावहारिक शक्ति पर। शब्द ही एक साधन है जिससे अपने भावों को भासा तक पहुँचाया जाता है। अतएव मनु हरि कहते हैं कि शब्द अर्थ का कारण है अर्थात् जोता की बुद्धि में जो अर्थ (वस्तु) विद्यमान रहता है उसका कारण शब्द है। शब्द के द्वारा मोठा का बुद्धिगत अर्थ काय्य होता है। बुद्धि में पहले से विद्यमान अर्थ के द्वारा शब्द का ज्ञान होता है, अतः अर्थ शब्द का कारण होता है, क्योंकि अर्थ की बुद्धि में पूर्व उपस्थिति ही उसका ज्ञान करती है।

शब्दा कारणमर्षस्य स हि तेनापजन्वते ।

तथा च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्द प्रतीयते ॥

वाक्य० ३, पृ० ११२ ।

अर्थ का आदान-प्रदान—हेलारज का कथन है कि शब्द का अर्थ वाक्य जगत् में विद्यमान वस्तु होता है। शब्द और अर्थ पहले बुद्धि में अभिन्न रूप से

रहते हैं। विवक्षित अर्थ शब्दमेव से रक्षित नहीं होता, उसमें भेद रहता है। वह बुद्धि में सकल्प रूप से रहता है और उसी का प्रतिभा द्वारा ज्ञान होता है इसी-
 लिए वाच्य भावि स्थानों के व्यापार से अभिन्न शब्द जब श्रोता के द्वारा सुना
 जाता है तब वह उसी प्रकार स्वरूप के मिश्रण से अर्थ का बोध कराता है। प्रति-
 पाद्य (वाच्य) और प्रतिपाद्यक (वाचक) में परस्पर अभिप्राय का अनुपपेश ही
 व्यवहार कहाता है अर्थात् शब्द और अर्थ का तादात्म्यज्ञान करना। व्यवहार में
 वच्य और श्रोता किस प्रकार अर्थ का आदान-भ्रान करते हैं, इसके विषय में
 हेत्ताराज का कथन है कि अर्थ वच्य की बुद्धि में रहता है, वह उस बुद्धिगत अर्थ
 को व्याख्यान के द्वारा श्रोता को समर्पित करता है और श्रोता भी वही प्रकार अपनी
 भावना से मुक्त होता है और अपनी स्वाभाविक योग्यता के अनुसार उसको ग्रहण
 करता है। शब्द के ग्रहण करने से मनके शब्दविषयक मस्कार उद्भूत हो जाते
 हैं और तदनुसार वह मृच्छ होता है। हेत्ताराज ने इस बात को स्पष्ट किया
 है कि वक्ता अपनी भावना के अनुसार अर्थ को बताने के लिए शब्दों का प्रयोग
 करता है और श्रोता अपनी बुद्धि के अनुसार उक्त अर्थ समझता है।

हेत्ताराज ३ पृ ११०।

शब्दार्थो द्वयोर्बहीरूपतयाऽवस्थीयमानः। बुद्धौ शब्दार्थयोर्पूर्वमभेदेना
 वक्ष्यामम् । हेत्ताराज पूर्व-वत्॥

सामान्य का बोध—हेत्ताराज ने इस बात को स्पष्ट किया है कि शब्द के
 द्वारा ज अर्थ का बोध कराया जाता है, वह अर्थ के सामान्य रूप को लेकर, विशेष-
 रूप को लेकर नहीं। अतएव हेत्ताराज कहते हैं कि समस्त घट शब्दों में सामान्य
 सामान्यरूप को कि अर्थ (वस्तु) रूप है और जिसकी अर्थ के साथ समानाधि-
 करण्यता है, वह सामान्यरूप (जातिरूप) स्वरूप शब्द का वाच्य है। जिस प्रकार
 शब्द और अर्थ समानाधिकरण (एकत्र) है, वही प्रकार शब्द का स्वरूप भी शब्द
 के साथ समानाधिकरण्यता से रहता है संकेत सामान्य रूप को लेकर ही
 होता है। हेत्ताराज, वाच्य ३, पृ० ६८।

श्रोता वक्ता के भाव का अनुमान करता है—हेत्ताराज ने बताया है कि
 श्रोता जब शब्द सुनता है तो वह अपने अभिप्राय के अनुसार वच्य के ज्ञान का
 अनुमान करता है। शब्द सुनने पर शब्द के स्वरूप से अभ्यस्त (तादात्म्यभाव को
 प्राप्त) अर्थ को जान कर श्रोता वह अनुमान करता है कि वच्य ने यह कहा है।
 इस प्रकार शब्द अर्थ, और प्रयोच्य का ज्ञान यह तीनों साथ-साथ रहते हैं। इनमें
 अभिन्नता की ही प्रतीति होती है। वच्य के उद्गृत भावों को भी शब्द तादात्म्यसम्बन्ध
 के द्वारा ही प्रतिपादित करता है। शब्द अर्थ और ज्ञान ये तीनों अस्वतन्त्र सम्मि-
 श्रित रूप से ज्ञात होते हैं। अतएव भर्तृहरि का यह कथन है कि ऐसा कोई ज्ञान
 नहीं है जो कि शब्दज्ञान के बिना हो। पठ्यक्ति ने जो "शौरित्यत्र कः शब्दः"

(गाय इस ज्ञान में राष्ट्र क्या है) प्रश्न किया है, यह भी इसी सम्बन्धित ज्ञान के अन्तर्गत है।

इतिहासिकानुसारेण धात्रा वक्तुं ज्ञानस्यानुमानात् स्वयं राष्ट्रस्वरूपाभ्यस्त मर्यमवबुद्धय तथैव बभूवर्तनुमानमुचितमित्यमेवेनैव पटशुध्याभ्यस्तप्रयोजस्य ज्ञान मधसीयते । सोऽस्मीमृतानि राष्ट्रार्थसात्वानि धत् इत्येवमवगम्यते । यथोक्तम्, न साऽस्ति प्रत्ययो लोके य राष्ट्रानुगमाद् श्रुत ।

हेलाराज, भाष्य० ३, पृ० ६८ ।

राष्ट्रार्थ-सम्बन्ध और पुद्गलवाद

मनुहरि, हेलाराज, कैंबट और नागेरा आदि ने राष्ट्रार्थ सम्बन्ध के विचार में धर्म बुद्धिगत है या बाह्य भी, इस विषय पर बहुत विस्तृत विवेचन किया है। उनके मत के निरूपण से पूर्व इस विषय पर पतञ्जलि का विवेचन पहलू दे देने से बौद्धियों के सिद्धान्त का ज्ञान हो जायगा।

पतञ्जलि का मत

धर्म बाह्य और बौद्ध दोनों है—पतञ्जलि का मत है कि धर्म बाह्य भी है और बुद्धिगत भी। जो वस्तुएँ दृश्य हैं, उनका प्रत्यक्षरूप से बोध कराया जाता है, परन्तु जो वस्तुएँ प्रत्यक्ष नहीं हैं उनकी सत्ता बौद्ध है। दोनों में से एक ही की सत्ता मानना अभीष्ट नहीं है। इसका स्पष्टीकरण पतञ्जलि ने कई स्थलों पर किया है।

‘अपदेशोऽनुनासिक इत् (महा १, ३, २) के भाष्य में अपदेश और अदेश शब्दों के अन्तर को बताते हुए पतञ्जलि ने बाह्य और बौद्ध दोनों धर्मों के मानन का वर्णन किया है। पतञ्जलि का कथन है कि प्रत्यक्ष वस्तु का वर्णन करना यह अपदेश है। जैसे जो गाय को नहीं जानता है उसे गाय का ज्ञान करने के लिए एक गाय झाकर उसकी सींग या कान को पकड़ कर दिखा कर बता देना कि ‘यह गाय है’। गुणों के वर्णन के द्वारा जो वस्तु सामने नहीं है, उसका बोध कराना, यह अदेश है। जैसे किसी ने कहा कि मुझे देवदत्त का ज्ञान करा दीजिए। देवदत्त पटना रहता है और वह स्वच्छि यहाँ पूछ रहा है ऐसी स्थिति में उसे देवदत्त के गुणों का वर्णन करके उसका ज्ञान कराया जाता है कि वह बर्गद, कुम्हल, किरिट पारण करता है, उसकी आँसुं लाल हैं, ऊँची नाक है, आदि, ऐसा देवदत्त है।

प्रत्यक्ष तावदाख्यातमुपदेशः । धर्म नीरिति । गुणैः प्रापकमुदेशः ।
ईच्छते देवदत्त इति । महा० १, ३, २

यहाँ प्रथम रस पर धर्म बाह्य है और द्वितीय स्थल पर बौद्ध । अतएव

मत् ह्रि और कैपट कहते हैं कि 'पेसा वेचवच है' यह कहने पर इन शब्दों से वैया अर्थ बुद्धि में भासित होता है वैया ही बाह्य है। बाह्य अ० ३ पृष्ठ ७१६।

पतेः शब्दे वादशो बुद्ध्यावर्थं प्रतिमासते तादृशो बाह्यः । कैपटः ।

नागेरा ने (मंजूषा पृष्ठ २४२ से २४३) में इस उदाहरण द्वारा बौद्ध अर्थ मानने की आवश्यकता पर बल दिया है कि ईदरा (पेसा) तादरा (वैया) इन शब्दों से वस्तुतः बौद्ध अर्थ की ओर ध्यान दिवाया जाता है।

बौद्ध अर्थ मानने की आवश्यकता—'हेतुमति च' (३, १, २६) की व्याख्या में पतञ्जलि ने बौद्ध अर्थ मानने की आवश्यकता को स्पष्ट किया है। ऐतिहासिक वर्तमान कैसे सिद्ध हो सकता है। जैसे "(कृष्ण) कंस को मारधा है" "(वामन) बलि को बांधता है। कंस का वध और बलि का बंधन चिरकाल हुए हो चुका है अतः उसका साथ वर्तमान काल की क्रिया का प्रयोग नहीं होना चाहिए। पतञ्जलि इसका उत्तर देते हैं कि अभिनेता इनका रूप धारण करके उनकी उपस्थिति करते हैं। चित्रकार चित्र द्वारा और लेखक अपने वर्णन द्वारा जन्म से नारा तक इनके ऐश्वर्यों का वर्णन करते हुए बुद्धि में विद्यमान कंस आदि को उपस्थित करते हैं।

इह तु कर्म वर्तमानकालता-कंस पातपति, बलिवन्धयतीति च चिरहते च कंसे चिरवधे च बली ? तेषपि हिते वामुत्पत्तिप्रसूराधिमाशाह श्रुतीर्यां च द्वासा सतो बुद्धिविषयान् प्रकाशयन्ति । महा० ३, १, २६।

यदि अर्थ की बुद्धि में सत्ता नहीं मानी जायगी तो अतीत का वर्तमान समय में बयान नहीं हो सकता है। अतएव नागेरा ने बधोत् में बहुत बल से बौद्ध सत्ता का प्रतिपादन किया है। पतञ्जलि ने वस्तु की बुद्धि में सत्ता के कारण ही यह भी सिद्ध है कि व्यवहार में त्रिकालता भी देखी जाती है। जैसे जाओ, कंस मारा जा रहा है। जाओ, कंस मारा जायगा। मारकर क्या करोगे, कंस मारा जा चुका है।

वैकास्य शक्यपि जाकं सक्यते । महा० ३, १, २६।

अमिनय आदि के इष्टा अमिनय को देखकर बुद्धि में उन वस्तुओं की उपस्थिति करते हैं। मत् ह्रि और हेष्ठावच ने इसका उल्लेख करते हुए सिद्ध है कि शब्दों के द्वारा वस्तु की उपस्थिति बुद्धि में की जाती है और बुद्धिगत अर्थ के आधार पर कंस का वध आदि प्रत्यक्ष रूप में माना जाता है।

शब्दोपहितरूपार्थ बुद्धेर्विषयतां गताम् ।

प्रत्यक्षमिव कसादीन्साधनत्वेन मन्थते ॥

वाक्य० ३, पृष्ठ १७३।

अर्थ की त्रैकालिक सत्ता—पतञ्जलि ने 'वदत्वास्त्यस्मिन्निति मनुप्' (महा० २, २, ६४) के माध्य में इस महत्त्वपूर्ण सिद्धांत का प्रतिपादन किया है कि वस्तु की सत्ता त्रैकालिक है। पतञ्जलि ने प्रश्न उठाया है इस सूत्र में अस्ति (वर्तमान काल)

का निर्देश करने की क्या आवश्यकता है। उक्त किया है कि वर्तमान काल में ही मनुष्य प्रत्यय होना चाहिये। जैसे गोमान्, बनवान् आदि, जिसके पास गाय या पशु वर्तमान काल में है। इस पर पतञ्जलि ने कहा है कि कोई भी पदार्थ अपनी सत्ता को नहीं छोड़ता है, अर्थात् तीनों कालों में पदार्थ सत् (विद्यमान रूप में रहता है)। वह सत्ता भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों हो सकती है। यदि सत्ता त्रैकालिक है तो मनुष्य प्रत्यय सम्प्रतिसत्ता (इस समय की सत्ता) में होना चाहिए, भूत या भविष्यत् की सत्ता में नहीं।

अस्तित्वार्थं किमर्थम्? सत्तायामर्थं प्रत्ययो यथास्यात्। नैतदस्ति प्रयोजनम् न सत्तां पदार्थो भवमिच्छति। इयं तर्हि प्रयोजनम्, सम्प्रति सत्तायां यथा श्यात् भूतभविष्यत्सत्तायां मा भूत्। महा० ५, २, ६४।

राष्ट्र और धर्म के सम्बन्ध के विषय में जो नैयायिकों आदि ने आक्षेप उठाये हैं उनमें एक प्रश्न यह भी मुख्य है कि राष्ट्र और धर्म में सम्बन्ध इसलिये नहीं माना जा सकता क्योंकि विद्यमान और अविद्यमान का सम्बन्ध नहीं हो सकता। जो वस्तु वर्तमान समय में नहीं है, किन्तु भूतकाल में थी या भविष्य में रहेंगी, उनके साथ इस वर्तमान समय में उच्चारित राष्ट्र का सम्बन्ध कैसे हो सकता है।

असति नास्तीति च प्रयोगात्। वैशेषिक० ७, २, १७।

पतञ्जलि ने स्पष्ट किया है कि राष्ट्र त्रैकालिक सत्ता का बोध कराता है। अतएव राष्ट्र का धर्म के साथ सम्बन्ध त्रैकालिक रहता है। क्लृप्त और नागेश का कथन है कि राष्ट्र सत्तासामान्य का बोध कराता है। सत्ताविशेष के ज्ञान के लिए 'अस्ति' आदि का प्रयोग किया जाता है। "अस्ति" है) का अभिप्राय होता है कि वर्तमान समय में सत्ता है। "भासीत्" (या) का अभिप्राय होता है कि भूत काल में सत्ता या और 'भविष्यति' (होगा) भविष्यत् काल की सत्ता का बोध कराता है प्रदीप ज्योत महा० ५, २, ६४।

क्लृप्त और नागेश ने इस प्रकार में यह भी स्पष्ट किया है कि वर्तमान सत्ता बाध सत्ता है, यही मुख्य सत्ता है। जब इस मुख्य सत्ता का अभाव पताना होगा है तो "नास्ति" (नहीं है) का प्रयोग किया जाता है।

संप्रतिसत्तायां वर्तमानाया सत्तायाम्। वाद्यायां सत्तायामित्यर्थः। प्रदीप। वाद्यायां मुप्यायामित्यर्थः। उद्योत। महा० ५, २, ६४।

क्लृप्त का स्पष्टीकरण—क्लृप्त न पतञ्जलि का भाव स्पष्ट करते हुए कतिपय भाषों पर प्रकाश डाला है। पदार्थ सत्ता को कभी नहीं छोड़ता है। बुद्धि में पदार्थ की सत्ता के बिना धर्मबोध के लिये वह का उच्चारण असम्भव है क्योंकि सारे राष्ट्रों की मूर्त्ति में सत्ता ही प्रत्यय है, प्रदीप। महा ५, २, ६४।

पश्चिमीय विद्वान् मानते ने (साञ्चिक प ११५) इसी भाव को व्यक्त किया है कि प्रत्येक वाक्य विधिरूप या निषेधात्मक, अन्वतागत्वा सत्त्वरूप होता है। जैसे इस निर्णय में कि "पत्थर न अनुभव करता है और न देखता है" में पत्थर का निषेधात्मक विधेयांश इस बात पर निर्भर है कि पत्थर पत्थररूप सत्ता है। केवल इस बात के आधार पर नहीं कि पत्थर कुछ नहीं है।

अर्थ बौद्ध है—बूसरी इस बात पर ध्यान दिखाया है कि पदार्थ जब तक बुद्धि के द्वारा ग्रहण नहीं किया जाएगा, तब तक पद का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। पद के प्रयोग के लिये आवश्यक है कि पदार्थ (वस्तु) का ज्ञान बुद्धि के द्वारा हो। "दृष्टोऽस्ति" (दृष्ट है) "दृष्टो नास्ति" (दृष्ट नहीं है), "दृष्टा जायते" (दृष्ट उत्पन्न हो रहा है) इन वाक्यों में बुद्धिगत वस्तुओं का ही सत्ता अभाव और उत्पत्ति से सम्बन्ध होता है। जो वस्तुएँ अत्यन्त अविद्यमान हैं, जैसे राश-विषाणु आदि, इनमें सत्ता का अभाव देखा जाता है। इसप्रकार कैपट ने विद्या है कि ऐसी वस्तुएँ जिनका वाद्य जगत् में सर्वथा अभाव है, इनको भी बुद्धि का विषय बनाकर राशविषाणु (सर्गोश के सींग) आदि प्रयोग करते हैं। अतएव वाद्य सत्ता के अतिरिक्त बुद्धिगत सत्ता, जो कि गीण सत्ता है, निवर्तित रूप से समस्त शब्दों के प्रयोग का आधार है। श्वीप, पूर्ववत्।

वाद्य अर्थ मानने पर आक्षेप—कैपट ने मर्तृहरि के निर्घञन के आधार पर बौद्ध सत्ता की आवश्यकता को स्पष्ट किया है और केवल वाद्य अर्थ मानने में कठिनाइयों का वर्णन किया है। कैपट कहते हैं कि वही बुद्धिगत वस्तु की सत्ता वचन और शब्दों को वाद्यरूप में प्रतीत होती है। यदि वृक्षों आदि के द्वारा वाद्यसत्ता कुछ वस्तु का ही बोध कराना जाता तो वृक्ष कहने से सत्ता का स्वयं बोध हो जाने के कारण "है" का प्रयोग नहीं जाना चाहिये। "दृष्ट है" में दृष्ट इतने से ही सत्ता का ज्ञान होने के कारण "है" क्रिया का प्रयोग नहीं होना चाहिये। "दृष्ट नहीं है" यह प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि वाद्यसत्ता का नहीं के साथ विरोध है। "अक्षर उत्पन्न होता है" यह प्रयोग भी नहीं हो सकता, क्योंकि सत्ता का और अन्व का विरोध है। यदि बौद्ध सत्ता मान ली जाती है तो यह बोध नहीं आते हैं। वस्तु की बुद्धि से सत्ता मानने पर वाद्य सत्ता के प्रतिपादन के लिए "है" अभाव के लिए "नहीं" और उत्पत्ति के लिए "उत्पन्न होता है" के प्रयोग हो जायेंगे। कैपट, पूर्ववत्।

नागेश ने इन्हीं मुक्तिबों का बौद्ध अर्थ के प्रतिपादन और वाद्य अर्थ के खंडन में बहसेल किया है। मंजूषा पृ २३६-२४।

मर्तृहरि और बौद्ध अर्थ—मर्तृहरि न पतञ्जलि के इस कथन के आधार पर कि त्रैफलिक सत्ता होती है, मूठ और मज्जिन्वत् सत्ता भी होती है, अर्थ के बुद्धिगत होने के सिद्धान्त का बहुत विचार से मितरूपण किया है। कैपट, नागेश

आदि ने इस विषय में भर्तृहरि का ही अनुसरण किया है। भर्तृहरि कहते हैं। कि राष्ट्र के द्वारा बोध करने में बाह्य सत्ता के अतिरिक्त बस्तुओं की एक गौण सत्ता है अर्थात् पदार्थ बुद्धि में गौण रूप से रहते हैं। वही सत्ता प्रत्येक अदृश्या में प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को दिखाने वाली है। हेताराज ने यहाँ पर यह भी निर्देश किया है कि पण्डित ने भूत और भविष्यत् सत्ता को मान कर राष्ट्र और धर्म के सम्बन्ध की नित्यता का निर्बाह किया है।

ध्यापदेये पदार्थानामप्या सत्तौपचारिकी।
सर्वावस्थासु सर्वेषामात्मरूपस्य परिणिका ॥

वाक्य ३ पृष्ठ ११५।

भर्तृहरि ने अवश्य स्पष्ट लिखा है कि यदि त्रैकालिक सत्ता को नहीं माना जायगा तो राष्ट्रों का व्यवहार ही नहीं चल सकता। भर्तृहरि कहते हैं कि यह सत्ता विभिन्न कालों में भी रहती है। वस्तु के साथ इसका कालभेद नहीं होगा। इसी के कारण राष्ट्रों का व्यवहार चलता है। इस त्रैकालिक बौद्ध सत्ता को कोई भी पदार्थ नहीं छोड़ता। अवश्य पण्डित ने वर्तमान सत्ता के अतिरिक्त मूल और भविष्यत् का प्रतिपादन किया है। वाक्य ३, पृष्ठ १२१।

भर्तृहरि का समन्वयवाद—भर्तृहरि के विवेचन में एक मुख्य बात जो दृष्टिगोचर होती है, वह है उनका समन्वयवाद। भर्तृहरि के सम्युक्त वे सर्वथा विपरित वाद थे। एक अभाववादी और दूसरे भाववादी। एक केवल यही मानते थे कि बाह्यसत्ता सबका नहीं है, जो कुछ है वह काल्पनिक है या ज्ञानरूप है। दूसरे यह मानते थे कि बाह्यसत्ता के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है जो कुछ है वह दरय पदार्थ ही है। इसका उल्लेख भर्तृहरि ने निम्नरूप में किया है—

तस्मात् सर्वमभावो वा भावो वा सर्वमिष्यते।
न स्ववस्थाम्तरं किंचिदेकस्मात् सत्यतः स्थितम् ॥
तस्माद्भावमिच्छन्ति ये लोके भाववादिनः।
अभाववादिनो वापि न भावं तस्त्रलक्षणम् ॥

वाक्य ३ पृ० १२८—१२९

भर्तृहरि का कथन है कि यदि केवल अभाव ही माना जायगा तो अज्ञान भाव (बाह्य) की सत्ता नहीं हो सकती और यदि भाव को ही मानते हैं तो वह अभाव (काल्पनिक) नहीं हो सकता। अवश्य यह भाव और अभाव दोनों को एक आत्मा के ही दो विभिन्न स्वरूप बतलाते हैं।

ना भावो जायते भावो नेति भावोऽनुपाक्यताम्।
एकस्मादात्मनोऽन्यौ भावामावौ विकल्पितौ ॥

वाक्य ३, पृ० १२७।

गीता में श्री कृष्ण का भी यही कथन है कि—

मासलो विद्यते भाषो नामावो विद्यते सता । गीता २, १६ ।

मर्तुहरि ने, बीसा कि पतञ्जलि ने बाह्य और अल्पनिक दोनों प्रकार के पदार्थों की सच्चा मानी है, इसी प्रकार दोनों पक्षों का निरूपण किया है ।

हेलाराज ने इस सम्बन्धबाह्य पर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है कि व्याकरण-शास्त्र सभी दार्शनिक शाखाओं से सम्बन्ध रखता है, अतएव जो शब्द का अर्थ बाह्य वस्तु नहीं मानते हैं, उनके मत के समूह के लिए मर्तुहरि ने शब्द के द्वारा होने वाले बोध में वस्तु का अभिप्राय में विद्यमान वस्तु को ही शब्दार्थ पहाँ सिला है ।

सर्वपार्षदं पुनरिदं शास्त्रमिति ये बाह्यस्यार्थस्य शब्दव्याख्यत्वं नेच्छन्ति तन्मघोपकारार्थं यत्रमिमायाकृतवैषम्यं शब्दार्थत्वम् ॥

हेलाराज वाक्य० ३ पृ० १६ ।

पतञ्जलि ने वैवाकर्यों का कर्तव्य बताते हुए इसकी ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि व्याकरण का सम्बन्ध सभी वेदों और सभी वैदिक शाखाओं से है, अतएव किसी एक मार्ग को नहीं अपनाया जा सकता है ।

सर्ववैद्यपरिषद् द्वीर्षं शास्त्रम् । तत्र वैकः पन्था शक्य आस्तातुम् ।

महा २, १ ५८ ।

मर्तुहरि ने अतएव शब्दबोध में तीन वर्णों के ज्ञान का उल्लेख करते हुए बाह्य अर्थ (वस्तु) के ज्ञान का स्पष्ट उल्लेख किया है ।

ज्ञानं प्रयाकुर्वद्विद्वान् स्वरूपं च प्रतीयते ।

वाक्य० ३ पृ १६ ।

केवल बाह्य अर्थ की सच्चा मानने का मर्तुहरि ने स्वरूप से उल्लेख किया है और सम्बन्ध समुदेश, साधन समुदेश तथा वृत्तिनिरूपण में पुनः पुनः केवल बाह्य अर्थ मानने पर अनेकमें आपत्तियों का उल्लेख किया है और बौद्ध अर्थ मानने की आशङ्कता बताई है । अर्तुहरि का विशेष मुद्दाब विवर्तवाद की ओर है, अतएव बौद्ध अर्थ की वाच्यता पर विशेष बल सर्वत्र दिखाई देता है । परन्तु परिष्कामवाद को मानते हुए बाह्य अर्थ की भी सच्चा को मानते हैं । अतएव मर्तुहरि का निम्नरुद्ध वैवाकर्यों के लिए समत्वा है । इसमें एक ही स्थान पर अर्तुहरि अर्थ को शब्द का परिष्काम और विवर्त दोनों कहते हैं ।

शब्दस्य परिष्कामोऽपमित्याम्नापविदो विदुः ।

दृष्टोऽप्य एव प्रथममेतत्तु विश्वं व्यवर्तत ॥

वाक्य० १ १२० ।

इसका समाधान केवल यही ज्ञात होता है कि मर्तुहरि का अर्थ विवर्त और परिष्काम दोनों बाधों का सम्बन्ध करना है ।

बाह्य धर्म मानने में आपत्तियाँ—मधुंहरि और नागेश ने केवल बाह्य धर्म मानने में जो आशेष किए हैं उनमें से मुख्य आशेष निम्न हैं—
 १—यदि बाह्य धर्म की ही सच्चा मानी जायगी तो नहीं का प्रयोग नहीं किया जा सकता। अतएव मधुंहरि की टीका में इसी कारण ने मनोरञ्जन करते हुए लिखा है कि बाह्य धर्म मानने पर सत्कार से “नहीं” राष्ट्र का नाम मिट जायगा, क्योंकि जो वस्तु है उसको “नहीं” नहीं कह सकते और जो नहीं है वह तो है ही नहीं, फिर “नहीं” राष्ट्र का प्रयोग किसके लिए होगा। मंजूपा, पृष्ठ २३६ से २४।
 न सत्कार च निवेद्योक्ति सोऽसत्सु च न विद्यते।
 जगत्पतेन न्यायेन नर्क्यं प्रस्यं गत ॥

बौद्ध धर्म मानने पर बाह्यसत्ता का अभाव बताने के लिए ‘नहीं’ राष्ट्र का प्रयोग सिद्ध होता है। वाक्य ३ पृष्ठ ११७।

२—बाह्य धर्म मानने पर ‘अज्ञानो जायते’ (अज्ञान उत्पन्न होगा है) आदि शक्तों में उत्पन्न होता है का प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि जन्म का धर्म है आत्मज्ञान। जो वस्तु सत् है वह उत्पन्न क्या होगी। यदि उत्पत्ति मानी भी जाय तो किससे? यदि असत् है तो असत् सत् कैसे हो सकता है। बौद्ध धर्म मानने पर जो वस्तु बुद्धि में है, उसी का बाह्य जगत् में जन्म बताना जाया है।
 आत्मज्ञानस्य जन्माक्या सत्ता सत्या च सत्यते।
 यदि सत्तायते कस्माद्बाह्यसत्तायते कथम् ॥

३—“अस्ति” (है), का प्रयोग नहीं हो सकता। है का धर्म है जो वस्तु अपने स्वरूप में नहीं भी, इसका अपने स्वरूप को प्राप्त करना। जैसा कि यास्क ने कहा है कि अस्ति का धर्म है उत्पन्न हुई वस्तु की सत्ता का निरन्वयकरण। जो वस्तु सत् है, वह उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः ‘यद्वा’ कहने से ही अस्तित्व का ज्ञान हो जायगा। “है” का प्रयोग निरर्थक हो जायगा। निरुक्त १, २।
 आत्मानमात्मना विभ्रवस्तीति ध्यपदिश्यते।
 अन्तर्माबाह्यं तेनासौ कर्मवा न सत्कर्मक ॥

४—यास्क ने जिन ६ क्रिया के विकारों का उल्लेख किया है, उनमें से तीन अपर्युक्त हैं। शेष तीन अर्थात् विपरिणामते (परिणत होना), वर्धते (बढ़ना) अपघ्नीयते (क्षय होना)। क्रिया के इन विकारों में प्रथम दो का “जन्म होना” क्रिया में और तृतीय का “नहीं है” में समावेश होने से इन तीनों का भी प्रयोग नहीं हो सकता। अपर्युक्त बुद्धियाँ इनके साथ ही लागू होती हैं इस प्रकार से बाह्य धर्म मानने पर किसी भी क्रिया का प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि मत्वेक क्रिया में

वाक्य० ३ पृ १२०।

हरभुक्त व अवस्थाओं में से कोई न कोई अवस्था अवश्य रहती और किसी का भी प्रयोग शास्त्रीय रीति से सम्भव नहीं है। बौद्ध अर्थ मानने पर बाह्य अर्थ का आधार पर यह सब प्रयोग सम्भव हो जाते हैं। हेसाउत्र, पाक्य० ३ पृष्ठ १२१।

५—यदि सत् को ही माना जाएगा तो “असत्” शब्द की स्थिति नहीं रह सकती। सत् के अतिरिक्त एक और सत् माननी पड़ेगी जिसके साथ-सम्बन्ध कर समास करें। पाक्य० ३ पृष्ठ २०४।

६—अभिन्न में मिश्रता और मिश्र में अभिन्नता का प्रयोग कभी नहीं हो सकता। बौद्ध अर्थ मानने पर अभिन्न में मिश्रता और मिश्र में अभिन्नता कास्प-निक होने से सिद्ध होती है। “राहो शिर” (राहु का शिर), बौद्ध अर्थ मानने पर ही कहा जा सकता है। पाक्य ३ पृष्ठ ४२४ से ४२५।

दुःखैकं मिघतं मिघमेकत्वं चोपगच्छति ।

दुःखपवस्था विनय्यन्ते सा तर्कस्य विधायिका ॥

पाक्य० ३ पृ० ४२४ से ४२५।

७—ऐसे पदार्थ जो बाह्य जगत् में वस्तुतः नहीं हैं, इनका प्रयोग कभी नहीं हो सकता। जैसे शरणांग, असत्य, मिथ्या। इसी प्रकार स्वर्गनरक भर्म अथर्व अथ प्रयोग नहीं हो सकता। मंजूपा पृष्ठ ३४३।

८—अमात्मक ज्ञान का अस्तित्व बाह्य अर्थ मानने पर नहीं हो सकता। जैसे मृगतृष्णा में जल का ज्ञान, गन्धर्वनगर की सत्ता। पण्डित ने बौद्ध अर्थ को मानते हुए इनको बहिरण्यरूप में दिया है।

असत्तु मृगतृष्णाबद्ध गन्धर्वनगरं यथा । महा० ४ १ ३।

मत्तुहरि का कथन है कि मिथ्याज्ञान के कारण उत्पन्न वस्तुता के आधार पर मृगतृष्णा आदि में जल का ज्ञान होता है। यह भ्रान्त ज्ञान बौद्ध ही हो सकता है, बाह्य नहीं। पाक्य० ३ पृष्ठ ४३४।

नागेश का केवल बुद्धिवाद—मत्तुहरि ने जिन आक्षेपों का उत्तर बाह्य अर्थ मानने में किया है, इनका नागेश ने उत्तर करते हुए केवल बुद्धिवाद का समर्थन किया है। नागेश ने स्पष्टरूप से अपना मत पोषित किया है कि अर्थ (वस्तु) वस्तुतः बुद्धि में ही रहता है और शब्द भी बुद्धि में ही रहता है। बुद्धि में ही शब्द और अर्थ दोनों का अभेद रहता है।

वस्तुतो बीज पदार्थं शक्यः, पदमपि बौद्धः तपोरमेदः ।

मंजूपा, पृष्ठ ४४।

शक्याऽप्यौऽपि बुद्धिसमाधिद पदं न तु बाह्यसमाधिदः ।

मंजूपा, पृ २३३।

नागेश ने अर्थ को बौद्ध (कास्पनिक, असत्) मानकर शब्द और अर्थ में

सम्बन्ध मानने पर जो यह आरोप किया जाता था कि अग्नि शब्द के उच्चारण से मुँह में आग लग जाती चाहिये, उसका समाधान किया है। वस्तु को बौद्ध (असत्य) मानने पर आग कड़ने से मुँह जलने का डर नहीं रहेगा।

न च बौद्धे वाहादिशक्तिमत्त्वम् । मञ्जूषा पृष्ठ ४५ ।

नागेश ने इस प्रकार से वाह्य अर्थ जानने पर कठिनाई का अतुल्य डर वाह्य अर्थ का सर्वथा अस्वीकार किया है और बौद्ध अर्थ की ही सत्ता स्वीकार की है। नागेश ने इस सम्बन्ध में वाह्य सत्ता का अस्वीकार करके अर्थमात्र को कल्पनिक माना है। वस्तुमात्र को असत्य तथा अस्वीकार का भ्रम और माना मान लिया है। इसके लिए अद्वैतवाद के प्रतिपादक ग्रन्थों के, जिनमें आदिशेष का परमार्थसार, महासूत्रशांकरभाष्य, भी श्रुति के अस्वीकार तथा वाक्यस्मृति मिश्र के माध्यम्यस्वरूप से हैं, अद्वैतवाद के प्रतिपादन में स्थान-स्थान पर उद्धरण दिये हैं और वाह्य अर्थ को कल्पना और असत्य माना है। परमार्थसार का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि यह समस्त सत्ता अमल है। जैसे मृगतुष्णा में जल, शुक्ति में रजत, रस्सी में धाँप और विभिन्न रोग से पीड़ित को दो चन्द्रमा ज्ञान असत्य है।

मृगतुष्णामामुदकं, शुक्लो रजतं, मुञ्जगमो रज्ज्वाम् ।

सैमरिकचन्द्रयुगवद् आम्बमखिलां जगद्गुरुपम् ॥

मञ्जूषा पृ० २५१ ।

कर्मपुण्य का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि पुत्रिणी आदि सब कुछ वस्तुएं विद्य में ही हैं बाहर नहीं हैं। क्योंकि स्वप्न, भ्रम आदि की अचरता में इनका सब अतुल्य करते हैं।

विद्यं पुण्यादि चित्तस्य न यद्वि स्य क्वाचनम् ।

स्वप्नभ्रममहाशेषु सर्वैरेवानुभूयते ॥

मञ्जूषा पृ० २७१ ।

परमार्थसार का एक अन्य उद्धरण देते हुए कहते हैं कि यह सत्ता असत्य है। परमात्मा ने इसको मूलप्रकृति से सत्य सा बना दिया है।

सत्यमिदं जगदसत्यं मूलप्रकृतिरिदं कृतं येन । मञ्जूषा, पृ० २८० ।

अद्वैतवेदान्त के "ब्रह्म सत्यं जगन्निष्पन्ना" का ही निरूपण शम्भार्य के निरूपण में नागेश ने कर बासा है।

नागेश के मस की आलोचना—नागेश ने केवल बुद्धिवाद का समर्थन अपना सत्य बनाकर एक सबसे बड़ी त्रुटि व्याकरण को परकीनी बनाने की की है। परब्रह्मि ने व्याकरण को वेद और इशानों की सब शाखाओं से सम्बद्ध बताया है और उसी का निर्वाह भर्तृहरि ने भी किया है। परन्तु नागेश ने उस मर्यादा का अस्वीकार किया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट अतुल्य किया कि उनका यह प्रतिपादन स्वयं आपने सिद्धांत का पावन सिद्ध होता है। जब अर्थ (वस्तु) को असत्य

और सर्वथा कास्वनिष्ठ मान लिये तो शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही नित्य कैसे रह सकता है। शब्द और अर्थ की असत्यता का प्रलेख करते हुए सिद्धते हैं कि पद और पदार्थ आदि असत्य ही हैं। यहाँ तक कि शास्त्र भी असत्य का ही वर्णन करता है।

पदपदार्थाद्यसत्यमेव । शास्त्रमप्यसत्यम्युत्पादकमेव । मंजूषा, पृ ४१०—४११।

शाब्दार्थ सम्बन्ध को न मानने वाले बौद्धों के मत के खण्डन के विपरीत उन्हें यह स्पष्ट बख्शना पड़ा है कि उनका मत बौद्धों के मत से कुछ भिन्न है। वे संसार को असत्य मानते हुए भी व्यावहारिक जल में उसकी प्रतीति मानते हैं। अतएव सत्य के मुख्य बताते हैं। "सत्यमिष जगदसत्यम्"।

सत्यमिषेति श्वेन तस्यारोपितत्वात् । व्यवहारकाले च्यतीतेः सत्यमिषे-
त्युच्यते । मंजूषा पृष्ठ २८० से २८३ ।

अपने को बौद्धमतवाचक मानने से यह कहकर बचाया है कि बौद्ध आरो-
पित सत्ता अर्थात् व्यावहारिक सत्यता को भी नहीं मानते हैं और आत्मा को
अमित्य मानते हैं। नागेश यद्यपि असत् की प्रतीति बुद्धि में मानते हैं, तथापि
व्यावहारिक सत्यता और आत्मा को नित्य मानने से बौद्ध नहीं होते। मंजूषा
पृष्ठ २८२ ।

पतञ्जलि ने वैयास कि पहले उद्धृत किया जा चुका है कि "उपदेशोऽबलुनासिक्त
इत्" (अष्टा० १, ३, ९) में उपदेश और बहेश की व्याख्या में बाह्य और
बौद्ध दोनों सत्ताओं को स्वीकार किया है, परन्तु नागेश ने (मंजूषा, पृ २४२) पर
केवल बौद्ध अर्थ को लेकर पतञ्जलि को प्रस्तुत किया है और उनके समस्त बाह्य
अर्थ का अपस्राप किया है।

इससे भी अधिक मर्तुहरि के चरित्र में दृष्टिगोचर होता है। मर्तुहरि ने
शब्दबोध में तीन तर्कों का प्रलेख करते हुए बाह्य अर्थ का स्पष्ट प्रलेख किया है।
मर्तुहरि के श्लोक का रूप निम्न है—

ज्ञान प्रयोक्तुर्बाह्योऽद्य स्वरूपं च प्रतीयते । वाक्य० ३ पृ० १५ ।

नागेश ने इसमें से बाह्य शब्द को सर्वथा हटाकर बाह्य अर्थ मर्तुहरि को
अधीन्य है, इसका अपस्राप किया है। नागेश ने श्लोक का निम्नरूप दे दिया है।

ज्ञानं प्रयोक्तुर्यस्य स्वरूपं च प्रतीयते । मंजूषा, पृ० ३३ ।

तीन तर्कों में से बाह्य अर्थ को निकालकर दो तर्क कर दिए हैं। १—प्रयोक्तव्य
का अभिप्राय और २—अर्थ का स्वरूप। ये दोनों उचित शब्दों से छात होते हैं।

मर्तुहरि और बाह्यअर्थ—मर्तुहरि ने केवल बौद्ध अर्थात् कास्वनिष्ठ अर्थ
मानने पर भी उन्हें आक्षेपों का दिया है, या कि बौद्ध अर्थ का अपस्राप करने पर
दिया गया है। वृत्ति कांड के सम्बन्ध स्मृतेश में अभाववाक्यों के मत के

कावचन में (श्लोक० ६६ से ७२) तथा वृषिसमुद्रेश में नभर्ष पर विचार करते समय भर्षुहरि ने विस्तार से केवल बौद्ध अर्थ का खरबन किया है। वाद्य वस्तु की सत्ता के बिना न सम्यग् की ठीक सिद्धि होती है और न नम् समास वाले पदों की संगति होती है।

जिस प्रकार बाह्य अर्थ मानने पर 'हि' 'नहीं है' "उत्पन्न होता है" आदि क्रिया-कलाप की संगति नहीं होती है, वही प्रकार केवल काल्पनिक वस्तु मानने पर भी इन शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता। जो युक्तियाँ यहाँ दी गई हैं, यही युक्तियाँ यहाँ भी लागू होती हैं। सर्व्व्व मीमांसा न्याय वैशेषिक, जैन आदि धर्मन बाह्य वस्तु की सत्ता मानते हैं। संसार को सत्य मानते हैं। वाद्य अर्थ की सत्ता का कुमारिक न श्लोकवार्तिक के प्रत्यक्षसूत्र, निरात्म्यनवाद्य, शून्यवाद और अभाव परिच्छेद में, जयन्त ने न्यायमंथरी के द्वितीय आह्निक में तथा प्रभाषन्त्र ने प्रमेय कमलमार्गव्यक्त के प्रथम और द्वितीय परिच्छेद में बहुत विवेचन के साथ प्रतिपादन किया है।

दृश्य और अदृश्य अर्थ—भर्षुहरि ने दोनों पदों के सम्बन्ध के लिए अर्थ की बाह्य और बौद्ध सत्ता दोनों की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। भर्षुहरि तथा उनके व्याख्याकार पुत्रवराज ने लिखा है कि कुल्ल ऐसे अर्थ हैं जो आकार वाले हैं। शब्दों से अर्थ का जो ज्ञान होता है, उसमें इनके आकार की भी स्पष्ट प्रतीति होती है। कुल्ल अर्थ जैसे धर्म अधर्म, स्वर्ग आदि ऐसे हैं जिनके आकारविशेष का ज्ञान नहीं होता है, अतएव ऐसे अर्थ केवल ज्ञानमात्र अर्थात् बौद्ध (काल्पनिक) हैं। अर्थों का जैसा स्वभाव है, वैसी ही उनकी व्यवस्था की जाती है।

आचारवन्तः सविद्या व्यक्तस्मृतिभिर्गन्धर्वाः।

य ए प्रत्यक्षभासन्ते सर्व्विन्मार्गं त्वताऽन्यथा ॥

पाक्य २, १३५।

बौद्ध अर्थ के लिए भी वाद्य अर्थ की आवश्यकता—यह मरन उठाया गया है यदि शब्द का अर्थ केवल बौद्ध (काल्पनिक) माना जायगा तो "मोहनं मुञ्छते" (मात खाया है) इत्यादि बाह्य व्यवहार कैसे हो सकता है। भर्षुहरि कहते हैं कि शब्द से जो अर्थ का बोध कराया जाता है वह ज्ञान रूप है, अतएव बौद्ध है, परन्तु इस ज्ञान से जिस अर्थ (वस्तु का निर्देश किया जाता है, वह बाह्य भी हो सकता है और बौद्ध भी। अतः मोहन आदि पदार्थ जो कि बाह्य हैं वहाँ पर बाह्य अर्थ का प्रत्यक्ष होगा। बौद्ध अर्थ मानने में जो अर्थमय समझा जाय है, वह भी सम्भव है।

मात्रमाद्यभिर्गन्धन्तु युसुधर्षं पक्षसमवि ।

युसुधर्षादेव युसुधर्षे जाते तदपि हर्यते ॥

पाक्य० ३ पट्ट ११३।

हेलाराज ने इसको स्पष्ट करते हुए दो सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। एक अन्तुपगमवाद और दूसरा वाक्यवाद। दोनों वादों को मानने पर भाव छाया है, इत्यादि व्यवहार हो सकते हैं। अन्तुपगमवाद अर्थात् विचारों में वस्तु की स्थिति को मानते हुए ऐसे प्रयोगों का प्रकार यह है कि बुद्धि में जो भाव आदि शब्दों का विचार रहता है, उसी को जब दूसरे को बताया जाता है तो वहाँ पर विचारों में विद्यमान अर्थ का दूसरे को बोध कराया जाता है। वाक्यवादी प्रत्येक शब्द से अर्थ का ज्ञान नहीं मानते हैं अपितु वाक्य से ही अर्थ का ज्ञान मानते हैं। अतः वाक्य में शब्दों का अर्थ बौद्ध रूप से रहता है, उसी का आवानप्रवान होता है। इस पद्धति का नाम है अन्तुपगमवाद।

अर्थग्रह की मनोबैज्ञानिक पद्धति—वाक्यवाद के अनुसार पद्धति यह है कि वाक्यबस्तु होने पर प्रदान अर्थात् वस्तु को अर्थों से देखते हैं। इस देखने से वस्तु का बुद्धि में अभास होता है अर्थात् वस्तु के विषय में ज्ञान होता है, इस बौद्ध प्रतीति के होने पर विचार को प्रकट करने की इच्छा होती है, तब प्रतिभा आदि से अर्थात् अपने ज्ञान के अनुरूप शब्दों का उच्चारण किया जाता है। इस प्रकार परंपरा (असाक्षात् रूप) से वाक्य बस्तु ही वाक्य होती है, उसी के विषय में प्रवृत्ति होती है वहाँ पर वाक्य अर्थ नहीं है, वहाँ केवल विज्ञानमात्र (बुद्धिगत) अर्थ का बुद्धि में अभास होने के कारण किया और कर्ता का सम्बन्ध मिलावा जा सकता है। हेलाराज, वाक्य० ३ पृष्ठ १११।

अन्तुपगमवादव्यापम्। वाक्यनयेऽपि हि शब्दार्थस्य बुद्धिपरिवर्तना प्रतीतेः०। हेलाराज।

मतु'हरि न अतएव सिद्धा है कि जब शब्द के द्वारा अर्थ की प्रतीति बुद्धि में हो जाती है तब अर्थ (वस्तु) के विषय में प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है। अतः इस्य और बुद्धिगत ज्ञान में एकस्य के ज्ञान के कारण वाक्य शब्दार्थ मानना ही पड़ता है। यदि ऐसा ही म मानेंगे तो अत्राक्षय आदि शब्दों में नञ् समास नहीं के द्वारा किस वस्तु से प्रवृत्त करव करेंगे। वाक्य० ३ पृ० ४८५।

निवृत्तऽवयवस्तस्मिन् पदार्थे वर्तते कथम्।

मानिमिच्छा हि शब्दस्य प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥

वाक्य ३ पृ० ४८३।

पुत्रयराज ने इससे भी स्पष्ट रूप में इस विषय को मतु'हरि का भाव स्पष्ट करते हुए सैद्धांतिक निर्णय किया है कि शब्द के अर्थ का ज्ञान यदि वाक्य वस्तु के आधार पर हुआ है और वस्तु का वाक्य अर्थ विद्यमान है तब तो शब्द का अर्थ वाक्यबस्तु होगा और यदि वाक्यबस्तु नहीं है अर्थात् ज्ञान केवल बौद्ध अर्थ के आधार पर है तब शब्दार्थ बौद्ध ही माना जायगा। पुत्रयराज, वाक्य० २, ४४१।

विभिन्न दर्शनों के सम्बन्ध विषयक विचार—मतु'हरि और नामेश ने

राष्ट्रार्थ सम्बन्ध के विषय में नैयायिक वैशेषिक और बौद्धों के मत का अग्रदूत किया है तथा मीमांसकों और तान्त्रिकों के मत का स्वपक्ष के समर्थन में बख्शेक किया है। अतएव यहाँ पर अत्यंत सक्षिप्त रूप में इनके सिद्धान्तों का बख्शेक करना उचित है।

नैयायिक और वैशेषिकों ने राष्ट्र और अर्थ के सम्बन्ध का अग्रदूत किया है, मीमांसक और तान्त्रिक राष्ट्रार्थ सबंध को मानते हैं अतः यहाँ पर नैयायिकों और वैशेषिकों का मत प्रथम पूर्व पक्ष के रूप में रखकर मीमांसकों के मत का बाद में बख्शेक करने से विषय स्पष्ट हो सकेगा। प्रभाकर आचार्य ने प्रमेयक्रमसमर्थक में राष्ट्रार्थ मानने पर आक्षेपों का अच्छा बख्शेक किया और आक्षेपों का उत्तर भी सुन्दर दिया है। अतः आक्षेपों का पूर्व पक्ष में और समाधान का बख्शेक मीमांसकों के मत के साथ किया जायगा। जैनियों का सिद्धान्त राष्ट्रार्थ सबंध को मानते हुए भी इसे नित्य नहीं मानता है। बौद्धों का सिद्धान्त जो कि "अपोहवाद" के नाम से प्रसिद्ध है अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। अतः अतएव पृथक् ही विचार किया जायगा।

नैयायिक और वैशेषिकों का राष्ट्रार्थ-सम्बन्ध पर विचार

नैयायिक और वैशेषिकों में मतभेद—नैयायिक और वैशेषिक दोनों राष्ट्र और अर्थ का केवल सामयिक अर्थात् सीकैतिक सम्बन्ध मानते हैं, नित्य और स्वामयिक नहीं। इस विषय में मतों की एकता होने पर भी दोनों में एक विषय पर मतभेद है। वैशेषिक राष्ट्रबोध को पृथक् प्रमाण न मानकर अनुमान प्रमाण में ही राष्ट्र प्रमाण का अन्तर्भाव मानते हैं और नैयायिक राष्ट्र प्रमाण को पृथक् प्रमाण मानते हैं। कणाद ने अनुमान का निरूपण करके यह कह दिया है कि इससे ही राष्ट्र प्रमाण की व्याख्या हो गयी।

एतेन राष्ट्रं व्याख्यातम्। वैशेषिक ६, २, ३।

गौतम राष्ट्र को पृथक् प्रमाण मानकर प्रमायों की संख्या आर मानते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और राष्ट्र। आप्त अर्थात् यथार्थ वचन के उपदेश को राष्ट्रप्रमाण मानते हैं। यह राष्ट्र दो प्रकार का होता है। एक वह जिसका विषय दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ है और दूसरा वह जिसका विषय अदृष्ट अर्थात् अप्रत्यक्ष पदार्थ है। इस प्रकार दो प्रकार के पदार्थों के कारण राष्ट्र भी दो प्रकार का है।

प्रत्यक्षानुमानोपमानश्रुताः प्रमायानि। न्याय १, ३।

आप्तोपदेश राष्ट्र'। १, ७। स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्। १, ८।

गौतम ने राष्ट्र प्रमाण के पृथक् सत्ता न मानने वालों की ओर से पूर्व पक्ष रखता है कि राष्ट्रप्रमाण भी अनुमान है, क्योंकि अप्रत्यक्ष पदार्थों की राष्ट्र से

प्राप्ति नहीं होती है, इनका अनुमान ही किया जाता है। अब पदार्थ की अन्य प्रमाणा से उपलब्धि हो जाती है वो वो प्रमाणा की एक ही कार्य के लिए क्या आवश्यकता ? इसका उत्तर देते हैं कि भाषाओं के उपदेश के सामर्थ्य से शब्द प्रमाणा से अष्ट पदार्थों का ज्ञान होता है। न्याय० २, १, ४१ से २०, ४२।

वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में, गंगरा ने तत्त्वभिन्तामण्डि के शब्दतरङ्ग में, जगदीश ने शब्दशास्त्रप्रकाशिका में तथा अन्यतमट्ट ने न्यायमञ्जरी के तृतीय आधिक में शब्द प्रमाणा की पृथक् सिद्धि का बहुत विस्तार से विवेचन किया है। इस विषय का कुमारिल ने रत्नोक्तवार्तिक के शब्दपरिच्छेद में तथा प्रभाकर ने प्रमेयकमसामर्थ्यद के भागसप्रमाणनिरूपणप्रकरण में बहुत सुन्दर रूप से प्रतिपादन किया है।

शब्दार्थसम्बन्ध मानने पर आशय

संयोग और समवाय सम्बन्ध सम्भव नहीं है - शब्द और अर्थ में सम्बन्ध मानने पर निम्न मुख्य आक्षेप किये गए हैं -

१ - कणाद ने वैशेषिक दर्शन में शब्द और अर्थ में सम्बन्ध मानने पर निम्न-रूप से आक्षेप किया है। शब्द और अर्थ में दोनों प्रकार के सम्बन्ध अर्थात् संयोग और समवाय में से कोई नहीं रह सकता। यह सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि न्याय और वैशेषिक दर्शन के अनुसार शब्द आकार का गुण है और जिसका शब्द से बोध कराया जाता है, वह साधारणतया इन्द्रिय होता है। इन्द्रिय और गुण में संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता है, इनमें समवाय सम्बन्ध ही रह सकता है। दूसरी बात यह है कि शब्द भी गुण है, संयोग सम्बन्ध भी गुण है, वेगुणों का संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता है। गुण द्रव्य में रहते हैं गुण में गुण नहीं रहता। शब्द का अर्थ प्रायः गुण भी होता है, अतः दोनों गुणों का संयोग सम्बन्ध नहीं होगा। शब्द सर्वदा निष्क्रिय अर्थात् किसी प्रकार की क्रिया से रहित है। संयोग सम्बन्ध के लिए आवश्यक है कि संयुक्त होने वालों में से कम से कम एक में क्रिया हो। निष्क्रिय पदार्थों जैसे आकारा आवृत्ति के बोधक शब्दों का संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। आकार भी निष्क्रिय है और इसका बोधक शब्द भी निष्क्रिय है। अतः शब्द और अर्थ (वस्तु) में संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। अविद्यमान वस्तु के लिए "नहीं है" जैसे 'घटो नास्ति' (पटा नहीं है), शब्द का प्रयोग किया जाता है। विद्यमान शब्द और अविद्यमान वस्तु के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता।

शब्द और अर्थ में संयोग या समवाय सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है। बबड़ी (बबड़वाला व्यक्ति), पकाड़ा (एक आंसू यास व्यक्ति), इस प्रकार के उपाहरणों में वृत्त के साथ संयोग सम्बन्ध और अर्थ के साथ समवाय सम्बन्ध का ज्ञान होता है। शब्द और अर्थ के विषय में इस प्रकार प्रयोग नहीं कर सकते कि

पट' कहा राष्ट्र वाला कहा। इससे ज्ञात होता है कि राष्ट्र और अर्थ में न संयोग और न समवाय सम्बन्ध है।

युतसिद्धयमावात् कार्यकारणयो' योगविभागी न विद्येते। गुणत्वात्। गुणोऽपि विभाष्यते। निष्क्रियत्वात्। असति नास्तीति प्रयोगात्। शब्दार्थात् संबन्धी संयोगिनो दृष्ट्यात् समवायिनो विशेषाच्च। वैशेषिक० ७, ७-२, १३ स १६।

जयन्तमदृ का कथन है कि राष्ट्र और अर्थ में न तो बड़े और बेश के मुख्य संयोग सम्बन्ध हो सकता है और न तबु और पट की तरह समवाय सम्बन्ध ही शीलता है। अन्य सम्बन्ध संयोग या समवाय को ही कारण मानते हैं, अतः किसी प्रकार का सम्बन्ध राष्ट्र और अर्थ में नहीं हो सकता। संयोग सम्बन्ध के लिए यह भी आवश्यक है कि राष्ट्र और अर्थ एक स्थान पर हों। राष्ट्र मुँह में रहता है और अर्थ भूमि पर। न राष्ट्र के स्थान पर अर्थात् मुँह में अर्थ (वस्तु) सम्भव है और न अर्थ के स्थान (भूमि) पर राष्ट्र सम्भव है। राष्ट्र के कारण कठ वाला आवृत्ति स्थान करण, जिज्ञा और प्रयत्न है, इनकी पट आदि पदार्थों के स्थान पर प्राप्ति नहीं होती है अतः सम्बन्ध नहीं हो सकता। म्यायमजरी, पृ० २२ से २२१।

राष्ट्र और अर्थ में सम्बन्ध नहीं है। दोनों विभिन्न स्थानों पर रहते हैं किस प्रकार हिमालय और बिन्द्यापल। सम्बन्ध के लिए दोनों का एक स्थान पर होना आवश्यक है।

न राष्ट्रोऽयं सगतः।

तद्देशान्तरादृष्टेर्विग्नयो हिमवता पथा ॥

श्लोकवार्तिक सम्बन्ध० ७।

वास्त्यायन ने न्यायसूत्र २, १, ४२ तथा शबर स्वामी ने भीमांसासूत्र (१, १, ५) में इन आक्षेपों का उत्तर दिया है। राष्ट्र और अर्थ में प्राप्ति लक्ष्य सम्बन्ध अर्थात् अर्थ के स्थान पर राष्ट्र पहुँचे यह नहीं होता है, अतः सम्बन्ध नहीं है।

भूत भविष्यत् आदि सं सम्बन्ध नहीं हो सकता—२—प्रमाणत्र न प्रल कर्ता का यह प्रल रक्ता है कि राष्ट्र अर्थ का प्रतिपादक नहीं है। अतः अर्थ से सम्बन्ध नहीं है। जो राष्ट्र विद्यमान वस्तुओं को बताते हैं, वही अतीत और अनागत (भावी) वस्तुओं का भी जो कि है नहीं, उनका भी बोध कराते हैं। वस्तु के अभाव में भी राष्ट्र रहते हैं। जो वस्तु जिसके अभाव में भी रहती है, उसका उससे सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता है। जैसे कुरो के अभाव में ही जो गाय देखी जाती है, उसका कुत्ते से सम्बन्ध नहीं होता है। अर्थ के अभाव में भी राष्ट्र देखे जाते हैं, अतः राष्ट्र का अर्थ से सम्बन्ध नहीं है और वे अर्थ का बोध नहीं कराते हैं। प्रमेयकमल० पृ० १२४।

पास्तविक वस्तु की उपस्थिति नहीं होती—३—यदि राष्ट्र का अर्थ के

साम्य सम्बन्ध वास्तविक है तो कहूँ कहने से मुँह छट्टू से भर जाना चाहिये । आग कहने से मुँह जल जाना चाहिये, और धुरा कहने से मुँह फट जाना चाहिये । परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता । अथ हाथ होता है कि दोनों में स्वामाधिक सम्बन्ध नहीं है ।

पूरुखयदाहपाटवानुपसम्भेष्व सम्यग्घोमावाः ।

न्यायसूत्र २, १, २६ ।

शब्द स्वामी ने पूर्व पक्ष की स्थापना में (मीमांसाशास्त्रपर भाष्य पृ० १२) जयन्त न शब्दाश्च सम्बन्ध में विचार करते समय आश्लिष्य ४ पृ २२१ एवं प्रमा चंद्र ने प्रमेयफलमावदह (पृ० १२८) में इस मुक्ति का विस्तार करते हुए लिखा है कि शब्द और अर्थ का अक्षिनामाय सम्बन्ध (जो जिसके बिना न रह सके), जैसे आग और धुँएँ का, नहीं है (जयन्त) । शब्द से अर्थ का ज्ञान जतना स्पष्ट नहीं होता, जितना बहु आदि से, प्रत्यक्ष वस्तु का हाथ है । प्रमाचन्द्र ने इसके लिए मनु हरि का उद्धरण किया है कि जन्ने हुये स्वच्छि को आग के छूने से जैसा आग का ज्ञान होता है अर्थात् हाथ आदि जलता है वैसा आग शब्द कहने से जलना आदि प्रतीत नहीं होता । प्रमाचन्द्र ।

अन्यथैवास्तिस्वभावाद् दाहं दग्धोऽमिमम्यते ।

अन्यथा दाहशब्देन दाहाद्यथा प्रतीयते ॥

वाक्य० २, ४२५ ।

अतः वास्तविक सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है ।

अर्थ एक ही निश्चित नहीं है—४—एक आपत्ति गौतम ने विशेष महत्त्व पूर्ण की है । इसका सम्बन्ध भाषाविज्ञान एवं विशेषकर अर्थविज्ञान से है । यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध वस्तुतः स्वामाधिक और नित्य है तो एक ही शब्द का विभिन्न देशों में (या विभिन्न भाषाओं में) विभिन्न अर्थ नहीं होना चाहिये ।

जातिविशेषे चाभिपमात् । न्याय २, १, २६ ।

शब्द और अर्थ का ऐसा कोई नियम नहीं देखा जाता है, अथ दोनों का वास्तविक सम्बन्ध नहीं है । यास्क (निरुक्त २, २) पतञ्जलि (महा० भा १) जयंत (पृ० २२२ और २२४) तथा कुमारिल में श्लोकवार्तिक सम्बन्धाद्येवपरिहार श्लोक १६ तथा तन्त्रवार्तिक में वैशामेह, मापामेह एवं आर्य अनार्य प्रयोगमेह से एक ही शब्द के विभिन्न अर्थों में प्रयोग का उल्लेख किया है । कुमारिल ने तत्र वास्तविक में ऐसे उदाहरण देने के बाद यहाँ तक कहा है कि जब इतिहास आदि भाषाओं (तेलगू, तामिल कन्नड़) में इस प्रकार की स्पष्टता कल्पना है, एवं पारसी (फारसी), पर्श (असम्भ जातियों की भाषा पस्तो), बवण (अरबी, घुँ), रोमन (इटालियन) आदि भाषाओं में वही शब्दों का क्या क्या अर्थ होगा, पता नहीं ।

तब यदा द्राविडविभाषायाामीटशी स्वच्छन्द कल्पना तदा पारसीवर्चरयवन
रौमकआदिमापासु कि विच्छन्द्य कि प्रतिपत्त्यस्त इति न विद्यः । तन्त्रवार्तिक ।

बाह्य वस्तु है ही नहीं, सम्बन्ध किससे ? ५- धर्मकीर्ति ने न्यायबिदु के
प्रथमपरिच्छेद में प्रत्यक्ष का कथन किया है कि प्रत्यक्ष वह है, जिसमें कल्पना
मिश्रित नहीं हुई है और धममुक्त नहीं है ।

तत्र कल्पनाऽपोहमन्नास्त प्रत्यक्षम् । न्यायविदुः ।

धर्मकीर्ति ने प्रमायवार्तिक के तृतीय परिच्छेद (प्रत्यक्षप्रमाण) में नैयायिकों
वैशयिकों आदि के सम्मत बाह्यपदार्थ का बहुत विस्तार से खण्डन किया है और
वेदक विज्ञान को ही एकमात्र तत्त्व बताया है । बाह्य वस्तु वस्तुतः कुछ नहीं है ।
बाह्य अर्थ के विषय में धर्मकीर्ति का कथन है कि वस्तुओं का वही (विज्ञान
रूप) सिद्ध है । अतः विज्ञान कहते हैं कि जैसे-जैसे अर्थों (पदार्थों) पर चिन्तन
किया जाता है, जैसे ही जैसे वह अिभिमि हो शुभ हो जात हैं, (उनका भौतिक
रूप सिद्ध नहीं होता) । प्रमायवार्तिक १, २ ३ जो आकार प्रकार बाह्यपदार्थ में है,
वह प्राण और माहक के आकार को छोड़कर नहीं मिलते । (प्राण और माहक
एक ही निराकार विज्ञान के दो रूप हैं) अतएव आकार प्रकार से शून्य होने से
सारे पदार्थ निराकार कहे गये हैं । (प्र० बा० ३, २१५) । धर्मकीर्ति ने स्वयं यह
प्रन घटाया है कि वह जो बाह्यपदार्थ के रूप में अधमासित होने वाला ज्ञान है,
वसक जैसे जैसे ही हो बाह्य पदार्थ बाह्य रूप मासित हो रहा है, उसे छोड़ देने
पर पदार्थ अर्थात् पद आदि का प्रत्यक्ष (यत्तु इन्द्रिय से प्रत्यक्ष) कैसे होगा ?
बचर वेत हैं कि प्रन ठीक है, मैं भी नहीं जानता । कैसे यह होता है । जैसे मंत्र
(वेदा आदि) आदि से जिनकी आँस आदि इन्द्रियों को वांघ दिया गया है,
कन्हें मिट्टी के बेल्ले (रुपया आदि) दूसरे ही रूप में शीकते हैं । यद्यपि वह वस्तुतः
उस (रुपय आदि) के रूप से रहित है (प्र० वा० ३, ३५३ से ३५५) । इस तरह
यद्यपि बाहर और अन्दर सभी एक ही विज्ञानतत्त्व है, किन्तु तत्त्व अर्थ (वास्त-
विच्छा) की ओर न्याय न दे हाकी की तरह अर्थ सूँकर सिफ सोक्यबहार
का अनुसरण करते हैं । अतः तत्त्वज्ञानियों का भी किन्तु ही बार बाहरी पदार्थों
का चिन्तन (वर्णन) करना पड़ता है (प्र० बा० ३, २१६) । अतएव न न्यायर्म री
के अतएव बौद्धाभिमत प्रत्यक्ष का वर्णन करते हुए खिला है कि विज्ञानरूपी तत्त्व
जो पाह्यवस्तु का साक्ष्य है, वसक चित्र द्वारा स्वयं प्रत्यक्ष होता है । वसक कौन
सा अंश है या अप्रत्यक्ष रहता है, जिसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण की आवश्यकता है ।

एकस्यापस्वसावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् ।

कोऽप्यो न दृष्टा माग स्याद् अः प्रमाथैः परीक्ष्यते ।

न्यायर्मजरी पृ० ८७ ।

जब शब्द के सम्बन्ध के योग्य कोई वस्तु बाहर है ही नहीं, तो सम्बन्ध किसके
साथ होगा ।

शब्दार्थसंस्तरयोर्न्यायप्रतीति किल कल्पमा ।

न्यायसंग्रही ५० ८६ ।

प्रमाणम् ने प्रमेयकमन्वार्तव्यं मं (५० १२५ से १२८) पूर्वपक्ष के रूप में बौद्धों की बुद्धियों का समग्र किया है। प्रमाणम् (५० १२८) का पूर्वपक्ष के स्थापन में कथन है कि शब्द कवच निर्विकल्पक ही रहना चाहिये। क्योंकि एक शब्द जैसे "गाय" असंख्यो गायों के विशिष्ट गुणों का बोध नहीं करा सकता। ऐसा न कर सकने से उसका सब गायों के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता है, अतः शब्द निर्विकल्पक स्वतन्त्ररूपमात्र रहना चाहिये वह किसी औसतिक वाच्य वस्तु का बोध नहीं करा सकता। धर्मकीर्ति का कथन है कि इस वस्तु का वह वाच्य शब्द है, इस तरह वाच्य वाचक का जो सम्बन्ध है उसमें जो दो पदार्थ प्रतिमासिष्ठ हो रहे हैं, उन्हीं वाच्य वाचक पदार्थों का वह सम्बन्ध है (प्र० वा० ३, १२६)। इससे स्पष्ट है कि शब्दार्थ सम्बन्ध वस्तुतः है बुद्ध नहीं।

शब्दार्थ-सम्बन्ध और संकेतवाद

शब्द और अर्थ में सांकेतिक सम्बन्ध—नैयायिक और वैशेषिकों ने शब्द और अर्थ में सम्बन्ध न मानने पर यह अनुभव किया है कि संस्तर का काम ही नहीं चल सकता। यह देखा जाता है कि गाय कहने से गाय वस्तु का मह्य होता है, इस प्रकार शब्दों और अर्थों की व्यवस्था है। अतएव न्यायदर्शन में गौतम कहते हैं कि शब्द और अर्थ में व्यवस्था देनी जाती है, अतः सम्बन्ध का निषेध नहीं किया जा सकता है। यदि स्वाभाविक सम्बन्ध है नहीं और निषेध भी नहीं किया जा सकता तो सम्बन्ध कैसा है, उसका उत्तर देते हैं कि यह सम्बन्ध सामयिक अर्थात् सांकेतिक है।

शब्दार्थव्यवस्थानामतिपथः । सामयिकत्वात्, ऋद्ध्यर्थसंप्रत्ययस्य ।

न्यायसूत्र २, १, ५४ से ५५ ।

क्याह न भी शब्दार्थ सम्बन्ध को सांकेतिक ही स्वीकार किया है।

सामयिकः शब्दार्थप्रत्ययः । वैशेषिकः ७, २, २० ।

वात्स्यायन ने (न्यायसूत्र २, १ ५४) के माध्य में कहा है कि शब्द और अर्थ की व्यवस्था किसी सम्बन्ध के आधार पर नहीं है, अपितु सांकेतिक है। संकेत का क्या अर्थ है? इसका उत्तर देते हैं कि इस शब्द का वह अर्थ वाच्य है, इस प्रकार का वाच्य वाचक निबन्ध का बिनियोग ही संकेत है। शंकरमिश्र ने वैशेषिकसूत्र (७, २, २०) के उपरकार माध्य में सामयिक की व्याख्या की है कि समय का अर्थ है "इस शब्द से इस अर्थ को समझना चाहिये।" इस प्रकार का ईश्वरीय संकेत जिस शब्द का जिस अर्थ में परमात्मा ने संकेत किया है, वह उस अर्थ का बोध कराता है, वात्स्यायन और शंकरमिश्र ।

जयन्त भट्ट का विवेचन—जयन्त ने न्यायमञ्जरी (पृष्ठ २२१) में अपन पक्ष का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि न हम राज्य और अर्थ का संयोग सम्बन्ध मानते हैं और न कार्यकारण, निमित्त-नैमित्तिक आश्रय-आश्रयिमात्र आदि सम्बन्ध। तो क्या राज्यार्थ सम्बन्ध नहीं है? है, क्योंकि राज्य से अर्थ का नियमित रूप से ज्ञान होता है, जिस प्रकार भूप से अग्नि का ज्ञान। तब क्या अश्रयिमात्र सम्बन्ध मानकर अनुमान है? नहीं, ऐसा मानने से राज्य अनुमान प्रमाण हो जायगा। राज्य और अर्थ में प्राथम्य वाचक नियम का निर्धारण समय (संकेत) है, वही सम्बन्ध है। जयन्त ने (पृष्ठ १४० से १४२) मीमांसकों के मत की आलोचना करके राज्यार्थ सम्बन्ध की अनुमान प्रमाण से सिद्ध होने का अर्थजन किया है।

राज्यार्थयोस्तमयापरस्तामा वाच्यवाचकमात्र सम्बन्ध।

न्यायमञ्जरी पृ० १४२।

आश्रयों के अन्तर—राज्यार्थ सम्बन्ध को स्वामाधिक मानन वालों की ओर से जो आश्रय दिए गए हैं उनका अन्तर जयन्त ने (पृ० २२२ से २२५) बहुत सुंदर रूप से दिया है। जयन्त ने दोनों पक्षों के अन्तर को बहुत अच्छी रीति से स्पष्ट किया है। जयन्त का कहना है कि सृष्टि के आदि में परमात्मा राज्य और अर्थ का एकवार सांकेतिक सम्बन्ध कर देता है, वह हमारा पक्ष है। इसलिए यह आश्रय नहीं बढता कि सांकेतिक सम्बन्ध मानने पर सब राज्य बटखड़ा राज्य (ऐच्छिक राज्य) के सदृश हो जायेंगे। हमारे और तुम्हारे मत में यह अन्तर है कि तुम्हारे मत के अनुसार यह राज्य और अर्थ के सर्वप्रथम व्यवहार अनादि है और हमारे मत में यह सम्बन्ध सृष्टि के प्रारम्भ से बना है। जहाँ तक व्यवहार के व्यवहार का सम्बन्ध है, राज्यार्थ सम्बन्ध के ज्ञान में हम दोनों का मार्ग एक ही है अर्थात् इस व्यवहार आदि से जानते हैं। उसमें भी जोड़ा अन्तर यह है कि तुम्हें राज्यबोध में शक्ति अर्थात् स्वामाधिक सम्बन्ध तक ज्ञान होता है और हमें केवल संकेत तक। संसार में इतनी ही व्युत्पत्ति होती जाती है कि यह (वस्तु) इसका वाच्य है और यह (राज्य) इसका वाचक है। शक्ति तक व्युत्पत्ति नहीं होती जाती है जहाँ पर साक्षात् गम का सीमा पकड़कर राज्य और अर्थ (वस्तु) को अस्त्य कर सम्बन्ध करते हैं, वहाँ पर इतना ही कार्य किया जाता हुआ देखते हैं कि 'यह इसका वाचक है और यह (वस्तु) इसका वाच्य है।' जहाँ पर प्रयोजक और प्रयोक्त्य सृष्टि के व्यवहार से आश्रय पक्षों को देखकर व्युत्पत्ति होती है, वहाँ पर भी इतना ही अनुमान होता है कि इस अर्थ को इस राज्य से इस व्यक्ति में समझ लिया है। ऐसा नहीं समझता कि दोनों में कोई और शक्ति है। इतनी ही व्युत्पत्ति से राज्य और अर्थ का ज्ञान हो जाता है और इतना ज्ञान अनिवार्य है। इससे अधिक शक्ति की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है, अतः राज्यार्थ सम्बन्ध नित्य नहीं है। अतएव तुमने (कुमारिह मे) (श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाश्रयपरिहार श्लोक १४, १४१) जो राज्यार्थ

सम्बन्ध को तीन प्रमाणाँ अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमान और अर्थापत्ति से जो सिद्ध माना है, उसे हम नहीं स्वीकार करते। प्रत्यक्ष और अनुमान से, जैसा कि ऊपर प्रकृत बताया है उस प्रकार, सम्बन्ध को मानते हैं और अर्थापत्ति से जो सम्बन्ध को नित्य होना सिद्ध करते हो अर्थात् प्रयोग्य वृद्ध प्रयासक वृद्ध के कहने पर जब गाय साया है तो प्रत्यक्ष और अनुमान के बाद समीपस्थ बासक यह निष्कर्ष निश्चयता है कि यदि राज्य का अर्थ से सम्बन्ध नहीं है तो प्रयोग्य वृद्ध गाय साया कैसे ? अतः अर्थात् (अर्थापत्ति से) यह सिद्ध होता है कि दोनों में कोई विशेष सम्बन्ध है। इस अर्थापत्ति को हम स्वीकार नहीं करते क्योंकि यह खाने का काम संकेत के करण्य हुआ है। इसलिये सम्बन्ध को दो प्रमाणाँ से सिद्ध मानते हैं, तीन प्रमाणाँ से नहीं।

तस्माद् द्विप्रमाणाः सम्यग्यनिश्चयोः च त्रिप्रमाणाः। न्यायमञ्जरी पृ० १२५।

जबमन ने न्यायसुभाषित में यह स्पष्ट किया है कि सृष्टि के आदि में परमात्मा ने अपनी भाषा से राज्य और अर्थ के अन्तर का क्य वाक्य सम्बन्ध स्थापित कर दिया। हरिदास मट्टाचार्य ने अपनी टीका में इसका और स्पष्ट किया है कि ईश्वर सृष्टि के आदि में प्रयोजक और प्रयोग्य रूप में जो शरीर बनाकर व्यवहार करके उस समय के लोगों का शक्ति का ज्ञान कराया है।

अर्थापिबद्ध भवोपाधिर्दृष्टिराध सुपुनिवत्।

उद्भिद्दृष्टिरिषकवद् अर्थो, मायावत् समयाद्यम् ॥

कुसुमाञ्जलि, २, २।

आधुनिक विद्वानों का मत—आधुनिक भाषाविद्वानों में अधिक संख्या सत्कृतिक सम्बन्ध को मानने के पक्ष में है। हमें, पाइल, सईस, आग्नेन और रिचार्ड स और बर्ट्रेड रसल आदि। आग्नेन रिचार्ड सराफ को अर्थ का प्रतीक मानते हैं। वे कहते हैं कि राष्ट्रों का जैसा कि क. ब प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि स्वयं कोई अर्थ नहीं है बशपि पहले यह मार्क्समैम विरवास या कि राष्ट्रों का कोई अर्थ होता है। इनका उमी अर्थ होता है, जबकि विचारक उनका प्रयोग करता है कि वे किसी अर्थ के बोधक हैं। एक अर्थ में यह माना जा सकता है कि इनमें अर्थ है, यह यह कि राज्य अर्थबोध के साधन हैं। विचारों और वस्तु में सम्बन्ध है कभी साक्षात् और कभी असाक्षात्। राज्य और वस्तु में साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। यह सम्बन्ध असाक्षात् है। क्योंकि कोई किसी अर्थ के बोध के लिए इनका प्रयोग करता है। मत यह है कि राज्य और वस्तु का वास्तविक साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। यह सम्बन्ध सत्कृतिक है 'मीनिङ् आध् मीनिङ् (पृष्ठ ६ से १२)। वे साथ ही यह भी स्वीकार करते हैं कि जब यह कहा जाता है कि "इस राज्य का यह अर्थ है" तब इसी भाव से यह प्रयोग किया जाता है कि राज्य और अर्थ का साक्षात् स्वाभाविक सम्बन्ध है। पृ० १२।

बर्ट्रेड रसल का कथन है कि सभी शब्दों का अर्थ होता है, यह केवल इसी भाव को लेकर है कि वे अपने को छोड़कर अन्य किसी वस्तु के प्रतीक हैं। शब्द यस्तुवा कोई अर्थ लिए हुए होते हैं, यह वर्करास को सम्मत नहीं है। 'मीनिङ् आव् मीनिङ्' पृ० २७३।

शब्दार्थ सम्बन्ध पर मीमांसकों के विचार—शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानने वाले मीमांसकों भाषि ने भाषेपों का बहुत विस्तार से खगडन किया है। वैयाकरणों के मतानुसार इन भाषेपों का उतर ऊपर दिया जा चुका है। मीमांसकों के मतानुसार इनका उतर विरोपरूप से कुमारिलमह ने श्लोकवार्तिक के सम्बन्धाक्षेपवाद श्लोक (१ से ४६) तथा सम्बन्धाक्षेपपरिहार (श्लोक १ से १४१) प्रकरण में विषा है और अनुपम रूप से अपने मत की पुष्टि की है। प्रभाषन्त्र ने प्रमेयकर्मक-मार्तण्ड (पृष्ठ १२४ से १३१) तथा जयस्य ने न्यायमञ्जरी (पृष्ठ २२० से २२२) में इस पक्ष का अच्छे रूप से उल्लेख किया है। भाषेपों के उतर निम्नरूप से दिए गए हैं —

शब्द और अर्थ में शक्तिरूप सम्बन्ध

१—भर्तृहरि ने संयोग और समवाय सम्बन्ध का खगडन करके योग्यता सम्बन्ध की व्यवस्था की है। नैयायिकों और वैशेषिकों का यह कथन है कि संयोग और समवाय के अतिरिक्त सम्बन्ध नहीं होता इसकी निराधारता पतञ्जलि के इस कथन से स्पष्ट होती है कि सम्बन्ध एक ही एक प्रकार का होता है अर्थात् सम्बन्धों की संख्या अपरिमित है। संसार में बहुत से सम्बन्ध हैं, जैसे धन सम्बन्धी सम्बन्ध, स्व-स्वामिभाव (सेवक और स्वामी का सम्बन्ध), योनि-सम्बन्ध (पितापुत्र, मातापुत्र भादि), विद्या-सम्बन्ध (गुरुशिष्य भादि), पक्षीयसम्बन्ध (यजमान पुरोहित भादि)।

एकशतं पृथ्पयां पाबन्धो वा सन्धि । श्लोके बहुबोऽभिसम्बन्धा भाषां यौना मौष्ठां श्रौवाश्चति । महा १, १ ४६ ।

भर्तृहरि न माता और पुत्र के सम्बन्ध की अपमा की है। कुमारिल ने सम्बन्धाक्षेपवाद में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की समानता पिता पुत्र के सम्बन्ध से की है। सम्बन्ध के लिए आवश्यक नहीं है कि संयोग या समवाय आवश्यक रहे। इन दोनों के न रहते हुए भी पिता पुत्र के सम्बन्ध का अक्षेप नहीं किया जा सकता। यह भाषेप कि शब्द और अर्थ हिमालय और विन्ध्यापर्वत के समान सुदूर हैं, ठीक नहीं है। यद्यपि दोनों में संयोग सम्बन्ध नहीं है, फिर भी एक भूमि से सम्बन्ध होने के कारण पार्थिव सम्बन्ध आवश्यक है। श्लोक ६ से १० ।

भर्तृहरि ने यह सिद्ध किया है कि वैशेषिकों को भी यह सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा। उनकी मुक्ति बहुत ही महत्वपूर्ण है। भर्तृहरि कहते हैं कि जिस

मन्त्र सर्वस्वापक आत्मा का सम्बन्ध सब पदार्थों के साथ समान रूप से होने पर भी चर्मोपम विरोध के कारण कोई स्वामी है और कोई सबक है, इस प्रकार स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। इसी प्रकार शब्द में भी शब्द और अर्थ के विषय में भी एक शब्द का एक अर्थ विरोध से सम्बन्ध का कारण अदृष्ट विरोध मानना पड़ेगा।

अदृष्टवृत्तिसामेह यथा संयोग आत्मनः।

अर्थात् स्वस्वामियोगाख्यो मेहेऽप्यत्रापि संकमः ॥

वाक्य० ३ पू० १०५।

हेकारण ने मर्तुहृदि का भाव स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आत्मा का संयोग समान होने पर भी स्वस्वामिभाव सम्बन्ध का उद्धार यही है कि प्रयोग देखने और अभ्यासद्वय संस्कार की पराधीनता के कारण सब को स्वामी वा सबको सबक नहीं कहते। इसी प्रकार शब्द और अर्थ में भी शब्द का विषय निवृत्त है, अतः प्रयोगद्वय और अभ्यास तथा संकेत से ज्ञान होता है। यह ज्ञानरूप संस्कार योग्यता रूप सम्बन्ध है। प्रयोग देखने आदि के कारण प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ का बोध नहीं कराया जाता। हेकारण।

शब्द और अर्थ में सम्बन्ध इसप्रकार भी मानना पड़ता है कि शब्द में अर्थ की वाचकता की शक्ति है और अर्थ में शब्द के द्वारा वाच्यता की ही शक्ति है। यदि दोनों में सम्बन्ध नहीं है तो यह वाच्य वाचक सम्बन्ध सर्वथा नहीं रह सकता। शब्द और अर्थ में अपकार्य अपकारक सम्बन्ध है, अतः सम्बन्ध मानना पड़ता है। रत्नोक्तवार्तिक, श्लोक ११ से १२, १५।

अपकारः स यत्रास्ति धर्मस्तत्रानुगम्यते। वाक्य० ३ पू० १००।

मर्तुहृदि ने वाक्यपदीय में इस सम्बन्ध को वाच्यवाचक, माहात्म्य प्रकरक प्रकरक, अपकार्य अपकारक संज्ञा सही नाम से सम्बोधित किया है। कुमारिल ने इस सम्बन्ध को प्रत्येक अनुमान और अर्थापत्ति दोनों प्रमाणों से सिद्ध माना है। प्रबोध्य प्रयोजक मूढ का उदाहरण दिया जा चुका है। यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध नहीं है तो गाय साधो कहने पर गाय का लाना कैसे हो सकता है। रत्नोक्तवार्तिक, सम्बन्धाद्येपरिहार श्लोक १४० से १४१।

वास्तवायन ने ग्वायसाध्य (२, १, ५३) में स्पष्ट किया है कि शब्द और अर्थ में प्राप्तिशक्य सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् इस वस्तु को वस्तुव शब्द व्यक्त नहीं करेगा। वाचस्पति ने ग्वायवार्तिकवात्सर्वटीका (पृष्ठ २८६) में इसको स्पष्ट किया है कि प्राप्ति शक्य सम्बन्ध अर्थात् पदार्थों में देखा जाता है, जो कि दोनों एक ही इन्द्रिय से ग्रहण किये जाते हैं। शब्द और अर्थ में यह सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि शब्द कान से सुना जाता है और पदार्थ चक्षु आदि इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं। शब्द वस्तु को व्यक्त नहीं करेगा है, अपितु बसक ज्ञान करा देता है।

२—कुमारिल ने द्वितीय आक्षेप का उत्तर दिया है कि राज्य सामान्य रूप से वस्तु का ज्ञान कराता है। कुछ राज्य का उच्चारण करने पर वह सामान्य रूप से वृष्ट का ज्ञान कराता है। उस समय बसकी सत्ता या अभाव का ज्ञान राज्य से नहीं कर सकते हैं। जब बसका सम्बन्ध “है” “या” “नहीं” आदि से किया जाता है तब उसके वर्तमान भूत या अभाव का वास्तविक ज्ञान होता है। श्लोकवार्तिक, आकृतिवाद् (श्लोक ४ से ५) तथा अपोहसिद्धि, राजकीर्ति पृष्ठ ३।

वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिकघातवर्त्यटीका (पृष्ठ ३४१) में कहा है कि राज्य आविबिशिष्ट व्यक्ति का बोध कराता है। यद्यपि वाचि स्वरूप से नित्य है, किंतु अनेक व्यक्तियों का आशय है जो कि देश काल आदि के अनुसार विप्रकीर्ण, (फेरी हुई) है। अतएव सत्ता और अभाव दोनों के विषय में साधारण होने से “है” के साथ इसका सम्बन्ध वर्तमान व्यक्ति से सम्बद्ध जाति के अस्तित्व का बोध कराता है। “या” “होगा” राज्य वाचि के साथ व्यक्ति का कर्मणः भूतकाल और भविष्यत्काल में सम्बन्ध का बोध कराते हैं। “नहीं” अतीत या अनागत के साथ सम्बन्ध का ज्ञान कराता है, राज्य आवि-विशिष्ट व्यक्ति का बोध कराता है, अतः पदार्थ सत्ता बना रहता है।

पतञ्जलि और मर्तृहरि पदार्थ की त्रैकालिक सत्ता मानते हैं। अतः यह आक्षेप ही नहीं बैठता है। प्रमाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तबद्ध (पृष्ठ १२१) में इसका उत्तर दिया है कि वस्तु जब न सही अपने समय भूत या भविष्यत् काल में रहती है। ‘इदानीमभायेऽपि स्वप्नने भावात्’। प्रमाचन्द्र।

३—मर्तृहरि ने जिसको प्रमाचन्द्र ने बद्धत किया है इसका सुवर उत्तर दिया है। मर्तृहरि का कथन है कि राज्य असत्योपाभिविशिष्ट सत्य का बोध कराता है।

असत्योपाधि यत् सत्यं तदा राज्यनियम्बनम् ॥

वाक्य० २, १२६।

मर्तृहरि ने अपने भाव की व्याख्या (वाक्य० २, ४०६ से ४२५) में इसका म. ब. स्पष्ट किया है कि राज्य जिस वस्तु का बोध कराता है, वह वस्तु वस्तुतः सत्य है। राज्य और अर्थ में संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं है, अतः राज्य द्वारा अर्थ बोध में उस वस्तु की राज्य में वस्तुतः सत्ता नहीं रहती है, वाद्य पदार्थ में और राज्य में विद्यमान अर्थ में यही अन्तर है। राज्य के अर्थ में वह असत्त्वा (अवास्तविकता) आ जाने से बसको असत्योपाभिविशिष्ट सत्य कहा है। अतएव पुरबराज ने भी कहा है कि राज्य और अर्थ (वस्तु) में वास्तविक सम्बन्ध नहीं है।

राज्यार्थयोर्मास्ति कश्चिद् वास्तवः सम्बन्ध इति बोद्धव्यम्। पुण्यराज,

वाक्य २, ४२५।

प्रमाणत्र ने प्रमेयकमलमार्तयड (पृष्ठ १२६) में इस आक्षेप का खतरा किया है कि राज्य अर्थ का बोध नहीं कराते हैं, क्योंकि उनसे अर्थ का जो बोध होता है वह पूर्णरूप से स्पष्ट आक्षर वाला नहीं होता है। यह सत्य है कि अर्थ-ज्ञान के विभिन्न साधनों से अर्थ का ज्ञान समान रूप से स्पष्ट नहीं होता है, कोई अधिक स्पष्ट रूप से बतलू का ज्ञान कराते हैं और कोई नहीं। भाग राज्य से ज्ञान भाग का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है, जितना कि भाग से ज्ञानने से। साधन के भेद से स्पष्ट या अस्पष्ट ज्ञान होता है भिन्न के भेद से नहीं। अतः अस्पष्ट ज्ञान करने वाले साधन से ज्ञान पर्याय को असत्य नहीं कह सकते। राज्यबोध में सामान्य विरोधात्मक अर्थ का ज्ञान होता है अतः यह आक्षेप ठीक नहीं है कि भाग राज्य के द्वारा ज्ञानने का अर्थ नहीं बताया जाया है।

४—योगवाचसत्य में इसका उत्तर दिया गया है कि सब राज्यों में सब अर्थों को बोध करने की शक्ति है। सब राज्यों का सब अर्थों के साथ सम्बन्ध है। ईश्वरदत्त संकेत उसका प्रकारा करता है। मसूपा, पृष्ठ ४६।

महर्हरि ने इसीलिए राज्य को अनेक शक्ति बाँटा बताया है हुए इसको उसकी शक्तियों का विभाग माना है।

अनेकराष्टरेकस्य प्रविभागोऽनुगम्यते।

वाक्य २, ४४८।

जयन्त ने अथवा राज्यार्थ सम्बन्ध को नित्य मानने वालों के पक्ष का निरूपण करते हुए लिखा है कि सारे राज्यों में सारे अर्थों का बोध करने की शक्ति है। अतः किसी देश में किसी अर्थ का व्यवहार होता है अर्थ में दूसरे का। इसी-लिए जब ऐसे राज्य को सुनते हैं जिसके सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हावा तो सविह होता है कि किस अर्थ को बताने के लिए वह राज्य प्रयुक्त हुआ है। यदि शक्ति न होती और संकेत न किया गया होता तो उसमें बोधकता की आशंका नहीं उठ सकती थी। संकेत राज्य की उस सर्वशक्तिमत्ता का नियामक है। न्यायमन्त्ररी, पृष्ठ २२९ से २२४।

पत्रलि, महर्हरि, कुमारिस आदि ने इस वच्य को जानते हुए कि विभिन्न देशों में एक ही राज्यों का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है, इन नित्य सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है। सर्वे सर्वार्थवाचका" (श्रवण महा० १, १, १) यह नित्य सम्बन्धवादियों का सिद्धांत अर्थविज्ञान की विभिन्न दृष्टियों से बहुत ही महत्वपूर्ण है, मानार्थकता, भाषाभेद, देशभेद आदि के कारण एक ही राज्य के नाना अर्थों का मूल कारण राज्य की सर्वशक्तिमत्ता या अनेक शक्तिमत्ता को ही मानना पड़ेगा। इससे एक बात और स्पष्ट होती है कि राज्य और अर्थों के वाच्य वाचक सम्बन्ध को ही नित्य स्वाभाविक या सिद्ध कहने के मूल में इस सम्बन्ध को नित्य सिद्ध करना था।

बौद्धों द्वारा प्रत्यक्ष का खण्डन अभ्यवहारिक है

५—बौद्धों ने जो प्रत्यक्ष प्रमाण का खण्डन किया है, उसका न्याय वैशेषिक सांख्य आदि सभी धर्मियों ने खण्डन किया है। जैन धर्म में भी प्रत्यक्ष की संधा मानना है। अतः उन्होंने भी इसका बहुत विस्तार से खण्डन किया है। इस विषय का अपरोक्षवाद के खण्डन में भी वर्णन आया है। अतः यहाँ पर इतना कह देना आवश्यक है कि बौद्धों का प्रत्यक्ष प्रमाण का खण्डन व्यावहारिक दृष्टि से सर्वथा हेय है। एक बात और इस सम्बन्ध में ध्यान देना अनुचित न होगा कि जहाँ पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार करना होता है वहाँ बौद्ध दार्शनिक सूक्ष्मदार्शनिक दृष्टिकोण से विचार करते हुए पाये जाते हैं। और जहाँ पर सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार का विषय होता है वहाँ पर वह व्यावहारिक एवं स्थूल दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत करते हैं अतएव उनके विचार न व्यावहारिक दृष्टि से ठीक प्रतीत होते हैं और न दार्शनिक दृष्टिकोण से। इसको संक्षेप में इसी बात से समझना चाहिए कि प्रत्यक्ष प्रमाण का खण्डन करके उन्होंने व्यावहारिक दृष्टिकोण के अभाव का परिणय किया है और अवयवीतया जाति का खण्डन करके दार्शनिक दृष्टिकोण के अभाव का। अतएव कुमारिल ने इनके सिद्धांतों पर श्लोकवार्तिक में खण्डन किया है और उनकी असारता सिद्ध की है। विद्वानाग ने प्रत्यक्ष का खण्डन "प्रत्यक्ष कल्पनापोदम्" (कल्पना का जिसमें समावेश नहीं हुआ है), अपरोक्ष इन्द्रियमात्र (प्रत्यक्ष है) किया था। परन्तु धर्मोत्तर ने अपने न्यायवार्तिक में जो विद्वानाग ने सिद्धान्तों की कठोर समीक्षा की, उसके फलस्वरूप धर्मकीर्ति को उसमें सुधार की आवश्यकता पड़ी, और उन्होंने उसमें "अभ्यन्त" (अभरहित) शब्द जोड़कर "अत्र कल्पनापोदमभ्यन्त प्रत्यक्षम्" (न्यायविन्दु प्रथम परिच्छेद) अपने मत की रक्षा का उपाय किया है। अवन्त मठ ने न्यायमर्मशरी के द्वितीय भागिक में प्रत्यक्ष के इस खण्डन की असारता सिद्ध की है। यह विषय पूरक दार्शनिक विवेचन का विषय है। यहाँ पर इतना लिखना पर्याप्त है कि इस सिद्धान्त की असारता का विशेष निरूपण कुमारिल ने श्लोकवार्तिक में निराख्यानवाद तथा न्यूनवाद प्रकरण में, प्रमाणम् के प्रमेयकमलमार्तबद्ध चतुर्वर्परिच्छेद तथा विद्या नन्द के अष्टसहस्री (पृ. २४६) आदि में विस्तार से किया गया है।

शब्दार्थ सम्बन्ध और नित्यवाद

जैन दार्शनिकों का मत—प्रमाणम् आचार्य ने अपने अतिविद्वत्पूर्ण प्रमेयकमलमार्तबद्ध ग्रन्थ में शब्दार्थसम्बन्ध के विषय में जैन सिद्धान्त का निरूपण करते हुए कुमारिल मठ की वी हुई मुक्ति अर्थात् प्रयोभ्य प्रयोजक धृष्ट के व्यवहार से आवाप ब्रह्म की पद्धति से अर्थज्ञान का अस्तित्व करके प्रत्यक्ष अनुमान और अर्थोपपत्ति इन तीन प्रमाणों से शब्द और अर्थ में सम्बन्ध की सिद्धि मानी है।

सम्बन्धावगमश्च प्रमाद्यवयसम्पाद्य' । प्रमेय० पृ० ११६ ।

बौद्धों के आक्षेप का उत्तर देते हुए उन्होंने सिद्ध किया है कि बौद्धों को भी शब्दार्थ सम्बन्ध मानना चाहिए । शब्द और अर्थ में वे स्वाभाविक सम्बन्ध मानते हैं । अतएव प्रमाद्यन्त्र कहते हैं कि शब्द और अर्थ में स्वाभाविकयोग्यतारूपी सम्बन्ध है । दोनों में प्रतिपाद्य प्रतिपाद्यक (वाच्य वाचक) शक्ति है । जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञाप्यज्ञापक शक्ति होती है । शब्द और अर्थ में योग्यता के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य कारण आदि सम्बन्ध भाव नहीं है । शब्द और अर्थ में योग्यता सम्बन्ध होने पर ही संकेत होता है । संकेत में शब्द इत्य संकेत आदि स्पष्ट रूप से वस्तु के ज्ञान के साधन होते हैं जैसे "बैठ आदि पद्य है" । प्रमेयकमल मार्तण्ड पृष्ठ १२३ ।

प्रमाद्यन्त्र ने मत्तुंहरि के प्रसिद्ध श्लोक, "नित्या शब्दाद्यसम्बन्धा समाप्नाता महर्षिभिः ।" (वाच्य १ ५३) को उद्धृत करके उसका खडबडन किया है और कहा है कि शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध होने पर ही वह सम्बन्ध नित्य नहीं है, जिस प्रकार भिक्षु के नष्ट हो जाने पर चित्र नष्ट हो जाता है ।

सम्बन्धस्वाकित्यत्वं भिक्षुप्यबाय चित्रवत् । प्रमेय० पृ० १२४ ।

शैल मठ के अनुसार शब्द सामान्य और विशेष (जाति और व्यक्ति) दोनों का बोध कराता है । व्यावहारिक उपयोगिता व्यक्ति की होती है, व्यक्ति अनित्य है, अतः उससे सम्बन्ध सम्बन्ध भी अनित्य है । प्रमेय० पृ० १२४ और १३६ ।

ताम्रिकों का मत - नागेश ने ताम्रिकों के मत का बल्लेस करते हुये लिखा है कि वे शब्द और अर्थ में सम्बन्ध को नित्य मानते हैं ।

"नित्या शब्दार्थसम्बन्ध" इति ताम्रिका । मंजूपा० पृ० ४६ ।

नागेश ने इसी प्रकार में लिखा है कि सब अर्थों से सब शब्दों का सम्बन्ध, जैसा कि योगवाचस्पत्य में उल्लिखित है, योगियों के ज्ञान का विषय है, क्योंकि वे योगबल से शब्द और अर्थ रूप परावाही का प्रत्यक्ष कर सकते हैं । यह सुक्ति-संगत भी है । एक ही शब्द, मन्त्ररूपी स्फोट समस्त शब्द और समस्त अर्थ इन दोनों रूपों का उपादान कारण है, अतः उसके कारणरूप शब्द और अर्थ दोनों ही दोनों रूप हैं, अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों परस्पर वृत्ते जा सकते हैं । समस्त शब्दों से समस्त अर्थ हो सकते हैं और समस्त अर्थ सभी शब्दों द्वारा बोध्य हो सकते हैं ।

नागेश ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता का स्पष्ट करते हुये लिखा है कि नित्य इत्युक्ति कहा जाता है कि जब से सृष्टि बनी है तभी से इस सम्बन्ध की स्थिति है और व्यावहारिक नित्यता का कारण भी इसका नित्य कहा जाता है ।

नित्यत्वं तु वाचस्पृष्टिस्थित्या व्यवहारनित्यतया च बोध्यम् ।

मंजूपा पृ० ४६ ।

ध्रुवि का कवन नागेश ने अपने समर्पन में उद्धृत किया है कि वाक्यत्व (शब्दत्व) सूक्ष्म है और एक है। तात्त्विक रूप से यह अर्थ से पृथक् नहीं है। बड़ी विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है, उसी के नाना रूप हैं, वह हृदय में रहता है। उसको सामान्य व्यक्ति पृथक्-पृथक् समझते हैं।

सूक्ष्मावयवाप्रतिमकतत्त्वाम्, एका वाचमभिप्यम्बमानाम् ।
तामन्ये विकुरम्यामिष ख, नामारूपामात्मनि सधिषिष्ठाम् ॥

मंजूषा, पृ० २० ।

आधुनिक विद्वान् डा० ज्ञानिस्वाब् मास्त्रिनोस्की का, जो कि नूतन-विज्ञान के विरोधक हैं, इस विषय में मत है कि मापातत्व सम्बन्धी विवेचन और संस्कृति, जिससे कि मापा का सम्बन्ध है, के विरलेपण में दोनों में जो अभिन्न सम्बन्ध का स्पष्ट ज्ञान होता है, यह विरसनीयरूप में इस बात को प्रकट करता है कि शब्द और अर्थ दोनों में से एक भी एक दूसरे से पृथक् स्वतन्त्र अतिरिक्त नहीं रहता है। 'मीनिङ् आब् मीनिङ्' पृ० ३०८ ।

आधुनिक विद्वान् के इस अन्वेषण को दृष्टि में रखते हुए भट्टहरि के इस कथन पर गम्भीरता से विचार करें कि शब्द और अर्थ दोनों अभिन्न हैं और एक ही आत्मा के दो रूप हैं, जो भट्टहरि का कवन कुछ स्पष्ट और एक वास्तविक तथ्य ज्ञात होता है।

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ । वाक्य० २, ३१ ।

भट्टहरि ने शब्दार्थ सम्बन्ध को अपने मत से नित्य सिद्ध करके तान्त्रिकों आदि के मत में उसको सिद्ध किया है। भट्टहरि तथा उनके व्याख्याकार हेला राज ने लिखा है कि शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध इससे भी ज्ञात होता है कि शब्द से दृष्ट और अदृष्टनिमित्तक अर्थ का संस्कार किया जाता है, अर्थात् शब्द तथा विद्याओं (तान्त्रिक विद्याओं) की विषय आदि कं अकारने में सामर्थ्य देती जाती है। प्रत्येक तान्त्रिक शास्त्र में प्रसिद्ध बीजाक्षरों (मन्त्रों) के रूप से अदृष्ट (अर्थ) की प्राप्ति होती है। यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध न होता तो यह कैसे सम्भव होता।

शब्देनार्थस्य संस्कारो दृष्टादृष्टप्रयोजनः ।

किपते सोऽमिसंभन्धमन्तरेण कथं भवत् ॥

वाक्य० ३, पृ० ११४।

न्यायदर्शन में गौतम मुनि ने भी मन्त्र शक्ति आदि को स्वीकार करके वेद को उसी प्रकार आप्त प्रमाण मानकर वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध किया है।

मन्त्राणुर्बेदमामाभ्यवकथं तत्प्रामाण्यमातप्रामाण्यात् ।

न्यायसूत्र २, १ ६८ ।

सम्बन्धावगमश्च प्रमाद्यप्रयसम्पाद्य । प्रमेय० पृ० ११६ ।

बौद्धों के आक्षेप का उत्तर देते हुए उन्होंने सिद्ध किया है कि बौद्धों को भी शब्दार्थ सम्बन्ध मानना चाहिए । शब्द और अर्थ में ये स्वाभाविक सम्बन्ध मानते हैं । अतएव प्रमाद्यन्त्र कहते हैं कि शब्द और अर्थ में स्वाभाविकबोध्यत्वरूपी सम्बन्ध है । दोनों में प्रतिपाद्य प्रतिपाद्यक (वाच्य वाचक) शक्ति है । जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञाप्यज्ञापक शक्ति होती है । शब्द और अर्थ में बोध्यता के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य कारण आदि सम्बन्ध माप नहीं है । शब्द और अर्थ में बोध्यता सम्बन्ध होने पर ही संकेत होता है । संकेत से शब्द इत्य संकेत आदि स्पष्ट रूप से वस्तु के ज्ञान के साधन होते हैं जैसे "मेठ आदि पर्यंत है" । प्रमेयकमत्र मातृव्य पृष्ठ १२३ ।

प्रमाद्यन्त्र ने भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोक, "नित्या शब्दायसम्बन्धा समान्ताया महर्विधिः ।" (वाक्य० १, २३) को व्युत्पन्न करके उसका सरलान किया है और कहा है कि शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध होने पर ही वह सम्बन्ध नित्य नहीं है, जिस प्रकार भित्ति के नष्ट हो जाने पर चित्र नष्ट हो जाता है ।

सम्बन्धस्यानित्यत्वं निश्चित्यवाये विजयत् । प्रमेय० पृ १२४ ।

जैन मत के अनुसार शब्द सामान्य और विशेष (जाति और व्यक्ति) दोनों का बोध कराता है । व्यावहारिक उपयोगिता व्यक्ति की होती है, व्यक्ति अनित्य है, अतः उससे सम्बन्ध सम्बन्ध भी अनित्य है । प्रमेय० पृ० १२४ और १३६ ।

ताम्रिकों का मत - नागेश ने ताम्रिकों के मत का उल्लेख करते हुये लिखा है कि ये शब्द और अर्थ में सम्बन्ध को नित्य मानते हैं ।

"नित्या शब्दार्थसम्बन्धः" इति ताम्रिका । मंजूपा० पृ० ४६ ।

नागेश ने इसी प्रकरण में लिखा है कि सब अर्थों से सब शब्दों का सम्बन्ध, जैसा कि योगवाचस्पत्य में उल्लिखित है, बौद्धियों के ज्ञान का विषय है, क्योंकि ये योगब्रह्म से शब्द और अर्थ रूप परवाणी का प्रत्यक्ष कर सकते हैं । यह युक्ति-संगत भी है । एक ही शब्द, अक्षररूपी स्फोट समस्त शब्द और समस्त अर्थ इन दोनों रूपों का उत्पादन कारण है, अतः उसके कार्यरूप शब्द और अर्थ दोनों ही दोनों रूप हैं, अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों परस्पर बदले जा सकते हैं । समस्त शब्दों से समस्त अर्थ हो सकते हैं और समस्त अर्थ सभी शब्दों द्वारा बोध्य हो सकते हैं ।

नागेश ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता का स्पष्ट करत हुए लिखा है कि नित्य इसलिये कहा जाता है कि जब से सृष्टि बनी है तभी से इस सम्बन्ध की स्थिति है और व्यावहारिक नित्यता का कारण भी इसका नित्य कहा जाता है ।

नित्यत्वं तु यावत्सृष्टिस्थित्या व्यवहारनित्यतया च बोध्यम् ।

मंजूपा० पृ० ४६ ।

शुद्धि का बचन नागेश ने अपने समर्थन में उद्धृत किया है कि वाक्यत्व (शब्दत्व) सूक्ष्म है और एक है । वाक्यिक रूप से यह अर्थ से प्रबन्ध नहीं है । वही विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है, उसी के नाना रूप हैं, वह इदम में रहता है । उसको सामान्य व्यक्ति प्रबन्ध-प्रबन्ध समझते हैं ।

सूक्ष्माभयैनाप्रविमलतत्वाम्, एका वाचमभिव्यम्भमानाम् ।
तामस्ये त्रिवुरभ्यामिब च, जगत्परामात्मनि सच्चिदिष्टाम् ॥

मंजूषा, पृ० ५० ।

आधुनिक विद्वान् डा० प्रोनिस्ताप् मास्किनोस्की का, जो कि लुबरा-विज्ञान के विशेषज्ञ हैं, इस विषय में मत है कि भाषात्वत्व सम्बन्धी विवेचन और संस्कृति, जिससे कि भाषा का सम्बन्ध है, के विरलेपक्ष में दोनों में जो अभिन्न सम्बन्ध का स्पष्ट ज्ञान होता है, यह विरलसनीयरूप में इस बात को मकट करता है कि शब्द और अर्थ दोनों में से एक ही एक दूसरे से प्रत्यक्ष स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता है । 'मीनिङ्क् भाष् मीनिङ्क्' प० ३०२ ।

आधुनिक विद्वान् के इस अन्वेषण को दृष्टि में रखते हुए मण्डूहरि के इस कथन पर गम्भीरता से विचार करें कि शब्द और अर्थ दोनों अभिन्न हैं और एक ही आत्मा के दो रूप हैं, तो मण्डूहरि का कथन कुछ स्पष्ट और एक वास्तविक तथ्य ज्ञात होता है ।

एकस्यैवात्मनो मेवौ शब्दार्थाबपृथक्स्थितौ । वाक्य० २, ३१ ।

मण्डूहरि ने शब्दार्थ सम्बन्ध को अपने मत से नित्य सिद्ध करके तान्त्रिकों आदि के मत में उसको सिद्ध किया है । मण्डूहरि तथा उनके व्याख्याकार हेला-राज ने सिद्धा है कि शब्द और अर्थ का त्वामाधिक सम्बन्ध इससे भी ज्ञात होता है कि शब्द से दृष्ट और अदृष्टनिमित्तक अर्थ का संस्कार किया जाता है, अर्थात् शाबर आदि विद्याओं (तान्त्रिक विद्याओं) की विषय आदि के उत्तरने में सामर्थ्य वैली जाती है । प्रत्येक तान्त्रिक शास्त्र में प्रसिद्ध बीजाक्षरों (मन्त्रों) के अक्षरों से अदृष्ट (धर्म) की प्राप्ति होती है । यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध न होता तो यह कैसे सम्भव होता ।

शब्देभ्योऽर्थस्य संस्कारो दृष्ट्यादृष्टमयोजनः ।

क्रियते सोऽभिसंघमत्तरेण कथं भवेत् ॥

वाक्य० ३, पृ० ११४ ।

चायकरान में गौतम मुनि ने भी मन्त्र शक्ति आदि को स्वीकार करके वेद को प्रकार भात प्रमाण्य मानकर वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध किया है ।

मन्त्राणुर्वेदप्रामाण्यवदन् तत् प्रामाण्यमात्मप्रामाण्यत् ।

म्यायसूत्र २, १, ६८ ।

सम्बन्ध सामयिक नहीं है—मनुहरि ने सांकेतिक सम्बन्ध मानने वालों के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि वाक्य अर्थ बाह्य वह नित्य (जाति) हो या अनित्य (व्यक्ति), जब तक शब्द और अर्थ में पहले से सम्बन्ध नहीं रहेगा तब तक संकेत सम्बन्ध नहीं किया जा सकता है।

नित्ये नित्येऽपि बाह्येऽर्थे पुरुषेण कथञ्चन ।
सम्बन्धो ह्यसम्बन्धोऽप्यस्यैः कर्तुं न शक्यते ॥

वाक्य० ३, पृ ११५।

संकेतवाद के पक्षपातियों के लिए मनुहरि का यह गुड़ बचन बहुत विचार करने योग्य है। हेमराज ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यदि संकेतवाद के मूल में अर्थ तो अन्त में विपरा होकर हमें किसी न किसी शब्द में स्वाभाविक योग्यता को मानना ही पड़ेगा क्योंकि संकेत जो कि या जाया है वह पहले किसी शब्द में और अर्थ में उसके सम्बन्ध को जानने पर ही होता है। भाव यह है कि शब्द और अर्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध को स्वीकार किए बिना और बिना जाने संकेतवाद का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। अतएव हेमराज इस पर निरर्थक बोलते हैं कि शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध संकेत के द्वारा व्यक्त किया जाया है। हेमराज, वाक्य ३, पृ ११५।

नित्यवाद का स्पष्टीकरण

पदव्यलि आदि के विचार-वैचारण द्वारा निकाले गए शब्द और अर्थ में सम्बन्ध को नित्य किस दृष्टि से कहा है, वह ऊपर के विवेचन से कुछ स्पष्ट होता है। कात्यायन पदव्यलि, मनुहरि भाषि महावैयाकरणों और महाशारानिकों ने माया विज्ञान के इस प्रश्न पर स्पष्ट दृष्टि से नहीं अपितु पूर्वतया पारंपरिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया है। अतएव इनके विचारों की गम्भीरता स्पष्ट दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट नहीं होती है। यह विषय भाषा-विज्ञान का सबसे गूढ़ और गहन प्रश्न है। पदव्यलि और मनुहरि के विचार यहाँ इस विषय गम्भीरता से विचारणीय हैं क्योंकि वह इस विषय के आचार्य थे। दोनों ने वैदिक या संस्कृत भाषा को लेकर ही नहीं, अपितु भाषावत्त्व के मौखिक सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर विचार किया है। स्पष्ट बुद्धि से सूक्ष्म तत्त्वों के विषय में जो मौखिक बातें मासित होती हैं, उनका संक्षिप्त रूप निम्न है —

शब्द और अर्थ की अभिन्नता

१—शब्द और अर्थ अर्थात् वाक्यत्व और बुद्धित्व दोनों इतने अधिक सम्बद्ध हैं कि उनके पृथक् नहीं किया जा सकता है। वाक्यत्व और बुद्धित्व दोनों एक दूसरे के आश्रित रहते हैं, दोनों की स्वतन्त्र पृथक् सत्ता नहीं है। यही वाणी और विचारों का सम्बन्ध है, इसी को पारिभाषिक भाषा में स्कोट विवेचन

कहते हैं। राज्य और अर्थ का जो स्वामाधिक नित्य सम्बन्ध पण्डित और मनुहरि ने कहा है, उसका तार्किक रूप यह है। राष्ट्रार्थ सम्बन्ध को न मानने वालों ने जो प्रश्न उठाया है, जैसे भाग राज्य से मुँह का न जलना, अर्थ में बर्षों की अनुपलब्धि, इनको इलाकाज ने अवश्य कुछ अप्रिय किन्तु सत्य रूप में कहा है कि "परीनानिमित्तो वेदाना प्रियः" (बाक्य० ३, पृ० ६७) अर्थात् वरान (आत्म-साहाय्यकार) का ज्ञान न होने से यह प्रश्न उठाया है।

सम्बन्ध की नित्यता

१—पण्डित और मनुहरि ने इस सम्बन्ध के लिए "नित्य" राज्य का प्रयोग किया है। परन्तु कात्यायन ने "सिद्ध राज्य का प्रयोग किया। दोनों शब्दों का अर्थ तार्किक दृष्टि से एक ही है। कात्यायन के सिद्ध राज्य से दोनों के सम्बन्ध की स्वामाधिकता पर अधिक प्रकाश पड़ता है और पण्डित के नित्य राज्य से इस सम्बन्ध की अनन्तता और अविनाशिता पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

संकेत से सम्बन्ध का ज्ञान

२—इस पर यह प्रश्न स्वामाधिक है कि अन्य वारानिकों के संकेतवाद का इसमें क्या स्थान है। तार्किक दृष्टि से जो नित्यता और स्वामाधिकता का स्थान है, वही व्यावहारिक दृष्टिकोण से संकेत का स्थान है। इस नित्य एवं स्वामाधिक सम्बन्ध को संकेत का रूप देने का काम अर्थात् यह राज्य है और यह अर्थ है, आस्तिक धर्मियों के अनुसार सब से प्रथम ईश्वर ने किया। राज्य भावामिष्यक्ति का सामनमात्र है। अतः उसे प्रतीक भी कहा जा सकता है। संकेतवाद और प्रतीकवाद इस प्रश्न के व्यावहारिक रूप का विवेचन करते हैं, पारमार्थिक का नहीं। अवश्य तार्किक दृष्टि से अर्थसत्य हैं। व्यावहारिक दृष्टि से इनकी उपयोगिता पूर्ण और सत्य है। अवश्य मनुहरि ने कहा है कि समय अर्थात् संकेत से सम्बन्ध का मनुष्य को ज्ञान होता है।

समयाद् योग्यतासंनिष्ठावापुत्रादियोगवत्। वाक्य० ३, पृ० १११।

महर्षि कथाय और गौतम के विचार इस प्रश्न पर केवल व्यावहारिक दृष्टि-कोण को लेकर हैं। अथर्वभट्ट का अवश्य यह कथन मुक्तिसंगत है कि जहाँ तक आत्मकर्म के व्यवहार का सम्बन्ध है, वहाँ पर नित्यवादी और संकेतवादी दोनों लगभग समान ही हैं। दोनों को ही व्यावहारिक आवश्यकता में संकेत शब्द व्यवहार परम्परा से ही ज्ञान होता है।

अपत्ते तु राष्ट्रार्थसम्बन्धस्युत्पत्तौ तुल्य एवावयो फत्याः। न्यायनन्दरी,
पृष्ठ २२४।
इस सम्बन्ध का ज्ञान भी व्यावहारिक आवश्यकता में संकेत के सहारे ही होता

है अतः व्यावहारिक दृष्टि से नित्य सम्बन्ध को न मानने पर भी काम चल ही जाता है। अतः अथर्व ने इस बात पर बल देते हुए कहा है कि संकेत होनेों अत्रत्याओं में मानना पड़ता है। और उससे काम चल जाता है तो क्या आवश्यकता है कि सम्बन्ध को भी स्वीकार करें।

समयोपयोगी नियामक इति चेत् स एवास्तु किं शुक्तिमिः। न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ०२४।

यह व्यावहारिक तन्त्र दृष्टि का उत्तर मापाशाक्तियों को मौखिक उत्तर प्राप्त न होने से उन्हें इसके मूल में निहित स्वाभाविक सम्बन्ध को नित्य कहना पड़ा है। मौखिक स्वाभाविक सम्बन्ध के बिना संकेत का प्रारम्भ सम्भव नहीं है। वाक्य-व्यवस्था और बुद्धिव्यवस्था के नित्य स्वाभाविक सम्बन्ध को मानकर नित्य सम्बन्ध कहा गया है।

द्रव्यरूप अर्थ से नित्य सम्बन्ध

४—नित्य अर्थ क्या है जिसका शब्द से नित्य सम्बन्ध है। इसका विवेचन पतञ्जलि ने "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" (महा आश्रितिक० १) की व्याख्या में द्रव्य और आकृति की नित्यता और अनित्यता पर विचार करते हुए स्पष्ट किया है। पतञ्जलि मिट्टी के बने वर्तनों और सुवर्ण के बने आभूषणों का उदाहरण देकर इनकी आकृति (आकार) को अनित्य कहते हुए आकृति शब्द को रिक्त रूप में प्रयोग करके बहुत गम्भीर बात कह गये हैं। मरुहरी ने पतञ्जलि के १०-२५ पंक्तियों में कहे मौखिक भाव को १४ श्लोकों में तृतीय काव्यक जाति समुद्रेश (वाक्य० का० पृष्ठ १ से ६५) में स्पष्ट किया है स्वयं दृष्टि से समझा जाता है कि आकृति (जाति) नि य है और द्रव्य (अर्थ) अनित्य। परन्तु पतञ्जलि इसके सबका विपरीत निर्णय देकर गम्भीर बात कह गए हैं। पतञ्जलि कहते हैं कि आकृति (जाति) बदलती रहती है और द्रव्य वही रहता है। यहाँ पंडित बर्दान का अभिप्राय यह है। पतञ्जलि ने आकृति शब्द जिसके दो अर्थ हैं १—आकार प्रकृत, २ जाति, का प्रयोग करके मिट्टी के वर्तनों और सोने के आभूषणों का उदाहरण दिया है। ऊपर से देखा जाय तो ऐसा ही कि वह वह कह रहे हैं कि मिट्टी या सोने की बनी तूटल वस्तुओं का आकार बदल जाता है और मिट्टी या सोना शेष रहता है, जो कि द्रव्य है। द्वाभ्योम्य उपनिषद् (अथ्याय ६, १) का बचन है कि "वाचारम्भणं विचारो नामधेयं सृष्टिकेत्येव सत्यम्" अर्थात् मिट्टी रूप मूल मूठ वस्तु एक है, बड़े आदि जो उसके विचार बीसते हैं वह केवल करने मात्र को हैं वस्तुत्व मिट्टी के अतिरिक्त क्या आदि कुछ नहीं है। पतञ्जलि का भाव द्वाभ्योम्य उपनिषद् के उदाहरण से कुछ स्पष्ट होता है। पतञ्जलि वस्तुओं के आकार प्रकृत को ही आकृति शब्द से अनित्य नहीं कह गए हैं, अतिसु जातिमात्र, जो कि आकृति शब्द का अर्थ है, को भी अनित्य कह कर केवल एक द्रव्य को नित्य कह

गए हैं। जातिमात्र के मूल में एक तत्त्व है जो स्थिर और नित्य है, वह है आत्म तत्त्व। वैयाकर्यों की भाषा में वह है राष्ट्रतत्त्व, राष्ट्रब्रह्म या स्फोट। पतञ्जलि ने प्रश्न बताया था कि किस पदार्थ को लेकर राज्य और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानते हो? उसका उत्तर दिया है कि द्रव्य को पदार्थ मानकर। द्रव्य क्या है? जो कि आकृति (जाति) के नष्ट होने पर भी बचा रहता है। वह है राष्ट्रब्रह्म राज्य तत्त्व। यह ही वास्तविक नित्य है। इसी का लक्षण किया है कि नित्य वह है जो कि कूटस्थ अभिवाकी भावि हो अर्थात् जिसमें कमी किसी प्रकार का परिवर्तन आदि न होता हो। राज्य अर्थात् स्फोट रूपी राज्य वाचक है और राष्ट्रब्रह्म (स्फोट) रूपी अर्थ वाचक है। इन दोनों का सम्बन्ध स्वामाजिक है, नित्य है, और अनादि है। यह है वैयाकर्यों का राज्य और अर्थ का नित्य सम्बन्ध। इसमें राज्य और अर्थ दोनों ही मूल कूटस्थ हैं। अनित्यता का नाम ही नहीं है। यह है द्रव्य का दार्शनिक स्वरूप।

जातिरूप अर्थ से नित्य सम्बन्ध

४- पतञ्जलि इससे नीचे आकृति को द्वितीय कोटि का पदार्थ बताते हैं। प्रथम कोटि का अर्थ राष्ट्रतत्त्व है। उसके बाद द्वितीय कोटि का अर्थ जाति है। आत्म-तत्त्व या परमात्मा की दृष्टि में जाति अनित्य पदार्थ है इसका स्वरूप बबलता रहता है। इसकी नित्यता की परिभाषा में भी पतञ्जलि ने अन्तर कर दिया है। वे कहते हैं कि एक स्थान पर नष्ट हो गई है इसलिये सग स्थानों पर नष्ट हो जाती है, ऐसी बात नहीं है, अन्य द्रव्यों में शेष रहती है इसलिये स्वरूप के बबलने या व्यक्तियों के नष्ट होने पर भी जाति बनी रहती है। अतः वह नित्य है।

नित्या आकृति कथम् ? न कश्चिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता मवति।
प्रव्यान्तरस्या तुपलम्पते। महा० भा० १।

यह है कि अर्थ की अनित्यता में भी नित्यता। अर्थ के परिवर्तन में भी अर्थ-रिबर्तन। अर्थ के विनाश में भी अविनाश।

जाति को अर्थ मानते हुए एक और दूसरा उत्तर नित्यता का देते हैं। वह है कि नित्य का यही कोई लक्षण नहीं है कि मूल कूटस्थ भावि हो अपितु नित्य वह भी जिसमें तत्त्व (मौलिक तत्त्व) नष्ट नहीं होता।

तदपि नित्यं परिभटतत्त्वं न विद्वमपते। महा

नागेरा ने इसको स्पष्ट किया है कि जिसके नष्ट हो जाने पर भी तद्गुण धर्म (मौलिक तत्त्व) नष्ट नहीं होता वह भी नित्य है। इसका अभिप्राय है प्रवाह नित्यता। जिस प्रवाह प्रवाह में उसके नष्ट होने पर भी उसके धर्म का नाश नहीं होता, क्योंकि प्रवाह का जो मौलिक रूप है वह अनिच्छिन्न रहता है। जाति में व्यक्त नष्ट होते रहते हैं, जाति बनी रहती है। प्रवाह के नित्यता को स्पष्ट समझने

के लिए प्रवाह को समझ लेना चाहिये। नदी का प्रवाह चलता है, उसमें जो बल प्रारम्भ से चला था, वह घटता बढ़ता बढ़ता नष्ट होया जाता है, परन्तु प्रवाह चला जाता है। यद्यपि जल एक होने के कारण इसके परिवर्तन परिवर्धन आदि को ध्यान न देकर नित्य कहते हैं। वास्तविक दृष्टि से प्रवाह नित्य नहीं है, कुछ क्षण में नष्ट होया जाता है। वह है आकृति का आतिरूप अर्थ, जो कि अनित्य होते हुए नित्य है, व्यावहारिक दृष्टि से, तात्त्विक दृष्टि से नहीं। यही है दूसरे शास्त्रों में भाषाविकास, शब्दविकास, अर्थविकास और सच प्रकार के विकास। यहाँ भी शब्द जाति का अर्थजाति से प्रवाह नित्यता सम्बन्ध रहने से सम्बन्ध को नित्य कहते हैं। वेला महा 'कियाम्' (४, १, ३) सूत्र तथा वाक्यपदीय काण्ड ३, पृ० ३१।

व्यक्ति रूप अर्थ से सम्बन्धनित्य

६—ऊपर के दोनो प्रकार के अर्थों में वास्तविक दृष्टि से प्रथम को वस्तुतः नित्य और द्वितीय को व्यावहारिक नि य अर्थ मानकर सम्बन्ध को नित्य कहा है। पञ्चमि ने तृतीयकोटि का भी अर्थ दिया है, वह है अक्षमकोटि का अर्थ। स्थूल अर्थ और व्यक्तिरूप अर्थ। यही स्थूल अर्थ है जिस तक अन्य शारानिक पहुँचे हैं और विभिन्न आक्षेप घटाए हैं। आत्मकज्ञ के मापाशाली जिसको विफासरक्षित कहते हैं। इसके लक्षण में पञ्चमि ने अन्तर का दिया है। ऊपर के दोनो अर्थों की नित्यता का अर्थान्तर करते हुए उन्होंने सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे का विरलेपण किया है "सिद्धे शब्दे अर्थ-सम्बन्धे च" अर्थात् ऊपर दोनो अर्थों में तीनों वस्तुएँ नित्य हैं शब्द भी, अर्थ भी और सम्बन्ध भी जिनकी अपर्युक्तनित्यता को ध्यान में रखते हुए किसी भी शारानिक को आक्षेप का स्थान नहीं रहता। इस तृतीय कोटि के अर्थ में पञ्चमि ने कात्यायन के बार्हिक का विरलेपण विभिन्न रूप से किया है, जिस पर आक्षेप घटाया जा सकता था उसका पहले से निराकरण कर दिया है। विरलेपण का रूप यह किया है। सिद्धे शब्दे अर्थ-सम्बन्धे च' नित्योपार्थवतामभैरभिसम्बन्धे स्थूल शब्द रूप अर्थ, व्यक्तिरूप अर्थ न तो वास्तविक दृष्टि से ही नित्य है और न व्यावहारिक वा स्थूल दृष्टि से। अतः पञ्चमि ने अर्थ को पुनःकृत कर नित्य नहीं बताया है। उसे सम्बन्ध शब्द के साथ संबद्ध कर दिया है और कहा है कि शब्द नित्य है, अर्थ अनित्य है, सम्बन्ध नित्य है। प्रश्न होगा कि अर्थ नित्य है तो सम्बन्ध कैसे नित्य हो सकता है। यह है सबसे स्थूल प्रश्न, जिसके विषय में पीछे मर्याप्त ज्ञान का बुझा है। इसका स्पष्टीकरण स्वयं पञ्चमि ने किया है कि "न हि पदार्थ सत्ता अभिचरति" अर्थात् पदार्थ भी नित्य है, उसमें त्रैकालिक सत्ता रहती है। वर्तमान मूल भविष्यत् वसी के अर्थ हैं। पदार्थ की वर्तमान समय की सत्ता को बताने के लिए "ई" कहते हैं। "या" "होगा" वसी मूल और भविष्यत् सत्ता को बताते हैं। त्रैकालिक नित्य सत्ता का आधिर्भाव वर्तमान है और तिरौ

भाषा मूल मबिष्यत् है। स्पृष्ट दृष्टि से यह अनित्य है, अतः पतञ्जलि ने स्पृष्ट दृष्टि के अनुसार ही इसको अनित्य कहा है। इसके सम्बन्ध का जैसा कि कैमट, नागेश और मर्तृहरि ने स्पष्ट किया है कि योग्यता स्वी सम्बन्ध को लेकर यह कहा गया है। योग्यता शब्द में रहती है। शब्द सब स्थिति में नित्य है। अनित्य अर्थों में भी शब्द की अर्थ बोधकता का सम्बन्ध सदा रहता है। मर्तृहरि और हेसाराज ने इसको स्पष्ट किया है कि अनित्य अर्थ के साथ भी शब्द का वाच्य रूप सम्बन्ध नित्य है। यहाँ पर नित्य शब्द तात्त्विक नित्य नहीं अपितु व्यावहारिक नित्यता एवं प्रवाह-नित्यता का लक्षण में रक्त कर कहा गया है।

अनित्येष्वपि नित्यत्वमभिधेयात्मना स्थितम्। वाक्य० ३, पृ० ११३।

मर्तृहरि ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट करने के लिए एक सम्बन्ध समुदाय (वाक्य० ३ पृ १६-१३८) प्रकरण प्रकृ ही किया है। इस वाक्य स्पृष्ट अर्थ को मर्तृहरि ने अस्त्योपाधिभिन्न सत्य कहा है। सत्य इसलिए है कि मौखिक शब्दत्व वसमें है। अस्त्योपाधि इस लिए है कि इसमें विनाशप्रसिद्धता पर स्पृष्ट दृष्टि से आभास मिलता है।

अस्त्योपाधि पतसत्यं तद् वा शब्दविवन्धवम्। वाक्य० २ १२६।

सम्बन्ध तीनों अवस्थाओं में नित्यरूप से रहता है। शब्दत्व स्व स्वी अर्थ के साथ सम्बन्ध तात्त्विक रीति से नित्य है। जाति और व्यक्तिरूपी अर्थ के साथ प्रवाह-नित्यता सम्बन्ध है।

अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से विचार

-७- पतञ्जलि ने शब्दशब्द को परमार्थ से अमिन्न मानकर इसका विवेचन किया है। शब्दत्व की दृष्टि से इसको स्पष्ट करने के लिए मिट्टी के बर्तन और सुवर्ण के आभूषण के लान पर शब्दराज के उदाहरण रखने से विषय स्पष्ट हो सकेगा। उपर्युक्त उदाहरण में तीन वस्तुएँ हैं, १ मूलत्व, २ आकृति या जाति ३ स्पृष्ट इन्द्र वा व्यक्ति। मापाशास्त्र में १-मूलत्व शब्दत्व है २-आकृति वा जाति संसार की विभिन्न मापाएँ हैं। ३ स्पृष्ट इन्द्र वा व्यक्ति प्रत्येक मापाओं के प्रत्येक शब्द हैं, पतञ्जलि के कथन को ध्यान में रखते हुए इसका विवरण निम्न होगा —

क-संसार की समस्त मापाओं में विद्यमान शब्दत्व एक है। शब्दत्व ही वाचक है और अर्थरूप में भी मौखिकत्व के कारण वही वाच्य है। मर्तृहरि ने वाचक शब्द में दो शब्द बत पाएँ हैं, उनका स्वरूप मुद्रितत्व और प्राणत्व है। उनका कथन है कि एक शब्द का निर्मित है और इस अर्थ में प्रयुक्त होता है (वाक्य० १, ४४, ४७), शब्दत्व में ये दो तत्व रहते हैं। मुद्रितत्व (विचारत्व) प्राणत्व को प्रेरणा देता है, वही प्रेरणा के कारण वह स्पृष्टरूप ध्वनि को प्राप्त होता है। दूसरा प्राणत्व ध्वनिरूप में अर्थ के बोध के लिए प्रयुक्त होता है। मुख्य अर्थ

शब्दत्व है। अतः वाचक शब्दत्व का वाच्य सम्बन्धत्व से नित्य सम्बन्ध रहता है। संकेत इसका प्रकारक है। भाषा और अर्थ मौलिक रूप में सदा विद्यमान रहते हैं। आस्तिकवाद के शब्दों में ईश्वर उस संकेत का प्रकारक है।

ब—द्वितीयकोटि का अर्थ है जाति। शब्दशास्त्र में विभिन्न जाति हैं। संसार की विभिन्न भाषाएँ। पञ्चमि का कथन है कि जाति में भी परिवर्तन होते रहते हैं। यह है भाषाविज्ञान का आधुनिक सर्वसमस्त भाषाओं के विकास का सिद्धान्त। शब्दरूपी व्यक्ति नहीं अपितु भाषाओं की आकृति (जाति) बदलती रहती है। इस के उदाहरण रूप में वैदिक भाषा को ले सकते हैं। इसकी आकृति “आकृतिरग्या चाम्या च मयति नियम के अनुसार प्राकृत, साहित्यिक, संस्कृत, अपभ्रंश आदि आकारों में बदलती गई और आज हिन्दी के रूप में उसका स्वरूप है। संसार की अन्य भाषाओं सेटिन, ग्रीक आदि का ऐसा ही इतिहास है। १—भाषाओं में कितने ही परिवर्तन होते रहते हैं, परन्तु भाषा भाषा के रूप में बनी जाती है। वैदिक भाषा कितने ही आकार बदलने पर भी नष्ट नहीं हुई, अन्य रूप ग्रहण करती गई। अतः उसकी नए रूपों में उपलब्धि होती है। २—भाषा में अनेकों शब्दों की सृष्टि और प्रसंग होती रहती है, परन्तु भाषा का मूलतत्त्व विद्यमान रहने से भाषा प्रवाहानित्यता की प्रणाली से नित्य रहती है। आस्तिरूप में भाषा और जातिरूप में भाषा के अर्थ नित्य हैं। इस नित्य शब्दों और अर्थों का सम्बन्ध प्रवाह-नित्यता के अनुसार नित्य है। जिस प्रकार सारी भाषा की भाषा बदलती जाती है, उसी प्रकार भाषा के सारे शब्दों का अर्थ भी सामूहिक रूप में बदलता रहता है।

ग—तृतीयकोटि का अर्थ है व्यक्ति। शब्दशास्त्र में व्यक्ति है प्रत्येक भाषा के प्रत्येक शब्द और प्रत्येक शब्द के अपने अर्थ। वे सबसे स्पष्ट हैं, जिनका जन्म और मारा सबों को स्पष्ट रूप से भी दीखता है। अतः पञ्चमि ने इन्हें (इन्द्रमनित्वम्) अनित्य कहा है। प्रत्येक शब्द अनित्य है और प्रत्येक शब्द का अर्थ भी अनित्य है। इनका हास और विकास, जिस प्रकार संसार में मनुष्य का, भाषाशास्त्री ब्रह्मती रहते हैं। जिस प्रकार स्पष्ट वस्तुओं की आयु भी परिमित होती है, उसी प्रकार इन्द्रकी आयु भी परिमित होती है प्रत्येक शब्द और वस्तुके अर्थ का भाषाशास्त्री इतिहास बूझ सकते हैं। वे प्रत्येक शब्द और प्रत्येक अर्थ व्यावहारिक दृष्टि से भी अनित्य हैं फिर भी सम्बन्ध प्रवाह रूप से नित्य है। प्रत्येक भाषा में प्रत्येक शब्द का अर्थ प्रवाह नित्यता के उदाहरण के अनुसार बदलते बदलते हुए भी प्रायोगिक दृष्टि से नित्य बना रहता है।

सर्वार्थवाचकता

c—“सर्वे सर्वार्थवाचका” यह भाषाविज्ञान की दृष्टि से सत्य है। मानेरा का कथन है कि योगिजम बसको देख पाते हैं, साधारण व्यक्ति नहीं। साधारण व्यक्ति के लिए अपनी भाषा में जो शब्द जिस अर्थ में बोध जाया है, वही

इसका अर्थ है, परन्तु माया विरोपहो और उनमें भी बहुभाषाविरोपहो की दृष्टि में राज्य "सर्वे सर्वार्थवाचका" ही है। उनकी दृष्टि में प्रत्येक राज्य किसी भाषा में कोई अर्थ बताते हैं और किसी भाषा में कोई अर्थ। सामारण व्यक्ति के लिए एक अर्थ है पर उनके लिए अनेक अर्थ हैं। जो जितना अधिक व्यापक प्रतिभायुक्त है उसके लिए राज्य की सर्वार्थवाचकता घटती ही बढ़ती जाती है। पूण योगी के लिए बस्तुतः "सर्वे सर्वार्थवाचकाः" हैं। इस पर प्रलभ यह हो सकता है, जैसा कि ऊपर लयन्तमट्ट ने किया है कि सब जगह सर्वार्थवाचक क्यों नहीं है, इसका उत्तर समय, संकेत व्यवहार परम्परा का नियन्त्रण है। जहाँ पर जो राज्य जिस अर्थ में प्रचलित है, वहाँ उसी अर्थ की स्थिति रहती है। भाषा विरोपहो के लिए अर्थ निरन्तर के साधन अर्थ नियन्त्रण करते हैं। इन साधनों का अर्थान किया जा चुका है। वेसे इसका सैद्धान्तिक अर्थ यह है कि राज्यवत्त्व (शूद्रत्व, जाति और व्यक्ति) एक अर्थ शब्द में आ जाते हैं। अर्थवत्त्व कहने से सारे अर्थ वत्त्व (राज्यवत्त्व या राज्यवत्त्व) के भाव और अभाव रूप से हो अपूर्वक स्थिति रहते हुए मेह है। इनमें एक अर्थ (राज्यवत्त्व) वाचक है और दूसरा अर्थ (अर्थवत्त्व) वाच्य है। इस मूल अवस्था में सारे राज्य अर्थात् एक मूलराज्य वत्त्व सारे अर्थों (अर्थात् एक मौखिक अर्थवत्त्व) का बोध कराता है। यह एक परम और भ्रूष सत्य है। जिसका वास्तविक ज्ञान सिद्धापरमा को प्राप्त योगी द्वारा अचरय कर सकते हैं। यही कारण है कि एक राज्यवत्त्व से संसार की विभिन्न अर्गाणव भाषा उपभाषा उत्पन्न हो कर अर्गाणव अर्थों का विभिन्न रूप से बोध कराती हैं। राज्य और अर्थ का जो नित्य सम्बन्ध कहा गया है, वह वास्तविक अर्थ में तो मौखिक अर्थ को लेकर कहा गया है और व्यावहारिक अर्थ मवाह नित्यता को दृष्टि में रखकर आधुनिक या व्यावहारिक अर्थ के साथ इसका सम्बन्ध नित्य कहा गया है। वर्तमान के मूल में जो त्रैकाक्षिक सत्ता है, इसको ठीक मान लेने पर यह शब्दार्थ सम्बन्ध त्रैकाक्षिक सत्य है।

नित्यवाद का दार्शनिकरूप

६—पतञ्जलि और महर्हरि के जो कथन हैं, वह बस्तुतः अर्थात् है। जो ऊपर विवरण दिया गया है, वह बहुत अर्थों में एकलगी है। इस पर और सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करने से ज्ञात होता है कि यह राज्य और अर्थ (मूल अर्थ में) का विवेचन नहीं अपितु अस्तवत्त्व का विरलेपण है। जिसमें व्याकरण ही नहीं, अपितु संसार की सारी विधाओं का सूत्र रूप में स्पष्टीकरण है। इसकी पूर्ण सत्यता प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार करने पर स्पष्ट होती है। वे हो वत्त्व ही, जिसको त्रैकाक्षिक राज्य और अर्थ नाम देते हैं संसार के मूलकारण को वत्त्व है,

जो एक आत्मा के दो रूप हैं। इन्हीं दोनों शक्तियों को पुरुष, प्रकृति ब्रह्म-माया, ज्ञान-अज्ञान, अस्तित्व-नास्तित्व, भाव-अभाव, अस्त-सत्य, अग्नि-सोम, और आधुनिक विज्ञान के शब्दों में घनात्मक और अज्ञात्मक शक्तियों का नाम देकर स्पष्ट किया है। पतञ्जलि और मण्डूकि ने तथा इनके टीकाकारों ने एक नहीं, अनेक स्थलों पर इस बात का बहुत स्पष्ट रूप से संकेत किया है, जो कि स्पृष्ट दृष्टि से अन्तर्यामि और अप्रासंगिक सा प्रतीत होता है। इन दोनों योगियों के लिए व्याकरण्य स्पृष्ट व्याकरण्य नहीं था, अपितु ब्रह्मवत्त्व को शब्दवत्त्व कहकर संसार के सारे प्रयत्नों का पारानितिक रूप में विवेचन करना था। भौतिक जगत् में जैसा स्थान स्पृष्ट जाति और स्वर्ण का है, पंचभूतों और पंचतन्मात्राओं का है वही प्रकार से व्याकरण्य में इनके प्रतिनिधि पर्याय यह और बाह्य हैं। इनका वास्तविकरूप स्पष्ट कर देना ब्रह्मवत्त्व या शब्दवत्त्व की आत्मा का स्वरूप प्रकट कर देना है। अतएव मण्डूकि ने कहा है कि यह व्याकरण्य की सब स्पृष्ट प्रक्रिया व्यावहारिक है वास्तविक दृष्टि से यह अविद्या है। यह साधन है, इसके समग्र होने से इसके अन्तर्निहित शब्दवत्त्व की प्राप्ति होती है।

व्यवहाराय मन्व्यन्ते शास्त्रार्थप्रक्रिया यत् ।

शास्त्रेषु प्रक्रियामेवैरविद्यैवोपबर्षते ।

अनागामविक्रम्या तु स्वयं विद्योपबर्षति ॥

वाक्य० २, २१४—२१५ ।

सम्भवतः कुछ ऐसी ही बातों को दृष्टि में रखकर वैदिक महर्षि ने कहा था कि इसको देखते हुए भी कुछ भोग नहीं चलते हैं, और इसका सुनते हुए भी नहीं सुनते हैं। परन्तु जो इसको आस नोकर देखता है और ठीक सुन लेता है, उसको यह अपना स्वरूप प्रकट कर देता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में इसको आरम्भ में ही स्पष्ट प्रकृत भी किया है।

उत त्वा परब्रह्म ददर्श ब्राह्मणुत त्वा श्रुत्वाद्य श्रुत्योत्थेनाम् ।

उतो त्वस्मै तन्मं विसृजे, जायेम पत्य उशती सुवासा ॥

महा० आ० १ ।

बौद्ध दार्शनिकों का अपोहवाद

अपोहवाद का इतिहास—उत्पुंक्त विवेचन के परभाव यह उचित नहीं प्रतीत होता है कि अपोहवाद को स्पृष्ट रूप से प्रस्तुत किया जाय। यह बौद्ध दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों का एक अंग है। गौतम बुद्ध के अंगुत्तर निकाय (३, १ ३४) के "अनित्तं ह्येतं अनात्मं" इस एक सूत्र में बुद्ध का सारा दर्शन समाहित है। बुद्ध ने अणिकवाद्य (महानिदानसुत्त की० नि० २, १२) प्रतीत्य समुत्पाद्य, "अस्मिन् सति इह भवति" (म० नि० १, ४, ८) अर्थात् इसके होने पर यह होता है, सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। प्रतीत्य समुत्पाद्य के इस सिद्धान्त

प्रवाह को लेकर नागाजुन ने शुभ्यवाद को विकसित किया है। अनारम्भवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए वे आत्मवाद को बालभर्म कहते हैं। अर्थ भिन्न-बिन्न कवलो परिपुगे बालभर्मों। मज्झिम नि १, १३। नागाजुन ने अनित्यवाद का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि, "कहीं भी कोई सचा न स्वता है, न परतः, न स्वतः परतः दोनों और न बिना हेतु के ही।" (मज्झिम ८)। असंग ने योगाचारभूमि में अनित्यवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद का और बिस्तार से बर्णन किया है। अनित्यवाद के समबन के लिए यह आक्षरयक या कि सभी पदार्थों को अनित्य माना जाय। इसमें सबसे बड़ा बिम आच्छति या काति था। यदि ब्यक्ति के अतिरिक्त काति जैसा कोई भी पदार्थ मानना पड़ता है तो अनित्यता सिद्ध नहीं हो सकती है अतएव अनित्यवाद के लिए आक्षरयक हो गया कि जाति का बहुवचन रूप से खरबन किया जाय। परन्तु जाति का खरबन करने पर अनुप्य जाति, गोजाति आदि में जो अनेक में एकता मिलती है, उसका भी कुछ खर होना चाहिये था। अत अपोहवाद का जन्म हुआ है।

विक्रानाग ने सर्वप्रथम इसका मुख्य रूप से प्रतिपादन किया है। विक्रानाग ने अपने मुख्य मय "प्रमाण समुच्चय" के ६ परिच्छेदों में से पंचम परिच्छेद अपोह इवाह का खलोकवार्तिक के अपोहवाद प्रकरण (खलोक १ से १७६) में बड़े परीक्षा, जिसमें २२ खलोक हैं, लिखा है। कुमारिल मट्ट ने विक्रानाग के इस अपोह इवाह से खरबन किया है। कुमारिल के भाष्यों की दृष्टि में रत्नकर धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थ प्रमाण-वार्तिक में, जो कि विक्रानाग के प्रमाणसमुच्चय की व्याख्या है, आक्षरयक सुधार करके अपोहवाद को नये रूप में रक्षता है। धर्मकीर्ति ने (तृतीय परिच्छेद ३, ३) तथा बहुर्य परिच्छेद (४, १३१) में अपने विचारों को स्पष्ट किया है। प्रयन्वमट्ट ने व्याधर्मजरी (पृष्ठ २७६ से २८३) में अपोह का खरबन करने बालों में बाधत्यति, कुमारिल, त्रिलोचन और व्याधर्मपण का भी बल्लेख किया है। इनमें भाष्यों की दृष्टि में रत्नकर रत्नकीर्ति ने "अपोह सिद्धि" के निरूपण में पुनः आक्षरयक संशोधन कर दिये हैं। इस प्रकार अपोहवाद विक्रानाग धर्मकीर्ति और रत्नकीर्ति के द्वारा अपने स्वरूप को बल्लता रहा।

अपोहवाद का स्वरूप—आस्तिक धर्मों ने राष्ट्र और अर्थ के सम्बन्ध से अर्थज्ञान का निरूपण किया है, परन्तु नास्तिक सिद्धान्त के समर्थक होने के कारण बौद्धास्तिक राष्ट्र और अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं मानते हैं। उनके मवा-पुसार राष्ट्र से अर्थज्ञान का प्रकार यह है। जैसे गाय राष्ट्र गाय पशु का बोध नहीं करता है, अपितु प्रथम "अपोह" अर्थात् अन्य की व्यावृत्ति, जैसे अरव आदि करता है। तदनन्तर इस अपोह के द्वारा अन्य व्यावृत्ति होने पर अनुमान से यह ज्ञान प्राप्त करते हैं कि यह गाय है।

कुमारिल ने जिस अपोहवाद को लेकर खटवहन किया है, उसका स्वरूप उनके टीकाकार पार्ष्णसारथि मिश्र ने श्लोकवार्तिक अपोहवाद प्रकरण श्लोक १ में स्पष्ट किया है। अत्यन्त बिलक्षण पदार्थों में साहचर्य या सामान्य का बोध उसके अन्वय की व्यावृत्ति से ही देखा जाता है जैसे गाय भरब हाथी के साहचर्य का बोध करता हो तो उद्भूतमित्र पदार्थ कहने से उनका बोध हो जाता है। इसी प्रकार गाय शब्द का अर्थ गाय से मिश्रों की व्यावृत्ति करके ही काफ़ी गाय आदि गायों का बोध करा सकता है। अतएव गाय से मिश्र की व्यावृत्ति रूपी सामान्यता गाय शब्द का वाच्य है इसीलिए कहा भी है कि जो श्रास गाय का रूप है वह काफ़ी गाय का नहीं है, किन्तु गाय से मिश्र की व्यावृत्ति दोनों में है, गाय कहने से श्रास काफ़ी दोनों गाय का बोध होता है। अतएव श्राव होता है कि शब्द वस्तु की सद्यः का बोध नहीं कराते हैं, अपितु उद्भूतमित्र की व्यावृत्ति का ही बोध कराते हैं।

यद्दुर्गं शास्त्रेष्वस्य बाहुल्यस्य नास्ति तत् ।

मत्तद्व्युत्पत्तयोरपि न मिथते ॥ श्लोकवार्तिक ।

धर्मकीर्ति का विचार—कुमारिल ने विकल्पाग का वह मत लेकर इसका खटवहन किया है। अत्यन्त मनु ने धर्मकीर्ति के मत का उल्लेख किया है। बौद्ध मत के अनुसार ज्ञान विकल्पात्मक है। अन्वय की व्यावृत्ति न बाह्य है और न आन्धन्तर। अपितु ज्ञान और वस्तु से प्रसङ्ग है। यह न बाहर है न अन्तर, अतएव इसको मिथ्या कहते हैं। बहिर्ज्ञान नहीं है तो इसका क्या स्वरूप है? आरोपित विकल्पात्मक आकारमात्र।

गाय शब्द कहने पर विजातीय की व्यावृत्ति का प्रक्षेप करन बाह्य सा विकल्प श्राव होता है। सजातीय की व्यावृत्ति का प्रक्षेप नहीं करता। शब्द विकल्प के तुल्य ही विषय माने होते हैं इसीलिए उन्हें अन्वय का अपोहविषयक कहा जाता है। यह आरोपित आकार बाह्य विकल्प न बाहर है, और आरोपित होने के कारण अन्तर भी नहीं है, क्योंकि उसका स्वरूप अज्ञात है। अतएव इसका कोई रूप न होने के कारण सावक रूप से अपोह (अन्वयव्यावृत्ति) कहा जाता है। व्यायमजरो, पृष्ठ २८८ ।

।।

रत्नकीर्ति का विशिष्टापोहवाद

अद्वैतवाद के समानान्तर जिस प्रकार विशिष्टाद्वैत आदिमत हैं, उसी प्रकार रत्नकीर्ति ने “विशिष्टापोहवाद” सिद्धान्त का निरूपण किया है। अपोहसिद्धि में अपने विचार का निरूपण करते हुए लिखा है कि इन अपोहवाद से केवल विधि को ही ग्रहण नहीं करते और न केवल अन्वय की व्यावृत्ति अपितु अन्वय व्यावृत्ति-विशिष्ट विधि शब्दों का अर्थ ही अर्थात् गाय कहने पर गायमिश्र का निषेध करके गाय का ज्ञान करना। रत्नकीर्ति ने यह भी स्पष्ट किया है कि निषेध और विधि ये दोनों ज्ञान आग पीछे नहीं होते हैं, अपितु एक साथ होते हैं। अतः

कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति पहले विधि का ज्ञान करके बाद में अर्वापत्ति से अन्यभ्यावृत्ति को नहीं जानता है और न ही अपोह को जानकर अन्यभ्यावृत्त विधि को। इसलिये गाय का ज्ञान ही अन्य से भ्यावृत्ति का ज्ञान है। यद्यपि अन्य भ्यावृत्त शब्द का इसमें प्रस्लेष नहीं किया गया है तथापि विशेषतमूत अन्य भ्यावृत्ति का ज्ञान होता ही है। गोमिन्न से भ्यावृत्त में ही गोशब्द का प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार नीलकमल के बोधक इन्दीवर शब्द से नीलकमल के ज्ञान में नील का भी ज्ञान अनिवार्य रूप से हो जाता है। इसी प्रकार गोमिन्नभ्यावृत्त के अर्थ में प्रयुक्त गाय शब्द से एक ही साथ गोमिन्न की भ्यावृत्ति का ज्ञान होना अनिवार्य है। यदि शब्द से अर्थ के ज्ञान के समय अन्य की भ्यावृत्ति का ज्ञान नहीं हुआ तो अन्य का परिहार कैसे होता है। "गाय बांधो" कहने पर वह बोधे आदि को बांध देगा।

नास्माभिरपोहशब्देन विधिरेव केवलतोऽभिप्रेतः । नाप्यन्यभ्यावृत्तिमात्रं, किन्त्वभ्यावादाविशिष्टो विधि शब्दानामर्थः । अपोहसिद्धिः, पृ० ३।

कुमारिल का मत—कुमारिल ने अपोहवाच को स्पष्टन करत हुए लिखा है कि गायमिन्न की भ्यावृत्ति कहकर गायशक्ति का ही स्पष्ट प्रस्लेष करते हैं। अर्थात् कोई प्रथक्-सत्ता नहीं है, भाव का ही रूपान्तर है। (रसोक-१ से २)। खास करती आदि गायों में जब एक शक्ति की सत्ता नहीं मानी जायगी, तब तत्क विभिन्न वस्तुओं में सादृश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इस शक्तिरूपी सत्ता को बौद्ध मानते नहीं हैं। अन्य की भ्यावृत्ति के द्वारा गाय शब्द खाल और काली दोनों प्रकार की गायों का बोध कराता है, यह विचार युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि "काली गाय" शब्द एक ओर तो गाय से मिन्न की भ्यावृत्ति कराता है, दूसरी ओर वह काली से मिन्न की भ्यावृत्ति कराता है। प्रथम का अभिप्राय यह होता है कि समस्त गायें चाहे काली हों या नहीं, दूसरी ओर काली से मिन्न का निषेध करता है। इस प्रकार "काली गाय" का अर्थ निकलेगा काली और काली से मिन्न दोनों प्रकार की गायें, परन्तु वह अर्थ असंगत होगा। शक्तिरूपी सत्ता को मानने से सब प्रकार की गायों का बोध होता है, क्योंकि वह सभी गायों में समानरूप से है। रसोक वार्तिक, अपोहवाच, रसोक ४ से १०।

— प्रभाषन्त्र ने प्रमेयकमलमातबद्ध में (पृष्ठ १२४ से-१३) अपोहवाच का विस्तार से उल्लेख किया है। बहुत सी युक्तियों को कुमारिल ने ही ही बर्णों भी उद्धृत किया है। प्रभाषन्त्र का कथन है कि अपोहवाच केवल अर्थ का बन्ध करके मानने से तो सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं। अन्य की भ्यावृत्ति ही केवल कहने से प्रतीति का विरोध होगा। गाय आदि कहने से जो ज्ञान होता है वह निषेधात्मक नहीं अपितु, विधिपर होता है। यदि अन्य की भ्यावृत्ति ही बसका अर्थ है तो अन्य की भ्यावृत्ति में परिवर्तन होने से वह गाय वस्तु की प्रतीति नहीं कर पायगा-तब उसके द्विप किसी अन्य शब्द की आवश्यकता होगी। यदि यह कहे कि एक ही

गाय शब्द से दोनों विधि और निषेध युक्ति हो जायेंगी अन्य की आवश्यकता नहीं, वा यह कथन ठीक नहीं है। एक व्यक्ति से एक ही समय में दो विपरीत कार्य, विधि और निषेध का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि विधि और निषेध ज्ञान पर स्वर विरोधी हैं, अतः एक से दोनों विपरीत ज्ञान हो सकते हैं। यदि वह कहे कि गाय शब्द से गाय से भिन्न की निवृत्ति मुख्य रूप से ज्ञा। की जाती है, तो गाय शब्द कहने पर पहले गाय से भिन्न का ज्ञान सुनने वाले को होना चाहिए परन्तु वास्तुतः ऐसा नहीं होता यदि ऐसा होता तो गाय का ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता था। प्रमेय० पृ० १२५।

१ जयस्यभट्ट ने भी इसका बहुत विस्तार से (म्यायमञ्जरी पृ० २०६ से २०८) खंडन किया है। जयस्य ने (पृ० २०८) में स्पष्ट रूप से लिखा है कि कुमारिल के दिने गप.दोषों से बचने के लिए धर्मकीर्ति ने जो उपाय निकाला है, उससे भी काम नहीं चल सकता है। वह भी एक संकट ही है। जाति को स्वीकार किये बिना विभिन्न गाथों में एकता का ज्ञान नहीं हो सकता। जाति और व्यक्ति दोनों ही शब्द के धर्म हैं। इनमें से एक को छोड़ना या उसका निषेध करना अनभिज्ञता है। पृ० २०९।

२ भट्ट हरि का विवेचन भट्ट हरि ने शौद्रों के अपोहवाद का बल्लेल (वाक्य ३ पृ० ७३) किया है। जिस प्रकार विक्रान्त और धर्मकीर्ति ने बुद्ध के अपोहवाद को रक्खा है, उसका उसी प्रकार का उत्तर कुमारिल वाचस्पति, जयस्य आदि ने वैकरं आविषाद की पृष्टि की है। भट्ट हरि ने अपोहवाद का बल्लेल करके भी अपोहवाद का खंडन नहीं किया है। उन्होंने इसके मूल पर कुठाराघात किया है। बुद्ध का अनित्यवाद का सिद्धान्त, जिसके आधार पर यह माद जसा है, भट्ट हरि ने अमान्य बताया है। यास्क, पतञ्जलि, कपिल आदि ने इस सिद्धान्त का सम्युक्त रक्खा है कि असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, जब भी होगी, सत् से ही सत् की उत्पत्ति होगी। भट्ट हरि ने विस्तार से (वाक्य० पृ० ३ पृ० १२० से १३०) अभाव से भाव की उत्पत्ति के सिद्धान्त का खंडन किया है। वहाँ पर मौक्तिक प्रश्न, जो कि संसार का सत्न से उत्पन्न प्रश्न अब भी है। यह है कि सृष्टि तत्त्व के मूल में फौज सा तत्त्व है। पद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से भाव और अभाव एक ही मूल तत्त्व है वा रूप हैं, धनात्मक और अध्यात्मक शक्तिर्वा अविच्छिन्न रूप से सृष्टि में रहती हैं। भाव और अभाव दोनों में से भावतत्त्व अविनाशी और अक्षर है, किन्तु अभाव अंश में आपेक्षिक विनाशिता और क्षरता है। बुद्ध ने वद्यपि मौक्तिक तत्त्व के अन्वेषण में संसार की सर्वत्र अनित्यता बस्तु में अनित्यता को ठीकरूप से जाना, परन्तु अपने चरमसाध्य को पहुँचते समय उन्हें आपेक्षिक अभावों का असंतुलन ही हाथ आया। वहाँ पर असत् की अपेक्षा मौक्तिक तत्त्व, जो कि असत् का भी मूल है अर्थात् जिसके सत् और असत् दो भाग हैं, को प्राप्त न कर सके। पतञ्जलि आदि ने इसमें नित्यभाव (सत्) शक्ति को पदि

जाना है, अतएव "न हि पदार्थं सत्तां व्यभिचरति" (अर्थात् पदार्थ अपनी सत्ता नहीं छोड़ता है) कह गये हैं। अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से मनु हरि ने भी विचार कर इसी तत्त्व को ठीक पाया है। भावतत्त्व सूर्य प्रथम स्थूल रूप में कैसे आया, इस पर मनु हरि कहते हैं कि वह अत्यन्त सूक्ष्म वात है अर्थात् इसकी वास्तविकता बानी ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

अत्यद्भुता त्वियं वृत्तिं परमाणां परकमम् ।

भावानां प्रागभूतानामात्मतत्त्वं प्रकाशते ॥

वाक्य० ३, पृष्ठ १३५

सृष्टि की वृत्ति परमाणु के मावात्मक अंश से हुई या अभावात्मक अंश से यह आज भी वैज्ञानिकों के लिए विवेच्य विषय है। भारतीय महर्षियों का हम पर स्पष्ट निर्णय है कि दोनों अंशों की सत्ता होने पर भी भाव अंश सृष्टि का कारण है। मावात्मक अंश की सत्यता पर विश्वास रखने से उन्हें निम्नता सुल और आत्मा को मानना पड़ा है। दूसरी ओर 'असत्' अंश को स्वीकार करने से अनित्यता, दुःख और अमात्मा अंश को मानना पड़ा है। भाव अंश को मौक्तिक तत्त्व मानने से राज्य और अर्थ में सम्बन्ध नित्य सिद्ध होता है। अभाव अंश मानने वालों को श्रद्धात्मक अंश अर्थात् निर्येष अंश ज्ञात होता है। परन्तु मापा के स्वरूप और व्यावहारिक प्रयोग पर भी ध्यान देने से राज्य और अर्थ में सम्बन्ध ज्ञात होता है। यह ज्ञान विधि रूप से ही प्रथम होता है निर्येष रूप से नहीं। अतः अपेक्षार्थ का सिद्धान्त सैद्धान्तिक दृष्टि दार्शनिक दृष्टि, मनोवैज्ञानिक दृष्टि एवं व्यावहारिक दृष्टि से सर्वथा असंगत और अयुक्तिपूर्ण ज्ञात होता है।

अध्याय—६

शब्दशक्ति

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार करने के पर्याप्त इस अध्याय में शब्द से अर्थ का क्या सम्बन्ध है, इस विषय पर विचार किया जायगा।

शब्द की उपयोगिता—पतञ्जलि का कथन है कि “अर्थोक्तमर्थः शब्द प्रयोगो अर्थे संप्रत्यविष्णामीति शब्दः प्रयुज्यते”। (महा १, १, ४३) अर्थ का बोध करने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। यही शब्द की व्यावहारिकता उपयोगिता है। कुमारिल ने भी तन्त्रबालिक में इसी उपयोगिता को दृष्टि में रखते हुए कहा है कि—

सर्वो हि शब्दोऽर्थप्रत्याक्षमार्थे प्रयुज्यते । सीमांसा० सूत्र १, ३, ८ की टीका ।

अर्थज्ञान के साधन—जब शब्द की उपयोगिता अर्थबोधन है तो यह विचार उपस्थित होता है कि अर्थज्ञान कैसे होता है, इसके ज्ञान से साधन हैं।

लोकात्म्यबहार—पाणिनि का इस विषय में कथन है कि लोकात्म्यबहार से ही अर्थज्ञान होता है।

प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्वयप्रमाहृत्वात् । अष्टा० १, २, २६ ।

कारिकाकार रामन-त्रयारित्य ने पाणिनि के भाष्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शास्त्र की अपेक्षा अन्य होने से श्लोक को पाणिनि ने “अन्वय” नाम दिया है। अन्वय प्रमाण है अर्थात् श्लोकप्रमाण है। शब्दों में अर्थबोधकता स्वभाविक है। लोकात्म्यबहार से इस अर्थ का ज्ञान होता है। अतएव पाणिनि ने लोकात्म्यबहार को अर्थज्ञान का साधन मानकर अपने से प्राचीन भाषाशास्त्रों के कतिपय नियमों को अनावश्यक मानकर प्रत्याख्यान कर दिया है।

लोकत एवार्थगते । यश्च लोकतोऽर्थं सिद्धं किं तत्र यत्नः ।

कारिका, १, २, २६ ।

कात्यायन और पतञ्जलि ने पाणिनि के भाष्य को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है—

यदि तर्हि लोकेषु पयु प्रमाणात् । किं शास्त्रेषु कियते ?
 लोकतोऽर्थाप्रयुक्तं शब्दप्रयोगं शास्त्रेषु धर्मनियमाः ॥

महा० भा० १ ।

शब्दों का प्रयोग और उनसे अर्थज्ञान लोकव्यवहार के द्वारा ही होता है । व्याकरणात्मक शैक्षिकप्रयोग में धर्म और अधर्म की व्यवस्था करता है । अर्थात् साधु और शिष्ट-अयुक्त शब्दों के प्रयोग से धर्म होता है और असाधु के प्रयोग से अधर्म ।

वृत्तिज्ञान में अर्थज्ञान—नागेश न अर्थज्ञान के साधन पर विचार करते हुए वृत्तिज्ञान को अर्थज्ञान का मुख्य साधन बताया है । नागेश का कथन है कि जब तक वृत्तिज्ञान नहीं होगा, तब तक शाब्दबोध नहीं होता ।

तथागृहीतवृत्तिकल्प्यं शाब्दबोधार्थनात् । मञ्जूषा, पृ० १२ ।

शाब्दबोध के लिए आवश्यक है कि यह ज्ञान पहले प्राप्त किया जाय कि अयुक्त शब्द अयुक्त अर्थ का बोध कराया है, अर्थात् इस शब्द से इस अर्थ का बोध होता है अरु इस शब्द का यह अर्थ है । इस वृत्तिज्ञान को शक्तिज्ञान या शक्तिग्रह नाम से भी सम्बोधित करते हैं ।

शक्तिग्रह के आठ साधन शक्तिग्रह किन साधनों से होता है । इसका विभिन्न रूपों का बल्लेख पैदाकरखों, नैपात्रिकों, साहित्यिकों आदि ने किया है । इनका संक्षेप एक मारपीत श्लोक में किया गया है । शब्दशक्तिप्रकारिका में जगदीश ने इसको व्युत्पन्न किया है ।

शक्तिग्रहं व्याकरणापमानकोपात्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शेषाद् विदुषिर्धर्मन्ति साधिष्यता सिद्धपदस्य वृद्धा ॥

श्लोक २० ।

शक्ति का ज्ञान निम्न आठ प्रकारों से होता है—१—व्याकरण २—उपमान, ३—कोप ४—आप्तवाक्य ५—व्यवहार, ६—वाक्यशेष (प्रकरण) ७—विवरण ८—शावपद के साहचर्य से ।

जैसा कि ऊपर बल्लेख किया गया है, श्लोकव्यवहार सबसे मुख्य साधन है, अन्य साधन गौण हैं । अतएव प्रथम इसका विचार उचित है ।

श्लोकव्यवहार १—श्लोकव्यवहार । नागेश न मञ्जूषा (पृ १६ तथा ४६७) में बल्लेख किया है कि बालक को सर्वप्रथम ज्ञान श्लोकव्यवहार या वृद्ध व्यवहार से होता है, बालक आवाप और उच्चारण तथा अन्यव्यतिरेक की पद्धति से वृद्धों के व्यवहार से अर्थों का समझता है । आवाप का अर्थ है पदान्तरप्रक्षेप अर्थात् वाक्य में नए शब्द का सम्मिश्रण और उच्चारण का अर्थ है विद्यमान पद का त्याग ।

का अर्थ है यह भावों के उपदेश से ही ज्ञात हो सकता है। आप्त व्यक्ति इनका जो कुछ बर्णन करते हैं वही अर्थ प्राप्य होता है। आग्नेन रिचार्ड्स का (पृ० १६७) कथन है कि ऐसे शब्दों (पाप, आत्मा) के अर्थ जो भिन्न-भिन्न शास्त्रों में जिस रूप में दिये गये हैं वही समझे जाते हैं।

वाक्यशेष। (प्रकरण) — ६ — वाक्यशेष ऐसे स्वतंत्रों पर जहाँ पर एक शब्द के नानार्थ आदि होने के कारण अर्थ सदिग्ध होता है, वहाँ पर वाक्यशेष अर्थात् वाक्यगत चिह्न या प्रकरण द्वारा अर्थ का ज्ञान किया जाता है। यथा एव शब्द का प्रयोग श्लेष आदि के व्यक्ति बंगुनी नामक धर्म्य के लिए करते हैं और अर्थ जोग जी के लिए। इसलिये जब यह कहा जाता है कि “यवमपरचरुर्मवति” (एक यवनिर्मित होता है), तब स्पष्ट होता है कि कौन सा अर्थ लिया जायगा। जहाँ पर वह वाक्य कहा गया है, वहाँ का प्रकरण देखने से ज्ञात होता है कि यह शब्द का ‘जी’ अर्थ लिया जायगा।

विपरण — ७ — विपरण जिस शब्द का अर्थ ज्ञात नहीं होता है उसका विवरण से अर्थ ज्ञात होता है। यथा “पचति” का अर्थ स्पष्ट करने के लिए “पार्क-करोति” (पकाता है), कहने से अर्थ का ज्ञान होगा है। “गौ” शब्द का बोध कराने के लिए सात्वा सांग्रह कुरु सींग से मुक्त पशु-विशेष कहने से उस पशु का ज्ञान हो जाता है। विपरण सभी प्रकार के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए विशेष उपयोगी साधन है।

ज्ञातपद का साहचर्य — ८ — ज्ञातपद के साहचर्य से भी शब्द के अर्थ का ज्ञान हो जाता है। यथा “इह साहकारतरौ मपुरं विकी रौति” (इस भाग्न के दृष्ट पर कोबल मपुर शब्द कर रही है), इस वाक्य में अन्य शब्दों का अर्थ ज्ञात हो तो पिक शब्द का अर्थ अन्य ज्ञात शब्दों के साहचर्य से कोकिल पक्षी ज्ञात हो जाता है।

अर्थज्ञान में विघ्न

शब्दशक्ति का अज्ञान — शब्द से अर्थज्ञान के साधन इपर बताये गये हैं। परन्तु कई कारण ऐसे हैं जिनकी वृत्ता से शब्दों का अर्थज्ञान नहीं होता है। मागेरा ने सबसे प्रथम इसका कारण शब्दशक्ति का ज्ञान न होना बताया है। मञ्जूषा, पृ० १२।

प्रथम अध्याय में इसका अन्वेल किया था चुका है कि शब्दों में स्वामादिक शक्ति है कि वे अर्थबोध कराते हैं। उनकी शक्ति का जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक इनका अर्थ ज्ञात नहीं होता है। शब्दों में अर्थ है परन्तु वाक्य जब इन अर्थों को दृष्ट व्यवहार, आवाप, वहाप या साक्षात् उपदेश से जान लेता है, तब इन शब्दों को साबक समझता है। जो वाच वाक्य के लिए है, वही अर्थक

आवाजबुद्ध के लिए है। जब तक प्रचलित शब्द की शक्ति का ज्ञान नहीं होता है, तब तक उन शब्दों का अनेकों धार भ्रमण करने पर भी किसी अर्थ की उपस्थिति नहीं होती है। प्रत्येक देश और प्रत्येक भाषा में सहस्रों शब्द हैं जो अपने-अपने स्थान पर प्रचलित और सार्थक हैं, परन्तु जो व्यक्ति उस भाषा को और इनकी शक्ति को नहीं जानता, उसे इससे कोई अर्थ ज्ञात नहीं होता। अतः शब्दशक्ति का अध्ययन अर्थज्ञान में सबसे मुख्य विभाग है।

नागेश ने अन्य कारणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि १, शब्दशक्ति का विस्मरण होने से भी अर्थज्ञान नहीं होता। एक शब्द का अर्थज्ञात होने पर भी यदि उस शब्द का अर्थ विस्तृत हो गया है तो अर्थज्ञान नहीं होगा। २, उद्गमक पद का ज्ञान न होने से भी अर्थबोध नहीं होता। यथा पद शब्द का बाधक कक्षर है, परन्तु सब तक यह ज्ञान नहीं होगा कि कक्षर पद को कहते हैं, तब तक कक्षर शब्द से अर्थज्ञान नहीं होगा। ३, अयथार्थ अर्थज्ञान से भी शब्दार्थ का ज्ञान नहीं होता। पद शब्द से आकारा का और आक्षर शब्द से पद का अर्थ ज्ञात नहीं होता है। शब्द अपने अर्थ का बोध कराता है, अपने आशय या कर्ता आदि का नहीं। पद का आशय आकारा भी है परन्तु वह उसका वाच्य अर्थ नहीं है इसी प्रकार पद का कर्ता चैत्र आदि व्यक्ति भी वाच्य अर्थ न होने से उसका अर्थ नहीं होता। ४, संस्कार उद्बुद्ध न हों, जब तक पद शब्द से पद विषयक संस्कार जागृत नहीं होंगे तब तक उससे अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। अतएव अर्थज्ञान के लिए संस्कारों का उद्बुद्ध होना आवश्यक है। संस्कार शब्दशक्ति के स्मरण से जागृत होता है। हीनितिकर का कथन है कि "जाबते च पुन पुन स्मरन्नाह दृढतरः संस्कारः वस्तु के पुन पुन स्मरण से संस्कार दृढ होते हैं। मञ्जूषा, पृ १९।

अर्थ की अनुपलब्धि के छ' कारण—पतञ्जलि का कथन है कि विद्यमान अर्थ की छ' कारणों से उपलब्धि नहीं होती। १—अविसम्भिकर्तृ अत्यन्त समीपता के कारण स्वभ्रूणव भंजन का दर्शन नहीं होता है। २—अविभिन्नकर्म—अत्यन्त दूरी के कारण बहते हुए पक्षी का दर्शन नहीं होता है। ३—मूर्त्यन्तरव्यवधान—किसी अन्य वस्तु के समयागत के कारण बधा भित्ति के व्यवधान के कारण भित्ति के दूसरे ओर की वस्तु का अर्थज्ञान। ४—अन्वयकार के आवरण के कारण गहरे आदि की अनुपलब्धि। ५—इन्द्रिय दोर्बल्य—इन्द्रियों की दुर्बलता के कारण, यथा विमिर आदि रोगमुक्त व्यक्ति का भी वस्तुदर्शन नहीं होता। ६ अक्षिप्रमाह—चित्त के विषयान्तर में आसक्त होने से भी अर्थ की उपलब्धि नहीं होती। महा० ४ १, ३।

इन छ' कारणों में से कोई भी कारण विद्यमान रहता है तो अर्थ की उपलब्धि नहीं होती है। कैयट और नागेश ने चातुष्य प्रत्यक्ष विषयक अनुपलब्धि के उदाहरण दिये हैं यह कारण शब्दबोध में भी समानरूप से अनुपलब्धि के

कारण है। व्यापकता के कारण शब्द ज्ञान के अन्दर विद्यमान है, परन्तु उसके अर्थज्ञान नहीं होता। अत्यन्त दूरी पर उच्चरित शब्द जबल न होने से अर्थ बोधक नहीं होता। किसी वस्तु का व्यवधान होने से शब्दमबध्य नहीं होगा, अतः अर्थज्ञान नहीं होगा। अज्ञान के कारण शब्द से अर्थ का बोध नहीं होता है। अक्षयिणियों की दुर्बलता वधिरता आदि दोष होने से शब्द से अर्थज्ञान नहीं होता है। यदि बिच विषयान्तर में आसक्त है तो भी शब्द से अर्थज्ञान नहीं होता है।

पतञ्जलि ने विषयान्तर में ध्यान आकृष्ट होने से किस प्रकार अर्थज्ञान नहीं होता, इसका एक सुन्दर उदाहरण दिया है। पतञ्जलि का कहना है कि एक बार वैशाखरथ शाक्यवाहन मुनि रथ के मार्ग में बैठे हुए थे, उनके सामने से बहुत सारी गादियों का एक झुंड उधर से निकला, परन्तु उनको इसका कुछ भी ज्ञान न हुआ कि उधर से गादियाँ गई हैं। पतञ्जलि ने प्रश्न उठाया कि वह जाग रहे थे, चेहरे भी रहे थे, प्रसन्न भी नहीं थे फिर ऐसा क्यों हुआ? इसका उत्तर देते हैं कि इन्द्रिय जब मन से समुक्त होती हैं तभी ज्ञान का साधन होती हैं। शाक्यवाहन मुनि व इन्द्रियों को सम्बन्ध वस्तु से था, परन्तु उनके मन का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं था, अतः उनको वस्तु का वर्तन नहीं हुआ।

मनसा संयुक्तानीन्द्रियाम्पुपलम्बौकारणानि भवन्ति। मनसोऽसाधिरिष्यात्
महा० ३ २, ११७।

शब्द के सत्तामात्र से बोध नहीं होता—अतएव मनुहरि का यह कथन सर्वथा युक्तिमूक्त है कि शब्द केवल सत्तामात्र से अर्थ का बोध नहीं करता है। जब तक वे बोध के विषय नहीं बने हैं अर्थात् मनोयुक्त अक्षयिणियों से गृहीत नहीं हुए हैं, तब तक शब्द अर्थ का बोध नहीं करता है।

विषयत्वमनापन्नीः शब्दीर्नार्थं प्रकाशयते।

न सत्ययव तेऽयानामगृहीताः प्रकाशयन् ॥

भाष्य० १ २३।

अतएव जब शब्द सुन भी किया जाता है, परन्तु स्पष्ट रूप से जबल न हो के कारण वह प्रगट किया जाता है कि "शब्दा कथा है"। यदि सत्तामात्र से शब्द अर्थ का बोधक होता तो वह प्रश्न ही नहीं उठता। पाक्य० १, २०।

शब्द में और इन्द्रियों के प्रकारान में यह अन्तर है कि शब्दसत्तामात्र प्रकाशक नहीं है, अपितु अक्षयिणियों द्वारा उपलब्ध होने पर ही अर्थ का प्रकाश करता है। शब्द अपने स्वरूप का भी प्रकाशन करता है। इन्द्रियों अपनी सत्ता ही अर्थ को प्रकाशित करती हैं। अक्षयिणियों अपनी सत्ता से ही वस्तु को प्रकाशित करती हैं। इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसमें उनके स्वरूप का महत्त्व नहीं होता। अक्षयिणियों द्वारा मात्र पद में अक्षयिणियों के स्वरूप का महत्त्व नहीं होता। इसी भाव को केवल ने निम्न शब्दों में प्रकट किया है।

शब्द उपलब्धोऽर्थं प्रत्याययति, न सत्तामात्रेण । अचुरादीनि तु सत्तामात्रेण विषयमवगमयन्ति । महा० १, १, ६८ ।

शब्दशक्तिप्रदर्शिका में जगदीश ने कहा है कि सार्वक प्रकृति प्रत्यय भावि जब वाक्य रूप में प्रयुक्त होते हैं और बोध के विषय होते हैं तभी शब्दबोध होता है । जब तक वाक्य रूप को प्राप्त नहीं हुए हैं, तब तक निराकार्य शब्दों के ज्ञानमात्र से अर्थ बोध नहीं होता है ।

वाक्यभावनवाप्यस्य सार्धकस्यावबोधतः ।

सम्पद्यते शब्दबोधा न तस्मात्प्रत्यय बोधतः ॥

शुक्ल० श्लोक १० ।

उच्चारित शब्द की अर्थवाचकता—पतञ्जलि का कथन है कि शब्द उच्चारण से ही अर्थ का ज्ञान होता है ।

शब्देनोच्चारितेत्यर्थो गम्यते । महा० १, १, ६८ ।

उच्चारणमात्रं शब्द सम्प्रदायको भवति, न सम्प्रतीपमानः ।

महा १, १, ६६ ।

जब शब्द का प्रयोग किया जाता है, तब वह अर्थ का बोध कराता है । बिना शब्द के प्रयोग किये किसी भी अर्थ का बोध नहीं कराया जाता । साथ ही जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है, वही अर्थ का बोध होता है । पतञ्जलि ने इसका उदाहरण देते हुए कहा है कि "शुक्ल" (शुक्ल) कहने से वेद की शुक्ल ऐसा अर्थ प्राप्त होता है, परन्तु किसी शुक्ल विरोध का अर्थ शुक्ल शब्द कहने से प्राप्त नहीं होता है, अतएव प्रयुक्त शब्द से ही अर्थ का ज्ञान होता है । उच्चारित शब्द से जिस शब्द की प्रतीति होती है, उस शब्द का भी अर्थ प्रयुक्त शब्द बोधित नहीं करता । "शुक्ल" शब्द से जो वेद की शुक्ल का ज्ञान होता है, वह शुक्ल का ज्ञान "अग्नि मीले" आदि शुक्ल विरोध का अर्थ बोधित नहीं करेगा । वेद वा भुक्ति कहने से प्रत्यय विरोधों का ज्ञान होगा, न कि उनमें विद्यमान मन्त्रों के अर्थों का ।

इस पर नागेश ने मञ्जूषा (पृ० १४६) तथा (महा० १, १, ६६) प्रश्न उठाया है कि यदि उच्चारित शब्द से ही अर्थ का बोध होता है तो पुस्तक को पढ़ाने में मौन होकर पढ़ने से अर्थज्ञान नहीं होना चाहिये परन्तु अर्थज्ञान होता है । इसका उत्तर नागेश ने दिया है कि जिस प्रकार मानस रूप में अत्यन्त सूक्ष्म वास्तु आदि का व्यापार होता है, वही प्रकार पुस्तक पढ़ते समय भी मौन अवस्था में ही सूक्ष्मतर वास्तु आदि का व्यापार होने से सूक्ष्म उच्चारण होता ही है । जब में मानस उच्चारण होता है, अतएव उच्चारण अनुदात्त स्वरित का भेद किया जाता है । सूक्ष्म उच्चारण के कारण अर्थ की प्रतीति होती है ।

नागेश ने मञ्जूषा (पृ० ४४४ से ४४६) पतञ्जलि के उच्चारण द्वारा अर्थबोध

पर बल देने का महत्त्व बताते हुए लिखा है कि यदि उच्चारण के बिना ही अर्थ का बोध हो तो सभी शब्द बुद्धि में विद्यमान हैं, एवं ही ज्ञानवाचक का प्रवाह होने लगेगा। अतः शून्य नहीं तो सूक्ष्म मानस उच्चारण अर्थबोध के लिए आवश्यक है।

उच्चारितस्यैव शब्दस्य प्रत्यायकत्वमुक्तम्। अन्यथा ज्ञानमात्रं शब्दमालात् शब्दवाराऽऽपत्तिः। मञ्जूषा, पृ० ४४४।

लिपि की अर्थ बोधकता—नागरा ने इस पर एक अन्य आक्षेप यह उठाया है कि यदि उच्चारण को ही करण्य माना जाय तो लिपि के द्वारा जो शब्द स्मृति से अर्थ बोध होता है, वह नहीं होगा। इसके उत्तर में नागेश कहते हैं कि लिपि से ही अर्थ का बोध होता है, जैसे विभिन्न संकेतों से। लिपि से शब्द की कल्पना और उससे अर्थज्ञान होता है। ऐसा नहीं है, अपितु लिपि से साक्षात् अर्थबोध होता है। अतएव पाठक लिपि को ही शब्द समझता है। लिपि में शक्ति यह शब्द के संकेत ज्ञान के अधीन है। प्रथम शब्द में संकेत का ज्ञान होता है, तदनन्तर लिपि में संकेत का ज्ञान होता है लिपि में शब्द के वाच्यत्व का आरोप परम्परा से चला आ रहा है, अतएव शब्द और लिपि में भेद जानने वाले विद्वान् भी लिपि में “यह क है” आदि व्यवहार करते हैं। लिपि से अर्थबोध का वृत्त प्रकर वह भी है कि मानस रूप के तुल्य लिपि से अर्थज्ञान में भी सूक्ष्मतर वस्तु आदि के व्यापार से सूक्ष्मतर उच्चारण होता है। मञ्जूषा, पृ० ४४४ से ४४६।

अभिनय एवं संकेतों की अर्थबोधकता—पतञ्जलि ने इत्य आदि के संकेतों द्वारा अर्थ के ज्ञान के महत्त्व को भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। अतएव पतञ्जलि का कथन है कि शब्द के प्रयोग के बिना भी कितने ही अर्थ हाथ और आँसु के संकेतों से ज्ञात होते हैं।

अन्तरेण कश्चपि शब्दप्रयोगं वहबोऽर्थां गम्यन्ते अक्षिनिकोऽपि पाणिबिहिन-
रैव। महा० २, ११।

कैवट इसकी व्याख्या में कहते हैं कि संकेतों से जो अर्थ का बोध होता है, वह लोकाव्यवहार के कारण होता है। इसी प्रकार शब्दों से भी लोकाव्यवहार के कारण अर्थ का ज्ञान होता है।

संकेत भाषामिम्बन्धि के उत्तम साधन हैं। जिस प्रकार शब्दों से अपने भावों को अभिव्यक्त करते हैं, वही प्रकार संकेतों से भी अपने भाव अभिव्यक्त किए जाते हैं। कैवट ने संकेतों को शब्द के समान ही महत्त्वपूर्वक साधन मानते हुए कहा है कि आँसु मीचना आदि संकेतों से भी जिस अर्थ का बोध हो जाता है, उसके लिए शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है।

अक्षिनिकोऽपि मिरप्यवगतेऽर्थे शब्दो न प्रयुज्यते। महा० २, ३, १।

दुर्गाचार्य ने यास्क के कञ्चन "व्याप्तिमत्त्वात् शब्दस्य, अर्चयित्वात् शब्देन संज्ञाकरत्वं व्यवहारार्थं शोके" (नि १, २) शब्द व्यापक है और अर्चयित्वात् है, अतएव शब्दों के द्वारा नाम रखे जाते हैं। इसकी व्याख्या में शब्द और संकेत में से शब्द की विशेषता का जो यास्क ने बतलाया किया है उसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अभिनय (संकेत, इगित्) भी व्यापक है, परन्तु वे सूक्ष्मतर नहीं हैं, एक भाष को व्यक्त करने के लिए संकेत बड़े प्रबल से साम्य होता है, साथ ही संकेत से निःसंदिग्ध अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। शब्द में यह विशेषता है कि यह अल्प प्रबल से ही बहुत व्यापक भाष को व्यक्त कर देता है और शब्द के द्वारा बोध्य अर्थ संकेत की अपेक्षा असंदिग्ध होता है। निरुक्त० १, २।

संकेत शब्द की अपेक्षा सूक्ष्म मते ही न हो, परन्तु इससे संकेत का महत्त्व कम नहीं होता है। माट्ठ सूत्र्य आदि में अभिनय का महत्त्व बहुत व्यापक है। त्रिन भाषों को व्यक्त करने के लिए शब्द असमर्थ रहते हैं, उन भाषों का बोध अभिनय द्वारा सम्भव होता है। अतएव विरचनाय ने साहित्य इत्यंश में कहा है कि वाणी और अंगों के अभिनय से बहुत से अर्थों की विभावना (ज्ञान) होती है, अतएव रति आदि के उच्चारण के कारणों को विभाव करते हैं।

बह्वोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गामिनयात्मकाः।

अनेन यस्मात् तनार्थं विभाव इति कीर्तित ॥

एत्याहुर्बोधका शोके विभावाः काव्यनाम्पयोः।

साहित्य० १, २८।

गंगरा ने उत्पत्तिव्याप्तिय शब्दखण्ड (पृष्ठ ८६० से ८६६) तथा विरचनाय ने व्यावृत्ति (म्याय २, २, १२) में इस विषय पर विचार किया है कि संकेतों को प्रत्यक्ष आदि के तुल्य पूरक प्रमाण माना जाय या नहीं। गंगरा ने इस विषय पर विचार के अनन्तर यह निर्णय किया है कि संकेतों को पूरक प्रमाण नहीं मानना चाहिये, क्योंकि उनकी अर्थबोधकता शब्द को स्मरण विज्ञान पर निर्भर है। अभिनय आदि शब्द को स्मरण विज्ञान है, उससे अर्थज्ञान होता है। जिस प्रकार क्रिया के द्वारा अर्थज्ञान होता है, वसी प्रकार संकेत से भी अर्थज्ञान होता है। अतएव शब्दवृत्ति के उपयोगी होने से शब्द प्रमाण में इसका अन्तरभाव हो जाता है। पृ ८६०।

विरचनाय का कञ्चन है कि संकेत क्रिया के तुल्य ही अर्थ बोधक होने से पूरक प्रमाण नहीं है। इनका शब्द वा अनुमान में अन्तरभाव हो जाता है। म्याय० २, २, १२।

अर्थज्ञान प्रतिभा के अनुसार—मर्द्दहरि ने अर्थज्ञान में प्रतिभा का स्थान सबसे उत्तम बताया है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रतिभा के अनुसार शब्द का अर्थ समझता और ग्रहण करता है।

अभ्यासात् प्रतिमाहेतु शब्दः सर्वोऽपरैः स्मृतः ।

यात्रामां च तिरह्वां च ययार्यं प्रतिपादने ॥ २, ११६ ।

मट्टहरि ने प्रतिमा की व्याख्या और इसके महत्त्व पर बहुत बित्तरार से विचार किया है। इसका कारण अभ्यास में वाक्यार्थ के विवेचन में बित्तरार से किया जाएगा। श्रीरहमट्ट ने पाणिनि के "अर्थस्थाम्बप्रमाणत्वात्" (१ २, ११६) सूत्र की व्याख्या की है कि अर्थज्ञान प्रत्येक को अपनी व्युत्पत्ति (प्रतिमा) के अनुसार ही होता है। मूल, अरिक्ता ८ ।

प्रत्येक व्यक्ति एक शब्द से वही अर्थ नहीं समझता है जो दूसरा व्यक्ति समझता है। बालक, बूढ़ा और मूढ़, शिक्षित और अशिक्षित सभी अपनी-अपनी प्रतिमा के अनुसार शब्दों के अर्थों को समझते हैं और तदनुसार ही प्रयोग करते हैं। अतएव शब्दों के अर्थों में विषमता प्राप्त होती है।

वाचक शब्द की द्विविधता—मट्टहरि ने शब्द की वाचकता के विषय में कई बातों पर प्रकाश डाला है। मट्टहरि का कथन है कि शब्दशास्त्री उपादान शब्दों में दो शब्दों को मानते हैं। एक शब्दों का कारण है और दूसरा अर्थ बोधन के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

द्रावुपादानशब्देषु शब्दो शब्दविदो विदुः ।

एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थं प्रयुज्यते ॥

वाक्य० १, ४४ ।

हरिद्वय ने मट्टहरि का भाव स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वाचक शब्द को उपादान शब्द कहते हैं, क्योंकि इसके द्वारा अर्थ का उपादान (महत्त्व) होता है। प्रत्येक वाचक शब्द में दो शब्दों की सत्ता रहती है। पदव्यक्ति के शब्दों में उन्हें स्फोट और ध्वनि कहते हैं। इनमें से एक (ध्वनि) प्रकाशक है, क्योंकि ध्वनि के द्वारा पद या वाक्य रूप मध्य बोध्य अर्थ का प्रतिपादन करता है। स्फोट ध्वनि के द्वारा प्रकाशक है। ध्वनि के सुनने पर स्फोट की अभिव्यक्ति होती है और स्फोट से अर्थज्ञान होता है। इस प्रकार प्रत्येक वाचक शब्द में स्फोट और ध्वनि ये दो प्रकार के शब्द रहते हैं, ध्वनि स्थूल शब्द है, जो कि विनरवर है। यह इन्द्रियों के व्यापार से उत्पन्न होकर सूक्ष्म शब्द स्फोट को उत्पन्न करता है। स्फोट नित्य होने के कारण अर्थ को प्रकट करता है, पदव्यक्ति ने स्फोट और ध्वनि की ओर व्याख्या की है, इसका बन्नेस पूरा किया जा चुका है।

हरिद्वय ने एक प्राचीन आचार्य (स्मार्ति) का कथन उद्धृत किया है कि स्फोट रूप शब्द अविभक्त है। अर्थात् इसमें विभक्तता या क्रम नहीं है, जब वह विभक्त शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त होता है तब अर्थ का वाचक होता है। बुद्धि में वह स्फोट रूप शब्द अर्थ रूप होकर अभिव्यक्त को प्राप्त होता है। इसका

मान यह है कि बुद्धि में शब्द और अर्थ तादात्म्य भाव से रहते हैं। बुद्धिगत शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है।

अविमला विमलेभ्यो ज्ञानतेऽर्थस्य वाचकः ।

शब्दस्तत्रार्थरूपतामा सम्भेदमुपगच्छति ॥

वाक्य० १, ४४ ।

शब्द और अर्थ में तादात्म्य—इतिवृत्त ने व्याक्ति का एक श्लोक इनके समझ प्रश्न से उत्पन्न किया है कि शब्द और अर्थ में वास्तविक रूप में कोई भेद नहीं है। व्यवहार में इनमें भेद किया जाता है। क्योंकि शब्द और अर्थ में जो तादात्म्य है वह निश्चित एवं स्थिर है।

शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक्त्वमिवा ।

एतत् शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत् सत्यवस्थितम् ॥

वाक्य० १, २६ ।

अर्थ-इति जी व्याक्ति के अनुसार ही शब्द और अर्थ को अभिन्न मानते हैं। और इन दोनों को एक ही आत्मा के दो रूप बताते हैं।

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ ॥

वाक्य० २, ३१ ।

नागेश का विवेचन—नागेश ने मञ्जूषा और उद्योत में शब्द और अर्थ के तादात्म्य पर विस्तार से विचार किया है। नागेश का कथन है कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य ही शक्ति है।

शब्दार्थयोस्तादात्म्यमेव शक्तिः । उद्योत० महा० भा० १ ।

अपने कथन की पुष्टि में नागेश ने पतञ्जलि भाष्य का उद्धरण किया है कि संकेत क्या है? संकेत उसे कहते हैं जिससे पद और पदार्थ का इतरेतराभ्यास अर्थात् एक दूसरे का तादात्म्य निरूपण किया जाता है, संकेत स्थिति रूप है कि जो यह शब्द है, वही अर्थ है और जो अर्थ है वही शब्द है। मञ्जूषा, पृ० २० ।

शब्द और अर्थ में यह तादात्म्य किस प्रकार का है, इसको नागेश ने स्पष्ट किया है कि यह इतरेतराभ्यास मूलक है। बुधलाचार्य ने कुञ्जिकाटीका में अभ्यास को स्पष्ट किया है कि अन्य में अन्य धर्म के आभास को अभ्यास कहते हैं, शब्द और अर्थ में अभ्यास रूपी अन्यधर्मभास (तादात्म्य) है। वास्तविक नहीं है।

इतरेतराभ्यासमूलकं तादात्म्यम् । मञ्जूषा, पृ० २६ ।

अन्यसिधन्वधर्मावभासोऽभ्यासः । तन्मूलकं तादात्म्यम्, न वास्तवमित्ययम् । कुञ्जिका, मञ्जूषा, पृ० २६ ।

अतएव नागेश का यह कथन सत्य है कि जब यह प्रश्न किया जाता है कि शब्द क्या है ? अर्थ क्या है ? तब यही उत्तर दिया जाता है "यदा" यह शब्द है और "यदा" यह अर्थ है। दोनों का एकाक्षर उत्तर देखने से इनके अभ्यास की पुष्टि होती है शब्द और अर्थ में ही नहीं, अपितु शब्द और ज्ञान में भी यही अभ्यास दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार शब्द के लिए अर्थ देते हैं कि "यदा" यह शब्द है, वही प्रकार ज्ञान के लिए अर्थ देते हैं कि "यदा" यह ज्ञान हुआ है। मंजूपा, पृ ३६।

नागेश ने लिखा है कि शब्द और अर्थ के इसी इतरेतराभ्यास के कारण ही "शुद्धिरादेव" (अष्टा १ १, १) का ये भी श्रुति हैं। "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" (ओम् यह एकाक्षर ब्रह्म है)। "एतेति द्व्यक्षरं आम मानमन्मः पिनाकिन" (राम यह हो अक्षर का नाम शिव का मानमंग है) इस प्रकार के प्रयोग किये गये हैं। पाणिनि आदि ने शब्द और अर्थ के इसी तादात्म्य को मान कर शब्द और उसके अर्थ का एक ही विभक्ति में प्रयोग किया है। मंजूपा, पृ० ३६ तथा महा० भा १।

शब्द और अर्थ में जो तादात्म्य कहा गया है, इसका ठीक अर्थ जानने के लिए तादात्म्य क्या है, इसको नागेश ने स्पष्ट किया है। तादात्म्य का अर्थ है उससे भिन्न होते हुए उससे अभिन्न की प्रतीति। अर्थात् भिन्न में अभिन्नता का ज्ञान। यह अभेद अभ्यास रूप है। अतएव शब्द और अर्थ में विरोध नहीं होता है। शब्द और अर्थ में वास्तविक रूप में भेद रहता है, किन्तु अभ्यास के कारण अभेद की प्रतीति होती है।

तादात्म्यं च तद्विभक्त्ये सति तदभेदेन प्रतीपमानवम् । अभेदस्याप्यस्त
एवाक्यं न तयोर्विरोधः । मंजूपा पृ० ३८।

जब शब्द और अर्थ में यह अभेद विवक्षित होता है, तब दोनों में प्रथम विभक्ति का प्रयोग किया जाता है और जब भेद की विवक्षा होती है तब पष्ठी का प्रयोग किया जाता है। यथा "अस्यार्थस्यायं वाचकः" (इस अर्थ का यह शब्द वाचक है)। 'तस्य वाचकः प्रथमः' (परमात्मा का वाचक शब्द ओम् है) मंजूपा (पृ ३८) पष्ठी विभक्ति शब्द और अर्थ के भेद का व्यक्त करती है। और प्रथमा अभेद के।

नागेश का कथन है कि शब्द और अर्थ में अभेद की वास्तविकता विवक्षा हो जाती है अतएव अर्थ में शब्द के अर्थों का व्यवहार किया जाता है। यदि अस्यन्त भेद ही होता है तो यह तादात्म्य नहीं हो सकता था, जैसे अरब और पुरुष में अभेद की विवक्षा करके तादात्म्य सम्बन्ध का व्यवहार नहीं हो सकता है। साथ ही अस्यन्त अभेद अर्थात् एक ही वस्तु में भी तादात्म्य का व्यवहार नहीं होता। तादात्म्य किसी अन्व वस्तु का अन्य के साथ ही होता है। यद में यद

का तादात्म्य सम्बन्ध करके व्यवहार नहीं होता, क्योंकि उनमें अभेद है। मंजूपा पृष्ठ ३८ ।

नागेश ने शब्द और अर्थ इस तादात्म्य सम्बन्ध के विषय में अपना मत स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यह अभ्यास (तादात्म्य) आदि व्यवहार के कर्ता परमात्मा के द्वारा किया गया है।

अयमभ्यास आदिभ्यवहारकृद्दीश्वरकृत एव । मंजूपा, पृ० ३८ ।

पाठञ्जलि भाष्य की सम्मति—नागेश ने अपने कबन के समर्थन में पाठञ्जलि भाष्य का उद्धरण किया है कि शब्द का अर्थ के साथ जो सम्बन्ध है, वह पहले से विद्यमान है, जो यह कहा जाता है कि संकेत के द्वारा अर्थोद्धान होता है, उसका अर्थ यह है कि परमात्मा शब्द अर्थ में जो सम्बन्ध पहले से विद्यमान था, उसका प्रकट कर देता है। उदाहरण के लिए पिता और पुत्र में जन्मजन्तक सम्बन्ध पहले से विद्यमान है, परन्तु जब संकेत के द्वारा बताया जाता है, तब स्पष्ट होता है कि यह पिता है और यह पुत्र है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ का वाच्य वाचक सम्बन्ध पहले से विद्यमान होने पर भी संकेत के द्वारा गृहीत होता है। मंजूपा, पृष्ठ ३८ ।

शब्द और अर्थ में विद्यमान इस तादात्म्य सम्बन्ध के कारण ही शब्द और अर्थ में साधारणतया भेद नहीं समझा जाता। क्वेट ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है कि पाठञ्जलि के "अयं गौरित्स्वत्र कं शब्द" अर्थात् गाव शब्द के द्वारा जो ज्ञान होता है उसमें शब्द क्या है, इस प्रश्न के मूल में शब्द और अर्थ का अभेद रूप से लोक में व्यवहार देखना ही कारण है। वह गाव है यह शुक है, इस प्रकार के प्रयोगों में "गाव" शब्द और "गाव" नामक पशु में भेद नहीं समझा जाता है। लोक व्यवहार में शब्द और अर्थ का अभेद व्यवहार ही प्रकृत है। (अधीप, महा० भा० १)। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की निश्चिता पर विचार करने से पूर्व शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है आदि शुक प्रश्नों पर मधुहरि ने विचार किया है। इसका संक्षिप्त विवरण यहाँ देना उचित है।

वाचक शब्द में द्विशुद्धता पर मतभेद—वाचक शब्द के अन्वय जो दो शब्दों (स्कोट और ध्वनि) का समावेश शब्दशास्त्री मानते हैं, उसके सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों में भी कुछ मतभेद था। जो कार्य और कारण में भेद मानते हैं वे स्कोट और ध्वनि को दो विभिन्न तत्त्व मानते हैं। उनके मतानुसार प्रकृतक और प्रकाशक या व्यङ्ग्य और व्यङ्गक में भेद मानना उचित है। अन्य आचार्य कार्य और कारण में अभेद मानते हैं अतएव स्कोट और ध्वनि को एक और अभिन्न मानते हैं। इनमें जो भेद किया जाता है, वह बौद्ध है। स्कोट का

ग्रहण मन से होना है और ध्वनि का ओत्रेन्द्रिय से। इस प्रकार बुद्धि-मन से दोनों में भेद है। वाक्य० १, ४२।

शब्द का पुंदि से सम्बन्ध—मर्तुहरि ने शब्द की अरथित्य ज्योति से उपमा देकर बताया है कि जिस प्रकार अरथि नामक काष्ठ में आग रहती है, परन्तु वह हरम नहीं है। जब अरथि से संपर्क किया जाता है, तब उसमें से ध्वनि प्रकाशित होती है। इस प्रकार से अरथि में सूक्ष्म रूप से विद्यमान ध्वनि स्थूल और हरम ध्वनि का कारण है। इसी प्रकार शब्द की भी सत्ता है। शब्द (स्केट) भी सूक्ष्म और अरथ रूप से बुद्धि में रहता है। जब अर्थ बोधन की इच्छा होती है तब कठ वास्तु आदि के संपर्क से ध्वनि रूप में परिणत होता है, और सूक्ष्म अवस्था से स्थूल अवस्था का प्राप्त होता है और इसमें फोर्षापर्य को उपलब्धि होने लगती है। बुद्धि में वाक्स्वरूप में विद्यमान स्केट रूपी शब्द विभिन्न रूप से सुनाई पड़ने वाले ध्वनि रूपी शब्द का कारण है।

अरथिरथ यथा ज्याति प्रकाशान्तर कारकम्।

तद्वत्सुधरोऽपि बुद्धिरथ भ्रुतीर्मा कारणं पृथक्॥

वाक्य० १, ४२।

शब्द स अर्थ की अभिव्यक्ति—मर्तुहरि ने शब्द का सम्बन्ध बुद्धि और प्राण से बताया है। शब्द सूक्ष्म रूप में बुद्धि और प्राण में रहता है। प्रत्येक शब्द में दो तत्त्व विद्यमान रहते हैं, एक ज्ञानतत्त्व और दूसरा ध्वनितत्त्व। शब्द का बुद्धि और प्राण में निवास का अभिप्राय यह है कि शब्द बुद्धिगत भावों को प्रकट करता है। जो भाव बुद्धि में पहले से विद्यमान हैं, उनको शब्द स्थूलरूप देता है। मन के भावों को व्यक्त करने के लिए अतएव शब्द का आश्रय लिया जाता है। शब्द जो भाव बुद्धि में हैं वही का प्रकाशन करता है, अतएव शब्द का निवासस्थान बुद्धि है। प्राणों में शब्द के निवास का अभिप्राय यह है कि शब्द को अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए न केवल बुद्धितत्त्व विचारों की आश्रयकता होती है, अपितु प्राणवायु की सहायता भी अपेक्षित होती है। प्राणवायु की सहायता से ही शब्द स्थूलरूप ध्वनि होकर अर्थ का बोध कराता है। अतएव शब्द में बुद्धि और प्राणशक्ति के सम्बन्ध होने के कारण शब्द एक ओर शब्द के रूप में विद्यमान अर्थ को प्रकट करता है, दूसरी ओर ध्वनि रूप में ओत्रेन्द्रिय के द्वारा सुना जाता है।

तस्य प्राणे च या शक्ति र्वा च बुद्धौ व्यवस्थिता।

द्विवर्तमाना स्थानेषु सैरा मेदं प्रपद्यते॥

वाक्य० १, २१=।

हरिद्वयम ने इसकी व्याख्या में अर्थ की अभिव्यक्ति में शब्द के प्राण और बुद्धि में निवास के इस महत्त्व पर ध्यान आकृष्ट किया है।

शब्दं प्राणाभिप्रेतानो बुद्ध्याभिप्रेतमर्थम् । इत्यर्थां प्राणबुद्धिशक्तिभ्यामभि
 ५. लोड्यं प्रत्यापयति । वाक्य० १, १।८ ।

पट शब्द से पट का बोध क्यों नहीं होता—स्कोटरूप शब्द को बुद्धिस्य और ध्वनि के द्वारा व्यञ्ज्य मानने पर यह एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि स्कोट एक है तो किसी भी ध्वनि का उच्चारण करें, उस शब्द से अन्य अर्थ का भी बोध होना चाहिये क्योंकि स्कोटरूप शब्द एक है, उसमें भिन्नता नहीं है, 'पट' शब्द कहने पर पट शब्द का अर्थ प्रतीत होना चाहिये । मर्तुहरि ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि यह प्रश्न तब उठता है जब कि शब्दों का प्रयोग बिना विचारे किया जाता । शब्दों के उच्चारण से पूर्व बुद्धि का यह कार्य होता है कि वह शब्द से अर्थ को युक्त करती है । यह शब्द है, यह अर्थ है, इनके तादात्म्य को बुद्धि में एक कर उसका अर्थों से प्रयच्छरण किया जाता है । इसके बाद इस स्कोट का इस अर्थ से सम्बन्ध है, यह सब बुद्धि में होने पर सूक्ष्मरूप कंठ वाह्य आदि क प्रयत्न से सूक्ष्म रूप को प्राप्त करता है, तब विभिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति होती है । 'पट' रूप ध्वनि से जो स्कोट की अभिव्यक्ति होती है, वह पट ध्वनि से व्यक्त करने वाले स्कोट से भिन्न है, अतएव वह भिन्न ध्वनि वस अर्थ का बोध नहीं करा पाती है ।

वितर्कितः पुरा बुद्ध्या स्वविद्यैर्निवेशितः ।

कारणेभ्यो विदुसेव ध्वनिना सोऽनुपृच्छते ॥

वाक्य० १ ५३ ।

हरिपुरुष का कथन है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि में ही होता है, तब शब्द अर्थ विशेष के बोध के लिए प्रयुक्त होता है । अतएव शब्द और अर्थ का यह प्रश्न दिसा जाता है कि जो शब्द का स्वरूप जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसमें परिवर्तन कर देने पर उस अर्थ का बोध नहीं होता है, अपितु अन्य अर्थ का बोध होता है । वाक्य १, ५० ।

अर्थाभिव्यक्ति के विषय में दुर्गाचार्य का मत—मर्तुहरि ने शब्द और अर्थ का एक रूप से बुद्धि में ही वाक्य वाचक सम्बन्ध स्वी तादात्म्य का प्रतिपादन किया है । दुर्गाचार्य ने "अर्थाभिव्यक्तौ शब्दस्य०" (निरुक्त १ १, २) की व्याख्या में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है । दुर्गाचार्य का कथन है कि बुद्धि के ही दो रूप हैं । एक अभिधान (वाचक) और दूसरा अभिवेद (वाच्य) । वक्ष्य जब इन्द्र आकार में विद्यमान बुद्धि को, अन्य व्यक्तिको अपना मात व्यक्त करने के लिए प्रेरित करता है तो वह बुद्धि कंठ वाह्य आदि के साथ संपर्क को प्राप्त कर वस्तुओं के स्वरूप में जाती है और वाह्य आकार में विद्यमान शब्द के साथ अपने स्वरूप को एक कर लेती है । वह फिर जोता की बुद्धि को उसके मोत्र के द्वारा प्रविष्ट होती है और उसके इन्द्र में जो वाच्यवाचक रूप

वाणी बुद्धि है उसमें व्याप्त हो जाती है। पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न जो कठ तालु आदि की ध्वनियाँ हैं, वे नष्ट हो जाती हैं, शब्द (स्फोट) नष्ट नहीं होता है। शब्द ध्वनि के गुणों से युक्त होकर अर्थ का बोध कराता है। स्फोटरूप शब्द में जो पदता या वाक्यता है, उसका ध्वनि में आरोप किया जाता है। ध्वनि पद या वाक्यरूप नहीं है, परन्तु उसके आरोप के कारण ध्वनि को पद या वाक्य समझ लेते हैं। इस प्रकार ध्वनि में जो नरवरता का गुण है, उसका स्फोट रूपी शब्द में आरोप करते हैं। अतएव नित्य शब्द (स्फोट) को नरवर समझ बैठते हैं। शब्द पुरुष की बुद्धि में विद्यमान अर्थ का ही बोध कराता है, क्योंकि उसी के साथ शब्द का सम्बन्ध है। निरुक्त १, १, २, तथा मञ्जूया, पृष्ठ ३६४ से ३६६।

ध्वनि के गुणों की स्फोट में उपलब्धि—बुद्धिस्थ शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति का उपर्युक्त प्रकार मानने में एक यह आरोप उपस्थित होता है कि ध्वनि की विभिन्नता के कारण स्फोट रूपी शब्द को भी अनेक और क्रमबद्ध मानना पड़ेगा। इसका उचर भर्तृहरि ने किया है कि स्फोट नित्य है, उसमें क्रम नहीं है। पूर्वापर की सत्ता उसमें नहीं है। क्रमशीलता नाव (ध्वनि) में ही है। ध्वनि में पौर्वापर्य की सत्ता है। ध्वनि के पौर्वापर्य के कारण स्फोट भी क्रमयुक्त और विभिन्न प्रतीत होता है। वस्तुतः उसमें न क्रम है और न भेद। हरिवृषम।

नावस्य क्रमजातत्वात्पूर्वो नापरश्च सा।

आक्रमं क्रमरूपेण भेदवानिव पृच्छते ॥

वाक्य० १, ४८।

स्फोट नित्य और आक्रम है एक उदाहरण द्वारा भर्तृहरि ने अपने कथन को स्पष्ट किया है। जैसे चन्द्रमा में चंचलता नहीं है, परन्तु जब उसका प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है तो जल की चंचलता आदि क्रिया के अनुसार ही जल का प्रतिबिम्ब चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब चंचल सीलता है। जल की चंचलता का चन्द्रमा में आरोप किया जाता है। इसी प्रकार स्फोट और ध्वनि का सम्बन्ध है। स्फोट नित्य और आक्रम होने पर भी ध्वनि की क्रमशीलता आदि के कारण विभिन्न प्रतीत होता है।

प्रतिबिम्बं यथाऽन्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।

तत्रावृष्टिमिवाम्बेति_स धर्मः स्फोटनावयो ॥

वाक्य० १, ४९।

अतएव नागेश मञ्जूया में कहते हैं कि शब्द वस्तुतः एक है। परन्तु विभिन्न व्यर्थों के संस्कारों से प्रतिबिम्ब होने के कारण अनन्त पक्षों के रूप में प्रतीत होता है। इसी स्फोटरूप शब्द की एकता के कारण उसको सर्वपदात्मक और समस्त अर्थों का बोधक कहते हैं। शब्द की इस सर्वार्थवाचकता का ज्ञान तो योगियों को

होता है, मनुष्यमात्र को नहीं। व्यवहार आदि के द्वारा जिस शब्द से जिस अर्थ का ज्ञान महसूस किया जाता है, उसी अर्थ का उस शब्द से जनसाधारण को बोध होता है। मञ्जूषा, पृ० ३६६ से ३६७।

शब्द स शब्द और अर्थ दोनों का बोध—भट्टहरि ने शब्द की ज्ञान से सह-राता बताते हुए इस वाक्य को स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार ज्ञान अर्थ का बोध कराता है उसी प्रकार अपने स्वरूप का भी बोध कराता है। प्रत्येक ज्ञान में दो वस्तुओं का समावेश रहता है, एक ज्ञान और दूसरा ज्ञेय। व्यवहार के लिए पद के ज्ञान से एक तो ज्ञेय पद वस्तु का समावेश होता है और दूसरा ज्ञान का अर्थात् “ज्ञानो पदः” (मुझे पद का ज्ञान हो गया है)। इसी प्रकार शब्द के स्वरूप और अर्थ का महसूस होता है “जो शब्द कहने पर एक गाय वस्तु का महसूस होता है और दूसरे “जो” शब्द का।

आत्मरूप तथा ज्ञाने शेषरूप च सूक्ष्मतः।

व्यर्थरूप तथा शब्दे स्वरूप च प्रकाशते ॥

वाक्य० १, २०।

शब्द में प्राकृतता और प्राहकता—शब्द की समानता प्रकाश से भी की जाती है। जिस प्रकार वीचक अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता हुआ अपने आप को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार समस्त शब्दों में यह शक्ति है कि वह माह्य भी है और प्राहक भी। बोध्य और बोधक दोनों गुणों का ज्ञानमें समावेश है।

प्राकृत्यं प्राहकत्व च द्वे शक्ती तैजसो यथा।

तथैव सर्वशब्दामामेते पृथगवस्थितः ॥

वाक्य० १, २१।

प्रकाशप्रयी—हेत्वाराम् वाक्य (का ३ पृ० ६८) और नागेश मञ्जूषा (पृ० ३३३ से ३३४) ने अतएव यह वर्णन किया है कि ज्ञान, शब्द और प्रदीप ये तीन प्रकाश हैं। जो अन्य को प्रकाशित करते हुए अपने आप को भी प्रकाशित करते हैं।

ज्ञानशब्दप्रदीपान्त्रयो हि प्रकाशा येनैव प्रकारेण परं प्रकाशयन्ति तैर्नैवात्मामपि। हेत्वाराम्, वाक्य० का ३, पृ० ६८।

ज्ञान ज्ञेय के साथ ही ज्ञान का भी प्रकाश होता है, अतएव नागेश का यह कथन उचित है कि ज्ञान होने पर “जानामि न चा” (जानता हूँ या नहीं) या “न जानामि” (मैं नहीं जानता हूँ) इन दोनों प्रकार के संदेह और विपर्यय ज्ञान का अनुभव नहीं होता है। जब तक ज्ञान नहीं होता, तब तक संदेह और विपर्यय होते हैं। परन्तु ज्ञान होने पर संदेह और विपर्यय नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान अपने स्वरूप का भी प्रकाश करता है। मञ्जूषा, पृ० ३३४ से ३३४।

चित्सुखाचार्य की सम्मति—अतएव चित्सुखाचार्य ने कहा है कि यदि अर्थप्रकार के समय अनुमति (ज्ञान) न हो तो ज्ञान के अगते कृणु में ही विज्ञान को उस विषय में सन्देह, विपर्यय या विपरीत ज्ञान उत्पन्न होना चाहिए। सामने उपस्थित व्यक्ति को देखने पर जब उससे यह पूछा जाता है कि “आपने इसको देखा है या नहीं” तब वह न सन्देह करता है, न उसे विपरीत ज्ञान होता है और न ज्ञान का अभाव ही समझता है, अपितु वह निरन्वयात्मक ज्ञान करता है और कहता है कि “हां मैंने इसको देखा है”। इससे ज्ञात होता है कि अनुमति अपने आप को प्रकाशित करती हुई वस्तुओं के विषय में व्यवहार को सिद्ध करती है। भाष्य० १, ५०। सूर्यनारायण शुक्ल कृत व्याख्या पृ० ५२ पर द्यूत।

शब्द और अर्थ में अर्थ की मुख्यता—शब्द के द्वारा शब्द और अर्थ दोनों का बोध होता है। पतञ्जलि ने शब्द और अर्थ के अन्तर पर भी ध्यान आकृष्ट किया है। अतएव प्रश्न उठाया है कि शब्द के कारण अर्थ होता है या अर्थ के कारण शब्द। इसका स्पष्ट रूप से उत्तर देते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि अर्थ के द्वारा ही शब्द होता है।

युक्तं पुनर्यद्बहुवचनमित्तको नामार्थे स्थात्, नार्थनिमित्तकेन नाम शब्देन सवितम्बम्। अर्थं निमित्तक एव शब्दः। महा० १ १, ५५।

शब्द अर्थ का उत्पादक नहीं, अपितु ज्ञापक है—कैपट ने पतञ्जलि के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शब्द के कारण अर्थ की सत्ता मानने का अर्थ यह होता है कि शब्द है तो अर्थ है और शब्द नहीं है तो अर्थ नहीं है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि शब्द अर्थ का उत्पादक नहीं है, अपितु ज्ञापक है। अर्थ पहले से रहता है। शब्द के द्वारा उसकी प्रतीति होती है। अतएव शब्द का ज्ञाप्य-ज्ञापक या प्रकाश्य-प्रकारक रूप सम्भव है। यदि शब्द को अर्थ का उत्पादक मानेंगे तो शब्दों के उच्चारण करते ही उन वस्तुओं की उत्पत्ति होनी चाहिए। नागेश ने इसका उच्चारण किया है कि रज आदि शब्द कहने पर रज आदि वस्तुओं की उत्पत्ति होनी चाहिए। प्रश्नीप, महा० १, १, ४५।

नैयायिकों आदि ने शब्द और अर्थ में सम्बन्ध मानने में इसी उत्पादकता के आधार पर असम्बोध प्रकट किया है कि यदि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध मानेंगे तो उस शब्द से उस अर्थ (वस्तु) की मुक्त में उपस्थिति होनी चाहिए। इसका विवेचन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। कैपट ने अतएव कहा है कि अर्थ को शब्द का कारण कहने का पतञ्जलि का भाव यह है कि अर्थ शब्द से पहले रहता है। अर्थ शब्द का प्रयोजक है। अर्थ के प्रतिपादन के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिन शब्दों का प्रयोग नहीं होता है, उसमें यही कारण समझना

वाहिए कि वे अर्थ विद्यमान नहीं हैं, जिनके बोधन के लिए शब्द का प्रयोग किया जाय। महा० १, १, ४२।

पतञ्जलि ने इस भाषातत्त्व को स्पष्ट किया है कि अर्थ (वस्तुएँ) पहले से उपस्थित रहते हैं। उनके बोध करने के लिए शब्दों की सृष्टि होती है। शब्दों की सत्ता को मानकर अर्थों की सृष्टि नहीं की जाती।

गहि शब्दकृतेन नामार्थेन भवितव्यम्। अथकृतेन नाम शब्देन भवितव्यम्। महा० २, १, १।

शब्द और अर्थ में अर्थ की मुख्यता का प्रतिपादन करते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि श्लोकम्यबाहार में अर्थ की ही प्रधानता रहती है।

किं कृतं पुनः प्राधान्यम्? अर्थकृतम्। श्लोकऽर्थकृतं प्राधान्यम् ॥

महा० ३, १, १।

महर्षि और पुष्यराज ने (वाच्य० २, १३२) तथा दुर्गाचार्य ने अर्थ की प्रधानता को स्वीकार किया है। अर्थ की प्रधानता का भाव यह है कि जब शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है, तब शब्द और अर्थ दोनों की उपस्थिति होने पर भी अर्थ को ही महत्त्व दिया जाता है। “गाय” कृते से मुख्य रूप से गाय पशु का ग्रहण होता और गौण रूप से गाय शब्द का। क्योंकि शब्द अर्थबोधन का साधन है, अर्थ बोध का विषय है।

श्लोकेऽर्थांशस्यैव प्राधान्यम्। पुष्यराज वाच्य० २, १३२।

अर्थो हि प्रधानं तद्गुणभूतं शब्दं। दुर्गाचार्य, निरुक्त० २, १।

अर्थ की मुख्यता इस रूप में भी है कि अर्थबोध के लिए शब्द है। शब्द साधन है और अर्थ साध्य।

महर्षि ने शब्द को श्लोकम्यबाहार का साधन बताया है। जब वचन किसी अर्थ को दूसरे को बताना चाहता है तो सर्वप्रथम उसकी पुष्टि शब्दों का आशय लेती है। यह अपनी पुष्टि में जिन अर्थों को व्यक्त करना चाहता है, उन अर्थों के बोधक शब्दों का स्थान देता है। भोला भी यह समझते हुए कि शब्द के ज्ञान से ही अर्थ का ज्ञान होगा, शब्दों को प्यार पूर्वक सुनता है। शब्द ही वचन के भाव को बोला के हृदय में निर्धारित करता है।

यथा यथाकुं प्राग् बुद्धिः शब्देऽप्येव प्रवर्तते।

व्यवसायो महीदूषामेव तेऽप्येव जायते ॥

वाच्य० २, ४३।

अर्थ का क्रियाओं में उपयोग, शब्द का नहीं—शब्दबोध में शब्द और

अर्थ दोनों का ज्ञान होता है। अतः, जिस प्रकार अर्थ का क्रियाओं में उपयोग होता है, उसी प्रकार शब्द का भी उपयोग क्यों नहीं होता। इसका उत्तर मनु हरि देते हैं कि शब्द का उपयोग अर्थ का बोध करता है, अतः अर्थ मुख्य और शब्द गौण हो कर रहता है। जिस प्रकार विशेषण का कार्य विशेष्य की गुणबोधकता है, उसी प्रकार शब्द भी अर्थ का विशेषण है। कठिपय स्वसों पर जहाँ कि शब्द का ही प्रयोग होता है, यथा व्याकरण में 'अग्नेर्वक्' (अग्नि से वक् प्रत्यय होता है), भावि स्वसों में शब्द का प्रयोग हो जाने से शब्द की स्वरूप प्राप्ति सफल हो जाती है। अतः श्लोकप्रवहारा में अर्थ का ही क्रियाओं में सम्बन्ध किया जाता है। गाय लाभो कहने पर गाय नामक पशु को ज्ञाते हैं, गाय शब्द को नहीं।

अर्थोपसर्जनीमृतानमिधेयेषु केपुषित् ।

चरितार्थान् परायत्वाच्च श्लोकं प्रतिपद्यते ।

वाक्य० १ ४४।

शब्द दो प्रकार का है, एक प्रत्याय्य (बोध्य) और दूसरा प्रत्यायक (बोधक)। मनु हरि ने अतएव इस बात पर बल दिया है कि यह आवश्यक नहीं है कि जिस शब्द का उच्चारण किया जाय, उसका अर्थ में भी उपयोग किया जाय। शब्द में प्रत्याय्य और प्रत्यायक शक्ति होने के कारण यदि वह शब्द कार्य में उपयोग नहीं किया गया तो उसकी प्रत्यायकता अर्थात् अर्थ (वस्तु) को बोधित करने की शक्ति को नहीं रोका जा सकता है। अतएव श्लोक प्रवहारा में शब्द के उच्चारण करने पर उसके अर्थों को ज्ञान में लाया जाता है। वाक्य० १, ६१, से ६२।

यो य उच्छायते शब्दो नियत न स अर्थमाक॥

अर्थप्रत्यायने शक्तिर्न तस्य प्रतिषध्यते ॥

वाक्य० १, ६१।

तीन वृत्तियाँ—शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान वृत्ति के ज्ञान से ही होता है। नागेश ने वृत्ति को तीन भागों में विभक्त किया है, शक्ति, लक्षणा और व्यञ्जना।

सा च वृत्तिलिप्ता । शक्तिर्लक्षणा व्यञ्जना च ॥

मंजूषा पृ० १६।

शक्ति का ही दूसरा नाम अभिधा है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि वैयाकरणों ने शब्द की अर्थ में प्रवृत्ति को वृत्ति नाम दिया है, अतएव मनु हरि ने वृत्तीय काण्ड के अन्तिम परिच्छेद का नाम वृत्तिनिरूपण रक्खा है। उन्होंने वृत्ति के तीन विभाग शक्ति, लक्षणा और व्यञ्जना किए हैं। विरचनाय ने साहित्य वर्षण में वृत्ति शब्द के स्थान पर शक्ति शब्द का प्रयोग किया है और इसको शब्दशक्ति नाम दिया है। विरचनाय ने वृत्ति के स्थान पर शक्ति के तीन विभाग अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना किए हैं। साहित्यवर्षण, २, ३।

अभिधा शक्ति का विवेचन

मर्दहरि का मत—मर्दहरि ने अभिधा शक्ति का विवेचन बहुत उत्तम रीति से किया है। मर्दहरि और उनके व्याख्याकार पुण्यराज ने इस विषय में कई महत्त्वपूर्ण बातों पर ध्यान आकृष्ट किया है। वे कहते हैं कि शब्द एक ही है उसके ही अनेकों अर्थ हैं। वक्ष्य जब उस शब्द को किसी निरिच्छत अर्थ में प्रयुक्त करता है तब वह शब्द उसी अर्थ को प्रकाशित करता है। विनियोग के बिना शब्द अपने अर्थ का बोध नहीं करता है शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध वक्ति (मापक) के द्वारा ही होता है। पुण्यराज कहते हैं कि शब्द में अर्थ के प्रतिपादन की योग्यता वक्ति के द्वारा ही होती है।

विनियोगादते शब्दो न स्वार्थस्य प्रकाशकः ।

अर्थाभिधानसम्बन्धमुक्तिद्वारा प्रचक्षते ॥

वाक्य २, ४०६।

पुण्यराज ने मर्दहरि के इस कथन पर प्रतिक्रिया की और से एक बहुत गम्भीर सैद्धान्तिक प्रश्न किया है कि शब्द और अर्थ में जो स्वाभाविक सम्बन्ध है, क्या वह इस अवस्था को प्राप्त होता है कि ये सब शब्द अर्थबोधन में वक्ष्य के द्वारा विनियोग रूप सम्बन्ध के मुखापेक्षी होते हैं, यदि वक्त कथन का यही भाव है तो व्याकरणियों के सिद्धान्त का नारा हो जाएगा। पुण्यराज, वाक्य० २, ४०७।

मर्दहरि एवं पुण्यराज ने इस प्रश्न का उत्तर निम्नरूप से दिया है —

शक्ति में जैसे यह स्वाभाविक योग्यता है कि वह वस्तु का दर्शन कराती है परन्तु इसमें भी यह आवश्यकता होती है कि मन का शक्ति के साथ सम्बन्ध हो। देखने के लिए देखने वाले की शक्ति का मन से सम्बन्ध होना (प्रतिष्ठान एकामता) आवश्यक है, अन्यथा सर्वथा ही शक्ति से वस्तु वीर्यनी बाहिर। इसी प्रकार शब्द में स्वाभाविक बोधता यह है कि वह अर्थ का बोधक है परन्तु इसके लिए मीवका के द्वारा सम्बन्ध करने की आवश्यकता होती है वक्ष्य जब शब्द का विशेष अर्थ से सम्बन्ध करता है, तभी वह उस अर्थ का बोध करता है। पुण्यराज इसके भाव को और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि वाक्य जब अपनी शक्ति के द्वारा विशेष अर्थ से मुक्त होकर वाक्य अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है तब वह अभिधा नामक शक्ति का आश्रय लेकर अर्थ को प्रकाशित करता है। यह अभिधा नामक शक्ति वक्ष्य के द्वारा सम्बन्ध के आश्रित रहती है, अतएव इसे गौण रूप से सम्बन्ध (शक्त) कहते हैं। यह उदाहरण शब्द में भेद पद को मानने पर है। जब शब्द में अभेद माना जाता है अर्थात् शब्द एक ही है, उसमें कोई अन्तर नहीं आता है तब वक्ष्य का अन्तर विद्यमान प्रतिमा ही सम्बन्ध रूप होकर शब्द का स्वरूप प्रकृत करती है। इस अवस्था में सम्बन्ध और वक्ति दोनों में भिन्नता नहीं होती है। अतएव जैसे प्रतिष्ठान (एकामता) से शक्ति

का समन्वय होता है, वही प्रकार बलि (भाषण) अर्थात् कंठ, वासु आदि के द्वारा राष्ट्रोच्चारण राष्ट्र की भावना (अन्तरात्मा में संस्कार) के बिना नहीं होता है। यह जो सम्बन्ध जो उत्पन्न करने वाला राष्ट्र का अपना व्यापार है, इसी को अभिधा शक्ति का सम्बन्ध कहते हैं। यही उच्चारण के द्वारा राष्ट्र का रूप पाकर अभिधा कहलाता है। पुण्यराज ।

यथा प्रविद्धित चतुर्वर्गनायोपकल्पते ।

तथाऽभिसंहित राष्ट्रो भवत्यर्थस्य वाचका ॥

वाक्य० २, ४०७।

अभिधा में चार तत्त्व— मत्त हरि के कथन पर एक और आक्षेप यह कटाया गया है कि अभिधान (वाचक) अभिधेय (वाच्य) और इन दोनों का सम्बन्ध यह तीन बातें ही सुप्रसिद्ध हैं और आप विनियोग (नियुक्ति) बलि (भाषण) अभिसंधान (सम्बन्ध करना) और अभिधा (शक्ति) इन चार तत्त्वों के उपयोग का प्रतिपादन करते हैं, यह अप्रसिद्ध ही है। इसका उत्तर मत्त हरि देते हैं कि तीन के स्थान पर चार तत्त्वों का उपयोग बताया गया है, यह कोई विचित्र बात नहीं कही गई है, यहाँ पर यही बात कही गई है कि अभिधान और अभिधेय (राष्ट्र और अर्थ) में जो वाच्यवाचक नामक सम्बन्ध है, वह अभिधा नामक राष्ट्रशक्ति के द्वारा नियम में रक्खा जाता है। कारक (कर्म करण आदि) छोड़े की जड़ों के तुल्य हैं, इनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, इनमें किया का व्यवधान अर्थात् प्रक्रिया का आभय लेकर सम्बन्ध देखा जाय है, जैसे ही राष्ट्र और अर्थ में अभिधा शक्ति के द्वारा नियम होता है। पुण्य राज, वाक्य० २, ४०८।

क्रियाप्यवैतः सम्बन्धो दृष्टः करणकर्मणो ।

अभिधा नियमस्तस्मादभिधानामिधेययो ॥

वाक्य० २, ४०८ ।

अभिधा में शक्ता का स्थान—इसी को मत्त हरि और पुण्यराज ने और स्पष्ट करते हुए कहा है कि एक ही राष्ट्र (राष्ट्रतत्त्व) के द्वारा गाय आदि बहुत सी वस्तुएँ प्रविधाय हैं और समस्त वस्तुएँ सजातीय (अर्थात् एक राष्ट्रतत्त्व रूपी शक्ति से सम्बद्ध) होने के कारण एक ही अर्थ (अर्थतत्त्व) को बतलाने वाली है। अतएव प्रयोज्य जिस राष्ट्र से जिस अर्थ का अभिधा शक्ति के द्वारा सम्बन्ध करता है वही अर्थ का वह राष्ट्र वाचक होता है, अन्य का नहीं।

बहुष्वेकाभिधानेषु सर्वेष्वेकार्यकारिषु ।

पत् प्रयोज्यमिसंघशो राष्ट्रस्तत्रावतिष्ठते ॥

वाक्य० २, ४०९ ।

अभिधा शक्ति की स्वतन्त्र सत्ता—महर्षि और पुष्यराज ने एक अन्य उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट किया है कि अभिधा शक्ति की अर्थ से प्रकृत सत्ता है, इसका अपक्षान नहीं किया जा सकता है। यह कहते हैं कि वेद के शब्दों को जब अभ्यास अर्थात् केवल पारायण के समय पढ़ा जाता है, तब उनका कोई अर्थ नहीं होता है, अतः उन्हें अनर्थक कह दिया जाता है। जब वे ही शब्द अभ्यास के समय स्वरूप के ज्ञान के लिए पढ़ाये जाते हैं, तब उनका अर्थ शब्दों का स्वरूप होता है। किन्तु जब वे ही शब्द यज्ञ सम्बन्धी विभिन्न कर्मों में विभिन्न विनियोग के अनुसार विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, तब वे ही अभिधा शक्ति का समन्वय हो जाने से इन विभिन्न अर्थों के प्रतिपादक होकर उन अर्थों में नियमित हो जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि अभिधाशक्ति अर्थ से प्रकृत है, इसके आश्रय से ही अर्थ का बोध होता है।

आम्नायशब्दान्म्यासे कश्चिदाहुरनयकान् ।

स्वरूपमात्रश्रुतीश्च परमा प्रतिपादन ॥

अभिधानक्रियामेवाहर्षय प्रतिपादकान् ।

नियोगमेवात्मसम्पत्ते तातवैकस्वदर्शिता ॥

वाक्य० २ ४१० से ४११ ।

शब्दभेदवादियों का मत ऊपर एक शब्दतत्त्व को ही मानने वालों के मत का प्रतिपादन किया गया है कि अभिधाशक्ति के द्वारा उन-उन अर्थों की सिद्धि होती है। महर्षि ने उक्त विवेचन के पर्याय जो शब्द को अनेक मानने वाले हैं, उनके मत का भी प्रतिपादन किया है। महर्षि कहते हैं कि जो शब्द को अनेक मानने वाले हैं, वे विभिन्न शब्दों में एकता को नहीं मानते हैं। केवल सादर्य के आधार पर उनके एक जाति का समन्वय मानते हैं, बलुत एकता नहीं है। जैसे अक्ष माप आदि प्रत्येक शब्द अर्थों की अनेकता के कारण विभिन्न शब्द हैं, इनमें रूप की समानता के कारण अभिन्नाता प्रतीत होती है। शब्द भेदवादियों के उक्त कथन का परिणाम यह होता है कि शब्द में प्रयोग अर्थात् उच्चारण के अतिरिक्त अभिसंधान, शक्ति, अभिधा इन तीनों की स्थिति सही रहती है। पुष्यराज, वाक्य २, ४१२ से ४१३।

वहाँ एक प्रश्न स्वामात्रिक रूप से उठता है कि यदि अभिधा आदि को न मानकर केवल प्रयोग को ही मानेंगे तो अर्थ का नियंत्रण कैसे होगा। इस पर ही ओर से महर्षि उत्तर देते हैं कि इस मत में शब्दों की शक्तियाँ नियमित यानी गई हैं, अर्थात् प्रत्येक शब्द प्रत्येक अर्थ का बोध नहीं करता है, अपितु वह विशेष अर्थ में नियमित है। उनकी शक्तियाँ भी भिन्न हैं अतः वे अपने-अपने अर्थ में नियमित रहते हैं।

विषये घटशक्तिनात् स तु तत्र व्यवस्थितः ।

वाक्य० २, ४१३ ।

प्रकरण आदि से अर्थ की मर्यादा—असुवाद आदि शब्द जो अनेकार्थ हैं, उनमें यद्यपि स्वरूप को देखते हुए सादृश्य है परंतु वस्तुत्व भिन्नता है। यहाँ पर यह प्रश्न पठता है कि यदि शब्द को अनेकार्थक न मानकर अर्थभेद के अनुसार ही शब्दभेद भी मानते हैं, तो असुवाद आदि शब्दों का कहीं पर कौन सा अर्थ है, इसका निर्णय कैसे होगा? इसका उत्तर मधुहरि ने दिया है कि अर्थ (प्रयोजन) और प्रकरण-आदि से उनके अर्थ का ज्ञान होता है कि कहीं पर कौन सा अर्थ है। नाना अर्थों को देख कर यह भी ज्ञात होता है कि ये विभिन्न शब्द हैं, अर्थात् स्वरूप एक होने पर भी एक शब्द के जितने अर्थ हैं उस शब्द के उतने ही विभिन्न शब्द मानने चाहिए। मधुहरि और पुण्यराज ने इस बात को स्पष्ट किया है कि एक शब्द का एक स्थान पर जो अर्थ माना गया है, दूसरे स्थान पर वही शब्द का दूसरे अर्थ में प्रयोग नहीं हो सकता है। अन्यायिक शब्द की अन्याय में वृत्ति नहीं हो सकती है। अतः अर्थभेद से शब्दभेद मानना चाहिए। पुण्यराज।

नानात्वस्यैव संज्ञानमर्थप्रकरणादिभिः।

न आत्पर्यान्तरे वृत्तिरन्यार्थानां कथंचन ॥

वाक्य० २, ४१४।

अर्थभेद से शब्दभेद—नागेरा ने मञ्जूषा में (पृष्ठ ५४ से ५७) अर्थभेद से शब्दभेद का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध होने पर अर्थभेद से तादात्म्य वाले शब्दों में अर्थात् नानार्थक शब्दों में भिन्नता मानना उचित है, अतएव अर्थभेद से शब्दभेद की सिद्धि होती है। शब्दों का आकार एक होने से उनका "एकैव शब्दो नानार्थः" (इस एक शब्द के अनेक अर्थ हैं), नानार्थक कहते हैं। जो भेद मानने वाले हैं वे ऐसे शब्दों को एक शब्द ही नहीं मानते हैं, अपितु नाना शब्द और नाना अर्थ मानते हैं।

शक्ति का स्वरूप

नैयायिकों का मत—गङ्गाधरमह ने भ्युत्पत्तिवाद में और गंगोरा ने तत्त्वचिन्तामणि के शब्दसंबन्ध में शक्ति के विषय में बहुत विस्तार से विवेचन किया है। गङ्गाधर ने शक्तिवाद में वृत्ति को प्रकर की मानी है, संकेत और लक्षणा। अर्थ में पद की वृत्ति ही संकेत और लक्षणा है। वृत्ति के द्वारा पद का जो प्रतिपाद्य विषय होता है, उसे ही पदार्थ या शब्दार्थ कहते हैं। वृत्ति या शक्ति का लक्ष्य किया है कि "इदं पदमिममर्थं बोधयत्" (यह पद इस अर्थ का बोध कराए), "अस्माच्छब्दाव्यवमर्थो बोधयन्" (इस शब्द से यह अर्थ जानना चाहिए) इस प्रकार की इच्छा को, जिसको कि संकेत कहते हैं, वृत्ति कहते हैं। "ईश्वरसंकेतः शक्तिः (ईश्वर के संकेत को शक्ति कहते हैं)। ईश्वर नित्य है, अतएव नित्य संकेत शक्ति है। उस शक्ति के द्वारा अर्थ का बोधक पद वाचक कहलाता है, जैसे

गाय आदि शब्द गोस्वविशिष्ट गाय आदि का वाचक है। उसके द्वारा जिस अर्थ का बोध करवाया जाता है, जैसे गाय आदि, उसको वाच्य कहते हैं। वही मुख्य अर्थ है। शक्तिवाद पृष्ठ १ से ६।

ईश्वर संकेत में शक्ति का स्वयंजन गदाधर ने शक्तिवाद में आगे जाकर ईश्वर के संकेत को शक्ति मानने का स्वयंजन किया है। गदाधर का कथन है कि यदि ईश्वर के संकेत को ही शक्ति मानेंगे तो हमारे बक्षारण किए हुए शब्दों में शक्ति नहीं होगी। देवदत्त आदि मामों में, जो कि वास्तव में दिन माता-पिता आदि के द्वारा रखे जाते हैं, शक्ति नहीं होगी आदि, क्योंकि इनमें संकेत ईश्वर के द्वारा किया हुआ नहीं है। एक अन्य आक्षेप यह भी किया है कि ईश्वर संकेत को शक्ति मानने पर जो कि ईश्वर को मानते ही नहीं हैं, उनको शब्द से अर्थ का ज्ञान ही नहीं होगा। अतएव गदाधर अपना निर्णय देते हैं कि शाब्दबोध की उपयोगिता में ईश्वर को कारण रूप से रक्षना ही नहीं चाहिए। ऐसा मानने से आधुनिक संकेतों का ज्ञान से भी शाब्दबोध होगा। और आधुनिक संकेतों में शक्ति की भी सिद्धि हो जायगी। शक्तिवाद, पृ० ६ से १३।

शान्दभाष में अमेद और मेद संसर्ग—गदाधर ने व्युत्पत्तिवाद में कहा है कि शाब्दबोध में एक पद के अर्थ में अन्य पद के अर्थ का संसर्ग संसर्ग की मर्यादा से प्रतीत होता है, वह संसर्ग कहीं तो अमेद रूप है और कहीं मेद रूप है, जैसे आभार आशेष, प्रतिबोधी अनुबोधी, विपय विपयी भाव आदि संसर्ग। अमेद का अर्थ है तादात्म्य। अमेद को ब्रह्मद्वारा समझया है कि जैसे "नीलेपोष" (नीला पत्र), "नीलमयमानस" (नीले पीपे का लाल), में पत्रे आदि में नीले आदि का संसर्ग अमेद रूप है, नीलेपन और पत्रे को प्रयुक्त नहीं समझा जाता है, अतएव कहते हैं कि अमेद संसर्ग शब्द के अर्थ में समान विभक्ति वाले अपने से अन्वयबहिःपूर्ववर्ती पद के द्वारा उपस्थापित संसर्ग की मर्यादा से प्रतीत होता है। मेद सम्बन्ध जैसे "भूतसे मत" (पृष्ठी पर पत्र), में पृष्ठी आभार है और पत्र आशेष है। "मोक्षे इच्छास्ति" (मोक्ष विषयक इच्छा है), में मोक्ष विषय है इच्छा विषयी है। "पटो नास्ति भूतसे" (पृष्ठी पर पत्र नहीं है), में पटमात्र प्रतिबोधी है और भूतस अनुबोधी। व्युत्पत्तिवाद पृ० १ से २२ तथा ८०।

नैयायिकों के मत का स्वयंजन—नागेश ने मञ्जूषा (पृ० १६) में शक्ति के विषय में नैयायिकों के मत का प्रतिपादन किया है कि ईश्वरेच्छा शक्ति है। यद्यपि उसका विषयरूप सम्बन्ध पद, अर्थ, अन्वयजनकमात्र और बोध से है, तथापि बोध में जा अन्वयता है, उसका जनक होत से एक ओर विषय वाचक है दूसरी ओर बोध का विषय होने से विषय वाच्य है। यद्यपि सर्वप्रथम शक्ति का प्रत्यक्ष वाच्य में होता है, तथापि शास्त्रीय आचार्य और प्रदूषाप के द्वारा विभिन्न पदों में शक्ति का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार से नैयायिक शब्द और अर्थ में

कोई सम्बन्ध न मानकर केवल ईश्वरेच्छा या शक्ति से काम पचाते हैं, अथवा राष्ट्रजन्य अर्थ बोध विषयक ईश्वर ज्ञान शक्ति है ऐसा मानते हैं।

नागेश ने ब्रह्म नैयायिकों के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि वास्तविक व्यवसाय और प्रयोजक वृद्ध के व्यवहार को देखता है तब प्रयोग्य वृद्ध की काम में प्रवृत्ति को देखकर यह अनुमान करता है कि प्रयोग्य वृद्ध को राष्ट्र के अर्थ का ज्ञान हुआ है। ज्ञान बर्हों पर उपस्थित है, अतः यह राष्ट्र को उस ज्ञान का फल समझता है, साथ ही यह भी समझता है कि जिनमें सम्बन्ध नहीं होता है, उनमें कार्य और फल का सम्बन्ध नहीं रहता है। यहाँ कार्य कारण भाव को देखकर यह राष्ट्र और अर्थ में सम्बन्ध का अनुमान करता है, वह सम्बन्ध स्वयं उत्पन्न नहीं होता है। जनक में रहने वाले उस सम्बन्ध को ग्रहण नहीं किया जा सकता है अतः यह कहना कि पद और पदार्थ में बोधजनकता सम्बन्ध है, यह उचित नहीं है। ईश्वरेच्छा और ज्ञान दोनों में किसी एक में ही शक्ति मानने के पक्ष में कोई विशेष युक्ति नहीं है और दोनों में ही शक्ति की कल्पना करने में गौरव होगा। साथ ही यदि "इवमस्माद् भवतु (इस राष्ट्र का यह अर्थ होवे), इस इच्छा के विषय को ही अर्थ का जनक मानेंगे तो बहुत अभ्यवस्था हो जायगी। साथ ही प्रमाणाँ का प्रमेय के साथ जो सम्बन्ध है, वह उत्पन्नकामाव न होकर अन्य ही सम्बन्ध है, इसी पृथक् सम्बन्ध के द्वारा प्रमाय ज्ञान के जनक वेले जाते हैं, अतएव ईश्वरेच्छा और बोध (ज्ञान) दोनों को सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है। यदि इनको सम्बन्ध माना जायगा तो "धूमाद् बद्धिज्ञानं जायताम्" (धूँ से भाग का ज्ञान हो) भाषि में इच्छा का विषय होना ही हेतु और साध्य का सम्बन्ध होगा। ऐसा करने से नैयायिकों के मतानुसार अनुमान के लिए व्याप्ति का ज्ञान जो कि अनिवार्य माना गया है, उसका नाश ही हो जाएगा। क्योंकि व्याप्ति के जानने के स्थान पर अब ईश्वरेच्छा का जानना ही आवश्यक होगा।

एक आपत्ति यह भी है कि इच्छा या जनकता को शक्ति मानने पर यह राष्ट्र और अब दोनों में नहीं रह सकता। इच्छा का विषय ज्ञान है। उसकी विषयता का इच्छा की अभ्यवस्था नियामक नहीं हो सकती है। इसका भाव यह है कि न पद और न पदार्थ इच्छा का विषय है, अपितु ज्ञान ही इच्छा का विषय है। जो बोध का विषय है (अर्थात् पदार्थ) वही इच्छा का अभ्यवस्था है, यह नैयायिकों के कथन का भाव निकलता है, यह सम्भव नहीं है। यह राष्ट्र या यह अर्थ इच्छायुक्त है ऐसी प्रतीति कभी नहीं होती है। यदि नैयायिकों के कथनानुसार जनकता अर्थात् अर्थ को उत्पन्न करने की शक्ति को शक्ति मान लें तो ज्ञान के उत्पन्न करने की शक्ति पद और अर्थ में होने पर भी उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध सम्बन्ध की उससे पृथक् सत्ता मानें बिना, सिद्ध नहीं हो सकता है। किसी भी ज्ञान में यह आवश्यक है कि पद और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध हो। तभी पद से

पदार्थ का ज्ञान होता है। नैयायिकों के मत में यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि पद और पदार्थ में सम्बन्ध कैसे हो गया। मञ्जूषा०, पृ० २१ से २२।

नैयाकरणाँ का मत

पद और पदार्थ दोनों में शक्ति है, सम्बन्ध की पूरक सत्ता है—पद और पदार्थ दोनों में शक्ति है इसका तिरूपण करते हुए नगोरा ने मत्हरि आदि प्राचीन व्याचार्यों के मत को बरत करके कहा है कि सम्बन्ध पद और पदार्थ (शब्द और अर्थ) दोनों में रहता है, परन्तु इसकी सत्ता पूरक है। यह दोनों से पूरक है। यह विशिष्ट बुद्धि का नियामक है अर्थात् सम्बन्ध यह शक्ति है, जो कि शब्द और अर्थ से पूरक रहत हुए, दोनों में निवम को स्थापित किये हुए है। इसका ही परिणाम है कि शब्द किसी विशेष अर्थ का ही बोध कराता है।

“सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां मित्र उभयाभिरा” इति, “विश्वः सम्बन्धः” इति च, “विशिष्टबुद्धिनियामकः” इति चामियुक्तव्यवहारतः। मञ्जूषा, पृ० २२।

शक्ति का लक्षण—नागोरा अवयव कहते हैं कि पद और पदार्थ में जो विशेष सम्बन्ध है, वही जो शक्ति कहते हैं। इसी का दूसरा नाम वाच्य-वाचक भाव है। इस शक्ति का ज्ञान पद और पदार्थ में वाहात्म्य के द्वारा होता है। अर्थात् शब्द और अर्थ में अभिन्नता को जानना। संकेत ही शक्ति का ज्ञान कराता है। पद में जो शक्ति है, उसका बोध संकेत कराता है, अतएव व्यावहारिक दृष्टिकोण से संकेत को भी शक्ति कहते हैं। संकेत वस्तुतः सम्बन्ध (शक्ति) नहीं हो सकता है। यह शब्द और अर्थ में न भिन्न रूप से रह सकता है और न अभिन्न रूप से। मञ्जूषा, पृष्ठ २६।

चार प्रकार का शब्दार्थ पतञ्जलि ने इस विषय पर गम्भीरता से विचार किया है कि शब्द के द्वारा जो संकेत किया जाता है, वह किन अर्थों का बोध कराता है। पतञ्जलि का कथन है कि शब्द की अर्थ में जो प्रवृत्ति होती है वह चार प्रकार की होती है। १, जातिवाचकशब्द २, गुणवाचकशब्द, ३, कर्मावाचकशब्द, ४ वदन्त्यागण्य अर्थात् येष्विक शब्द।

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः, जातिशब्दा मुखशब्दा क्रियाशब्दा वदन्त्या-शब्दान्चतुर्था। महा० भा० २ 'प्रसूक् स' ॥

नागोरा ने पतञ्जलि के भाव को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि शब्दों की अर्थ में जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रवृत्तिनिमित्त (प्रवृत्ति का कारण) के भेद से चार प्रकार की है। कैपट और नागोरा ने वदन्त्या शब्द की व्याख्या की है कि वदन्त्या शब्द वसे कहते हैं, जिसको वचन अपनी ही इच्छा से किसी अर्थ में प्रयुक्त करा

है। इसमें अर्थ के प्रवृत्तिनिमित्त पर ध्यान न देकर केवल प्रयोजन के अभिप्राय पर ही मुख्यता रहती है। इस प्रकार के शब्दों को ऐच्छिक शब्द समझना चाहिए। जैसे एक व्यक्ति ने एक वस्तु का नाम द्वित्य या त्रित्य रखा दिया, एक ने उसका नाम हरि या हर रखा दिया, ये शब्द व्यक्ति विरोध के बोधक हैं, इनमें व्यक्ति के अतिरिक्त और कोई प्रवृत्ति का कारण नहीं है, अतः इनमें अनन्तता और अव्यवस्था नहीं होती। कैयट और नागेश।

यहच्छाशब्द और व्यक्ति का महत्व—नागेश ने यहच्छा शब्द की व्याख्या में माया विज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण बिषय पर ध्यान आकृष्ट किया है। नागेश के शब्द निम्न हैं —

स चानेकविषय — एक व्यक्ति सन्निवेशितो द्वित्वादिरेकः, तत्र न किञ्चित्तिरिक्त प्रवृत्तिनिमित्तमात्मस्वयमिच्छारयोर्भावात्। अनेकत्वमते तत्तद्व्यस्त्युपलक्षिते सा। द्विगुमादीनां तु तत्तच्छब्दानामानन्त्यात् तत्त्वदमेव प्रवृत्तिनिमित्तम्।

अथोक्त, महा० आ २ 'अष्टक सूत्र' ॥

यहच्छाशब्द अनेक प्रकार का है। एक व्यक्ति के द्वारा रक्षते गप नाम द्वित्य आदि एक वस्तु है। व्यक्ति के अतिरिक्त व्यक्तिवापी शब्दों का और कोई प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है। अनेकत्ववादी अर्थात् आविवादी के मत में वह शब्द व्यक्ति के सिद्ध संकेत न रहकर व्यक्ति के द्वारा संकेतित जाति का बोध कराते हैं। शब्द के द्वारा बोध्य व्यक्ति अनन्त है, अतः वह शब्द जाति का बोधक है, जैसे टि पु म आदि संज्ञार्थ।

नागेश ने जिस बात पर ध्यान दिया है, वह यह है कि ऐच्छिक शब्द के जो स्वरूप हो सकते हैं, एक व्यक्ति विरोध और दूसरा जाति। व्यक्तिवाचक नाम को रखने वाले व्यक्ति विरोध ही होता है। जाति वाचक नाम को रखने वाले भी ऐच्छिक रूप से रखता है, जैसे प्रत्येक व्यक्ति के नाम प्रत्येक व्यक्ति स्वयं आविवाचक शब्दों के नाम भी व्यक्ति विरोध ही रखते हैं, जैसे टि पु म आदि संज्ञाओं के नाम पश्चिनि ने रखे हैं। संसार में ही ही प्रकार के शब्द हैं और अव्यक्त वाची या व्यक्तिवाची। सूक्ष्म दृष्टि से सब शब्द जाति के वाचक हैं और अव्यक्त शब्द दृष्टि से व्यक्ति अर्थात् सूक्ष्म दृश्य पदार्थों के वाचक हैं। दोनों प्रकार के शब्दों को नाम देनेवाले सूक्ष्म बुद्धि वाले या सूक्ष्म बुद्धिवाले व्यक्ति विरोध ही होते हैं। नागेश ने 'एकव्यक्तिसन्निवेशित' शब्द के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि नाम रखने वाले व्यक्ति विरोध ही होते हैं, समुदाय नहीं।

शब्ददृष्टि का कर्त्ता व्यक्ति पाश्चात्य विद्वान् इर्मन्तपाइलने प्रिन्सिपलस भाव् लैन्गेज', मूमिका (पृ ४३) भाषाविज्ञान के इस धर्म्य पर बहुत ध्यान दे

खिला है कि एक अत्यन्त महत्त्व का विषय है निम्न है। भाषा विषयक प्रत्येक उत्पत्ति (अर्थात् शब्दों का जन्म) केवल एक व्यक्ति का ही कार्य होता है। इसमें सम्बेह नहीं है कि विभिन्न व्यक्ति एक ही जैसी उत्पत्ति कर सकते हैं। (अर्थात् ओकों व्यक्ति एक ही पदार्थ के विभिन्न अवस्था आदि में एक ही नाम सोच कर रख सकते हैं), किन्तु इससे न तो व्यक्तियों के निर्माण और न निर्मित वस्तु (शब्द) पर ही कोई प्रभाव पड़ता है। ऐसा कभी नहीं होता है कि अनकों व्यक्ति अपने सम्मिलित प्रयत्न से कोई वस्तु (शब्द या नाम) उत्पन्न करते हैं। भाषा शास्त्र में अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र से बहूँ मुख्य विशेषता है। अर्थशास्त्र और राजनीति में कितने ही कार्य सामूहिक प्रयत्न से किए जाते हैं।

यद्यपि शब्दों का स्पष्टन कात्यायन और पतञ्जलि ने भाषाशास्त्र के मूल पर गम्भीर विचार करके यद्यपि शब्दों का तात्त्विक दृष्टि से स्पष्टन कर दिया है। पतञ्जलि ने यद्यपि शब्दों के अस्तित्व को अस्वीकृत करते हुए कहा है कि शब्दों के प्रकृति निमित्त धीन ही होते हैं। जाति गुण और क्रिया। अतः शब्द धीन ही-प्रकार का है, जातिवाचक, गुणवाचक और क्रियावाचक। यद्यपि शब्द ही नहीं।

अथ च शब्दानां प्रकृतिः, जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा इति । न सन्ति यद्यच्छाशब्दाः । महाभाष्य आ० २ । 'अलक्ष्णम् ।

कैट ने पतञ्जलि के भाव को स्पष्ट करते हुए खिला है कि भाव भी जब कोई नाम रक्खा जाता है, तब प्रशस्त क्रिया या गुण का उसमें आरोप किया जाता है। यहाँ पर यह जान लेना चाहिए कि यद्यपि शब्दों का अर्थ है द्रव्यवाची शब्द। कात्यायन और पतञ्जलि ने जातिवाद का भागव लेकर द्रव्यवाचक शब्दों के अस्तित्व को ही नहीं माना है, क्योंकि तात्त्विक दृष्टि से स्पष्ट द्रव्यमय जगत् वास्तविक नहीं है अपितु विनाशी या मायाशक्तितरूप है। नागेश ने कैट के भाव की व्याख्या करते हुए खिला है कि कात्यायन और पतञ्जलि का यहाँ भाव यह है कि सारे ही शब्द व्युत्पत्ति वाले हैं अर्थात् यौगिक हैं। प्रत्येक शब्द में क्रिया और गुण को ही भरा रहता है। वे वा तो क्रिया का बोध कराते हैं वा गुण का। नागेश की व्याख्या से स्पष्ट होया है कि कात्यायन और पतञ्जलि दोनों यौगिक शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते हैं।

पतञ्जलि का अत्यन्त तात्त्विक और महत्त्वपूर्ण निर्णय

पतञ्जलि के इस निर्णय का स्पष्ट भाव यह है कि द्रव्यवाची कोई शब्द नहीं है। द्रव्य का भाव यहाँ पर स्पष्ट द्रव्य जगत् है। तात्त्विक दृष्टिकोण से संसार का कोई पदार्थ नित्य या वाच्य नहीं है, जो कुछ कहा जाता है वह उसके अन्दर विद्यमान नित्य क्रिया या गुण को लक्ष्य में रखकर कहा जाता है। जिस प्रकार जाति के अतिरिक्त व्यक्ति की कोई सधा नहीं है, इसी प्रकार यहाँ पतञ्जलि

बदलना शब्दों के लयबद्धन से वह स्पष्ट करना चाहते हैं कि संसार का जितना जो कुछ भी भाषाशास्त्र वा शब्दशास्त्र है वह सब कुछ नहीं है, केवल बदलना शब्द है। संसार में क्रिया और गुण दो को ही हम नाम दे सकते हैं। वह दोनों अद्वय और नित्य हैं। इन अद्वय और नित्य वस्तुओं को नाम देने के लिए संसार की सारी विभिन्न भाषाएँ, सारे विभिन्न भाषाओं के शब्द हैं। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो न तो क्रिया को किसी शब्द के द्वारा कहा सकते हैं और न गुण का किसी शब्द के द्वारा बोध कराया जा सकता है। क्रिया के विषय में पतञ्जलि का द्रव्यम् है कि क्रिया अत्यन्त अद्वय है, उसको मूर्त रूप में नहीं दिखा सकते। जिस प्रकार 'भूबाहयो घातक' (अष्टा० १, १, १) की व्याख्या में पतञ्जलि ने क्रिया की दारानिक व्याख्या की है। उसी प्रकार 'तस्य भावस्त्वानी' (अष्टा० ५, १, ११६) की व्याख्या में पतञ्जलि द्रव्य और गुण की व्याख्या में अत्यन्त गम्भीर दारानिक विवेचन में चले गए हैं। द्रव्य की भौतिक व्याख्या, आचार्य व्याधि के द्रव्य के विवरण में सप्तम अध्याय में की गई है कि द्रव्य मूल रूप में परब्रह्म है, वह अनिर्बचनीय अव्यवहार्य और सर्वत्र स्थानुभूतिगम्य है। गुण की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये गुण हैं इनसे जो वृषद् है, उसे द्रव्य कहते हैं।

कि पुनर्द्रव्यं के गुणाः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा गुणास्ततोऽप्यद् द्रव्यम् ।

महा० ५, १, ११६ ।

इन पाँच गुणों में से किसी का स्वरूप मूर्त रूप में "बह है", नहीं दिखाया जा सकता है। जो कुछ बोलना है या दिखाया जाता है, वह द्रव्य के सम्बन्ध से अद्वितीय स्वरूप है, जो कि दृश्यमगुर है, सद्यथा अनित्य है। एक बदाहरण से बाध स्पष्ट हो जाती है, पतञ्जलि ने 'अग्नेन व्यंजनम्' (महा० २, १, ३४) की व्याख्या में तथा नागेश ने मंजूषा में (पृ १०) 'गुहो मगुर' (गुह मीठा है) बदाहरण दिया है, गुह का मीठापन क्या है किता है इसको संसार का कोई शब्द स्पष्ट नहीं कर सकता। या तो अनुमात्रगम्य है या स्थानुमध गम्य है। साहित्यिकों के शब्दों में युवती की रूपमासुरी क्या है, वह शब्दों द्वारा अनिर्वाच्य है। रूप और रस के कुछ दो बदाहरणों से स्पष्ट है कि गुण भी क्रिया और द्रव्य के तुल्य अनिर्बचनीय है। अतः पतञ्जलि का भाव स्पष्ट हो जाता है कि संसार की जितनी भी भाषाएँ और जितने भी शब्द हैं, वे तात्त्विक दृष्टि से बदलना शब्द हैं। गुण और क्रियाओं का बोध करने के लिए जिसको जो शब्द प्रथिमा में आया, उसने उसको रक्ष किया, जैसे घर में अत्यन्त हुए वास्तक का जो नाम चाहते हैं रक्ष लेते हैं। जिस प्रकार वास्तकों के वैश्विक नाम हैं, उनमें वास्तकिकता नहीं है, ठीक उसी प्रकार गुण और क्रियाओं के लिए जो शब्द प्रत्येक भाषा में रखे गए हैं, वह सभी वैश्विक हैं। अतएव भाषा भेद और शब्दभेद की सृष्टि होती है। पारमार्थिक दृष्टि से न कोई शौकिक भाषा सत्य है नार न कोई शब्द

सत्य है। सब अनित्य और सप्यमंगुर है। व्यावहारिक उपयोगिता के लिए साथ माया शास्त्र और राज्य शास्त्र है, यदि गुण और क्रिया को किसी भाव शब्द के द्वारा ठीक-ठीक बताया जा सकता है तो न सत्ता में मायामेव हो सकता है और न शब्दभेद। सत्ता भर में एक ही भाषा होती, एक ही शब्द होते, और वह भी नित्य, अमर, अमर और अमर। पतञ्जलि अष्टाहरी आदि ने पार-भार जिस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है वह यह है कि शब्दवत्त्व या शब्दवत्त्व (स्कोट) नित्य है, वही वाच्य और वही वाचक है, वह अनिर्वचनीय है, लौकिक भाषाशास्त्र सारा का सारा ही ध्वनि है, अर्थमंगुर है। सबमा अपूर्व है, इसमें ही सारे विकार आदि होते हैं। (देखो महामाध्य ४, १, २ 'त्रियाम् सूत्र तथा वाच्य पथीय का० ३ पृष्ठ ३१)।

तीन प्रकार के शब्दों को चार प्रकार का क्यों लिखा—यहां एक बात बहुत स्पष्ट रीति से समझ लेनी चाहिये। इसको निम्न रूप में रखा जा सकता है कि यदि बस्तुव शब्द तीन प्रकार के ही हैं, यद्यपि शब्द ही ही नहीं, तो एक बार चार लिखने की आवश्यकता ही क्या थी। पहले लिखा जा चुका है कि पाणिनि ने जाति और व्यक्ति या आकृति और द्रव्य दोनों को माना है, यह क्यों? वह इस लिए, कि हम मूलवत्त्व द्रव्य अर्थात् परब्रह्म और मूलरूप जाति अर्थात् महासत्ता, जिससे सत्ता की सृष्टि हुई है, वह सूक्ष्मतम वत्त्व, वह दोनों ही अन्वयकारी है, अनिर्वचनीय हैं। इनका ठीक-ठीक जानने के लिए जब तक स्पूल रूप द्रव्य का अन्वय नहीं होगा तब तक इस परमार्थ वत्त्व को समझ ही कैसे सकते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से स्पूल द्रव्य की सत्ता मानना और स्वीकार करना करना ही आवश्यक है जितना कि वास्तविक दृष्टि से सूक्ष्म द्रव्य परब्रह्म की सत्ता को मानना। पाणिनि और पतञ्जलि ने इसीलिए स्पूल दृष्टि से शेष और द्रव्य व्यावहारिक द्रव्य (सत्ता) की पारमार्थिक दृष्टि से शेष सूक्ष्मतम द्रव्य (परब्रह्म) और जाति (महासत्ता) के साथ स्वीकार किया है। स्पूल भौतिक द्रव्यों के बोध कराने के लिए यद्यपि शब्दों के अतिरिक्त मानव जाति के पास ही ही क्या! व्यावहारिक दृष्टिकोण से भाषाशास्त्र का सर्वस्व यद्यपि यद्यपि शब्द हैं। इन्हीं के द्वारा सूक्ष्म वत्त्व की ओर संकेत करते हैं। पतञ्जलि ने इस प्रकार विषय को सर्वत्र दो रूप से रसकर यह स्पष्ट किया है कि व्यावहारिक दृष्टिकोण से प्रथम मन्वय है और अन्वय में अन्वय व्यवहन करके इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि पारमार्थिक और वास्तविक दृष्टि से अन्वय मन्वय सत्य है। वास्तविक को भाषाशास्त्र के ज्ञान कराने के लिए वर्णमाला और अक्षरों को सत्य बताया ही प्रारम्भ करना पड़ता है, इसकी बुद्धि परिपक्व होने पर उसे वर्णमाला और अक्षरों की असत्यता ज्ञात हो जाती है, पाणिनि ने जाति और व्यक्ति दोनों को व्यावहारिक दृष्टि से मानकर फिरने ही सूत्र बनाए हैं। पतञ्जलि ने महामाध्य में अपने विवेचन में स्पूल द्रव्य और स्पूल व्यक्ति को मानकर पाणिनि ने जितने

नियम बनाए हैं, उन सब का प्रत्याख्यान करना बताया है। इसका भाव यह कदापि नहीं है कि पाणिनि ने अज्ञान से ये नियम बनाए हैं या पतञ्जलि ने पाणिनि की त्रुटि निकाली है। इसका केवल एकमात्र भाव यह है कि पाणिनि ने जहाँ-जहाँ व्यावहारिक दृष्टिकोण से बात लिखी है, पतञ्जलि ने जहाँ-जहाँ पारमार्थिक दृष्टिकोण से बात स्पष्ट की है, जिससे जिज्ञासु को वास्तविक वक्तव्य या दूसरे शब्दों में वास्तविक अर्थार्थ का ज्ञान हो सके। यही नहीं स्वयं पाणिनि ने "तद्विरिष्यं सहायमायत्वात्" (अष्टा १, २, २१ से २६) आदि चार सूत्रों में अपना मन्तव्य स्पष्ट किया है कि व्याकरण के नियम केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से बनाए गए हैं। उनका वास्तविक दृष्टि से कोई अस्तित्व नहीं है। स्वामाविक नियमों को बताने के लिए व्याकरण है। व्याकरण में स्वयं कोई शक्ति नहीं है कि किसी नियम को बढ़ा सके या घटा सके, या उनमें परिवर्तन कर सके या उनको अस्वामाविक रूप से नियमित कर सके।

शक्ति के तीन भेद

रुद्धिशक्ति - नागेश ने व्यावहारिक दृष्टिकोण को सम्मुख रखते हुए अमिथा शक्ति के तीन भेद बताए हैं, १—रुद्धि, २—यौगिक, योगशक्ति, ३—योगरुद्धि।

शक्तिमिथा, रुद्धियोगो योगरुद्धिश्च । मज्जुपा०, पृ० १६ ।

नागेश ने रुद्धि का अर्थ किया है कि जहाँ पर शास्त्रकारों के कल्पित अवयवों (प्रकृति प्रत्यय) के अर्थ की प्रतीति नहीं होती है और जिसके कारण प्रकृति प्रत्यय के समुदायमात्र में बाध्या रहा है, उस शक्ति को रुद्धि कहते हैं। जैसे मयि, नूपुर आदि शब्दों में घाट और प्रत्यय का अर्थ प्रकृति निमित्त नहीं है। पतञ्जलि ने 'आर्हाद्' (अष्टा ५, १, १६) तथा 'आह्वय सुमग' (अष्टा ३, २, २६) में रुद्धि शक्ति पर विचार किया है। क्वट ने पतञ्जलि के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रुद्धि शब्दों में केवल व्युत्पत्ति के लिए क्रिया का आशय लिया जाता है, जैसे गो शब्द का निवचन किया जाता है "गच्छतीति गौ" (गमन के कारण गौ)। गो शब्द गाय के लिए रुद्ध हो आने के कारण गमनक्रिया से रहित होने पर भी गाय को गाय कहते हैं, और गाय के अतिरिक्त अन्य को गमनक्रिया से मुक्त देखने पर भी गाय नहीं कहते हैं और न वह गाय शब्द का वाच्य होता है। प्रदीप, महा० ३, २ २६ ।

मण्डहरि ने रुद्धि शब्दों के विषय में कई स्थलों पर विस्तार से विचार किया है। मण्डहरि और डेलाराज का कथन है कि रुद्धि शब्दों में अवयवाय का ज्ञान नहीं होता है, यद्यपि प्रकृति निमित्त अन्तरंग किया वहाँ रहती है, परन्तु उसका अनावर करके रुद्धि शब्द पञ्चाक्षर इत्य के तुल्य हो जाते हैं। व्युत्पत्ति के सिद्धे क्रिया का आशय लिया जाता है परन्तु उसका अर्थ में उपयोग नहीं होता है।

(वाक्य० ३ पृ ६१)। एक यह प्रश्न पठाया गया है कि यदि प्रकृति और मत्स्य का विभाग वास्तविक नहीं है तो रुद्धि और यौगिक का विभाग कैसे किया जा सकता है। इसका उत्तर मण्डरि ने दिया है कि वृत्ति और वाक्य में जो सादर्य देखा जाता है, वह शास्त्रकारों द्वारा कल्पित है। वाक्य में अर्थात् विग्रह अवस्था में और वृत्ति (समास) अवस्था में अन्य अर्थों की स्वीकृति होने से कितने शब्दों को रुद्धि शब्द स्वीकार किया जाता है। जैसे भरवर्ष्य शब्द घड़े के ज्ञान का वाचक न रहकर समास होने पर वृद्ध विशेष का वाचक है। (वाक्य २, ३७)। (द्वितीय वाक्य १ १२६, १ १३६, २, १२७ से १२८, २, १७६)।

यौगिक या योगशक्ति—यौगिक का अर्थ नागेश ने किया है कि शास्त्रकारों के द्वारा कल्पित प्रकृति और मत्स्य के ही अर्थ का जहाँ पर बोध होता रहा है, उसे यौगिक कहते हैं जैसे पाषक (पकाने वाला)। मंजूषा पृ० १०७। नागेश ने इसी सम्बन्ध में यौगिकरूप शब्दों का भी उदाहरण दिया है। जैसे “भरवर्ष्या” शब्द अथवा विशेष का अर्थ बताया है, तब यह स्पष्ट है। और जब भरवर्ष के सम्बन्ध के कारण भरवर्षाणा का बोध कराया है, तब यह यौगिक है। ऐसे शब्दों को यौगिक रूप कहते हैं। नागेश ने इस विषय में एक विशेष नियम का बतलाया है कि “रुद्धियोगापहारिणी” (रुद्धि यौगिक से बलवान् होती है) जहाँ पर यौगिक और स्पष्ट दोनों अर्थ सम्भव होंगे, वहाँ पर साधारणतया स्पष्ट अर्थ ही लिया जायगा। मण्डप-शब्द के दो अर्थ हैं, १—मण्डप जैसे विवाहमण्डप, लतामण्डप, २ मण्डप अर्थात् मांड को पीने वाला। इन दोनों अर्थों में मण्डप अर्थ स्पष्ट अर्थ है मांड का पीने वाला अर्थ यौगिक है। जब प्रकरण आदि के आभार पर मण्डप-शब्द का अर्थ स्पष्ट अर्थ मण्डप न लेकर मांड का पीने वाला लिया जायगा, तब मुख्यार्थ के त्याग के कारण यौगिक अर्थ का ज्ञान सपत्त्या से ही होगा। मंजूषा, पृ १०७।

योगरुद्धि—नागेश ने योगरुद्धि की व्याख्या की है कि जहाँ पर शास्त्रकारों के कल्पित अर्थवाच्य अर्थात् प्रकृति मत्स्य के अर्थ का भी बोध है, परन्तु विशेष रूप से समुदाय की बोधकता होती है वह योगरुद्धि कहावी है। योगरुद्धि से यौगिक अर्थ होने पर ही स्पष्ट अर्थ मुख्य होकर रहता है, जैसे पकड़ शब्द यौगिक अर्थ पक के उत्पन्न होने वाला बताया हुआ भी कमल के लिए स्पष्ट है। कहीं पर वात्स्य या मकरय आदि के कारण केवल यौगिक या केवल स्पष्ट अर्थ का भी बोध कराया है, जैसे “भूमौ पकड़मुत्पन्नम्” (पृथ्वी पर पकड़ सिद्ध है), जहाँ यौगिक अर्थ को रोक कर केवल स्पष्ट अर्थ लिया जायगा। तथा “कट्टारकेव मुलेप्यपि पकणेपु” (कट्टारकेव आदि पकड़ों में) जहाँ पर पकड़ शब्द केवल यौगिक अर्थ पक से उत्पन्न का बोध कराया है। मंजूषा, पृ० १०७।

नैयायिकों का विवेचन

जगदीश ने शब्दराशि प्रकाशिका में नैयायिकों के मत का सुन्दर प्रतिपादन किया है। जगदीश के विवेचन का सारांश निम्न है :—

साक्षात् शब्दों से शाब्दबोध—(गाय है) (गाय को साधो) आदि आकांक्षायुक्त शब्दों से अस्तित्व आदि अर्थ से युक्त अर्थ का ज्ञान होता है। शाब्दबोध सर्वथा विलक्षण ज्ञान होता है। शाब्दबोध अतएव न प्रत्यक्ष प्रमाण है और न अनुमान प्रमाण, अपितु शब्दप्रमाण होने से पर्याप्त रसता है। शब्द० श्लोक ३।

सार्यक शब्द तीन प्रकार का—जगदीश ने इस बात को स्पष्ट किया है कि शाब्दबोध के लिए जो यह कहा गया है कि वह आकांक्षायुक्त शब्दों के द्वारा प्रतिपादन किया जाना चाहिये, उसमें भी यह आवश्यक है कि साक्षात् शब्द सार्यक हों, निरर्थक न हों। सार्यक शब्द किसे कहते हैं और किन्त प्रकार का है इसका उत्तर देते हैं कि सार्यक शब्द उसे कहते हैं जो शब्दान्तर की अपेक्षा करके अर्थात् दूसरे शब्दों के साहचर्य से अपने अर्थ का बोध कराता है। प्रकृति प्रत्यक्ष और निपात। शब्द० श्लोक ६।

वाक्य से ही अर्थज्ञान—सार्यक शब्द जब वाक्य की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं और अपने अर्थ की अपस्थिति करते हैं तभी शाब्दबोध होता है। शब्दमात्र के बोध से शाब्दबोध नहीं होता है, अर्थात् शब्द जब तक वाक्यरूप में नहीं होगा और साक्षात् नहीं होगा, तब तक शाब्दबोध नहीं होगा। अतएव प्रत्येक स्वतन्त्र शब्द से या आकांक्षारहित शब्दों से अर्थज्ञान नहीं होता है। शब्द० श्लोक १२।

प्रकृति के दो भेद—प्रकृति का विरलेपण करते हुए जगदीश कहते हैं कि प्रकृति का निर्वचन अर्थात् विरलेपण किया गया है, सांख्य दर्शन के मुख्य यह संसार का उपादान कारणरूप भी नहीं है। वह दो प्रकार की है, एक नाम और दूसरी भाव। पश्चिनि आदि ने जिस प्रकृति के लिए प्रातिपदिक शब्द का प्रयोग किया है, वह नाम से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। शब्द० श्लोक १४।

नाम का संज्ञान—नाम (शब्द) इन शब्दों को कहते हैं, जिनका कि अपने अर्थ के मुख्य रूप से प्रतिपादन के लिए अपने वाच में प्रथमा विभक्ति की आवश्यकता पड़ती है। जैसे यह आदि शब्द प्रथमान्त होने पर निश्चित रूप से अपने मुख्य अर्थ का बोध कराते हैं। शब्द० श्लोक १५।

शब्द चार प्रकार का है—शब्द अर्थात् नाम चार प्रकार का है। १—स्व

शब्द किसी अर्थविशेष में रुद्ध हो जाता है जैसे गो शब्द गमन क्रियायुक्त अर्थ होने पर भी यह गाय के लिए रुद्ध हो गया है। २-लक्षक-कुछ शब्द लक्ष्यार्थ का ही बोध कराते हैं, जैसे "गंगायां घोष" (गंगा में घोषकी), कहने पर यमा शब्द लक्ष्यार्थ कीर का बोध कराता है और इसका अर्थ होता है "गंगा के तट पर घोषकी।" ३-योगस्य कुछ शब्द यौगिक होते हुए भी किसी अर्थ में रुद्ध हो जाते हैं, जैसे पंकज शब्द यौगिक अर्थ पंक (कीपड़) से उत्पन्न होने पर भी कमल के लिए रुद्ध हो गया है। ४-यौगिक, कुछ शब्द अपने यौगिक अर्थ का ही बोध कराते हैं, जैसे पाषक शब्द पकाने वाले का बोधक है। कुछ व्यक्ति चार के अतिरिक्त पाँचवा प्रश्नर भी मानते हैं। ५-रुद्ध यौगिक, कुछ शब्द ऐसे हैं जो कभी तो अपने अवयवों के अर्थ के आधार पर यौगिक अर्थ का बोध कराते हैं और कभी समुदाय शक्ति के कारण रुद्ध अर्थ का ही बोध कराते हैं। जैसे मरुद्वप शब्द रुद्ध अर्थ मरुद्वप और यौगिक अर्थ माँह पीने वाले का। महारजतराज्य का रुद्ध अर्थ सुवर्ण है और यौगिक अर्थ बड़ी चाँदी है। शब्द० श्लोक १६।

रुद्ध शब्द तीन प्रकार का है—रुद्ध का लक्षण जगदीश ने किया है कि जो नाम जिस अर्थ में संकेतित ही हो, यौगिक नहीं उसे रुद्ध कहते हैं। रुद्ध शब्दों तीन प्रकार की हैं, १, नैमित्तिकी, २, पारिभाषिकी, ३, औपचारिकी।

जगदीश ने इस विषय में मम्म के जो चार विभाग आविराज्य, गुण्यराज्य, क्रियाराज्य और द्रव्यराज्य पदव्यक्ति के अनुसार आचार्य बल्ही ने किया है उसका बल्लेख करके उससे मरुद्वप प्रकट किया है। जगदीश का कथन है कि द्रव्यवाची शब्द को ही नाम मानने पर जब मूक, मूर्ख, शून्य आदि शब्द या चेत्यारहित, बाष्पीरहित, विद्यारहित आदि अभावात्मक ज्ञान के बोधक हैं, उनका महण नहीं होगा, अतः उपर्युक्त तीन विभाग किए गए हैं। यहाँ पर यह जान लेना उचित है कि प्रियाकरण और साहित्यिक आदि अभाव को कोई पदार्थ नहीं मानते हैं। अभाव भाव रूप नित्य सत्ता का वर्तमान काल में अमल्य है। इसके अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है, अतएव पदव्यक्ति ने मरुद्वप शब्दों में और आचार्य बल्ही ने द्रव्य शब्दों में इन शब्दों का भी महण किया है। शब्द० श्लोक १८।

नैमित्तिक संज्ञा—जगदीश ने नैमित्तिक संज्ञा का लक्षण किया है कि जो शब्द जातिविशिष्ट व्यक्ति का संकेत करते हैं, वे नैमित्तिक संज्ञा हैं। जगदीश ने इस श्लोक की व्याख्या में जातिवाची भीमासकों के मत का बहुत विस्तार से लखन किया है। उनका कहना है कि यदि शब्द केवल जाति का ही बोधक माना जायगा तो व्यक्ति का ज्ञान हो ही नहीं सकता है अतः जातिविशिष्ट का ही ज्ञान शब्द से होता है। जैसे गाय चैत्र आदि शब्दों से गोत्वविशिष्ट गाय और चैत्रत्व विशिष्ट चैत्र का ज्ञान होता है। शब्द० श्लोक १९।

पारिभाषिक और औपाधिक संज्ञा—जो नैयायिक जातिविराष्ट संकेत वाले पत्र आदि शब्दों को पारिभाषिक मानते हैं, उनके अनुसार तीनों संज्ञाओं का संक्षेप दिया है कि आधुनिक संकेत बहिन शब्दों को पारिभाषिक कहते हैं, जैसे देवदत्त पत्र आदि व्यक्तियों के नाम, जातिविराष्ट व्यक्तिवाची को नैमित्तिक, जैसे गाय गवय आदि तथा अपाविबिराष्ट पदार्थ के बोधक को औपाधिक, जैसे आकारा, पशु आदि शब्द । शब्द श्लोक २१ ।

गदाधर मठ ने व्युत्पत्तिवाद में इस बात पर विचार से विचार किया है कि पाणिनि ने नदी धि धु आदि को संज्ञार्थ रखी है, उन्हें पारिभाषिक माना जाय या औपाधिक । अन्त में अपना निर्णय दिया है कि नदी आदि संज्ञार्थ आधुनिक संकेत वाली हैं अतः उन्हें पारिभाषिक संज्ञार्थ ही मानना चाहिये । औपाधिक नहीं । व्युत्पत्तिवाद, पृ० १७६ ।

संकेत दो प्रकार का है—नागेश ने इस विषय पर विचार किया है कि आधुनिक संकेत वाले शब्दों में शक्ति है या नहीं । इस विषय पर निर्णय दिया है कि आधुनिक संकेत वाले शब्दों में शक्ति नहीं है । अपने कथन की पुष्टि में जगदीश ने पाण्यपदीय से मठ हरि का उद्धरण दिया है कि संकेत दो प्रकार का है, भाजानिक और आधुनिक । नित्य संकेतों को भाजानिक कहते हैं । भाजानिक की टीका व्याख्याकार ने की है "सास्ति अनिरूपत्तिर्यस्यासौ अजनि अजनिरेवाजानिक" उत्पत्ति रहित को अजनि कहते हैं, अजनि का ही रूप भाजानिक है । भाजानिक शब्दों में ही शक्ति रहती है । आधुनिक र्जन संकेतों को कहते हैं जिनको शास्त्रकारों आदि ने किया है । शब्द० श्लोक २३ ।

संज्ञा के विषय में जगदीश ने जो विवेचन किया है, वह प्रायः ब्रह्मकारणों के ही मुख्य है । ब्रह्मकारणों के मत से ही प्रसक्त स्वप्नीकरण हो जाता है ।

मम्मट का विवेचन

मम्मट ने काव्यप्रकार के द्वितीय अंश में शब्द और अर्थ के स्वरूप का विवेचन निम्नरूप से किया है -

शब्द और अर्थ तीन प्रकार का है—शब्द तीन प्रकार है, वाचक, लक्ष्य और अर्थ । अर्थ भी तीन प्रकार का है, क्रमशः वाच्य लक्ष्य और अर्थ । वाच्य, लक्ष्य और अर्थ ये तीनों अर्थ प्रायः अर्थ भी होते हैं । सूत्र ८ ।

वाचक का लक्षण—संकेत ज्ञान के बिना शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं होती है । संकेत की सहायता से ही शब्द अर्थ विशेष का प्रतिपादन करता है । अतएव जिस शब्द का जिस अर्थ में अर्थबोधित रूप से संकेत का ज्ञान होता है, वह

सुन्दर-अर्थ का वाचक होता है। साधारण संकेतित अर्थ का जो बोध कराता है उसे वाचक शब्द कहते हैं। सूत्र ८।

संकेतित अर्थ चार प्रकार का है - संकेतित अर्थ जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य चार प्रकार का होता है। अथवा जाति ही संकेतित अर्थ है। मम्मट कहते हैं कि यद्यपि अर्थ (द्रव्य आदि) के लिए जो क्रिया (गायसाना आदि) की जाती है, उसका निर्बाह होने के कारण प्रवृत्ति निमित्त के बोध व्यक्त ही है, फिर भी अज्ञानवा और व्यभिचार (अभ्यवस्था) के कारण व्यक्ति में संकेत करना मुक्तिमुक्त नहीं है। यदि व्यक्ति में संकेत करेंगे तो जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य का विषय विभाग नहीं हो सकेगा। जैसे गौः शुक्र बलः इत्यम्। (गाय शुक्ररूप, बलनेवाही इत्यम्) नामक एक गाय के ही जाति आदि चारों अर्थों को लेकर चार शब्द हैं, व्यक्ति मानने पर चारों का विभाग नहीं होगा। अतएव उपाधि अर्थात् व्यक्ति के उपाधि (धर्म, जाति गुण आदि) में ही संकेत होता है। सूत्र १०।

उपाधि का विवरण—उपाधि दो प्रकार की है, एक वस्तु-धर्म और दूसरी वस्तु की इच्छा के द्वारा प्रवेष्टित। वस्तुधर्म दो प्रकार का है; सिद्ध और साध्य। सिद्ध दो प्रकार का है, एक पदार्थ में प्रायशक्ति का आधान करने वाला, इसका जाति कहते हैं। जैसे कि वाक्यपदीय में कहा है कि "गाय अपने स्वरूप से न गाय है न गाय नहीं है। गौत्व जाति के सम्बन्ध के कारण उसे गाय कहते हैं। दूसरा सिद्ध पदार्थ यह है जो कि विशेषता को ला देता है, इसे गुण कहते हैं। शुक्र आदि गुण सत्ता गुण पदार्थ में विशेषता बलप्र करतें हैं। दूसरा साध्य क्रिया को कहते हैं, इत्य आदि नाम जो वच्य संज्ञा रूप से रस देता है, वह यदृच्छा रूप पदार्थ है। (सूत्र १०) महात्माभर पदञ्जलि ने अतएव कहा है कि शब्दों की प्रवृत्ति चार प्रकार से होती है, जाति गुण, क्रिया चार यदृच्छा शब्दों को लेकर।

गुण आदि जाति हैं - परमाणु, इण्डु आदि का गुणों में परिगणन होने के कारण इनको पारिभाषिक रूप से गुण नाम दिया गया है। वस्तुत्व गुण क्रिया और यदृच्छा (द्रव्य) एक ही वच्य है तथापि आशयों के भेद से भिन्न प्रतीत होते हैं। जैसे एक ही मुँह तलवार, शीरा और तेल आदि आशयों की भिन्नता से भिन्न-भिन्न रूप में इनमें दृष्टिगोचर होता है। भाव यह है कि गुण क्रिया और यदृच्छा (द्रव्य) भी जाति ही हैं। इसको ब्याहरण द्वारा समझाया है कि हिम, वन, शंख आदि आशयों में जो वस्तुत्व भिन्न-भिन्न शक्तता आदि हैं, उनमें सबसे यह शक्त है, यह शक्त है इस इस प्रकार के अभिन्न ज्ञान होने के कारण शक्तता आदि गुण भी जाति है। इस प्रकार विभिन्न शक्त, वाचक आदि में पाक होने के कारण पाक आदि क्रिया भी जाति है। इत्य आदि इत्यवाची

पट्टणा राज्यों में भी पाति है, क्योंकि इन्हीं में प्रतिष्ठित मिश्रण भावी शक्ति है फिर भी वास्तव दृष्ट आदि के द्वारा कहे गए द्वित्व आदि राज्यों में द्वित्व आदि संज्ञा रूप पाति है। इसीलिए राज्यों (मीमांसकों) का मत है कि सारे राज्यों की प्रकृति का निमित्त पाति ही है। सूत्र १०।

इस साक्षात् प्रकृतिक अर्थ को मुख्यार्थ कहते हैं। इसका जिस शक्ति से ज्ञान हावा है, उसे अविभा कहते हैं। सूत्र ११।

सप्तम्या का विवेचन

पतञ्जलि ने "पुष्योगाश्रमायाम्" (अष्टा० ४, १, ४८) के माध्य में तथा मण्डूकि ने (वाक्य० २, २२२ से २८०) को विवेचन किया है उसके आधार पर नागेरा ने मञ्जूषा में (पृ० ११६ से १२६), सप्तम्या का बहुत विस्तार से निरूपण किया है। उसका सागरा निम्न है -

सप्तम्या का सप्तम्य-अन्वय आदि की सिद्धि न होने के कारण राज्यार्थ रूप में जिस अर्थ का महत्त्व होता है, उससे सम्बन्ध के ज्ञान के द्वारा जो शक्ति विषयक संस्कार उत्पन्न होता है, उससे जो बोध हावा है उसको सप्तम्या कहते हैं। शक्ति विषय संस्कार का उत्पन्न होने से स्थलों पर पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण भी होता है।

उपर्युक्त सप्तम्या में सरोधान करते हुए नागेरा का कथन है कि अन्वय की अनुपपत्ति के स्थान पर तात्पर्य की अनुपपत्ति अर्थात् जो वक्ता का तात्पर्य है, उसका बोध होने को ही सप्तम्या का कारण कहना चाहिए। नहीं तो "संगानायोग" (गंगा में छुटी) में राज्यार्थ के अन्वय न होने की जो कठिनाई है, उसका निवारण तो दूसरे प्रकार से भी हो सकता है। वहाँ पर गंगा राज्य की गंगा के तीरे में सप्तम्या के बोध राज्य की मकर (माका आदि) में सप्तम्या के द्वारा भी अन्वय ठीक हो जाता है। गंगा में छुटी नहीं हो सकती है, अतः उसके निवारणार्थ संग राज्य में सप्तम्या के द्वारा "गंगा के तट पर छुटी" अर्थ स्तिषा आता है, परन्तु संग राज्य में सप्तम्या के द्वारा इसका अर्थ यह भी ठीक हो सकता है कि "गंगा में मगर है"। वक्ता के तात्पर्य की सिद्धि न होने को कारण मानने पर संग राज्य में सप्तम्या नहीं की जायगी, क्योंकि पक्ष का वैसा तात्पर्य नहीं है। नागेरा आने कहते हैं कि तात्पर्य के अनुपपत्ति के साथ रुद्धि या प्रयोजन इनको भी कारण मानना चाहिए, क्योंकि अनुभव में ऐसा ही देखा जाता है कि सप्तम्या रुद्धि के आधार पर होती है या किसी प्रयोजनविरोध के आधार पर। अतः संग में सप्तम्या के तीन कारण समझने चाहिए। १, मुख्य अर्थ की बाधा होनी चाहिए, २, मुख्य अर्थ से इसका सम्बन्ध होना चाहिए, ३, रुद्धि या कोई प्रयोजन होना चाहिए। मञ्जूषा, पृ० ११६ से ११७।

संज्ञा के भेद—संज्ञा दो प्रकार की होती है, गौरी और दुःख। सादर्य स्त्री सम्बन्ध के अर्थ और वत्सम्बन्ध अर्थ का प्रतिपादन करती है, उसे गौरी संज्ञा कहते हैं और सादर्य से भिन्न कोई सम्बन्ध हो तो उसे दुःख संज्ञा कहते हैं। मंजूपा०, पृ० १२३।

संज्ञा अन्य प्रकार से भी दो प्रकार की है, अज्ञहस्ताया और अहस्ताया। अज्ञहस्ताया संज्ञा उसे कहते हैं जो कि अपने अर्थ को छोड़ने बिना ही अन्य अर्थ का बोध कराती है। अपने अर्थ को न छोड़ने का अर्थ यह है कि राम का अर्थ किसी न किसी रूप में अज्ञहस्ताया में विद्यमान रहे। अतएव “अत्रियो वान्ति” (जाते जाते जाते हैं) कुत्तान् मवेराय (मासों को अन्तर भेज दो), अकेम्यो वान्ति रत्नयताम् (कौमों से वही बचाना) इन उदाहरणों में असङ्गति नहीं होगी। इन वाक्यों में जाते, मासों और कौए इन शब्दों का अपने के भिन्न पर भी आरोप किया गया है। इनका अर्थार्थ है, व्यक्तियों का समूह, जिनमें कुछ के पास जाते हैं, कुछ के पास नहीं। जिन पर जाते नहीं हैं, उनपर जाते वालों का आरोप करके कहते हैं कि “ये जाते जाते जा रहे हैं”, वस्तुतः सब के पास जाते नहीं हैं। मासों लिए हुए व्यक्तियों पर मासों का आरोप करके कहते हैं कि “मासों को अन्तर भेज दो”, वस्तुतः कहना चाहते हैं कि “मासों वाले व्यक्तियों को अन्तर भेज दो” “कौमों से वही की रक्षा करना” इसका भाव यह कदापि नहीं है कि कौमों से वही बचाना और बिल्ली आदि को निलंबित करना, अपितु इसका भाव यह है कि वही जो भी खा जाने वाले हों उन सबसे वही की रक्षा करना। वहाँ वही खा जाने वाले सब पर ही काफ़त का आरोप करके कौमा कहा गया है। अज्ञहस्ताया संज्ञा उसे कहते हैं, जो कि अपने अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ का बोध कराती है। वहाँ अर्थ को छोड़ने का अर्थ यह है कि रामाश की अर्थार्थ में सर्वथा अपस्थिति ही न हो। “गो वहीक परम” का अतएव अर्थ हो जाता है कि (मूल वहीक देरावासी को देलो)। वहाँ गाय राम अपने अर्थ को सर्वथा छोड़ कर मूल अर्थ का ही बोध कराता है। मागेरा ने अन्य संज्ञा के भेदों का बन्धन न करके यह कहकर बोध दिया है कि अन्य भेद इसी प्रकार से और समझने चाहिए। मंजूपा, पृ० १२३।

मागेरा ने निरुद्धसंज्ञा के विषय में कहा है कि “त्वचा : छातय” (त्वचा से जाना), आदि में त्वचा शब्द की त्वगिन्द्रिय में निरुद्ध संज्ञा है। त्वचा स्वयं चेतना रहित है, इससे ज्ञान नहीं हो सकता है, त्वदि के अर्थ त्वगिन्द्रिय को ही त्वचा कहा जाता है। निरुद्ध संज्ञा का अर्थ किया है कि प्रयाजन न होने पर भी मुख्य अर्थ को बाधा होने पर वत्सम्बन्धी अन्य अर्थ के बोध को निरुद्ध संज्ञा कहते हैं, अथवा इसको त्वदि शक्ति ही समझना चाहिए। प्रयोजनवती संज्ञा उसे कहते हैं, जहाँ पर कोई विशेष प्रयाजन होने पर ही मुख्य अर्थ की

बाधा होने से अन्य सम्बन्ध अर्थ का बोध होता है। जैसे (भाते अन्धर भा रहे हैं) में भाते वालों को भासा कहने का प्रयोजन है, भासों की तीक्ष्णता का बोध करना। भासे वालों को अन्धर भावा देखकर मय से मागते हुए व्यक्ति का कथन है तीक्ष्ण भासे वाले व्यक्तियों के बोध के लिए भासा शब्द प्रयोजन है, "(गंगा में कुटी)" गंगा शब्द की गंगा तट में लक्षणा होती है। वहाँ गङ्गा की तीक्ष्णता, पवित्रता आदि का बोध करना प्रयोजन है। "गीर्वाहीक" (वाहीक देरावासी पशु), यहाँ पर गाय शब्द का लक्ष्यार्थ मूर्खता है। वाहीक देरावासी की मूर्खता और गाय तथा वसमें अभिन्नता का बोध करना प्रयोजन है, लक्षणा से जो ज्ञान होता है, वसमें बाधा का ज्ञान प्रतिबन्धक होता है, परन्तु व्यंजना के द्वारा जो ज्ञान होता है, वसमें मुख्य अर्थ की बाधा का ज्ञान प्रतिबन्धक नहीं होता है।

एक अपकार करने वाले को कोई सम्बोधित करके कहता है कि "आपने मेरे साथ बहुत उपकार किया है, इसका मैं क्या बर्णन कर सकता हूँ, इससे आपने अपने सौजन्य को प्रसिद्ध कर दिया है। हे मित्र, आप इसी प्रकार सदा किया करें और मुझ पूर्वक भी बप लीयें।"

उपकर्तं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।

विदधद्दीदृशमेव सदा सखे सुकितभास्व तता शरदां शतम् ॥

यहाँ पर लक्ष्यार्थ सर्वथा विपरीत है। लक्ष्य अपकार में उपकार के साथ अमेव की प्रतीति द्वारा ही यहाँ पर लक्ष्यार्थ की सिद्धि होती है। मंजूषा पृष्ठ १२३ से १२४।

लक्षणा के कारण, पतञ्जलि का मत—पतञ्जलि ने लक्षणा के कारणों की व्याख्या के लिए एक-भौतिक प्रश्न उठाया है। कैपट और नागेश ने इसको स्पष्ट किया है। "पुयोगावाश्मायाम्" (अष्टा० ४, १, ४८) सूत्र में यह प्रश्न उठाया है कि ब्राह्मण की स्त्री ब्राह्मणी, गोप की स्त्री गोपी आदि में पुलिंग शब्द स्त्रीलिंग कैसे हो सकता है। पतञ्जलि का प्रश्न है कि कोई भी शब्द जो पुलिंग है, वह स्त्रीलिंग नहीं हो सकता है। अतः पाणिनि का यह कथन है कि "पुलिंग के सम्बन्ध होने के कारण जो शब्द स्त्रीलिंग में होते हैं, उनसे जीव होता है" ठीक नहीं होगा। सम्बन्ध का अर्थ पाणिनि के अनुसार होता है, 'तस्येहम्' (अष्टा ४, ३, १२) ("इसका यह है")। पुरुष की आत्मा स्वतन्त्र। स्त्री की आत्मा भी स्वतन्त्र है, उन दोनों में "इसका यह है" यह सम्बन्ध कैसे हो सकता है। अतः पतञ्जलि ने सम्बन्ध के मूल में अन्य प्रकार भी है, जिसको पाणिनि ने दो सूत्रों में रखा है, 'तद्वहति' (अष्टा ४, १, ६३) 'तद्वहम्' (अष्टा ४, १, ११७)। इनका भाव है कि दो पदार्थों का योग्यता सम्बन्ध भी होता है। (यह वाग्य है) (पेसा हो सकता है)। पाणिनि के यह दो सूत्र हैं, जिनके ऊपर पतञ्जलि, भट्ट हरि, नागेश आदि ने शब्द और अर्थ का योग्यता सम्बन्ध सिद्ध किया है। अतएव पतञ्जलि

कहते हैं कि 'अयमप्यभिसम्बन्धो भवति' "सोऽयम्" इति यह भी सम्बन्ध होता है, वह यह है अर्थात् वादात्म्य सम्बन्ध। पतञ्जलि ने पुनः प्रश्न उठाया है कि जो भिन्न पदार्थों में अभिभवा या वादात्म्य सम्बन्ध कैसे हो सकता है इसका स्पष्टीकरण करते हुए पतञ्जलि ने लक्षणा की स्थिति बताई है। लक्षणा क्या है? भिन्न में अभिभवा का ज्ञान, अतएव तत् का ज्ञान, अन्य में अन्य का आरोप-राम्भ के अर्थों का अर्थ में; आरोप और अर्थ के गुणों का राज्य में आरोप। अति में व्यक्ति का आरोप, आकृति में। इत्यं का आरोप और। इत्यं में आकृति का आरोप, वह सब लक्षणा के कारण ही होता है। पतञ्जलि कहते हैं कि चार प्रकार से अन्य में अन्य का ज्ञान अर्थात् लक्षणा होती है, १-तत्त्वता, २-वक्ष-मत्वा, ३-तत्समीपता और ४-तत्सादृश्यम्।

वस्तुनिः प्रकारैस्तस्मिन् 'स' इत्येतद् भवति तात्त्व्यात्, तादृशम्यात्
तत्समीप्यात्, तत्सादृश्यपरिवृत्ति ।

१-तत्त्वता, जो वस्तु जिस पर रहती है, अर्थात् आधार और भाष्य से लक्षणा होती है। आधार और भाष्य में अन्य के गुणों का अन्य में आरोप किया जाता है। जैसे मंचा इसन्धि (मंचान् हंसते हैं) गिरिर्ब्रह्मते (पहाड़ ब्रह्माया जाता है), में मंचान पर बैठे हुए बासकों में मंचान का आरोप किया जाता है। क्योंकि मंचान हंस नहीं सकता। पहाड़ ब्रह्म नहीं सकता है, जिसको तात्त्विक दृष्टि से पर्वत कहते हैं, वह चलने वाला पदार्थ नहीं है, अतः यहाँ पर अर्थ होता है, पहाड़ के ऊपर के बृह आदि अकार्य आते हैं।

२-वक्ष-मत्वा, गुणों या क्रिया की समानता से अन्य में अन्य का आरोप किया जाता है। भिन्न में गुण या क्रिया के सादर्य के कारण अभिभवा का आरोप लक्षणा है। जैसे "गौर्बाहीकः सिंहोमाखकः" (प्राक सिंह है), बालक में सिंह के दुस्य शरणा-वीरता भादि बेलकट वसे सिंह कह दिया जाता है। जिसका नाम ब्रह्मरत्न नहीं है, उसको भी ब्रह्मरत्न के शरणा गुणों से पुक्त बेलने पर "एष ब्रह्मरत्न (यह ब्रह्मरत्न है), कह देते हैं। मर्तुहरि ने वाक्यपदीय में अवयव कहा है कि प्रयोजनविरोध के कारण ही बाहीक में गौत्व का आरोप किया जाता है। यहाँ पर यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि पतञ्जलि और मर्तुहरि के मठागु शार अर्थ में परिवर्तन आता है, राज्य में परिवर्तन नहीं आता है, राज्य अपने अर्थ में व्यवस्थित है। इसका भाव स्पष्ट किया जा चुका है, कि राष्ट्रत्व में कमी कोई परिवर्तन नहीं होता है, वह नित्य स्फोटरूप है। इसमें अर्थवत्त्व नित्य और निवमित रूप से रहता है। वह अर्थ जो कि ब्रह्मता रहता है, और जिसमें सब परिवर्तन आदि होते हैं, वह ध्वनि रूप अर्थ है। ध्वनि की अनित्यता के कारण ध्वन्यात्मक अर्थ में परिवर्तन होते रहते हैं। इससे राज्य के अपने पारमार्थिक अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

‘गोत्वात्प्रगो वाहीके निमित्तात् कैश्चिद्विध्यते।
अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थितः ॥

वाक्य २, २५७।

१-वत्समीपता, सामीप्य के कारण भी अन्य अर्थ का अन्य में आरोप किया जाया है, जैसे “मंगायाम् घोष” समीपता के कारण वट में गंगा का आरोप। “कुर्ये गर्गाङ्गसम्” (कुर्ये में गर्ग का अङ्ग), में कुर्ये के किनारे में कुर्ये का आरोप किया गया है। इसका अर्थ है कुर्ये के किनारे पर या कुर्ये के समीप गर्ग का अङ्ग है।
४-वत्साहचर्य, साहचर्य के कारण भी आरोप होया है। जो व्यक्ति जिस वस्तु को धारण किए रहता है, उस नाम से उसको लक्षित किया जाया है जैसे “कुन्दात् प्रवेशाय” (भातों को अन्वर भोजी) यष्टीः प्रवेशम्” (साठियों को अन्वर भोजी), में भाले और साठीधारियों को मात्सा और साठी कहा गया है।

गौतमसूत्रि का मत—गौतम सूत्रि ने अणुसूत्रों में अणुणा के कारणों पर और विस्तार से विचार किया है। उन्होंने अन्य में अन्य के आरोप के १० कारण बताये हैं।

सहचरस्य स्थानतादर्थ्यस्य मानधारण्यसामीप्ययोगसाधनाभिपत्येभ्यो जाह्नव्यं वात्सवटपामसकुचम्दमर्गाशकटाभपुत्रयेज्वतज्ञाभैऽपित्तुपचारः । ४५५०
२, २, ५६।

वात्सवायन ने गौतम के सूत्र की निम्नरूप से व्याख्या की है। अतद्भाव का अर्थ है भाव अर्थात् धर्म जिसमें जो धर्म नहीं है, उसमें उस धर्म का उपचार अर्थात् उस शब्द का व्यवहार करना। यह उपचार इस धर्म के आरोप से होता है। आरोप के निमित्त साहचर्य आदि हैं।

१-साहचर्य जैसे ‘यष्टीः प्रवेशम्’ (साठियों को अन्वर भोजी), इसमें साठी के साहचर्य अर्थात् साथ रहने के कारण यष्टिपारी जाह्नव्य में भी यष्टि का आरोप किया गया है।

२-वात्सव्य, “मन्वा क्रौरास्त्रि” इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।

३ वादर्थ्य, जिस कार्य के लिए जो वस्तु होती है, उसमें कार्य का आरोप अर्थात् कारण में कार्य का आरोप। जैसे “वीरयोष्वात्वे”। (घास विरोध पर बेटा है), वीरय इस घास को कहते हैं, जिससे बटाई बनती है। यहाँ पर बटाई में वीरयत्व का आरोप वादर्थ्य के कारण है।

४-बुध, आचरण के आधार पर आरोप। जैसे, “अयं रामा यमः” (यह रामा यम है)। यम के तुल्य आचरण के कारण राजा में यमत्व का आरोप हुआ है।

५-मान, परिमाण के आधार पर आरोप। जैसे “अस्य सङ्गः” (एक मत्स्य

सच्) एक प्रत्य ३२ पत्र का होता है, प्रत्य मर सच् के स्माज पर परिमाण के आधार पर सच् में प्रत्यत्व का आरोप हुआ है। जैसे हिन्दी में १ सेर मर सच् को एक सेर सच् कहते हैं।

६—घारय, जैसे “बन्धन हुआ” (बन्धन वराय) में बन्धन को घारय करने के कारण बन्धन में वराय का आरोप किया गया है।

७—सामीप्य, “गंगायां घोष” इसकी व्याख्या हो चुकी है।

८—योग जिस गुण का योग होता है, उस गुण का गुणी में आरोप। जैसे कण्य राकटा (काली गाड़ी), में गाड़ी में कण्यता का आरोप किया गया है।

९—साधन, जो बस्तु जिस कार्य का साधन होता है, उस साधन में साम्य का आरोप। जैसे, “अन्नं प्रायाः” (अन्न प्राय है), अन्न प्राय का साधन है, साधन अन्न में प्रायत्व का आरोप किया गया है।

१०—आधिपत्य, “अय कुलस्य राजा” यह कुल का राजा है कुल के आधिपत्य के कारण पुत्र में राजत्व का आरोप किया गया है।

—घर्षोत्कर्ष ने उक्त सूत्र की व्याख्या में न्यायवार्तिक में कहा है कि “साहचर्य का अर्थ है, छाठी से सम्बन्ध, इस सम्बन्ध के कारण तो घटिका के स्थान पर घटिकावायु” (साठी वाया) होना चाहिए। यदि साठी वाया ही वह वृत्त तो यह न्यायार्थ हो जायगा। अतएव उपचार का कारण और उक्त होना चाहिए। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि साठी में साठी सम्बन्ध घटिका के कारण है। वहाँ पर घटिका से संयुक्त प्राण्य में समवाय से सम्बन्ध रहने वाली प्राण्यत्व जाति का समवाय सम्बन्ध से प्राण्य में आरोप करके प्राण्य को घटिका कहा गया है। मञ्जूषा, पृ० १११।

साहित्यशास्त्रियों के मत का अर्थानं मम्मट ने काव्यप्रकाश (द्वितीय अस्तास) तथा विरचनाय ने साहित्यदर्पण (द्वितीयपरिच्छेद) में विस्तार से किया है। साहित्यकारों का मत व्याकरणों के समान ही है। मम्मट और विरचनाय ने लक्षणा के भेदों का और विस्तार किया है। विरचनाय ने पहले लक्षणा के बालीस भेद किये हैं, और ये भी पद और वाक्य में होने के कारण दो प्रकार के होकर दो प्रकार के हो पाते हैं।

व्यञ्जना का निरूपण

नागेश का मत—मट्टहरि ने लोठ और प्वनि में व्यञ्ज्य और व्यञ्जक का सम्बन्ध माना है। मट्टहरि के इस विषय पर विस्तृत विचारों का इस्तेल लोठ के प्रकरण में किया गया है। नागेश ने मञ्जूषा में व्यञ्जना का संक्षिप्त वर्णन किया है। व्यञ्जना का लक्षण किया है कि व्यञ्जना न्यूनार्थ की भाषा के ज्ञान की विशेषता

न करके ज्ञान को व्यक्त करती है, मुख्यार्थ से सम्बद्ध और असम्बद्ध, प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध सभी प्रकार का अर्थ इसका विषय है, मुक्त आदि की बिलक्षणता के ज्ञान तथा प्रतिभा से बहुमुख संस्कार विरोप को व्यञ्जना करते हैं। नागेश करते हैं कि अतएव मनुहरि आदि ने निपातों को श्लोक और श्लोक को व्यञ्ज्य कहा है। श्लोक का सङ्गण यह है कि कहीं विरोप स्थल पर कही गई पर सम्बन्धी शक्ति का व्यञ्जक होना। अतएव वैयाकरणों को भी व्यञ्जना शक्ति प्रयुक्त स्वीकार करनी चाहिए। व्यञ्जना का अनुभव राष्ट्र राष्ट्रार्थ पर, पर, के एक भाग वर्ण, रचना सेव्या आदि में सर्वत्र ही होता है। मुक्त आदि की बिलक्षणता आदि का ज्ञान व्यञ्ज्य विरोप के बोध में सहायक होता है, अतः सर्वत्र इसकी आवश्यकता नहीं होती। मञ्जूषा पृ० १२६।

मनुहरि तथा हेमराज आदि ने श्लोक और ध्वनि में व्यञ्ज्य और व्यञ्जक का जो सम्बन्ध माना है इससे यह स्पष्ट है कि वैयाकरण व्यञ्जना शक्ति को प्रयुक्त और श्लोक रूप में स्वतंत्र शक्ति मानते हैं। अमिषा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यञ्जना शक्ति के द्वारा ही वाचस्कोट की सिद्धि होती है।

साहित्यप्रक्रियों में से मम्मट ने काव्यप्रकारा के (द्वितीय बन्दास) में तथा विरवनाथ ने साहित्यदर्पण के (द्वितीय परिच्छेद) में साहित्यिकों के अनुसार इसकी विस्तार से व्याख्या की है। मीमांसकों ने त्रिलमें व्यक्तिज्ञेकार महिममट्ट आदि मुख्य हैं, जिन्होंने व्यञ्जना को अनुमान में ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, और व्यञ्जना शक्ति का खरडन किया है, इनका योनों ने बड़े बड़ापोह के साम काव्यप्रकारा के पंचम बन्दास) और साहित्यदर्पण के (पंचम परिच्छेद) में खरडन किया है। मम्मट और विरवनाथ ने तथा आलम्ब्यर्धन और अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन पुस्तक में व्यञ्जना शक्ति का मीमांसकों का खरडन करके इसकी स्वतंत्र सत्ता सिद्ध की है।

अध्याय ७

पद और पदार्थ

वैयाकरणों के मत का उल्लेख किया जा चुका है कि वे शब्द और अर्थ दोनों को तास्त्रिक दृष्टि से नित्य मानते हैं। उनके मतानुसार वाक्य ही मुख्य है। पद और पदार्थ दोनों गौण हैं। वाक्य और शब्द के अन्वय में अन्य मतों का उल्लेख किया जाएगा। इस अध्याय में पद और पदार्थ के स्वरूप का निरूपण किया जाएगा।

पदविभाग - भट्ट हरि ने पदविभाग के विषय में उल्लेख किया है कि इस विषय में प्राचीन आचार्यों में मतभेद था। कोई नाम और आख्यात इन दो को ही पद मानते थे। कोई पद को चार भागों में विभक्त करते थे, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। एक अन्य मत और भी था जो कि कर्मप्रवचनीय की प्रत्यक्ष सत्ता को स्वीकार कर इनकी संख्या ५ मानता था।

द्विधा केशिचत्पुष मिधं चतुर्णां पंचषाऽपिवा।
अपोऽवृष्ट्यैव वाक्चेत्य् प्रकृतिमत्यथादिबत्॥

वाक्य० १, १।

पद दो प्रकार का है - भट्ट हरि ने दो वर्गों और औदुम्बरपयस आचार्यों का उल्लेख किया है कि वे पद को दो प्रकार का ही मानते थे। उनका मत था कि अलखड वाक्य मुक्ति में सर्वदा रहता है, उसी अ प्रतिभा रूपी अर्थ से सयोग होता है। अतः नाम अर्थात् अलखड वाक्य रूपी शब्द और आख्यात अर्थात् प्रतिभा रूपी अर्थ से दोनों ही पद के विभाग हैं, चार नहीं। वाक्य० १, १४०।

तास्त्रिक दृष्टि से नाम और आख्यात ये ही दो पद के मुख्य विभाग हैं, अतएव पाणिनि ने "सुसिद्धं पदम्" (अष्टा० १, ४, १४), सूत्र में पद को सुबन्त (नाम) और तिबन्त (आख्यात) इन दो भागों में ही विभक्त किया है।

पद चार प्रकार का है - तास्त्रिक दृष्टि से पद दो प्रकार का होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से चार प्रकार का है। पद का चार भागों में विभाग करने से प्राचीन है। पतञ्जलि ने महामाष्य के प्रथम आहिक में ऋग्वेद के दो मन्त्र

अर्थात् "वत्वारिर्गता" (अण० ४, २८, ३) और "वत्वारि वाक्यपरिमिता पदानि" (अण० १, (१६४, ४२), उद्धृत किए हैं, और इनका भाव स्पष्ट करते हुए उन्होंने नाम आख्यात, उपसर्ग, और निपात ये पद के चार भाग वैदिक श्रुतियों के अमीष्ठ बताया हैं। वास्तु ने निरुक्त के प्रारम्भ में पद को इन्हीं चार भागों में विभक्त किया है और उपसर्ग होनेों मात्रों को निरुक्त (१३, ७ से ६), उद्धृत करके प्राचीन वैवाक्यों के मत का उल्लेख किया है कि ये पद को उक्त चार भागों में विभक्त करते थे ।

शामान्यतः उपसर्गनिपातादपेति वैवाक्येषा ।

निरुक्त० १३, ६ ।

पाणिनि के मतानुसार निपात व्यापक शब्द है और प्रपरा आदि उपसर्ग । वही का एक भाग है जो कि क्रिया में विशेषता का आभावक है । क्रिया क मोल में प्रपरा आदि को बृहदा नाम गति भी दिया गया है । उपसर्ग की अपेक्षा गति व्यापक शब्द है । पाणिनि ने "प्रागरीषणनिपाता" (अष्टा० १, ४ २६) सूत्र में स्पष्ट किया है कि उक्त सूत्र से प्रारम्भ करके "अधिरक्षरे" (अष्टा० १, ४, ६७) सूत्र तक जिनका उल्लेख किया गया है वे सब निपात कहे जाते हैं । इन सूत्रों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पाणिनि ने अत्रन्ववर्षी च वा आदि अव्यय, उपसर्ग, गति और कर्मप्रवचनीय इन चारों का निपात में ही समावेश किया है । ये चारों निपातों के ही उपभेद हैं । व्यावहारिक दृष्टि से इन चारों में दो का उपसर्ग और निपात इन दोनों नामों से ही उल्लेख किया जाता है । जो पद को पांच भागों में विभक्त करते हैं वे कर्मप्रवचनीय की उपसर्ग और निपात से प्रयुक्तता स्वीकार करते हैं । पाणिनि ने इन सब को अभ्युपसंज्ञ के अन्तर्गत माना है । (अष्टा० १, १, १७) ।

वेद निरुक्त और महामाष्य के अधिरिक श्रुतप्रतिशब्द (पटल १२ सूत्र १७) अर्थात् प्रतिशास्त्र (१, १), श्रुत मनु प्रतिशास्त्र (८, ४४), अमरेयकृत बर्षारण्यपिपिपिशिषा (५० १३६), प्रतिशब्दप्रदीपिशिषा (५० २७०), कौण्डिन्य अर्थात्शास्त्र (९, १०), सर्वदर्शनसंग्रह (५० १४०), वैकटभाष्यकृत अग्नेय-भाष्य (अष्टक १, १) ; साखण्ड्य अणुपेक्षमात्र (५० २१) आदि में यहाँ को इन्हीं चारों भागों में विभक्त किया गया है ।

अरस्तू तथा उसके उस समय के अन्य दार्शनिक पदों को नाम, आख्यात और संबोजक इन तीन भागों में विभक्त करते थे । परन्तु उनके परबर्ती दार्शनिकों ने मुख्यतः श्लोक सूत्र के नेतृत्वों ने, संयोजकों को दो भागों (संबोजक तथा आटिकिञ् में विभक्त करके पदों की संख्या चार कर दी । (निरुक्त, डा० लक्ष्मण-स्वरूप संपादित पृ० २८ टिप्पणी) ।

चारों पद विभागों का स्वरूप, नाम और आख्यात

। प्राक् ने परम्परागत इन चारों पद विभागों का उद्देश्य बहुत संक्षेप में किन्तु

सुन्दर रूप में दिया है। आस्वात में क्रिया प्रधान रहती है और नाम में द्रव्य की प्रधानता। जहाँ पर नाम और आस्वात (द्रव्य और क्रिया) दोनों में से क्रिया की प्रधानता रहती है वहाँ पर पूर्वापर रूप क्रिया का आस्वात के द्वारा बोध कराया है। जैसे बह जाया है, बह पकाया है। जहाँ पर प्रारम्भ से लेकर समाप्ति तक की क्रिया मूर्त द्रव्य का रूप धारण करती है, तब बह द्रव्य के नामों से सम्बोधित की जाती है, जैसे भाववाची सजाएँ जाना, पकाना आदि। संकेत वाचक सबनाम के द्वारा द्रव्य का बोध कराया जाता है, जैसे गाय, घोड़ा, पुरुष आदि। क्रिया वाचक शब्द के द्वारा क्रिया का बोध कराया जाता है, जैसे जाता है, खाता है, सोता है। निरुक्त० १, १।

पास्क ने नाम और आस्वात के विषय में जो विवरण दिया है, उसमें "उभे" पर विरोध अर्थ को लेकर प्रमुख हुआ है। पास्क ने उभे पर के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि क्रिया और द्रव्य कभी एक नहीं होते हैं। क्रिया में भी द्रव्य रहता है और द्रव्य में भी क्रिया। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि जब दोनों में से क्रिया की प्रधानता होती है तब क्रिया को आस्वात अर्थात् तिङ् प्रत्ययों के द्वारा बोधित किया जाता है। उसे ही तिङन्त पद कहते हैं। जब द्रव्य और क्रिया में से द्रव्य को मुख्यता दे दी जाती है तब क्रिया का अर्थ गीष्प पद आया है, और द्रव्य अर्थ की मुख्यता का बोध सुप् प्रत्ययों के द्वारा कराया जाता है, उसे सुबन्त पद कहते हैं। पतञ्जलि ने इसको और स्पष्ट किया है। कृन् प्रत्ययों का क्या कर्तव्य है? कृन्, प्रत्यय भाव अर्थात् क्रिया का कर्म पूरा करते हैं अतएव किसी भी वस्तु से जब कृन् प्रत्यय लगा दिया जाता है तब वह द्रव्य क्रिया शब्द न रहकर द्रव्य-शब्द हो जाता है, अतएव उससे तिङ् प्रत्यय न होकर सुप् प्रत्यय होते हैं।

कृदमिहितो भावो द्रव्यबद् भवति। महा० २, २, १६।

पतञ्जलि ने "सार्वाणामुके यक्" (महा० १, १, ६०), की व्याख्या में इसको विस्तार पूर्वक स्पष्ट किया है। भाव वाचक शब्द द्रव्य वाचक इतीशिय हो जाते हैं कि उनके भाव अर्थ का बोध कृन् प्रत्यय करा देता है। सर्वहरि में महासत्ता-रूपी जाति का प्रतिपादन करते हुए इसको स्पष्ट किया है कि महासत्ता में जब क्रम अर्थात् प्रारम्भ आदि का वर्णन किया जाता है, तब वही क्रिया कहलाती है, और जब उसमें क्रम का वर्णन करके अन्तः संहार बताया जाता है, तब वही सत्ता द्रव्य या सत्त्व कही जाती है।।

प्राप्तक्या विशेषेषु क्रिया सेवामिधीयते।

क्रमरूपस्य संहारे तत् सत्वमिति कथ्यते ॥

वाक्य० १३, पृ ३।

उपसर्ग—पास्क ने उपसर्ग के विषय में दो प्राचीन व्याचार्यों (शाकटायन

और गार्ग्य) के मत का बल्लेख किया है। शाक्यवायन का मत था कि उपसर्गों पृथक् रहते हुए किसी अर्थ का बोध नहीं कराते हैं। वे नाम (संज्ञा-राज्य) और आख्यात (क्रिया) के साथ सम्बद्ध होकर उनके विशिष्ट अर्थों के बोधक होते हैं। परन्तु इसके विपरीत गार्ग्य का मत था कि उपसर्गों के भी विभिन्न अर्थ होते हैं। इनका स्वयं चाहे जो कुछ भी अर्थ रहे, जब यह नाम और आख्यात के साथ सम्बद्ध होते हैं तो उनके अर्थों में विरोधता जाने वाले अर्थों के बोधक होते हैं। निरुक्त १, २।

पतञ्जलि ने उपसर्गों को क्रिया में विरोधता उत्पन्न करने वाला माना है। क्रियाविरोधक उपसर्गों। मह्य० १, ३, १।

निपात—यास्क ने निपात राज्य की निरुक्ति की है कि वे विभिन्न अर्थों को लाते हैं (नि-पत्=गिरना) अतः इन्हें निपात कहा जाता है। यास्क ने इनको तीन भागों में विभक्त किया है, १, उपसर्गिक, २, कर्मोपसर्गिक, ३, पादपूर्वक। इस, न, चित् और ध्रु ये चारों निपात साधारणतया अपना का अर्थ बताते हैं। कर्मोपसर्गिक अर्थों के उपसर्गिक, जिनके कारण दो या अधिक अर्थों का पक्ष प्रह अर्थात् अर्थों के उपसर्गिक या संबोजक निपात। यास्क ने इसका लक्षण किया है कि जिसके रखने से अर्थ की पृथक्ता शाय होती है, किन्तु ऐसी नहीं जैसी कि औद्देशिक (केवल गमना), क्योंकि वे राज्य केवल विभक्त के द्वारा पृथक् किए गए हैं। न, आ, वा आदि मुख्यतया ऐसे ही संबोजक निपात हैं। पादपूर्वक निपात उन्हें कहते हैं जो कि अर्थ के पूर्ण होने पर भी गद्यात्मक अर्थों में वाक्य पूर्ति के लिए और पद्यात्मक अर्थों में पद पूर्ति के लिए आते हैं, ऐसे निपात निरर्थक होते हैं। अर्थात् किसी अर्थ विरोध का बोध नहीं कराते हैं, जैसे कम्, ईम्, इत् और व ये चारों निपात। निरुक्त १, ४ से ६।

शक्यप्रातिशास्य (१२, २५), शुक यंशुः प्रातिशास्य (८, ४६) तथा प्रातिशास्य प्रदीपशिखा (४ २६०) ने एक श्लोक में ही पद के चारों भागों का लक्षण संगृहीत किया है।

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विरोधकः॥
सत्त्वाभिधायकं नाम निपातं पादपूर्वकः॥

क्रियावाचक को आख्यात कहते हैं, सत्त्व (द्रव्य) वाचक को नाम, क्रिया के विरोधक को उपसर्ग और पादपूर्वक को निपात। मण्डरि ने (वाक्य २, ३४६) आख्यात और नाम का लक्षण किया है कि आख्यात में क्रिया भी प्रधानता रखती है और नाम में सत्त्व की।

हर्गाचार्य ने निरुक्त १, १ यास्क के मत को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि नाम और आख्यात का पहले बल्लेख इसलिये किया गया है क्योंकि वे मुख्य

है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि चार प्रकार के पद में नाम और आख्यात इन्हीं दो के अर्थ का निर्णय इसलिए किया जाय है, क्योंकि इनके विषय में ही सन्देह होता है। उपसर्ग और निपात के अर्थ के विषय में सन्देह नहीं होता है, क्योंकि उनमें साक्षात् अर्थ के बोधन की शक्ति नहीं है। वैकटमाधव ने अपने शब्दशेखर के भाष्य में (अष्टक २, १, २, १, २, २, २, ६, ३, ७) भी इस पर विचार किया है। वैकटमाधव का कथन है कि आख्यात और नाम के सम्बन्ध अर्थ के बोधक होते हैं। उपसर्ग और निपातों की कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं है।

आख्यातस्य च साम्प्रदायिकस्य सन्ध्याः स्वाभाविकता ।

उपसर्गा निपातादयश्च न स्वतन्त्रा इति स्थितिः ॥

अष्टक २, १ ।

पदार्थ विचार

मनुहरि तथा उनके टीकाकार पुत्रवराज ने वाक्यपदीय के द्वितीय खंड में वाक्यार्थ के विरूपण के प्रसंग में पदार्थ का संज्ञित, किन्तु सार रूप, (वाक्य २, १४५ से २०६) निरूपण किया है। पद और पदार्थ का विस्तृत और विरोध उदा-पोह के साथ विवेचन समस्त तृतीय खंड पृष्ठ १ से ७४६ में किया है। द्वितीय अध्याय में पदार्थ के स्वरूप के विषय में १२ विभिन्न मतों का व्यस्तन किया जा चुका है। पद के पाँचों विभागों के अर्थ का संक्षेप में विवरण निम्न है —

सहा शब्दों का अर्थ, सामान्यमात्र का बोधक

वाजप्यायन आचार्य के मतानुसार शब्द का अर्थ "जाति" है और आचार्य व्याडि के मतानुसार "व्यक्ति" अर्थ है। शब्द का अर्थ जाति हो या व्यक्ति, व्यक्ति के विरोध गुणों का ज्ञान व्यक्ति के स्वयं अविनाशक से रहने के कारण होता है। शब्द विरोध गुणों का नहीं अपितु सामान्य अर्थ का बोध कराता है जो कि जाति के समस्त व्यक्तियों में समान रूप से पाया जाता है। जिस प्रकार गाय के रंग आदि का बोध गीण रूप से गाय शब्द से ज्ञात होता है, परन्तु वह गाय शब्द का अर्थ नहीं है। गाय शब्द वही सामान्य अर्थ का बोध कराता है जिससे सभी गायों का ग्रहण होता है। पुत्रवरज, वाक्य २, १४५ ।

अतएव मनुहरि कहते हैं कि यद्यपि शब्द आकार रंग अक्षय से युक्त गाय आदि वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होता है, तथापि वह उनका बोध नहीं कराता है। वाक्य २, १२६ ।

1) विद्वान् पाण्डित्योः का विद्वान् अर्थ—वहाँ पर एक प्रश्न स्वामाधिक है कि यदि शब्द आकार आदि का बोधक नहीं है तो रत्न, द्रव्य, फला, नीला, पीला आदि शब्दों का जिनका अर्थ ही आकार आदि है, क्या अर्थ होगा ? मनुहरि ने इसका उत्तर दिया है कि ऐसे शब्द जो कि आकार रंग अक्षय से विशिष्ट वस्तु

के लिए प्रयुक्त होते हैं, उनकी वसुके अवयव मात्र के लिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। (वाक्य० २, १५७)। पुरुराज ने इसको स्पष्ट किया है कि जो राज्य आकार आदि के ही बोधक हैं, वे वसु अर्थ को बताते हैं। वसु कर्म का अभिप्राय यह नहीं है कि कोई भी राज्य आकार आदि का बोध नहीं करता है। राज्य का जो प्रवृत्ति निर्मित होता है, वही वसुका अर्थ होता है, अन्य वसुसे सम्बन्ध नहीं। आकार आदि के वाचकरान्त् आकार आदि का ही बोध कराएंगे। वसुके अवयव मात्र का नहीं। अतः राज्यों के द्वारा कहीं पर अर्थ के विरोध अंश आकार आदि का निरूपण होता है और कहीं जाति मात्र का। पुरुराज वाक्य० २, १५७।

मनुहरि इस विषय पर विचार करके इस निर्वय पर पहुँचे हैं कि राज्य सख्या प्रमाण आकार की अपेक्षा न करके वस्तुमात्र में प्रवृत्त होता है। अतएव वसु की एक वसु को भी वसु कहते हैं और वसुके समुदाय श्रोत नदी स्मृत् के वसु को भी वसु कहते हैं। एक छोटे से श्वेत पत्थर के कण को भी श्वेत कहते हैं और हिमाक्षय को भी श्वेत कहते हैं। वाक्य २, १६०।

पुरुराज का कथन है कि राज्य प्रवृत्तिनिमित्त जाति आदि को अपना अर्थ बनाकर प्रवृत्ति होता है, आकार आदि विरोध का ज्ञान अविनाभाव सम्बन्ध के अन्तर्गत होता है। पुरुराज, वाक्य० २, १६०।

नामार्थ के विषय में पाँच मत

महोजिबीहित तथा कौण्डिनद ने वैयाकरणमूष्य में (कारिका २५) नामार्थ के विषय में प्राचीन पाँच मतों का उल्लेख किया है। १—संज्ञाराम्यो का एक अर्थ होता है वसु आचार्य केवल जाति को ही राज्यार्थ मानते हैं, दूसरे केवल व्यक्ति को। २—जाति और व्यक्ति दोनों ही राज्यार्थ हैं। ३—जाति, व्यक्ति और लिंग ये तीन राज्यार्थ हैं। ४—जाति, व्यक्ति, लिंग और संख्या ये चार राज्यार्थ हैं। ५—जाति, वसु, लिंग, संख्या और अरक (कर्त्ता, कर्म आदि) ये पाँचों ही राज्य के अर्थ हैं।

एक सिद्धं त्रिकं वाऽयं बहुषुः पञ्चकं तथा।

नामार्थ इति सर्वेऽमी पक्षाः शास्त्रे निरूपिताः ॥

मूष्य का० २५।

इनमें से जाति और व्यक्ति के विषय में आगे सिद्धा वापस। पुल्लिंग, स्त्री लिंग और नपुंसकलिंग यह तीनों राज्य के अभिन्न रहते हैं। राज्य का कोई न कोई लिंग अन्वय होता है और यह राज्य के द्वारा ही बोध्य होता है अतः लिंग का भी राज्यार्थ माना गया है। राज्य पुल्लिंग, स्त्रीलिंग आदि किस प्रकार होते हैं इसका विवेचन पदसूक्ति ने 'स्त्रियाम्' (महा० ४, १, ३) सूत्र की व्याख्या में तथा मनुहरि ने लिंगसमुदेश में (वा०प० ३, पृ ४२६ से ४४६) विरोध विस्तार से

किया है। पतञ्जलि ने इस विषय में अपना निर्णय दिया है कि लिंग का नियम लोकोप्यबन्धन के अधीन है। अर्थ एक होने पर भी शब्दभेद होने से लिंग हो जाता है। कहीं पर शब्द में जोड़ा अन्तर कर देने से लिंगभेद हो जाता है और कहीं पर विवक्षा से ही लिंग भेद होता है। महा० ४, १, ३।

अर्थ एक होने पर भी पदार्थ शब्द पुल्लिंग है, व्यक्ति स्त्रीलिंग और बहु नपुंसक लिंग। इसी प्रकार स्त्री अर्थ होने पर भी वारु शब्द पुल्लिंग है, स्त्री स्त्रीलिंग, और कलत्र नपुंसक लिंग। बोधे अन्तर से कुटी शब्द स्त्रीलिंग है परन्तु कुटीर पुल्लिंग है। (वाक्य ३, पृ० ४४२) विवक्षा के कारण वट शब्द तीनों लिंग है। वाक्य० १, पृ० ४४।

आदि इन्ध और लिंग के अतिरिक्त संख्या और कारकों को भी शब्द का अर्थ मानने वालों का कथन है कि शब्द से ही इनका भी बोध होता है, यदि संख्या और कारक को प्रत्यय का ही अर्थ माना जायगा तो वहाँ पर प्रत्यय का बोध हो गया है, वहाँ संख्या और कारक के अर्थ का ज्ञान नहीं होना चाहिए जैसे “दान” “परम” इन दोनों में प्रत्यय का बोध हो गया है, परन्तु जो प्रत्यय को नहीं जानते हैं उन्हें भी इससे संख्या और कारक का ज्ञान होता है, अतः दोनों को शब्द का ही अर्थ मानना चाहिए। पाणिनि ने (अष्टा १, २, २३ से २६) लिंग और बचन के विषय में लोकोप्यबन्धन को ही प्रमाण माना है। शब्दों के लिंग और बचन का निर्णय लोकोप्यबन्धन को ही कर करना चाहिए। भट्टहरि न इसका कारण विवक्षा और लोकोप्यबन्धन को बताया है। वाक्य ३ पृ० ४४० से ४४४।

प्रत्ययों का अर्थ—पाणिनि ने ‘कर्मविद्वितीया’ (अष्टा० २, ३, २) आदि सूत्रों के द्वारा सुप्त प्रत्ययों का अर्थ कर्म, करण, सम्प्रदान आदि बताया है। पतञ्जलि का कथन है कि सुप्त प्रत्यय कर्म, करण आदि के अतिरिक्त एक बचन। विवचन, बहुवचन संख्या का भी बोध कराते हैं। तिङ् प्रत्यय भी वर्तमान परोक्ष आदि अर्थ के अतिरिक्त संख्या का भी बोध कराते हैं।

सुप्ता कर्माद्योऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा विक्राम् ।

प्रसिद्धो नियमस्तत्र नियमः प्रकृत्येषु वा ॥ महा

चार प्रकार के प्रत्यय—जगदीश ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में प्रत्ययों को चार भागों में विभक्त किया है। १, विभक्ति, सुप्त, और तिङ्, २, धातु के अंश तिङ्, सन्, बच् आदि जो कि धातु के एक भाग बन कर रहते हैं। ३, उद्भित, अपत्य, शेषिक, मत्वबन्ध आदि प्रत्यय। ४, कन्, वन्, अनीयद्, वृच् आदि यदि स्वार्थिक प्रत्यय के आदि की भी पृथक् गणना की जाय तो इनकी संख्या चार के स्थान पर पाँच हो जाती है। शब्दशक्ति० का ६०।

दा प्रकार की विभक्तियाँ—पाणिनि न विभक्ति दो प्रकार की बताई है,

पद् और पदार्थ

सुप और तिङ् । (अष्टा० १, ४, १०४) पदञ्छलि ने 'सहयुष्टेऽप्रधाने' (अष्टा २, ३, १६) में सुप् विभक्ति दो प्रकार की बताई है, १, कारक विभक्ति जो कि कारक अर्थात् कर्तृ भादि का अर्थ बताती है । २, अपपदविभक्ति जो कि किसी पद को मानकर विभक्ति होती है, जैसे नमः स्वाहा भादि शब्दों के साथ षतुर्थी विभक्ति, हरये नमः, अग्रये स्वाहा । पदञ्छलि का निर्णय है कि जहाँ पर दोनों प्रकार की विभक्तियाँ प्राप्त होती हैं वहाँ कारक विभक्ति वसवान् होती है । अतएव "नमस्तच्छोति वेवान्" प्रयोग में षतुर्थी न होकर द्वितीया विभा.छ होती है । कैयट ने (महा ५, १, ६६) तथा नागेश ने परिभाषे-दु शेषर (परिभाषा १ ३) में "नमस्तच्छोति वेवान्" प्रयोग में षतुर्थी न होकर द्वितीया विभा.छ होती है । कैयट तथा जगदीश ने शम्भुराक्षिप्रकाशिका (कारिका ६७) में विभक्ति के इन दो प्रकारों का विवेचन किया है । वेजो, महा २, ३, १६ ।

मरुहरि ने इन विभक्तियों की संख्या ७ निर्धारित की है जिनमें कर्म करण भादि ६ हैं, तथा सम्बन्ध को लेकर इनकी संख्या ७ होती है । (वाक्य० ३ पृ २०२) । इनमें भी कर्म ७ प्रकार का है, करण तीन प्रकार का सम्प्रदान ३ प्रकार का, अपादान ३ प्रकार का, अभिकरण ३ प्रकार का है । मरुहरि ने वाक्यपदीय के सायन समुद्रेश कांड ३ (पृ० २०२ से २६७) तथा कौरव भट्ट ने वैषाकरण सुपय के मुखनिर्णय में इसका बहुत विस्तार से विवेचन किया है, मट्टोजिपीठ और कौण्डभट्ट ने सत्पे में सुप् प्रत्ययों का अर्थ किया है कि द्वितीयां (कर्म) वृतीया (करण) और सप्तमी (अभिकरण) का अर्थ है आत्म्य, पंचमी (अपादान) का अर्थ है अभाव, षतुर्थी (सम्प्रदान) का अर्थ है, जरेय और षष्ठी क्र अर्थ है सम्बन्ध । अथवा कर्म भादि ६ विभक्तियों का अर्थ शक्ति है तथा कारक षष्ठी का भी अर्थ शक्ति ही है । 'षष्ठी शेषे' (अष्टा २, ३ ३०) से जो पंढी की जाती है, केवल उसका अर्थ सम्बन्ध होता है । मूषण कारिका २४ की व्याख्या ।

आधयोऽवधिकरेयः सम्बन्धःशक्तिरेव वा ।
 यथायथं विभक्त्यर्थाः सुपं कर्मैति माप्यतः ॥

मूषण का० २४ ।

प्रत्यय वाचक और द्योतक—मरुहरि ने इस विषय में एक यह भी विचार रखा है कि विभक्तियाँ वाचक हैं वा द्योतक । यदि शब्द ही अपर्युक्त विवरण के अनुसार, पूर्वोक्त अर्थों, जाति व्यक्ति, लिंग संख्या और काठक का बोधक है तो उस अवस्था में सुप् प्रत्यय केवल कर्म करण भादि कारकों तथा एक वचन द्विवचन भादि संख्याओं के द्योतक (व्यंजक) माने जायेंगे, और यदि शब्द पूर्वोक्त तीन अर्थों जाति वचन और लिंग का ही बोधक है तो सुप् प्रत्ययों को कारक और संख्याओं का वाचक माना जायगा । मरुहरि के लेख से ज्ञात होता है कि प्राचीन भाषायों में इस विषय पर मतभेद था । कुछ सुप् प्रत्ययों को वाचक मानते थे,

और कुछ चोत्क । अतएव मनुहरि कहते हैं कि विभक्तियों संख्या और अक्षरों की संख्या का चोत्क है । वाक्य २, १६६ ।

मनुहरि ने इस विषय में दो प्रकारों का उल्लेख किया है, जब यह माना जाता है कि प्रकृति में ही प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ है, तब प्रकृति के अर्थ को बताने के लिए प्रकृति प्रत्यय के समुदाय का प्रयोग किया जाता है । वह समुदाय संख्या आदि से कुछ अर्थ का बोधक होता है । पुरुवरज । अतः मनुहरि कहते हैं कि प्रकृति प्रत्यय समुदाय संख्या से कुछ अर्थ का बोधक है । वाक्य ० २, १६६ ।

दूसरा प्रकार यह है कि शब्द संख्या आदि का बोधक नहीं है, किन्तु प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय द्विवचन आदि के रूप में अपने स्वरूप के भेद से संख्या आदि से कुछ अर्थों का बोध कराता है । पुरुवरज, वाक्य ० २, १६७ ।

अन्वयव्यतिरेक से अर्थ निर्णय—यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि वैयाकरणों का सिद्धांत है कि “न केवलं प्रकृति प्रयोजन्या नापि केवलः प्रत्ययः” “अपार्थ न प्रयुञ्जति” न केवल प्रकृति का ही प्रयोग करना चाहिए और न केवल प्रत्यय का सूत्र या श्लोक प्रत्यय लगाए बिना किसी पद का प्रयोग नहीं करना चाहिए । मनुहरि ने एक प्रश्न उठाया है कि वैयाकरणों के मत से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है । पद या वाक्य को ही वे सार्वक मानते हैं । प्रकृति और प्रत्यय को पृथक् करते हैं, तभी क्त दोनों की शक्ति का पूरा-पूरा ज्ञान होता है । विभाजन करने पर वह किस आधार पर कहा जाता है कि यह प्रकृति का अर्थ है और यह प्रत्यय का । इसका उत्तर पतञ्जलि ने दिया है कि अन्वय और व्यतिरेक से यह निर्णय किया जाता है कि कितना प्रकृति का अर्थ है और कितना प्रत्यय का । जितने अर्थ को बताने बढ़ाने से जितना अर्थ का अर्थ मटका बढ़ता है, उतना उसका अर्थ समझा जाता है । सुबन्त और तिबन्त दोनों प्रकार के पदों का इसी अन्वय व्यतिरेक के आधार पर पतञ्जलि ने अर्थ निर्णय किया है । महा १, २, ४४ तथा १, ३, १ ।

मनुहरि ने भी पतञ्जलि का ही अनुसरण किया है—

ये शब्दा नित्यसम्बन्धा विवेकं घातशक्यम् ।

अन्वयव्यतिरेकात्प्राग्गो विभज्यते ॥

वाक्य ० २, १६८ ।

— एक शब्द में अर्थों का अर्थ नहीं होता — प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ का अपोहार के आशय से निर्णय किया जाता है, परन्तु यहाँ यह भी मनुहरि ने स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ अन्वय व्यतिरेक से अर्थ पूरा-पूरा स्पष्ट नहीं होता यहाँ अपोहार का आशय नहीं हैना चाहिए । जैसे कृप, सूप, मूप आदि शब्दों में क, स, प और उप का पूरा-पूरा अर्थ नहीं है । ये शब्द ही पूरा हैं । अतएव

समूह को ही अर्थान्तरवाची मानना चाहिए। भवृंहरि का अभिप्राय यह है कि राज्य में प्रत्येक वर्ग का अर्थ नहीं होता है, अपितु समुदाय ही सार्वक होता है।
वाक्य० २, १७१।

घातु का अर्थ—घातु के अर्थ के विषय में महोत्रिदीहित ने और कौबह मह ने ब्रह्मण्डस्य भूषण में लिखा है कि घातु के दो अर्थ होते हैं १—क्रिया का फल, २—व्यापार। सिद्ध प्रत्ययों का अर्थ है, १—फल का आभय, अर्थात् कर्म, और २—व्यापार का आभय अर्थात् कर्ता।

फलव्यापारयोर्घातुपदयोस्तु तिरुः स्मृताः।

भूषण का० २।

फल व्यापार का विरोपण है। व्यापार विरोप्य है। अतएव फल में व्यापार की प्रधानता रहती है। जैसे चावल प्रकाश है, कमल में चावल का गीला होना फल है उसमें क्रिया की प्रधानता रहती है। कौबहमह का कथन है कि कर्ता, कर्म संख्या और काल प चारों तिरु प्रत्ययों के अर्थ हैं। इनमें कर्ता व्यापार का विरोपण है, और कर्म फल का। संख्या कर्ता में प्रत्यय होने पर कर्ता में और कर्म में प्रत्यय होने पर कर्म में रहती है, अतः संख्या फल और व्यापार दोनों का विरोपण है। काल व्यापार का विरोपण होता है। भूषणकारिका २ की व्याख्या।

नागेश ने मंजूषा में आत्वर्थ निरूपण में घातु का अर्थ किया है कि फल के अनुकूल वस्तुसमुच्च व्यापार घातु का अर्थ है। फल के अर्थ का स्पष्टीकरण किया है कि फल उसे कहते हैं जो कि व्यापार से उत्पन्न होने वाला हो और कर्तृ बाध्य में व्यापार का विरोपण बन कर रहता है, व्यापार विरोप्य होता है। कर्मबाध्य में फल विरोप्य होता है। व्यापार का अर्थ है, घातु के अर्थ रूप फल का जनक होते हुए घातु का बाध्य होना। फल के अनुकूल काल का अभिप्राय यह है कि फल में जो अन्याय है, उसका जनक होना।

नागेश न फल और व्यापार दोनों को पूर्यत् घातु का अर्थ मानने में यह आपत्ति की है कि दोनों का बहेश्य और विवेक रूप में अन्वय होने लगेगा। फल को विरोपण और व्यापार को विरोप्य ऐसे अवज्ञान में कर्तृ बाध्य व्यापार को कारण मानना होगा और इसके विपरीत फल को विरोप्य और व्यापार को विरोपण ऐसे अर्थ में कर्मबाध्य फल की उपस्थिति को कारण मानना होगा। इस प्रकार से दो कार्य कारण भाव की कल्पना करनी पड़ेगी। घातु के दो अर्थों के सिद्ध दो शक्तियों की कल्पना, आत्वर्थ के बोध जनक दो सम्बन्धों की कल्पना में बहुत गौरव है। अतः नागेश की सम्मति है कि फल मुक्त व्यापार या व्यापार मुक्त फल घातु का अर्थ है। कहाँ पर कौन सा अर्थ है, इसका निर्णय कर्त प्रत्यय या कर्म बाध्यप्रत्यय करेंगे। मंजूषा, आत्वर्थनिरूपण।

की अविवक्षा से धातु सकर्मक होने पर भी जब उसके कर्म को न कहना अभीष्ट होता है, तब धातु अकर्मक हो जाती है। वा (वेना) धातु सकर्मक है, परन्तु "दीक्षितो न पचति, न पचति, न जुहोति" (संन्यासी की वीक्षा को प्राप्त व्यक्ति न वेता है, न पकता है और न हवन करता है) प्रयोगों में वेना, पकता, पक करना धातुएँ सकर्मक होते हुए भी कर्म की अविवक्षा से अकर्मक हैं।

भातोरर्वास्तर वृषेपत्त्वर्चेतोपसप्रहात् ।

प्रसिद्धेरविवक्षात् कर्मबोऽकर्मिका क्रिया ॥

वाक्य० ३, पृ० २३५ ।

महर्षिहरि का कथन है कि वह बार प्रकर जो सामान्य रूप से बताए गए हैं, इनके अतिरिक्त अपसर्ग काल आदि कर्म से भी सकर्मक धातु अकर्मक हो जाती हैं। वह भेद कई प्रकार के हैं जैसे, चर् (जाना) धातु सकर्मक है, परन्तु चर् अपसर्ग लगाने से चर् धातु 'वाप्य वचरति' (माप बटती है) "धूम वचरति" (घुर्मा उठता है) प्रयोगों में अकर्मक है। वाक्य० ३ पृ २३५ ।

इसके विपरीत कितने ही धातु जो अकर्मक हैं, अपसर्ग लगाने से सकर्मक हो जाते हैं। मृ (हाना) अकर्मक है, परन्तु अमुमृ (अनुभव करना) जैसे "सुखम् अमुमृचति" (सुख का अनुभव करता है) सकर्मक हो जाती है।

अकर्मका अपि वै लोपसर्गा सकर्मका मन्विति । महा० १, १, ४३ ।

मीमांसकों और नैयायिकों का मत नागेश ने मञ्जूषा के भास्वर्य निरूपण में, कौबहमट्ट ने मूषस के भास्वर्य निरूपण प्रकरण में तथा नगेश ने तद्वच चिन्तामणि के धातुवार एवं गदावर ने भ्रुत्वचिचार में मीमांसकों के मत का विस्तारपूर्वक स्पष्टन किया है। नागेश ने मञ्जूषा में मीमांसकों के मत का स्पष्टन किया है कि वे इस को ही धातु का अर्थ मानते हैं और व्यापार का प्रत्यय का अर्थ।

मीमांसकः फलं भास्वर्यो व्यापाट प्रत्ययार्थ इति वदन्ति । मञ्जूषा ।

नगेश ने तद्वचचिन्तामणि राष्ट्र स्पष्ट (पृ० ८४७) में मीमांसकों के मत का स्पष्टन करते हुए लिखा है कि मञ्जनाचार्य का कथन है कि धातु का अर्थ फल है। यह धातु का अर्थ गीसा होना ही ज्ञापक के कारण मानना चाहिए। इसके लिए अलग भाग अस्ताना आदि व्यापार को धातु का अर्थ मानने में गौरव होगा। इसी प्रकार गम् धातु का अर्थ है, अन्व स्थान से संबोध, पत् का धीमे के स्थान से संबोध, त्यज का विभाग। इन फलों का जनक व्यापार धातु का अर्थ नहीं है। भास्वर्य फलमिति मञ्जनाचार्यः । तद्वच० पृ० ८४७ ।

नागेश ने (मञ्जूषा, भास्वर्य निरूपण) मीमांसकों के मत का स्पष्टन करते हुए लिखा है कि पाणिनि ने 'सः कर्मणि' (अप्य० ३, ४, ६३) सूत्र में सिद्ध प्रत्ययों का

अर्थ कर्ता, कर्म और भाव बताया है। इस कथन से विरोध पड़ेगा। तिङ् प्रत्ययों से व्यापार अर्थ नहीं निकलता है। पञ्चि (पञ्चता है) आदि प्रयोगों में व्यापार को तिङ् का अर्थ मानने पर विभिन्न व्यापारों जैसे फू फू करना, भाग खटाना आदि के ज्ञान के लिए अनेकों प्रत्ययों में शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः व्यापार को धातु का अर्थ मानना चाहिए। व्यापार को धात्वर्थ मानने पर सकर्मक और अकर्मक का विभाजन नहीं हो सकेगा। हैलो, भूपख, कारिका २।

नागेश ने इस विषय में रङ्गकोशकार के मत का उल्लेख किया है कि वे धातु का अर्थ व्यापार मानते हैं और तिङ् का अर्थ उत्पादन। उनके मतानुसार पञ्चि का अर्थ है "पाकमुत्पाद्यति" (पाक को उत्पन्न करता है)। तत्त्व० पृ० २६०।

गदाधर ने स्मृत्यतिवाह के द्वितीय चारक में धातु का अर्थ केवल व्यापार मानने पर यह आक्षेप किया है कि "स्वयति" (जोड़ता है) "गच्छति" (जाता है), त्याग, गमन आदि वाक्य से किसी बिलक्षण अर्थ का बोध नहीं होगा। नैयायिकों का मत है कि पदों की अपेक्षा वाक्य में कुछ बिलक्षणता व्यवस्थित रहती है। स्मृत्यतिवाह, पृ० २०८।

श्रीवदभट्ट ने केवल व्यापार को अर्थ मानने पर यह आक्षेप किया है कि कोई धातु सकर्मक नहीं हो सकेगी। क्योंकि सकर्मक का लक्षण यह किया गया है कि धात्वर्थ फल और व्यापार जब विभिन्न अभिप्रेरणों में रहते हैं, तब धातु सकर्मक होती है। केवल व्यापार अर्थ मानने पर यह व्यवस्था न हो सकेगी। भूपख (कारिका ४) की व्याख्या।

वैवाकरियों के मुख्य नैयायिक भी धातु का अर्थ फल और व्यापार मानते हैं। अतएव गदाधर ने कहा है कि गम् आदि धातुओं का अर्थ है संयोग आदि फल विशेष से युक्त व्यापार। स्मृत्यतिवाह पृ० २०६।

नैयायिकों के मत में मुख्य अन्तर यह है कि वे तिङ् प्रत्ययों का अर्थ कर्ता या कर्म न मानकर कृति या प्रयत्न मानते हैं। नागेश ने (भूज्या, धात्वर्थनिरूपण) तथा श्रीवदभट्ट (भूपख, धात्वर्थनिरूपण) ने नैयायिकों से इस मत का बहुत विस्तार से खरबन किया है। मट्टोजिदीक्षित ने यत्न अर्थ मानने पर यह आक्षेप किया है कि सब धातुओं को अकर्मक मानना पड़ेगा।

हम्-उत्कर्माऽऽपरोर्बहि यज्ञोऽर्थ इत्यतः। भूपख, कारिका ४।

उपसर्ग सहित क्रिया धातु है—मण्डूकरि ने धातु के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि अट् आदि की व्यवस्था के लिए धातु और उपसर्ग को पृथक् किया जाता है, वस्तुतः धातु और उपसर्ग मिलकर ही क्रियावाची हैं, अतः उपसर्ग सहित क्रिया को ही धातु समझना चाहिए। पुटवराज, वाक्य० २, १८२।

पतञ्जलि ने 'गतिर्गौ' (अष्टा० ८, १, ७०) सूत्र की व्याख्या में यह स्पष्ट किया है कि, घातु और उपसर्ग, का सम्बन्ध अन्तरंग है और साधनों के साथ उसका सम्बन्ध बहिरंग है (महा० ८, १ ७०) उपसर्ग विशिष्ट क्रिया का ही कारकों के साथ सम्बन्ध होता है। वाक्य २, १८४।

उपसर्गों का अर्थ—पतञ्जलि ने 'गतिर्गौ' (अष्टा० ८, १, ७०) के माध्य में ही वह भी स्पष्ट किया है कि घातु में ही उपसर्गों का अर्थ भी अन्तर्निहित रहता है, उपसर्ग उस अर्थ को घोषित करता है। महा० ८, १, ७०।

भट्टहरि ने पतञ्जलि के भाव को स्पष्ट किया है कि कहीं पर जैसे पचति (पकावा है) आदि में प्रपञ्चति (विरोध रूप से पकावा है) का अर्थ सम्भव है, परन्तु केवल घातु से इस अर्थ की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती है। प्रपञ्चति उपसर्ग के लग जाने से उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है अतः उपसर्गों को घोषक कहा जाता है। वाक्य २, १८६।

उपसर्गों के अर्थ के विषय में एक यह प्रश्न पड़ता है कि क्या वही मत्व का कि उपसर्ग घोषक है या अन्य मत्व भी वे। भट्टहरि ने इस विषय में प्राचीन भाषार्यों के तीन विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। १, उपसर्ग केवल घोषक ही नहीं, अपितु विरोध अर्थ के वाचक हैं, जैसे स्वा मातु का अर्थ है रुकना परन्तु प्र उपसर्ग लगाने से 'प्रस्थान' बनना अर्थ प्र उपसर्ग के कारण हो जाता है। अतः उपसर्ग गति आदि अर्थ का वाचक है। २, उपसर्ग घोषक भी हैं। ३, घातु और उपसर्ग मिलकर अर्थ का घोष करते हैं, उपसर्ग घातु में केवल शक्ति का आधान करता है, अतः उपसर्गों को सहकारी समझना चाहिये।

एत वाचको विशुपाणां सम्मवाह घोषकोऽपि वा।

शक्याभावाय घातोर्वा सहकारी प्रयुज्यते ॥

वाक्य २, १६०।

भट्टहरि ने इस विषय में वैयाकरणों के मत का उल्लेख किया है कि उपसर्ग घोषक ही हैं। वाचक नहीं। स्या घातु प्रसिद्धि के कारण रुकना अर्थ बघाती है अतः केवल घातु से बनना अर्थ प्राप्त नहीं होता है। वस्तुतः घातुएं अनेकवाचक हैं। स्या घातु गतिवाची भी है। उपसर्ग उस अर्थ का घोषक है। पुत्रयराज, वाक्य २, १६१।

उपसर्गों की अनर्थकता का स्पष्टीकरण— पाणिनि ने 'अधिपरि अनर्थकी' (अष्टा० १, ४, ६३) सूत्र में अधि और परि उपसर्गों को अनर्थक कहा है। पतञ्जलि ने इसको स्पष्ट किया है कि अनर्थक का अर्थ यह नहीं है कि अधि और परि उपसर्गों का 'अप्यागच्छति, पर्यागच्छति' (आता है) आदि में वस्तुतः कोई अर्थ नहीं है अपितु इसका भाव यह है कि घातु से जो अर्थ कहा गया है, वही अर्थ वह भी बघाते हैं, इनके लगाने से कोई अर्थ में विरोधता नहीं आती है अर्थ

में अन्तर न ज्ञाने के कारण इन्हें अनर्थक कहा गया है। यदि इनके कारण कोई विशेषण नहीं आती तो इनका प्रयोग ही क्यों उक्त स्थलों में किया गया है। इसका उत्तर पदसूत्रि ने दिया है कि अर्थ उक्त होने पर भी स्पष्टीकरण के लिए कुछ शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता है, जैसे बिना उनके प्रयोग के भी वही अर्थ होता है। जैसे 'ब्राह्मणावानय' (दो ब्राह्मणों को स्नाओ) और 'ब्राह्मणौ श्वायानय' में अर्थ में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु द्वि शब्द के लगाने से दो का अर्थ और स्पष्ट हो जाता है अतः पाणिनि का यह भाव कदापि नहीं समझना चाहिए कि वे इन उपसर्गों को निरर्थक समझते थे। मन्त्र० १, ४, ६३।

मद हरि ने इसी भाव को स्पष्ट किया है कि अभि और परि के बिना जितना धातु का अर्थ होता है, अभि और परि के लगाने पर भी वही अर्थ रहता है। दोनों का प्रयोग अर्थ की स्पष्टता के लिए होता है। वाक्य० २, १६१।

नैयायिकों का मत—मगेश ने तत्त्वचिन्तामणि में नैयायिकों के मत का उल्लेख किया है कि उपसर्ग धोतक हैं वाचक नहीं। धोतकता का अर्थ है उपसर्ग के लगाने से धातु की अर्थ विशेष में तात्पर्यमाहकता या अर्थ विशेष की शक्ति। तथा धातु का ही अर्थ गमन भी है, य उपसर्ग उक्त तात्पर्य का माहक है। शब्दसंग्रह, पृ० २२४ से २२६।

उपसर्गास्तु धोतका न वाचका। तत्त्व० पृ २२४।

निपातों का अर्थ—हेसाराज ने (वाक्यपदीय ३ पृ० २ से ३) उपसर्ग निपात और कर्मप्रवचनीय को पूमकू क्यों नहीं माना जाता है और क्यों पूमकू माना जाता है, इसपर प्रफ़रा डालते हुए इनका स्वरूप स्पष्ट किया है। हेसाराज का कथन है कि निपात उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय नाम और आख्यात की ही विशेषता बताते हैं, अतः उनका इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। नाम (सुवन्तपद) सिद्ध अर्थ का बोध कराते हैं निपात उनके अर्थ की विशेषता बताते हैं, अतः वे नाम के अन्तर आ जाते हैं। सिद्ध अर्थ को साक्षात् करे या तद्गत विशेषता को प्रकाशित करे, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। स्व आदि निपात जो कि द्रव्यवाची हैं, वस्तुतः नाम पद ही हैं। जो क्रिया प्रधान निपात हैं, जैसे हितकू (बिना) आदि, इनका आख्यात में अन्तर्भाव हो जाता है यह नहीं समझना चाहिए कि तिङन्त ही आख्यात होता है अर्थात् सभी कृत्, जिसमें क्रिया प्रधान है, आख्यात कहा जाता है। (भाव प्रधानमाख्यातम्)। अतएव उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय भी आख्यात ही समझने चाहिए। क्योंकि वे क्रिया की विशेषता को धोतित करते हैं इसी प्रकार क्रिया विशेषक निपात भी आख्यात ही हैं।

निपात और उपसर्ग में अन्तर—जो आचार्य सदा और क्रिया के दोनों को पूमकू करना चाहते हैं वे उपसर्ग और निपात को पूमकू करते हैं। वे दोनों

साक्षात् अवयुक्त नहीं हैं, अपितु नाम और आख्यात की विशेषता के द्योतक हैं। निपात और उपसर्ग में अन्तर यह है कि निपात नाम और आख्यात दोनों के अर्थ विषयक विशेषताओं का द्योतक है, किन्तु उपसर्ग केवल क्रिया की ही विशेषता का द्योतक है, यही इन दोनों में भेद है।

उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय में भेद—कर्मप्रवचनीय क्रिया विरोध से अत्यन्त सम्बन्ध के विशेषक हैं सम्बन्ध विरोध के द्योतक होने के कारण ये क्रियाविरोध के प्रकराक हैं, अतः उपसर्गों में इनका अन्तर्भाव होने से पद को चार प्रकार का माना गया है। परन्तु जो इनको पूषक मानते हैं, उनका कथन है कि कर्मप्रवचनीय साक्षात् क्रियाविरोध के प्रकराक नहीं है, अतः इनको पूषक मानना चाहिए। उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय में भेद यह है कि उपसर्ग वर्तमान क्रिया की विशेषता को द्योतित करता है और कर्मप्रवचनीय अतीत क्रिया के वाचक हैं। इनमें व्यतीत क्रिया के व्यापार का सम्बन्ध हो सकता है, वर्तमान क्रिया का नहीं यही दोनों में भेद है। हेलाकारक, वाक्य १, पृ० २ से ३।

निपात द्योतक और वाचक दोनों हैं—पतञ्जलि ने “अभ्ययं विभक्ति” (अष्टा० २, १, ६) की व्याख्या में इस बात को स्पष्ट किया है कि उपसर्ग का अतिरिक्त निपात द्योतक और वाचक दोनों हैं। विभक्ति, समीप, समृद्धि आदि अर्थ, जो कि अभ्ययीमाय समास के द्वारा बताए जाते हैं, अभ्ययों के ही अर्थ हैं। इन अर्थों में जो अभ्यय है श्लका समास होने पर वह समास अभ्ययीमाय कहा जाता है।

कैपट और नागेरा इस भाष्य के विवरण में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करते हैं कि शब्द के अनुसार ही निपात कहीं द्योतक होते हैं और कहीं वाचक। उद्योत महा० २, १, ६।

महर्षि ने निपातों के इस स्वरूप का परस्पर करते हुए लिखा है कि कुछ निपात द्योतक हैं जैसे वृषरथ प्लक्षरथ वृष और प्लक्ष)। इन्द्र समास के द्वारा जो सम्बन्ध का भाव बताया जाता है, उसको यहाँ च शब्द द्योतित करते हैं। च आदि कहीं पर पूषक रहते हुए वाचक भी हैं कहीं पर ये भागम के तुल्य रहते हैं और शब्द के साथ मिलकर अर्थ के वाचक होते हैं। वाक्य० २, १६४।

महर्षि ने निपातों के विषय में भी वास्तविक विवेचन के आधार पर यह निर्णय दिया है कि निपात भी द्योतक ही हैं। महर्षि कहते हैं कि निपातों को चाहे पहले प्रयोग किया जाय या बाद में, ये द्योतक ही रहते हैं। विकल्प समुच्चय आदि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने पर ये अर्थ के द्योतक ही होते हैं। पुरुवरज वाक्य २, १३२।

यहाँ यह ध्यान रखना है कि द्योतक के स्थान पर निपातों को वाचक ही क्यों नहीं माना गये। इसका उत्तर महर्षि ने दिया है कि च आदि निपातों का स्वयन्त्र

प्रयोग नहीं होता है अपितु किसी वाक्य में ही होता है, अतः इनको वाचक नहीं माना जाता है जिम प्रकार पद् में प्रत्ययों की वाचकता अपोद्धार दृष्टि से होने पर भी उनका स्वतन्त्र रूप से प्रयोग नहीं होता है। वाक्य० २, १६६।

ज आदि निपात नाना अर्थों के वाचक होते हुए भी परतन्त्र हैं, अतः उनको द्योतक ही कहना चाहिए। वाक्य २, १६८।

नैयायिकों का खण्डन—महोजिदीक्षित, कौटिल्य (मूषण, निपातार्थ निर्यय) तथा नागेश ने (मजूया, निपातार्थ निरूपण) में नैयायिकों के मत का विस्तार से खण्डन किया है। नैयायिकों का कथन है कि उपसर्ग द्योतक हैं, किन्तु उपसर्ग से सिद्ध निपात ज आदि वाचक हैं। इसके खण्डन में महोजि आदि ने विरोध बाव यह रखी है कि कोई कारण ऐसा नहीं है, जिसके आधार पर उपसर्गों और निपातों में यह अन्तर किया जाय। जिस आधार पर उपसर्ग को द्योतक कहा जाता है, उसी आधार पर निपात भी द्योतक है। जैसे अनुमूयते (अनुभव किया जाता है), में अनु उपसर्ग द्योतक है, उसी प्रकार साक्षात् क्रियते (साक्षात्कार किया जाता है) साक्षात् निपात द्योतक है।

द्योतका प्रादयो येन निपातारवाद्यस्तथा। मूषण कारिका ४२।

कर्मप्रवचनीय का अर्थ—पठञ्जलि ने कर्मप्रवचनीय को सार्थक शब्द बताते हुए इसकी व्याख्या की है कि “कर्म प्रोक्तवन्त कमप्रवचनीया” जो कर्म अर्थात् क्रिया को कह चुके हैं वे कर्मप्रवचनीय कहलाते हैं। जो वर्तमान अवस्था में क्रिया को नहीं करते हैं। कौन वर्तमान अवस्था को नहीं करते हैं। जो अप्रपुस्त पादु की क्रिया को करते हैं, वे कर्मप्रवचनीय हैं।

ये अप्रयुन्यमानस्य क्रियामाहुरते कर्मप्रवचनाया।

महा १, ४, ८३।

पुरणराज ने अतएव लिखा है कि ‘कर्म प्रोक्तवन्त’ का भाव है कि जो क्रियाछत्र विरोध सम्बन्ध को द्योतित करते हैं, वे कर्मप्रवचनीय हैं। वाक्य २, २०१।

मयु हरि ने कर्मप्रवचनीय का विस्तार से वर्णन किया है (वाक्य० २, १६६ से २०६)। मयु हरि का कथन है कि कर्मप्रवचनीय उपसर्गों के तुल्य क्रिया का द्योतक नहीं है। यह सम्बन्ध का वाचक भी नहीं है, क्योंकि पृष्ठी के स्थान पर द्वितीया विभक्ति से सम्बन्ध का बोध होता है। क्रिया पद् का इसके द्वारा आशेष नहीं होता है। कर्मप्रवचनीय केवल सम्बन्ध का द्योतक है। वाक्य० २, २०६।

पदार्थ जाति है या व्यक्ति

पाणिनि का मत—पठञ्जलि ने महामाध्य के प्रथम आहिक में ही इस प्रश्न को उठाया है कि पदार्थ जाति है या व्यक्ति। गाय आदि सभी राष्ट्रों का अर्थ

जायगा तो एक गाय के मरने से सारी गाएँ मर जानी चाहिये और एक गाय के उत्पन्न होने से सारी गाएँ उत्पन्न हो जानी चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति में विभिन्नता होती है। शब्दार्थ जाति होने पर यह विभिन्नता और अभिन्नता दो विरोधी गुण साथ नहीं रह सकते। व्यक्तियों की विभिन्नता को मानकर विग्रह किया जाता है कि "गायत्र गौरव" (गाएँ और गाय)। मानार्थक शब्दों में इह्य की पूरकता को मानकर एक शेष हो जाता है। जैसे अज्ञा, पादा, मर्या शब्दों में नाना शब्द मानकर एक शेष करके बहुवचन हो जाता है।

द्रव्याभिधानं व्याधिः। तथा च सिगावचनसिद्धिः। शोदनासु च तस्वारशमात्। महीकमनेकाधिकरखस्थं पुंगपत्। विनाशं प्राप्नुमधि च सर्वं तथा स्यात्। अस्ति च वैरूप्यम्। तथा च विग्रहः। धर्मेषु च मुख्यसंग्रहम्। महा० १, २, २४।

समन्वयवादी कात्यायन और पतञ्जलि—वाच्यति के मत का समझना ऊपर हो चुका है, कि जाति और इह्य दोनों को पदार्थ मानते हैं। कात्यायन और पतञ्जलि ने इस पर कई स्थानों पर विचार किया है और जाति तथा व्यक्ति दोनों का शब्द से बोध स्वीकार किया है। कात्यायन और पतञ्जलि ने जाति की जो व्याख्या की है, वह सारे प्रश्न का समाधान कर देती है। वे कहते हैं कि जातिवाचक शब्द से इह्य का भी बोध होता है और जाति का भी। इसको पतञ्जलि व्याकरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। जातिवाचक शब्द से इह्य का भी बोध होता है। गावों के एक बहुत बड़े मुँह में बैठे हुए ग्वाले से कोई पूछता है कि 'किसी गाय को बेल रहे हो?' ग्वाला सोचता है कि यह शब्द से गावों की बेल रहा है और पूछ रहा है कि क्या किसी गाय को बेल रहे हो। अतः ज्ञात होता है कि यह किसी विशेष गाय को ज्ञान में रक्कत कर रहा है।

जातिशब्देन हि द्रव्याभिधानम्। जातिशब्देन हि द्रव्यमप्यभिधीयत, जाति एपि नूनमस्य द्रव्यं विवक्षितम्। महा० १, २, ३८।

कैट और मागेरा ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि कभी जाति की प्रधानता रहती है और कभी इह्य की। जिस समय जैसा अभीष्ट होता है वैसा ही प्रयोग किया जाता है। जाति और व्यक्ति में कहीं पर कौनसा मुख्य है, इसका निर्णय वचन की इच्छा ही करती है। जब वचन को जाति अभीष्ट होती है, तब जाति का बोध होता है और जब व्यक्ति, तब व्यक्ति का बोध होता है प्रदीप उचोत। महा० १, २, ३८।

पतञ्जलि ने यह भी स्पष्ट किया है कि आकृति और इह्य जाति और व्यक्ति कभी पूरक नहीं किए जा सकते हैं। दोनों अभिन्न हैं।

अप्यतिरेकाद् द्रव्याहतयोः। महा० २, १, २१।

जातिवादी और व्यक्तिवाहियों में जो विवाद है उसको भी पतञ्जलि ने बहुत

चतुरता से सुसम्भवा है। पदञ्चलि कहते हैं कि यह नहीं समझना चाहिये कि जाति को पदार्थ मानने वाले व्यक्ति को पदार्थ नहीं मानते हैं और व्यक्ति को पदार्थ मानने वाले जाति को पदार्थ नहीं मानते। दोनों के मत में दोनों ही पदार्थ हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि कोई किसी को मुख्य समझता है और किसी को गौण। जाति को पदार्थ मानने वाले जाति को मुख्य मानते हैं और द्रव्य (व्यक्ति) को गौण। व्यक्तिवादी व्यक्ति को प्रधान मानते हैं और जाति को गौण।

न आकृतिपदार्थिकस्य द्रव्यं न पदार्थो द्रव्यपदार्थिकस्य वा आकृतिर्न पदार्थः। उभयोः समं पदार्थः। कस्यचित्तु किञ्चित् प्रधानमूढं किञ्चित् गुणमूढम्। आकृतिपदार्थिकस्याकृतिः प्रधानमूढा, द्रव्यं गुणमूढम्। द्रव्यपदार्थिकस्य द्रव्यं प्रधानमूढमाकृतिर्गुणमूढा ॥ महा० १, २, १४।

आक्षेपों का समाधान—अत्रावन और पदञ्चलि दोनों दोनों बातों की उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी जाति पर को मुख्य मानते हैं। अतएव व्यक्तिवाद को मानने में जो आक्षेप किए गए हैं, उनका समाधान उन्होंने सर्वत्र आकृतिवाद को मानकर किया है।

आकृतिप्रवृत्तात् सिद्धम्। महा० आ० २, 'अदृष्टम्'।

आकृतिवाद पर व्याडि ने जो प्रश्न उठाए हैं, उनका उत्तर दोनों ने निम्न रूप में दिया है। गुण अनित्य है, अतः लिंग और वचन वदनुसार हो जाएंगे। यह उत्तर अपूर्ण है, क्योंकि यदि वचन को अनित्य मानेंगे तो जाति की पकवा, जो कि सिद्धान्त है, नष्ट हो जाएगी। अतः दूसरा उत्तर देते हैं कि गुणों की विवक्षा अनित्य है, अतः लिंग और वचन हो जाएंगे। जब शब्द में स्त्रीत्व की विवक्षा होगी स्त्रीलिंग होगा, पुंस्त्व की विवक्षा में पुल्लिंग और दोनों की अविवक्षा में मपुंसक। वचन के विषय में भी जैसे व्यक्तिवादी के मत में वचन वाचनिक है, उसी प्रकार पकत्व में एकवचन, द्विवचन में द्विवचन और बहुत्व में बहुवचन होगा। अथवा जिस प्रकार गुणवाची शब्दों के आशय, के अनुसार लिंग और वचन होते हैं, उसी प्रकार यहाँ पर भी द्रव्य में जो आकृति है, उसके जो लिंग और वचन हैं, वही जाति के भी लिंग वचन हो जाते हैं।

लिंगवचनसिद्धेर्गुणविवक्षाजनित्यत्वात्। विवक्षात्। गुणवचनवद्वय।

महा० १ २ १४।

दूसरा यह आक्षेप कि जाति में ज्ञाना आदि सम्भव नहीं है। इसका उत्तर यह है कि जाति का ज्ञाना आदि सम्भव नहीं है, अतः जाति के साहचर्य वाली व्यक्ति का ज्ञाना आदि होगा। ऐसे स्थलों पर सबत्र व्यक्ति में ही कार्य होगा।

अधिकारव्यगति साहचर्यात्। महा० १ २, १४। असम्भवात्।

महा १, २, ४१।

चौसरा यह आक्षेप कि एक जाति नाना स्थलों पर एक समय में नहीं रहे सकती, जैसे वैश्वरूप । इसका उत्तर इन्द्र के बहादुरस्य द्वारा दिया जा चुका है । इन्द्र के मुख्य ही जाति भी एक समय में अनेकों स्थानों पर रह सकती है ।

चतुर्थ यह आक्षेप कि व्यक्ति के नाश और जन्म से जाति का नाश और जन्म होना चाहिए । इसका उत्तर यह है कि द्रव्य के नाश या उत्पत्ति से जाति का नाश आदि नहीं होता, क्योंकि जाति की आत्मा और व्यक्ति की आत्मा भिन्न है । जैसे वृक्ष के ऊपर लगी लता आदि वृक्ष के कट जाने पर भी नष्ट नहीं होती वही प्रकृत आत्मा की भिन्नता के कारण द्रव्य के नष्ट होने पर भी जाति नष्ट नहीं होती ।

आविनाशोऽनैकरम्यात् । अनेक आत्मा आकृतोद्गम्यस्य च ।

महा० १, २, ६४ ।

पचम यह आक्षेप कि द्रव्यों में बिरूपता और भिन्नता रहती है तथा भेदा ही विग्रह होता है । इसका उत्तर यह है कि आकृति मानने पर भी द्रव्य भेद से बिरूपता और विग्रह होते हैं ।

वैरूप्यविग्रहो द्रव्यभेदात् । महा १, २, ६४ ।

षष्ठ यह आक्षेप कि नानार्थकों में एक शेष करना पड़ेगा । इसका उत्तर यह है कि नानार्थकों में क्रिया की समानता या सक्रिया की समानता के कारण जाति का बोध होगा ।

अर्थेषु च सामान्यात् सिद्धम् । महा० १, २, ६४ ।

मनुहरि का मत—मनुहरि ने (वाक्य० १, ३८ से ३६) पतञ्जलि के अनुसार ही जाति और व्यक्ति दोनों मतों का निर्णय करते हुए सिद्धा है कि व्यक्ति वाही व्यक्ति में कार्य की सदा मातृकर व्यक्ति में रहने वाली जाति को स्वीकार करते हैं और जातिवाही शब्द के द्वारा जाति का महत्त्व करके जाति के द्वारा बोधित व्यक्ति में कार्यों को करते हैं ।

पतञ्जलि ने आकृति और द्रव्य की जो पारमार्थिक व्याख्या की है उसका बसोलेख पंचम अध्याय में किया जा चुका है । मनुहरि ने वृत्तीय काण्ड के जाति-समुद्देश और द्रव्य-समुद्देश (पृ० १ से ६५) में पतञ्जलि के अनुसार ही जाति और द्रव्य की वास्तविक व्याख्या बहुत विस्तार से की है । वास्तविक दृष्टि से जाति और व्यक्ति दोनों ही नित्य हैं । अतएव मनुहरि कहते हैं कि समस्त शब्दों के अर्थ जाति या द्रव्य हैं । दोनों ही नित्य हैं ।

पदार्थानामबोधारे जातिर्वा द्रव्यमेव वा ।

पदार्थो सर्वशब्दानां नित्यावैवोपपत्तिर्वा ॥

वाक्य० ३ पृ० ५ ।

भगवद् हरि ने अपने विवेचन में इस बात को सिद्ध किया है कि जाति का वास्तविक रूप सत्ता और आगे पछकर महासत्ता है, जिसको परब्रह्म कहते हैं। इसी से संसार का प्रादुर्भाव जाति होता है। इसी प्रकार द्रव्य को तात्त्विक दृष्टि से परब्रह्म का पर्याय बताते हुए द्रव्य को नित्य और उसे सारे शब्दों का अर्थ बताया है। भगवद् हरि का यह भी मत है कि पतञ्जलि ने जाति और द्रव्य की जो ऐसी व्याख्या की है, वाजप्यायन व्याधि दोनों आचार्यों का भी तात्त्विक दृष्टि से वही मत है। भगवद् हरि ने जाति और व्यक्ति का जो वर्णन किया है, उसका सारांश निम्न है—

जाति का स्वरूप—प्रत्येक शब्द सर्व प्रथम अपनी विरोध जाति का बोध करता है, समस्त शब्दों में साधारण रूप से रहने वाली शब्दत्व जाति जाति का नहीं। शब्द का अर्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होने के कारण अर्थ के साथ-तादात्म्य की कल्पना से अर्थ का ज्ञान होता है।

स्वा जातिः प्रथम शब्दे सर्वेरेवामिधीयते ।

ततोऽर्थजातिरूपेण तद्व्यापारोपकल्पना ॥

वाक्य ३ पृ० १२ ।

जाति को पदार्थ मानने पर शब्द से या तो जाति का ही बोध होता है या जातियुक्त व्यक्ति का बोध होता है। सब शब्द जाति के ही साक्षक होते हैं।

जातो पदार्थे जातिर्वा विरोधो वापि जातिवत् ।

शब्देरपेक्ष्यते धस्मादतस्ते जातिवाचिनः ॥

वाक्य० ३, पृ० १८ ।

जाति द्रव्य में प्राणशक्ति है—यहाँ पर एक यह प्रश्न उत्था है कि वस्तुओं में जैसा काल जाति के अस्तित्व में रहता है। उसकी अपेक्षा कर देने से इन सब में अभिन्नता ज्ञात होती है। इतने से केवल ज्ञान से व्यक्तियों से भिन्न जाति की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है। इसका उत्तर भगवद् हरि ने दिया है कि बिना जाति के वस्तु का व्यवहार ही नहीं हो सकता है। सब कुछ व्यवहार जाति के आश्रय से ही होता है। ये भिन्न वस्तुएँ हैं। या ये वस्तुएँ अभिन्न हैं, इस प्रकार का संसार में जो कुछ व्यवहार है वह जाति के संसर्ग के होने पर ही होता है। हेसोपेक्ष, वाक्य० ३, पृ० २३ ।

भिन्ना इति परोपाधिरभिन्ना इति वा पुनः ।

माभातमसु प्रपञ्चोऽयं संसृष्टेष्वेव जायते ॥

वाक्य० ३, पृष्ठ २३ ।

यदि जाति या सामान्य का वस्तु से सम्बन्ध न मानेंगे तो यह एक है, ये अनेक हैं, यह है, यह नहीं है, यह व्यवहार नहीं हो सकता है। जाति का सम्बन्ध होने पर ही एक संख्या को मानकर एक, विभिन्नता को मानकर अनेक,

अवशिष्टान और व्याकरखरान

अस्तित्व को मानकर "हूँ" और बाह्य रूप में अभाव को मानकर "नहीं" का व्यवहार होता है। हेत्वापत्तः ॥

नैकत्वं नापि मानात् न सत्त्वं न च नास्तित्वात् ।
आत्मतत्त्वेषु भाषाणामसंख्येयुः विधत्ते ॥

वाक्य ३, पृ० २३ ।

इसी भाव को अन्यत्र व्यक्त करते हुए हेत्वापत्तः ने कहा है कि गाय को जाति के सम्बन्ध के बिना न गाय कह सकते हैं और न यही कह सकते हैं कि गाय नहीं है। जाति का सम्बन्ध होने पर उसको गाय कहा जाता है, क्योंकि वास्तविक दृष्टि से सब कुछ ब्रह्म है, वह साक्षात् कभी व्यवहार का विषय नहीं है। यह मूलवस्तु ब्रह्म है। जब उसमें जाति का समावेश होता है, तब वह व्यवहार के योग्य होता है।

संसर्गादर्थे स्वतो गीर्णं गौः गोत्वामिसम्बन्धाद् गौर्गति ब्रह्मस्य साक्षात्
व्यवहारमेव ब्रह्मं परोपाधीयमानरूपविशेष व्यवहारमनुपतति । हेत्वापत्तः
वाक्य० ३ पृ० १२३ ।

मम्मट का कथन—मम्मट ने काव्यप्रकरा (द्वितीय अस्तास, सूत्र १०) में काव्यपर्याय के इस कथन को उद्धृत करते हुए जाति को पदार्थ में प्राणदायक कहा है। मम्मट ने हेत्वापत्तः के कथन का भाव सुरक्षित रखते हुए उसको बोधा सा शब्दिक अन्तर के साथ रखा है कि गाय स्वरूप से न गाय है और न गाय नहीं ही है, गोत्व जाति के सम्बन्ध से वह गाय कहाती है।

पदार्थस्य प्राणप्रदः, जातिः । उक्तं हि वाक्यपर्याये नहि गौः स्वरूपेण गीर्णा
प्यगौ गोत्वामिसम्बन्धाद् गौः ॥ काव्य० २, १० ।

जाति ब्रह्मरूप है—मदुर्हरि ने अष्टौ खरान का आशय लेकर जाति को ब्रह्म से प्रयत्न न मानकर उसे ब्रह्म का माया रूप माना है। मदुर्हरि कहते हैं कि इस संसार में एक ब्रह्म ही है, वह सर्वशक्तिमान् है, यही सब की आत्मा है। यह निश्चित मत है। माया पदार्थों में जो भेद होता है, वह अविद्या (माया) के कारण ही होता है। बस्तुतः भावों में भेद असत्य और कल्पनिक है। इस एक ब्रह्म की ही शक्तियों के भेद से नानात्व होता है, बस्तुतः मानात् नही है, इसके स्वरूप में भेद नहीं होता है। हेत्वापत्तः ।

सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णयः ।
भाषाणामात्मभेदस्य कल्पना स्यादभरिषिका ॥

वाक्य ३, पृ० २३ ।

ब्रह्म, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये सब पदार्थ प्रयत्न नहीं हैं, अपितु एक ब्रह्म की विभिन्न शक्तियाँ हैं। विशेषण व्यापारों से उसको विभिन्न शक्तियों

का अनुमान किया जाता है। इनका जब पद्यायोग्य सम्बन्ध होता है तब वे व्यवहार के योग्य होते हैं, पूयक् पूयक् व्यवहार के योग्य नहीं हैं। अतएव जाति और व्यक्ति का जो विभाग किया है, वह काल्पनिक ही है। हेताराज ।

तस्माद् द्रव्यादयः सर्वा शक्तयो मिदलक्षणा ।

संस्तुत्याः पुरुषार्थस्य साधिका न तु केवलाः ॥

वाक्य० ३, पृष्ठ २४।

जाति सत्य है और व्यक्ति असत्य—जाति को ब्रह्म की शक्तिरूप मानने पर यह प्रलभ होता है कि इस मत में जाति और व्यक्ति का विभाग किस प्रकार किया जाएगा। भट्ट हरि इसका उत्तर देते हैं कि प्रत्येक भावपदार्थ में दो भाव-तत्त्व नियम से रहते हैं, एक सत्यांश और दूसरा असत्यांश, दूसरे शब्दों में एक मूलतत्त्व या सूक्ष्मतत्त्व और दूसरा हरतत्त्व या स्पृष्टतत्त्व। जैसे स्वर्ण के आसु-पणों में मूलतत्त्व या सत्यांश सुवर्ण है और हरतत्त्व या असत्य अंश इसके मिश्र-मिश्र कुंडल आदि आकार हैं। इनमें जो सत्य अंश है उसको जाति कहते हैं और जो असत्य अंश है उसको व्यक्ति कहते हैं। हेताराज ।

सत्यासत्यो तु पी नाथो प्रतिभावं व्यवस्थितौ ।

सत्य पक्षत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयाः स्मृताः ॥

वाक्य० ३, पृष्ठ २८।

जाति महासत्ता है—इस प्रकार अद्वैतवाद के मानने पर परमार्थ सत्त्व परब्रह्म ही जाति है, उसी का दूसरा नाम महासत्ता है। गान आदि विभिन्न जातियाँ उसी के निर्वर्त हैं। आभय आदि अपने सम्बन्धियों के भेद से बह सत्ता गान आदि के रूप में मिश्र होती है उसी महासत्ता को जाति कहते हैं। उसी महासत्ता के बाधक सारे शब्द हैं। हेताराज ।

सबन्धिभेदात् सत्तैव मिथमाना गवादिषु ।

जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिता ॥

वाक्य ३, पृष्ठ २९।

सत्ता और धातु का अर्थ महासत्ता—समस्त शब्दों और समस्त धातुओं का अर्थ वही महासत्ता नामक जाति है। वह नित्य है, वह महात् आत्मा है। भाववाचक स्व और त प्रत्यय के द्वारा उसी महासत्ता का बोध कराया जाता है। वाक्य० ३, पृ० २६।

वह महासत्ता ही क्रिया और द्रव्य है—वह महामत्ता या जाति किस प्रकार से क्रिया और द्रव्य (नाम और आख्यात) हो जाती है, इसको स्पष्ट करते हुए भट्ट हरि कहते हैं कि इस महासत्ता में अचक्रमक्र समावेश होता है तब क्रिया के रहने से उसे भातु या क्रिया कहते हैं। जब उसमें क्रम की समाप्ति हो जाती है, तब उसे ही सत्त्व या द्रव्य कहते हैं।

प्रातःकृता विद्येपेयु क्रिया सैवाऽभिधीयते ।
क्रमरूपस्य संहारे तत्संभ्रमिति कथ्यते ॥

वाक्य० ३, पृ० ३० ।

भर्तृहरि ने इस प्रकार से बहते हुए संसार में जो कुछ क्रियाकलाप है, उसको जातिरूपी महासत्ता का ही विषय बताया है। यस्क ने निश्चय में महर्षि वाप्यर्षि-वर्षि का जन्म बहुत क्रिया है कि ६ भावतत्त्व के विचार हैं। जन्म होता है, है, परिश्रम होता है, बढ़ता है, पटता है और मरता है। निश्चय १, २।

भर्तृहरि का कथन है कि वह महासत्ता नामक जाति ही सत्ता में विचार के कारण बर्णुक्त ६ अवस्थाओं को प्राप्त होती है। इसका क्रमरा जिस-जिस राशि से सम्बन्ध होता है, वही के अनुसार वह प्रतीत होती है।

सैव मायविद्यारेणु पञ्चवस्थाः प्रपद्यते ।

क्रमेण शक्तिभिस्तामिरेषां प्रत्यक्षमासते ॥

वाक्य० ३, पृ० ३१ ।

भर्तृहरि के इस विवेचन से स्पष्ट है कि वैवाक्यक जाति या आकृति का क्या अर्थ लेते हैं, जाति रूप अर्थ नित्य कैसे है। और इसका शब्द (शब्दमय) के साथ नित्य सम्बन्ध कैसे है, यह जाति के स्वरूप को समझने से स्पष्ट हो जाता है।

व्यक्ति वा द्रव्य का स्वरूप

व्याहिके द्रव्यवाद का स्पष्टीकरण—भर्तृहरि और उनके व्याख्याकार हेत्वाचार्य ने व्याहिके के मत को बहुत सुन्दरता से स्पष्ट किया है। व्याहिके व्याहिके ने जो शब्द का अर्थ द्रव्य बताया है वह व्यावहारिक और पारमार्थिक, स्थूल और सूक्ष्म दोनों दृष्टि से ही अस्वन्त स्थापनीय है। हेत्वाचार्य का कथन है कि पतञ्जलि ने महामाय में जो यह कहा है कि द्रव्य नित्य और आकृति अनित्य है। आकृति बहुलती रहती है, द्रव्य बही रहता है, यह पतञ्जलि का कथन सीमावत्त्व में कहे गए व्याहिके के मत का अनुवाद मात्र है। हेत्वाचार्य वाक्य० ३, पृ० ८६ ।

हेत्वाचार्य कहते हैं कि द्रव्य दो प्रकार का है, एक पारमार्थिक और दूसरा व्यावहारिक। द्रव्य का द्विविध पारमार्थिक सांख्यव्यवहारिक का (हेत्वाचार्य, वाक्य० ३ पृ० ८२) ।

इसमें से व्यावहारिक को लेकर शब्द और अर्थ विषयक सब लौकिक व्यवहार चलता है। व्यावहारिक अवस्था में स्थूल रूप से व्यक्ति में ही शक्ति का मह्य होता है।

व्यावहारिक पक्ष—भर्तृहरि ने द्रव्य के इस व्यावहारिक दृष्टिकोण का पक्ष द्रव्य समुद्रेण (वाक्य० ३ पृ० १३६ से १४४) में बर्णन किया है और द्रव्य

का अर्थ किया है कि जिसको शब्द में रक्षक, "यह है" इस प्रकार वस्तुसकितक सर्वनाम का प्रयोग होता है, उस अर्थ को द्रव्य कहते हैं। वह विरोध्य रूप में विवक्षित रहता है। हेत्ताराज ने इसको संक्षेप में दिया है कि "इदं तत्" (यह है) इस प्रकार सर्वनाम के द्वारा बोधन के योग्य को द्रव्य कहते हैं। (हेत्ताराज वाक्य० ३, पृ० १४१)।

इदं तदिति सर्वनामप्रत्ययमशंयोग्यं द्रव्यम्। हेत्ताराज।

परमार्थिक पद—हेत्ताराज का कथन है कि मनु इति ने जाति समुहेश में जो आचार्य बाजप्यायन के द्वारा के अनुसार जाति की पारमार्थिक व्याख्या की है, वह जाति रूप पदार्थ विरोध्य रूप है और व्याधि ने जो पदार्थ द्रव्य को बताया है, वह द्रव्य उसका विरोध्य है। मनु इति द्रव्य की पारमार्थिक व्याख्या करते हुए कहते हैं कि आत्मा, वस्तु स्वभाव, शरीर और तत्त्व ये द्रव्य के पर्यायवाची शब्द हैं। वह द्रव्य नित्य है।

आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीर तत्त्वमित्यपि।

द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तस्य नित्यमिति स्मृतम्॥

वाक्य० ३, पृ ८५।

हेत्ताराज ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि अद्वैतवादी आत्मा शब्द के द्वारा उस द्रव्य का ही बोध कराते हैं। आत्मा ही असत्बोधाधि से पृथक् होकर तेजोमय प्रकाशमान द्रव्य है वही शब्दों का अर्थ है। बौद्ध दारानिक वस्तु (स्वसङ्ग्यात्मक) को द्वैतवादी स्वभाव को प्रकृतिवादी शरीर को और पार्थक्य चार मूल तत्त्व को द्रव्य कहते हैं। इन सब शब्दों के द्वारा पारमार्थिक रूप में एक ही वस्तु कही जाती है।

असत्य आकार कवल बोध का साधन—सारे शब्दों का जो पारमार्थिक तत्त्व है, उसका साक्षात् स्पर्श नहीं किया जा सकता है। सत्य वस्तु का असत्य आकारों से निरक्षय होता है। असत्य बोधाधि से युक्त सारे शब्दों से सत्य द्रव्य (अद्य) का बोध कराया जाता है। जिस प्रकार सुवर्ण के आभूषणों का आकार अस्तित्व है, किन्तु शुद्धतत्त्व सुवर्ण ही विभिन्न आकार युक्त आभूषणों के द्वारा कहा जाता है। वाक्य ३, पृ० ८६ से ९०।

दो तत्त्व नहीं हैं—मनु इति कहते हैं कि प्राचीन ऋषियों का मत है कि तत्त्व और अतत्त्व में कोई भेद नहीं है। तत्त्व का ही अविचारशीलता से अतत्त्व समझ लेते हैं। हेत्ताराज ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अद्वैत मत में सत्य और असत्य दो पदार्थ नहीं हैं। इनको पृथक् मानने पर अद्वैत की हानि होती है। पारमार्थिक दृष्टि से एक और अद्वितीय अद्य ही है।

न तस्वातस्वयोर्मेष इति बुद्धेभ्य आगमा ।

अतएवमिति मन्यन्ते तएवमेवाऽविस्वारितम् ॥

वाक्य० ३, पृ ८६ ।

मद्य से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। जो यह प्रकाश है, वह विद्या है और जो अप्रकाश है, वह अन्वकार और अविद्या है।

तत्रयोऽर्थ प्रकाशः स विद्या । अप्रकाशस्तु तमोऽविद्या । हेत्वात्तज्ज, पूर्ववत् ।
पतञ्जलि ने लिखा है कि “अकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवाऽवशिष्यते” आकृति (जाति) के नष्ट होने पर भी केवल द्रव्य शेष रहता है। इसी भाव को मरुहरि ने कहा है कि आकृति (जाति) के भी नष्ट होने पर जो अन्त में शेष रहता है, वह सत्य है, वह नित्य है, यही शब्द अ वाक्य है, उसी को शब्दतत्त्व अर्थात् शब्द मद्य कहते हैं। इसमें कभी कोई अन्तर नहीं होता है। इसी को पतञ्जलि ने प्रुव कृतत्व भावि विशेषण लगाकर नित्य बताया है।

सत्यमाकृतिसंहारे यद्गते व्यवतिष्ठते ।

तद्विषयं शब्दवाक्यं तच्छब्दतत्त्व न निघण्ते ॥

वाक्य० ३, पृष्ठ ९० ।

द्रव्य अनिर्बन्धनीय है—मरुहरि ने व्याजि क अनुसार द्रव्य को येषान्त की चरम सीमा पर पहुँचा दिया है और उसे सचवा अनिर्बन्धनीय और अन्वबहार्थ परमद्य बताते हुए लिखते हैं कि न वह है, और न वह नहीं है। न वह एक है और न अनेक है। न वह संयुक्त है और न वह विभक्त है। न वह विकारयुक्त है और न वह विपर से रहित है।

न तदस्ति न तत्रास्ति न तदेकं न तत्पुत्रकम् ।

न संसृष्टं विभक्तं वा विहृतं न च भान्यथा ॥

वाक्य० ३, पृ० ९१ ।

। हेत्वात्तज्ज कहते हैं कि अतन्त अद्भुत वृत्ति से अनेक भाव पदार्थों के रूप में विपर होने से इसको अविहृत भी नहीं कहा जा सकता है। अतः वह परमद्य रूपी तत्त्व सर्वथा अनिर्बन्धनीय है। मरुहरि उसी को पारमार्थिक और शून्य को विभिन्न दृष्टिकोण से देखने से दो विरुद्ध गुणों से युक्त साध होने का पर्यन्त करते हैं कि वह नहीं है, वह है, वह एक है, वही अनेक है। वह संयुक्त है और वही विभक्त है। वह विकारयुक्त है और वह विपर रहित है।

तत्रास्ति निघण्ते तच्छब्द तदेकं तत् पुत्रकं पुत्रकम् ।

संसृष्टं च विभक्तं च विहृतं तत्तद्वान्यथा ॥

वाक्य० ३, पृ० ९२ ।

पदार्थ और परमार्थ दोनों ही वही सारे शब्दों का वाक्य है। सारे शब्दों की विद्या (वचन, सार) वही है। शब्द वस्तुसे प्रथक् नहीं है। अप्रथक् होने पर भी शब्दों का उस परब्रह्म से ऐसा ही सम्बन्ध है, जैसे दो आत्माओं का सम्बन्ध होता है। हेताराज ।

विद्या सा सर्वाशब्दानां शब्दाश्च न पृथक् ततः ।

अपृथक्त्वे च सम्बन्धस्तयोर्नानात्मनोरिव ॥

वाक्य ३ पृ १३१

मत्त इति ने जो व्याप्ति के द्रव्य की अनिर्बन्धनीयता की व्याख्या की है, उसकी तुलना मांडूक्योपनिषद् तथा ईरोपनिषद् की अस्यैव गूढ और रहस्यात्मक श्रुतियों से की जा सकती है। वेद का मन्त्र कहता है कि वह गतिशील है, वह गतिशील नहीं है। वह दूर है, वह समीप है। वह सबके अन्दर है, वह सबके बाहर है।

तदेजति तक्षैयति तददूरे तद्वन्तिके ।

वदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

पञ्च ४० १ ।

मांडूक्य उपनिषद् ने परब्रह्म की पारमार्थिक अनिर्बन्धनीय अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि वह अन्तःप्रज्ञा अर्थात् अन्दर की ओर मुखवाला नहीं है, वह बहिः प्रज्ञा नहीं है, अन्दर और बाहर दोनों ओर प्रज्ञा वाला नहीं है, न अदृष्ट प्रज्ञा वाला है, न प्रज्ञा वाला है और न प्रज्ञा रहित है। वह अदृष्ट है, अस्पृह्य है। अपाद्य है, उसका कोई लक्षण (चिह्न) नहीं है, वह अचित्त है, अव्ययनीय है। वह केवल आत्मा है, यही प्रतीति जिसका सार है। अहाँ प्रपञ्च शब्द हो जाते हैं। शान्त शिव अद्वैत वह आत्मा है, वह जानने योग्य है। मांडूक्य० ७ ।

मीमांसकों का मत

जातिवादी जैमिनि का मत—जैमिनि ने मीमांसाशास्त्र में मीमांसासूत्र (१, ३, ३० से ३३) आकृतिवाद का समर्थन किया है और व्यक्तिवाद का खण्डन किया है। जैमिनि का कथन है कि प्रयोग और क्रिया को देखकर अर्थ की पकड़ा को मानना पड़ता है। अर्थात् शब्द का अर्थ जाति है, क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों में भी जाति अभिन्न रूप से रहती है, द्रव्य को मानकर शब्द का प्रयोग नहीं होता है। एक ही शब्द अन्य व्यक्ति के लिए भी ऐसा जाता है। शब्द का अर्थ जाति ही है, क्योंकि आकृति को मानकर ही क्रियाएँ होती हैं। यदि यह मत किया जाय कि जाति को मानने पर भी काम तो द्रव्य में ही होते हैं, अतः द्रव्य को ही पदार्थ मानना चाहिए और यह तुम्हारे मत में है नहीं। इसका उत्तर जैमिनि देते हैं कि

क्रिया का प्रयोजन इन्द्र-ही है। इन्द्र्य जाति से पृथक् नहीं है, अपितु अविभक्त है। मीमांसा० १, ३, ३० से ३५।

वैमिनि के कुछ कथन से स्पष्ट है कि उनके मतानुसार शब्द व्यक्ति का ही बोध नहीं कराता है, अपितु इन्द्र्य में विद्यमान जाति का भी बोध कराता है। जाति में शक्ति मानने पर भी वे व्यक्ति की सत्ता को अस्वीकार नहीं करते हैं। जाति और व्यक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध है। व्यक्तियों में जाति रहती है और जाति में व्यक्ति।

जातिशक्तिवादी कुमारिलभट्ट—कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्तिक के आक्षेपवाद प्रकरण में जाति पद का बहुत विस्तारसे प्रतिपादन किया है। जगन्नाथ ने न्यायमञ्जरी के पंचम आक्षेप में (पृष्ठ २७१ से २६८) कुमारिल के मत की आलोचना की है और मीमांसकों के अभिमत आतिवाद का खण्डन किया है। गंगेश ने तत्त्वचिन्तामणि के शब्दकारण के जातिशक्तिवाद प्रकरण में (पृष्ठ ५५६ से ५६१) तथा गङ्गाधर भट्ट ने शक्तिवाद के परिशिष्ट काण्ड में (पृष्ठ १७१ से १६६) कुमारिलभट्ट, प्रभाकर, मयङ्गनाथार्य, श्रीकर आदि के मतों का निरूपण करके उनके मत का खण्डन करके नैयायिकों के मत की स्थापना की है। उनके मतों का संक्षेप में वर्णन निम्न है

कुमारिलभट्ट के मत का गंगेश ने व्यञ्जित किया है कि जाति में ही शक्ति है, ऐसा मानने में ही साधक है। व्यक्ति का ज्ञान आक्षेप से हो जाता है।

महामते तु जातिरेव शक्या साधवात्, व्यक्तिस्थाक्षेपसम्भवा ।

तत्त्व० पृ० १५८ ।

गङ्गाधर ने शक्तिवाद में कुमारिल के मत का वर्णन करते हुए सिखा है कि पद से व्यक्ति का स्मरण यह अनुभव नहीं होता है, किन्तु आक्षेप से ही व्यक्ति का ज्ञान होता है। आक्षेप करने वाला जाति ही है। आक्षेप अनुमान या अर्थापत्ति का विषय है। शक्तिवाद पृ० १८३।

यहाँ पर ध्यानना उचित है कि कुमारिल के मतानुसार अर्थापत्ति भी एक पृथक् प्रमाण है। हरिहरनाथ ने शक्तिवाद की व्याख्या में अर्थापत्ति का प्रसिद्ध उदाहरण देकर इसको स्पष्ट किया है। “पीतो देवदत्तो विवा न भुङ्क्ते” (मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता है) इसका पहले शाब्दबोध यह होता है कि दिन में भोजन न करने वाला मोटा देवदत्त, किन्तु बाद में यह विचार पड़ता है कि दिन में भोजन न करने वाला देवदत्त यदि रात्रि में भी भोजन नहीं करता है तो वह मोटा नहीं हो सकता है। इससे अर्थापत्ति अर्थ (अर्थात् औचित्य के आधार पर आपत्ति अर्थात् भाव का समझना) के द्वारा यह जाना जाता है कि मोटा देवदत्त रात्रि में भोजन करता है। इसी प्रकार शब्द से जाति का बोध होता है और अर्थापत्ति से व्यक्ति का ज्ञान होता है।

अर्थापत्ति से अर्थज्ञान का लयबन्धन—यहाँ यह भी जान लेना उचित है कि मुने हुए राज्य से अर्थापत्ति के द्वारा अर्थज्ञान का जो प्रकार मीमांसकों ने बताया है, उसको मनु हरि ने वैवाकर्यों के मतानुसार अनुचित बताकर उसका लयबन्धन किया है। मनु हरि ने अर्थापत्तिवाद के समर्थकों का मत खरन किया है कि राज्य (आम्यात या नाम) केवल अपने अर्थ को प्रकाशित कर के आकांक्षायुक्त अवस्था में ही निवृत्त हो जाता है। उस निवृत्त हुए राज्य का सम्बन्धी अर्थ अर्थापत्ति के द्वारा अर्थान्तर की उपस्थिति करता है, इससे वाक्यार्थ का ज्ञान पूर्ण होता है।

स्वार्थमात्र प्रकार्यास्तौ साक्षाद्यो विभिन्नतते ।

अर्थस्तु तस्य सम्बन्धी प्रकार्यायति सभिधिम् ॥

वाक्य० २, १४० ।

मनु हरि और पुण्यराज न इसका लयबन्धन करते हुए कहा है कि मोटे वेवदश का जो व्याकरण अर्थापत्ति के रूप में किया गया है, उसकी सिद्धि के चार प्रकार हो सकते थे। परन्तु यह सम्भव नहीं है, अतः अर्थापत्तिवाद युक्त नहीं है। वे चार प्रकार यह हो सकते हैं, राज्य के द्वारा राज्य का आक्षेप, अर्थ के द्वारा राज्य का आक्षेप, राज्य के द्वारा अर्थ का आक्षेप और अर्थ के द्वारा अर्थ का आक्षेप। राज्य के द्वारा राज्य का आक्षेप युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि अपने अर्थ के प्रतिपादन के लिए ही राज्य का आक्षेप हो सकता है, अन्य अर्थ के प्रतिपादन के लिए राज्य का आक्षेप नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि अर्थ के द्वारा राज्य का आक्षेप किया जाएगा तो यह भी युक्तिसंगत नहीं है। अन्य राज्य के अर्थ की राज्यान्तर के साथ वाक्यवाचकता नहीं है, अतः अर्थ से अन्य राज्य का आक्षेप नहीं किया जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि उच्चारित राज्य के द्वारा अर्थापत्ति के अनुसार कल्पित राज्य के वाक्य अर्थ का आक्षेप किया जाएगा तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि एक राज्य के द्वारा राज्यान्तर के वाक्य अर्थ का साहचर्य नहीं हो सकता है। उन दोनों में वाक्य वाचक मात्र सम्बन्ध नहीं है। अतः राज्य से भी अर्थ का आक्षेप नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि अर्थ के द्वारा अर्थ का आक्षेप किया जाएगा तो यह स्पष्ट रूप से अनुमान ही है। यह अर्थ राज्य का अर्थ नहीं होगा, अतः राज्य की एकता को छोड़ना पड़ेगा। अतुर्थ पद युक्ति के द्वारा अभाव नहीं है अतः मनु हरि ने इसका लयबन्धन नहीं किया है। अतएव एक पद में अर्थापत्ति से राज्यान्तर का आक्षेप करके वाक्यार्थ का ज्ञान, यह मीमांसकों का प्रकार अकारणीय नहीं है। वैवाकर्यों का मत है कि एक पद ही राज्यान्तर के साथ सम्बन्ध के बिना ही प्रकरण आदि के अनुसार उन उन विशेष अर्थों का बोध कराने में समर्थ है, यही मत अपाक्षेप है। पुण्यराज ।

पाराध्वस्यादिशिष्टिवाद्य शब्दाश्चसुप्सन्धिभिः ।

नार्याकसुप्सुह्य साधिष्मं न शब्दाश्चसधिभिः ॥

वाक्य० २, १४१ ।

एकपदमेव शब्दास्तरामिसम्बन्धमन्तरसु प्रकरणादिबशात् तत्रैवप्रत्यायन-
निपुणमित्येव मन्तव्यम् । पुण्यराज ।

प्रत्येक ज्ञान व्यावृत्ति और अनुभूत्यात्मक कुमारिल मट्ट ने श्लोकवार्तिक
के आहृतिवाद में इस बात का निरूपण किया है कि प्रत्येक ज्ञान व्यावृत्ति और
अनुभूत्यात्मक होता है । जब तक एक ही के दो स्वरूप नहीं माने जायेंगे, तब
तक व्यावृत्ति और अनुभूति साथ नहीं हो सकती है ।

वस्तुवृत्तिर्हि सर्वत्र व्यावृत्त्यनुगमात्मिका ।

जायते प्रयात्मकत्वेन बिना सा च न सिद्ध्यति ॥

रत्नाक आहृति० १ ।

कुमारिल का भाव यह है कि यदि दोनों के अनुसार ज्ञान को स्वसकस
(ज्ञानरूप) मार्गेण तो जाति की सिद्धि नहीं हो सकती और यदि वेदान्तियों के
तुल्य केवल सामान्य (जाति) को ही मार्गेण तो अभ्य की व्यावृत्ति उससे नहीं
हो सकती है । प्रत्येक ज्ञान में एक धारा रहता है अनुभूति का जैसे गाव के ज्ञान
में अनुभूति का धारा है कि प्रत्येक गाय अर्थात् गाय जातिमात्र में उस ज्ञान की
अनुभूति । व्यावृत्ति का धारा है उस ज्ञान की जैसे गाव के ज्ञान की धारा के
ज्ञान से व्यावृत्ति । अनुभूति के लिए आवश्यक है कि जाति को माना जाय ।
और अभ्य की व्यावृत्ति के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति को भी माना जाय ।
अतएव जमन्त ने कुमारिल का भाव स्पष्ट करते हुए कहा है कि कयस व्यक्ति
को पदार्थ मानने पर जाति का ज्ञान नहीं होगा और केवल जाति को मानने पर
व्यक्ति का ज्ञान नहीं होगा, अतः जाति और व्यक्ति दोनों रूपों से बुद्ध ज्ञान
होता है । न्यायब्रह्मरी, पृ० २७४ ।

इस पर यह मरन बूझ सकता है कि एक ही ज्ञान जाति और व्यक्ति दोनों रूप
से कैसे हो सकता है । इनमें से एक को सत्य और दूसरे को असत्य मानना
चाहिये । इसका उत्तर कुमारिल ने दिया है कि जाति और व्यक्ति दोनों में
से एक का भी ज्ञान भ्रमपूर्ण नहीं है । और नहीं गौण रूप से होता है ।
दोनों ही ज्ञान सत्य और दृढ़ हैं । भ्रमज्ञान भ्राम्भित्वादिभ्यो को ही होता है ।
मीमांसक्यों को नहीं ।

न चाप्यम्यतत भ्राम्भित्वादिभ्यो गम्यते ।

इदन्वात् सर्मदा बुद्धे भा ग्निस्ततद् भ्राम्भित्वादिनाम् ।

श्लोक० आहृति० ७ ।

अतः कुमारिल का मत है कि न तो व्यक्ति को नष्ट करके जाति का ज्ञान होता

है और न जाति को नष्ट करके व्यक्ति का ज्ञान होता है। विरोध न ज्ञान के अस्तित्व एक ही समय में जाति और व्यक्ति दोनों का ही बोध होता है। जयन्त, म्याब० पृ० २७४।

द्विषिष ज्ञान का स्वरूप—जयन्त ने इसका स्वरूप करते हुए कहा है कि-कुमारिस ने जो बात कही है, यह कहने में भी अशुद्धी नहीं प्रतीत होती है। वही जाति है, वही व्यक्ति है, वही एक है, वही अनेक है। वही नित्य है, वही अनित्य है। वही है और यही नहीं है। यह विषय ही बात कहते हैं। ऐसी बात कहने से भी शोभा नहीं देती है। जिनकी बुद्धि विषय कल्पनाओं से बहती हुई होती है, व ऐसी बातें मानते हैं। एक ही वस्तु नाना रूपों वाली नहीं हो सकती है। म्याबमंजरी, पृ० २७४ से २७५।

जातिप्रतिपादनादी प्रमाकर का मत—गदाधर ने शक्तिवाद में प्रमाकर के अनुयायियों का मत उल्लेख किया है कि शब्द से जाति में शक्ति का ज्ञान होता है। इस ज्ञान से जाति का विशेषण मानकर व्यक्ति का स्मरण होता है। और व्यक्ति के विषय में शब्दबोध होता है। विषय (व्यक्ति) से रहित जाति का स्मरण नहीं होता है, क्योंकि निर्विकल्प का ज्ञान सम्भव नहीं है। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि व्यक्ति से सम्बन्ध का ज्ञान न होने से व्यक्ति अंश का बद्ध बोधन नहीं होगा और व्यक्ति का स्मरण असम्भव होगा। इसका समाधान प्रमाकर ने किया है कि व्यक्ति के बिना विषय बनाए हुए गाय आदि जाति का ज्ञान असम्भव है। अतः गाय जाति का बद्धबोधक शब्द ही गाय व्यक्ति का भी बद्ध बोधक है। फल को देखकर बद्धबोधक के बस की कल्पना की जाती है। शक्तिवाद पृ० ११०।

प्रमाकरास्तु, जातिशक्तिज्ञानादेव जातिप्रकारेण व्यक्तैः स्मरणं शब्द बोधश्च, न तु निर्विकल्पकरूपं जातिस्मरणं निर्विकल्पकानभ्युपगमात्। शक्तिवाद पृ० ११०।

मंजरा ने तत्त्वचिन्तामणि में प्रमाकर शक्तिवादियों के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यद्यपि ज्ञाना आदि व्यवहार को देखकर व्यक्ति में ही शक्ति मानना उचित था, किन्तु अनन्तता और अनियमता के कारण शक्ति में ही शक्ति का मह्य नहीं मान सकते हैं। तत्त्व० शब्द० पृ० ३२०।

अनन्तता का भाव यह है कि एक जाति में अनेकों व्यक्ति हैं, यदि व्यक्ति में शक्ति मानते हैं तो अनेकों व्यक्तियों में पृथक्-पृथक् शक्ति का बोध करना पड़ेगा। अनियमता का भाव यह है कि एक व्यक्ति में शक्ति का ज्ञान होने पर उस जाति के अन्य व्यक्ति में भी इस शब्द की शक्ति का ज्ञान होता है, अतः व्यक्तिपक्ष में अनन्तता और अनियमता का दोष आता है।

प्रकार समन्वय है, यह उन्होंने सिद्ध एवं प्रतिपादित किया है। भाषा और व्यक्ति को पदार्थ मानने का अभिप्राय मधुकरि द्वारा वाचप्यायन के आकृतिवाद तथा व्याडि के द्रव्यवाद के स्पष्टीकरण में जैसा दिया गया है, वही व्याकरणों का मत है और यही उनका अभीष्ट है।

अध्याय ८

वाक्य और वाक्यार्थ

शब्द और अर्थ तथा पद और पदार्थ के विषय में इससे पूर्व जितना जा चुका है। वाक्य वाक्यार्थ के विषय में दार्शनिकों और वैयक्तिकों में पर्याप्त मतभेद है। मण्डहरि ने वाक्य और वाक्यार्थ का जो दार्शनिक रूप रखा है, उसके विवेचन से पूर्व मण्डहरि का क्या अभिप्राय है यह जान लेना आवश्यक है।

मण्डहरि का अभिप्राय यह है कि पाणिनि और पतञ्जलि शब्द को नित्य मानते थे। शब्द ही एक नित्य अक्षररूप और अद्वितीय मौखिक वस्तु है। शौकिक व्यंज्य हार में जिसको ध्वनि कहते हैं, वह उस शब्द का ही विचर्य या परिणाम है। ध्वनि का ही दूसरा नाम अर्थ है। अर्थ शब्द का विचर्य या परिणाम है। प्रचलित शब्दों में इसको यह कह सकते हैं शब्दावयव शब्द का ही विकास, विस्तार या विचर्य है। इस नित्यवादी सिद्धि के लिए स्फोटवाद की सृष्टि हुई। इसको सिद्ध करने के दो प्रकार हो सकते थे। एक यह कि मौखिक बात को बताने उसका विस्तार सिद्ध करना, दूसरा यह कि इसका विस्तृत रूप बताने उसके मूल में निहित वास्तविक वस्तु को सिद्ध करना। प्रथम प्रकार का विस्तृत विवरण अभिप्राय में किया जाएगा। वहीं पर वाक्य और वाक्यार्थ के विषय में अभिप्राय दार्शनिकों ने वाक्य को अक्षररूप मानने में जो मतभेद प्रकट किया है, इसका खरबन करने से विषय स्पष्ट होता है।

आठ प्रकार के सार्थक शब्द—वाक्य और वाक्यार्थ के मूल में प्रश्न यह है कि सार्थक क्या है और इसका क्या स्वरूप है। वह नित्य है या अनित्य, वह अक्षररूप है या अक्षररूपहीन, वह एक है या अनेक। एक और नित्यवादी हैं और दूसरी और अनित्यवादी। नित्यवादियों में भी कई मतभेद हैं, एक प्रेतवादी हैं, दूसरे द्वैतवादी और तीसरे अद्वैतवादी। इसको आठ रूप में रक्खा जा सकता है, १, प्रत्येक वर्ण सार्थक है, २, प्रत्येक वर्ण नहीं अपितु पद सार्थक होता है, ३, प्रत्येक वर्ण और पद नहीं, अपितु वाक्य ही सार्थक होता है, ४ पद का विभाग अन सार्थक नहीं है, अपितु अक्षररूप पद ही सार्थक होता है, ५, वाक्य के विभाग सार्थक नहीं होते हैं, अपितु वाक्य अक्षररूप होता है, अक्षररूप वाक्य ही सार्थक है। प्रथम तीन विभाग भी दो प्रकार के हैं, एक नित्यवादी और दूसरे अनित्य

वापी। १, अनित्यवर्ण सार्थक नहीं होते हैं, अपितु नित्यवर्ण सार्थक होते हैं।
 ७, अनित्यपद सार्थक नहीं होते हैं, अपितु नित्यपद सार्थक होते हैं। ८, अनित्य
 वाक्य सार्थक नहीं होते हैं, अपितु नित्यवाक्य सार्थक होते हैं।

विषय का स्पष्टीकरण— उपर्युक्त आठ विभागों में वैयाकरण्य समस्त वर्तनों
 को विभाजित कर देते हैं। इन आठ विभागों के पारिभाषिक नाम निम्न हैं।
 १, वर्णस्फोट २, पदस्फोट, ३ वाक्यस्फोट, ४, अक्षरद्वयपदस्फोट, ५, अक्षरद्वयवाक्य—
 स्फोट, ६, वर्णजातिस्फोट, ७, पदजातिस्फोट, ८, वाक्यजातिस्फोट।

मनुहरि का भाव स्पष्ट समझने के लिए उक्त शब्दों के स्थान पर दार्शनिक
 शब्द रख देने से बात साफ हो जाती है। वर्ण के स्थान पर प्रकृति, पद के स्थान
 पर जीव या जीवात्मा, वाक्य के स्थान पर ईश्वर, परमात्मा या ब्रह्म शब्द रख
 देने से उक्त कथन का भाव निम्न होता है:— १ प्रकृतिभाव और (भौतिकवाद)—
 प्रकृति सार्थक है। २, प्रकृति नहीं, अपितु जीव सार्थक है। ३, प्रकृति और जीव नहीं
 अपितु ईश्वर या ब्रह्म सार्थक है। ४, जीवात्मा एक है, अक्षरद्वय है, वही सार्थक
 है। ५ ईश्वर या ब्रह्म एक है, अक्षरद्वय है, वही सार्थक है। ६, अनित्य प्रकृति नहीं,
 अपितु नित्यकारणमूल मूल प्रकृति सार्थक है। ७ अनित्य जीव नहीं, अपितु
 नित्यकारणमूल जीवात्मा सार्थक है। ८, निर्बन्धीय ब्रह्म नहीं अपितु अनिर्वन्धीय
 नित्य अक्षरद्वय एक ब्रह्म ही सार्थक है।

वाक्य का लक्षण

काल्याणन और पतञ्जलि—काल्याणन और पतञ्जलि ने प्राचीन भाषायों
 के विभिन्न अक्षरों का संग्रह करते हुए वाक्य के चार लक्षण मिले हैं। (महा
 २, १, १)।

१, “आख्यातं धाम्यवकारकविरोपयं वाक्यम्” वाक्य का लक्षण यह है कि
 उसमें क्रिया हो उसके साथ धाम्य, कारक और विरोपय में से एक वा सभी रह
 सकते हैं। जैसे “उभौ पठति” (उँबी ध्वनि से पढ़ता है) यह एक वाक्य है,
 इसमें एक क्रिया और एक धाम्य है। “भोदनं पठति” (जाबल पढ़ता है)
 एक वाक्य है इसमें एक क्रिया और एक कारक कर्म है। “भोदनं मृदु विराटं
 पठति” (जाबल को मृदु और स्वच्छता से पढ़ता है) में एक वाक्य में क्रिया,
 कारक, धाम्य और विरोपय सभी हैं।

२, “सक्रियाविरोपयं च उपर्युक्तं लक्षणं में क्रिया विरोपय को और सम्मि-
 लित करना चाहिए। जैसे—“मृदु पठति” (अच्छे प्रकार से पढ़ता है) में
 “मृदु” क्रियाविरोपय है।

३, “आख्यातं सविरोपयम्” उक्त लक्षण को सक्रिय करके इतना ही लक्षण
 करना चाहिए कि क्रिया को वाक्य कहते हैं उसके साथ कोई विरोपय हो। उपर

जो अव्यय, कारक और बिरोपण कहे गये हैं, ये सब क्रिया के बिरोपण ही हैं। कैपट इसकी व्याख्या में कहते हैं कि यहाँ पर आख्यात शब्द का अर्थ क्रिया प्रधान है, अतः तिङन्त के स्थान पर कृन्त क्रिया जो कि क्रियाप्रधान होती है, उसके होने पर ही उसे वाक्य कहते हैं, जैसे “देववृत्तेन शयितव्यम्” (देववृत्त को सोना चाहिये) में क्रिया तिङन्त न होकर कृन्त होने पर भी इसको वाक्य माना जाता है।

४ “एकविङ् एक तिङन्त को वाक्य कहते हैं। जैसे—‘बृहि-बृहि’ (बोलो, बोलो) कैपट का कथन है कि यहाँ पर एक शब्द एक सख्या का नहीं, अपितु समान (सदृश) अर्थ का वाचक है अतः एकार्यक तिङन्त वाक्य होता है। इस कथन के कारण एक वाक्य में एकार्यक दो तिङन्त भी हो सकते हैं। कैपट ने उक्त छन्दस में बहुव्रीहि समास बताया है, अतः इसका अर्थ होगा कि एकार्यक तिङन्त पद जिस समुदाय में होता है उसे वाक्य कहते हैं।

पाणिनि का मत—नागेश ने एकविङ् की व्याख्या में विचार किया है कि उक्त छन्दसों में से आचार्य पाणिनि का क्या मत है। नागेश कहते हैं कि उक्त का मन्तव्य है कि पाणिनि को “आख्यात बिरोपणम्” छन्दस ही स्वीकृत है, क्योंकि उन्होंने “तिङ्-तिङ्” (अष्टा० ८, १, २८) सूत्र में अतिङ् पद को रक्खा है। सूत्र का अर्थ है कि अतिङन्त के वाच तिङन्त पद का अनुपात होता है। कात्यायन ने इस सूत्र में से अतिङ् पद को अनर्थक बताया है और कहा है कि यहाँ पर नियम एक वाक्य के लिए बनाए गए हैं, एक वाक्य में एक ही तिङन्त पद होता है जो नहीं, अतः जब दो तिङन्त एक वाक्य में नहीं होंगे तो उक्त सूत्र में अतिङ् पद रखना निरर्थक है।

न च समानवाक्ये द्वे तिङन्ते स्तु । महा ८, १, २८ ।

पाणिनि के अतिङ् पद के रखने से ज्ञात होता है कि वह एक वाक्य में एक से अधिक तिङन्त पद का होना स्वीकार करते हैं। जैसे —“पपति मभवति” (पाक होता है)। लौकिक प्रयोग में पाकमभवति के स्थान पर “पपति” का भी प्रयोग पहले होता था, अतः नागेश कहते हैं कि पाणिनि को बही अभीष्ट है। “आख्यात बिरोपणम्” में बिरोपण को प्रयुक्त कहने का भाव यह है कि वाक्य में आकर्षण होनी चाहिए। आख्यात पद रखने का भाव यह है कि वाक्य में क्रिया की प्रधानता होनी चाहिए। अतः कृन्त पद से युक्त “त्वया शयितव्यम्” (तुम्हें सोना चाहिए) को भी वाक्य स्वीकार किया जाएगा। बिरोपणम् का अर्थ यह है कि साक्षात् या परम्परा से जो बिरोपण होता है उसके सहित (क्रियाप्रधान) को वाक्य कहते हैं। नागेश, महा० ८, १, २८ ।

पठञ्जलि का मत—पहले सिखा जा चुका है कि पाणिनि और पठञ्जलि वाक्यस्कोट का समर्थक हैं। पठञ्जलि ने ‘समर्थ’ पदविधिः (महा० २, १, १) सूत्र में पाणिनि

का और अपना मन्त्रम्ब निम्नरूप से स्पष्ट किया है। मीमांसिकरूप से दो पद हैं एक वृत्तिपद और दूसरा अवृत्तिपद। ये दोनों स्वाभाविक हैं—वाक्य और समास। जो वृत्ति को स्वाभाविक मानते हैं, अवृत्तिपद (नित्य शब्दशाब्द) को मानते हैं, वे समास को नित्य मानते हैं। इस पद के निरूपण को एकवर्तीभाव समास कहते हैं। जो वृत्तिपद को अर्थात् शब्द को अनित्य मानते हैं, वे वृत्ति का सङ्घट्ट करते हैं कि जिससे दूसरे अर्थ का बोध कराया जाय, उसे वृत्ति कहते हैं। वृत्तिपद को दो प्रकार से रक्षता जा सकता है। अहस्तस्वार्थवृत्ति और अजहस्तस्वार्थ-वृत्ति। अहस्तस्वार्थ का अर्थ है जहाँ पर शब्द अपने अर्थ को छोड़ देता है। अजहस्तस्वार्थ वृत्ति यह है, जहाँ पर शब्द अपने अर्थ को नहीं छोड़ता है। वृत्ति पद में अहस्तस्वार्थ पद का अर्थ है कि “समासस्यैकत्वमर्थ” समूह का अर्थ है एकता, अतएव समास करने पर शब्द से एकवचन होता है, जैसे राजपुरुष शब्द का प्रयोग एकवचन में किया जाता है। अर्थों का मत है कि परस्पर व्यपेक्षा को सामर्थ्य कहते हैं। दो शब्दों को परस्पर एक दूसरे की आकांक्षा नहीं होती है अतः व्यपेक्षा का अर्थ है दो अर्थों की परस्पर आकांक्षा। जैसे—“राजा पुरुष” (राजा का पुरुष) कहने पर राजा पुरुष की व्यपेक्षा करता है कि यह मेरा है। पुरुष भी राजा की व्यपेक्षा करता है कि मैं इसका हूँ। दोनों के इस व्यपेक्षा रूपी सम्बन्ध का बोध पठ्ठी विमर्श करती है। इस पद को व्यपेक्षासामर्थ्य कहते हैं। महा० २, १, १।

पठ्ठी ने दोनों पदों पर विचार करके वाक्य की व्याख्या की है, तथा वाक्य, संज्ञा और समान वाक्य का अभिन्न होने को स्वीकार करने की आवश्यकता बताई है। इस पर पठ्ठी ने यह सिद्धा है कि आज यह अपूर्ण वाक्य की जा रही है, वाक्य संज्ञा और समानवाक्य का अभिन्न। यह अनुचित प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा करने से सारे नियम ही वैकल्पिक हो जायेंगे। उनको आचार्य (कात्यायन) मित्रता के भाव से कहते हैं कि वाक्य को भी मानना चाहिए और समानवाक्य को भी। भाव यह है कि एक वाक्य को भी मानना चाहिये और उसमें आगे महावाक्य को भी। वाक्य भी महावाक्य का अंग है।

एतन्नामस्यैकवचनं वाक्यं, समानतावत्कथयिष्यामः।

महा० २, १, १।

भट्टहरि तथा पुण्डरीक ने (वाक्य २, ६) में उल्लेख किया है कि पाणिनि ने जो अष्टाध्यायी (अष्टा ८, १, २८) रक्षता है, उससे पाणिनि का सिद्धांत प्राप्त होता है कि वे एक अक्षर वाक्य को मानते थे। पुण्डरीक ने पठ्ठी का वाक्य उद्धृत किया है कि वेद पदकारों के पीछे नहीं रहते हैं पदकारों को वेद के अनुसार बसना चाहिए।

न लक्षणं पदकार्यं अनुसृत्या पदकारैर्नामलक्षणमनुसृत्यम्।

वाक्य० २, २८।

इस पर पुण्यराज का यह कथन है कि पदकार का अर्थ ही जो पदों को करते हैं जैसे प्रातिशास्त्र, और, ध्याकरण आदि के कर्ता। यदि पद सत्य होते तो वह स्वयं सिद्ध होते, उनक लिए पदकारों की क्या आवश्यकता। अतः पदस्त्रुति का पदकार शक्य रखना असंगत होता। पदस्त्रुति ने अतएव कहा है कि हम मानते हैं कि पद असत्य हैं, एक अक्षरवद् वाक्य हैं। पदों का विभाग अविद्वानों को ज्ञान कराने के लिए है, वह कथित है।

आह वैव माप्यकार । तदस्मात्प्रम्यामहे पदाभ्यसत्यामि एकमभिन्नस्वभावकं वाक्यम् । तदवुभयोभनाय पदविभागं कल्पित इति । पुण्यराज ।

वाक्य० २, १८ ।

पुण्यराज ने अतएव लिखा है कि पाणिनि और पदस्त्रुति का अक्षरवद्वाक्य स्कोट पक्ष स्वीकृत है। मत्तु हरि का कथन है कि वाक्यवाकियों अर्थात् स्कोट वाकियों का मत है कि वाक्य अक्षरवद् और विभिन्न होता है, इसमें से पदभेद किये जाते हैं, किन्तु ये भेद वस्तुतः कास्फनिक ही होते हैं। अतएव पदवाद् भी कास्फनिक है।

अभेदपूर्वका भेदा कल्पिता वाक्यवादिभिः । वाक्य० २, १८ ।

सूत्रकारस्य माप्यकारस्य वात्सल्युद्देशोऽभिरुचितः । पुण्यराज ॥

कात्यायन का मत—जैसा कि ऊपर लिखा गया है कि कात्यायन वाक्य और समान वाक्य दो सत्ताओं को मानते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि ये पद स्कोट और वाक्यस्कोट, अपरजस और परजस, दो सत्ताओं को स्वीकार करते हैं। अतएव मत्तु हरि और पुण्यराज ने बख्सेल किया है कि कात्यायन को भेदपक्ष ही ठाँकते हैं।

शब्दानां भेदपक्ष एव धार्तिककारस्याभिरुचित इति । पुण्यराज ।

वाक्य० २, १०४

नैयायिकों का मत—न्यायमाप्यकार कात्यायन ने नैयायिकों के मतानुसार वाक्य में अर्थबोधकता को सिद्ध करते हुए लिखा है कि साक्षर पदों के समूह को वाक्य कहते हैं, क्योंकि वही अर्थ का बोध कराने में समर्थ होता है। यहाँपर पदशब्दसे सुबन्त और तिङन्त दोनों का ही महण है। नागेश ने कात्यायन के उक्त कथन के द्वारा नैयायिकों को भी वाक्यस्कोट स्वीकार होना सिद्ध किया है। मञ्जूषा, पृ० १ ।

पदसमूहो वाक्यमर्थसमाप्तौ (समर्थम्) । मञ्जूषा, पृ० १ ।

नागेश ने (मञ्जूषा पृ० ३४) न्यायमाप्यकार का उद्धरण दिया है कि ध्याकरण संकेत के ज्ञान के लिए, यह पदरूप वाणी का स्पष्टीकरण करता है और वाक्यात्मकवाणी (वाक्यस्कोट) अर्थबोध की शक्त है, इस बात का बोधक है।

का और अपना मन्तव्य निम्नरूप से स्पष्ट किया है। मौलिकरूप से दो पद हैं एक वृत्तिपद और दूसरा अवृत्तिपद। ये दोनों स्वामाधिक हैं — वाक्य और समास। जो वृत्ति को स्वामाधिक मानते हैं, अवृत्तिपद (नित्य सम्बन्ध) को मानते हैं, वे समास को नित्य मानते हैं। इस पद के निरूपण को परार्थीमात्र समास कहते हैं। जो वृत्तिपद को अर्थात् शब्द को अनित्य मानते हैं, वे वृत्ति का लक्षण करते हैं कि जिससे दूसरे अर्थ का बोध कराया जाय, उसे वृत्ति कहते हैं। वृत्तिपद को दो प्रकार से रक्षित जा सकता है। अहत्स्वार्थीवृत्ति और अजहत्स्वार्थी वृत्ति। अहत्स्वार्थी का अर्थ है जहाँ पर शब्द अपने अर्थ को छोड़ देता है। अजहत्स्वार्थी वृत्ति वह है, जहाँ पर शब्द अपने अर्थ का नहीं छोड़ता है। वृत्ति पद में अहत्स्वार्थी पद का अर्थ है कि "समासतयैस्त्वमर्थ" समूह का अर्थ है एकता, अतएव समास करने पर शब्द से एकवचन होता है जैसे राजपुरुष शब्द का प्रयोग एकवचन में किया जाता है। अन्वेष्यो का मत है कि परस्पर अपेक्षा को सामर्थ्य कहते हैं। दो शब्दों को परस्पर एक दूसरे की आकांक्षा नहीं होती है अतः अपेक्षा का अर्थ है दो अर्थों की परस्पर आकांक्षा। जैसे — 'यस्य पुरुष' (राजा का पुरुष) कहने पर राजा पुरुष की अपेक्षा करता है कि यह मेरा है। पुरुष भी राजा की अपेक्षा करता है कि मैं इसका हूँ। दोनों के इस अपेक्षा रूपी सम्बन्ध का बोध पठ्ठी विभक्ति कराती है। इस पद को अपेक्षासामर्थ्य कहते हैं। महा० २, १, १।

पठञ्जलि ने दोनों पक्षों पर विचार करके वाक्य की व्याख्या की है, तथा वाक्य, संज्ञा और समान वाक्य का अधिकार दोनों को स्वीकार करने की आवश्यकता बताई है। इस पर पठञ्जलि ने यह सिद्धा है कि व्याज यह अपूर्ण बात की जा रही है, वाक्य संज्ञा और समानवाक्य का अधिकार। यह अनुचित प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा करने से सारे नियम ही वैकल्पिक हो जाएंगे। इनको आपास (कात्यायन) मित्रवा के भाष से कहते हैं कि वाक्य को भी मानना चाहिए और समानवाक्य को भी। मात्र यह है कि एक वाक्य को भी मानना चाहिये और उसमें आगे महावाक्य को भी। वाक्य भी महावाक्य का अंग है।

स आपार्थ्य आप्यसंज्ञा वक्तव्या, समानताय क्वाधिधारक।

महा० २, १, १।

मयूहदि तथा पुण्यराज ने (वाक्य २, ६) में बतलाने किवा है कि पाणिनि ने जो अतिवृत्त (अप्य ८, १, २८) रक्ता है, उससे पाणिनि का सिद्धांत प्राप्त होता है कि वे एक अलएव वाक्य को मानते थे। पुण्यराज ने पठञ्जलि का वाक्य उद्धृत किवा है कि अद परकारों के पीछे नहीं चलते हैं परकारों को वेद के अनुसार चलना चाहिये।

न लक्षण पदकरा अनुवर्त्या पदकारैर्भामलक्षणमनुवत्यम्।

वाक्य० २, ४८।

इस पर पुण्यराज का यह कथन है कि पदकार का अर्थ है जो पदों को करते हैं जैसे प्रातिशास्त्र, और, ध्याकरण आदि के कर्ता। यदि पद सत्य होते तो वह स्वयं सिद्ध होते, उनके लिए पदकारों की क्या आवश्यकता। अतः पदव्यक्ति का पदकार शब्द रचना असंगत होता। पदव्यक्ति ने अतएव कहा है कि हम मानते हैं कि पद असत्य हैं, एक असत्य वाक्य हैं। पदों का विभाग अविद्यानों को ज्ञान करने के लिए है, वह कथित है।

आह वैव भाष्यकार* । तदस्मात्प्रत्ययस्यै पदान्यसस्यानि एकमभिन्नस्वभाषकं वाक्यम् । तदनुपवोधनाय पदविभागः कल्पित इति । पुण्यराज ।

वाक्य० २, ४८ ।

पुण्यराज ने अतएव कहा है कि पाणिनि और पदव्यक्ति का असत्यवाक्य-स्कोट पद स्वीकृत्य है। भवृंहरि का कथन है कि वाक्यवाकियों अर्थात् स्कोट वाकियों का मत है कि वाक्य असत्य और विभिन्न हावा है, उसमें से पदभेद किए जाते हैं, किन्तु वे भेद वस्तुतः कास्मिक ही होते हैं। अतएव पदवाद भी कास्मिक है।

अभेदपूर्वका भेदा कल्पिता वाक्यवादिनि* । वाक्य० २, ४८ ।

सूत्रकारस्य भाष्यकारस्य वात्सर्घ्यपक्षोऽभिदक्षितः । पुण्यराज ॥

कात्यायन का मत—जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कात्यायन वाक्य और समान वाक्य दो सत्ताओं को मानते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वे पद स्कोट और वाक्यस्कोट, अपरजड और परजड, दो सत्ताओं को स्वीकार करते हैं। अतएव भवृंहरि और पुण्यराज ने उल्लेख किया है कि कात्यायन को भेदपक्ष ही स्वीकार है।

शब्दानां भेदपक्ष एवं वातिककारस्याभिदक्षित इति । पुण्यराज ।

वाक्य० २, १०४

नैयायिकों का मत—न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने नैयायिकों के मतानुसार वाक्य में अर्थबोधकता को सिद्ध करते हुए कहा है कि साक्षात् पदों के समूह को वाक्य कहते हैं, क्योंकि वही अर्थ का बोध कराने में समर्थ हावा है। वहाँ पर पद शब्दसे मुख्य और तिष्ठन्त दोनों का ही ग्रहण है। नागेश ने वात्स्यायन के उक्त कथन के द्वारा नैयायिकों को भी वाक्यस्कोट स्वीकार होना सिद्ध किया है। मंजूपा०, पृ० १ ।

पदसमूहा वाक्यमर्थसमाप्ती (समर्थम्) । मंजूपा, पृ० १ ।

नागेश ने (मंजूपा पृ० ३४) न्यायभाष्यकार का उद्धरण किया है कि व्याकरण सूक्त के ज्ञान के लिए, यह पदरूप वाणी का स्पष्टीकरण करता है और वाक्यात्मकवाणी (वाक्यस्कोट) अन्वय की जनक है, इस बात का बोधक है।

जगदीश ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में वाक्य का लक्षण किया है कि आकांक्षा युक्त शब्दों के समूह को वाक्य कहते हैं।

मिथः साक्षाद्दशध्वन्यभ्यूहो व क्य चतुर्विधम् । शब्दशक्ति० ,
श्लोक १६।

साहित्यिकों का मत—विरचनाय ने साहित्यवर्षण में वाक्य का लक्षण किया है कि योग्यता, आकांक्षा और भासति से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं।

वाक्य शब्द योग्यताकांक्षासत्तियुक्त' पदोत्पत्त्या । सा० २, १।

योग्यता आकांक्षा आदि वाक्य के अर्थविज्ञान में साधन होते हैं। इनका जगदीश ने (मञ्जूषा पृ० ४८८—४३४) विस्तार से वर्णन किया है। संक्षेप में विरचनाय ने वाक्य की व्याख्या में इनको निम्नरूप से स्पष्ट किया है :—

१, योग्यता का अर्थ है कि पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। भाव यह है कि शब्द ऐसे ही शब्दों से बनता है जिनमें यह परस्पर योग्यता हो कि इनमें परस्पर अर्थ का अन्वय हो सके। यदि केवल पदों के समूह को ही वाक्य मानेंगे तो 'वह्निना सिद्धति' (आग से सींचता है) को भी वाक्य मानना पड़ेगा। आग में वह योग्यता नहीं है कि वह सींच सके, अतः परस्पर अन्वय में बाधा होने से वाक्य नहीं होगा।

२, आकांक्षा का अर्थ है कि पदों में परस्पर यह आकांक्षा इच्छा होनी चाहिये कि वे एक समान्यव युक्त अर्थ को बता सकें। अन्त की जिज्ञासा को शान्त करना आकांक्षा का फल है। अन्त की जिज्ञासा बससे शान्त न हो तो वे शब्द एक वाक्य नहीं कहे जा सकते हैं। केवल गाय, भ्रम, पुष्टप व हामी कहने से अन्त की जिज्ञासा शान्त नहीं होती है, क्योंकि इन शब्दों में परस्पर कोई आकांक्षा नहीं है कि वे किसी एक अर्थ को बतावें।

३, भासति का भाव है कि वाक्य में शब्दों और अर्थ की बिना व्यवधान के उपस्थिति। पदार्थ की उपस्थिति में व्यवधान न होने पर भी वाक्य माना जाय तो 'देवदत्त' शब्द कहा गया और कहा जाता है, कहने पर दोनों पदों की संगति हो जाती और 'देवदत्त जाता है' यह अर्थ ज्ञान होता है।

इतमें से आकांक्षा और योग्यता ये दोनों अर्थ के धर्म हैं, गौणरूप से इनको पदसमूह का धर्म कहा जाता है।

विरचनाय ने योग्यता, आकांक्षा और भासति से युक्त वाक्यों के समूह को महावाक्य नाम दिया है। इस प्रकार से वाक्य के दो विभाग किए हैं, एक वाक्य और दूसरा महावाक्य। कुमारिल के तन्त्रवार्तिक का उद्धरण दिया है कि ऐसे

वाक्यों का, जो कि अपने अर्थ का बोध कराकर सफल हो चुके हैं, अज्ञानीभाव की अपेक्षा से फिर समन्वय होने पर एकवाक्यता हो जाती है, अर्थात् ऐसे वाक्यों का एक महावाक्य बनता है। एक वाक्य जैसे कोई एक श्लोक और एक महावाक्य जैसे रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि पुस्तकें। साहित्यदर्पण, २, १।

नैयायिक शास्त्रबोध में तात्पर्य ज्ञान को भी कारण मानते हैं। नागेरा ने इनके मत का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि यह वाक्य इस अर्थ का बोध करने के लिए ब्रह्म ने कहा है, इस प्रकार तात्पर्यज्ञान कारण होता है। तात्पर्य का ज्ञान प्रकरण आदि से होता है। अतएव वहाँ पर प्रकरण आदि का ज्ञान नहीं होता है, वहाँ यह सन्देह होता है कि इस शब्द का यह अर्थ है या यह। नागेरा ने ब्रह्म-करणों के सिद्धान्त के अनुसार तात्पर्य को पृथक् मानने का खण्डन किया है। मञ्जूषा, पृ० ५२६-५२८।

अमरसिंह का मत—अमरसिंह ने अमरकोश में वाक्य का लक्षण किया है कि सुबन्त या तिबन्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं, या कारक से युक्त क्रिया का वाक्य कहते हैं। जगदीश ने शास्त्रातिप्रकाशिका में अमरसिंह के उक्त लक्षण को यह कह कर अस्वीकृत किया है कि इसके मानने में अतिव्याप्ति और अभ्याप्ति दोष आते हैं।

सुप्तिकन्तवचो वाक्यं क्रिया वा कारकाम्बिता । अमरकोश ।

सुप्तिकन्तवचो नैवमतिव्याप्यादिदोषात् । शब्द० श्लोक १३ ।

नागेरा ने (बघोठ महाभाष्य २, १, १) अमरसिंह के उक्त लक्षण में “वर” शब्द का “वक्ति” के अर्थ में प्रयोग बताया है, और अमरसिंह का भाव बताया है कि यदि क्रियावाचक शब्द (तिबन्त या कृन्त) कारक से युक्त हो तो सुबन्त का समूह, या तिबन्त का समूह या सुबन्त और तिबन्त का समूह वाक्य कह लाया है। कारक तिबन्त का वाच्य हो या उससे अन्य का इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। यहाँ पर समूह शब्द रखन का अनिर्णय यह है कि एक से अधिक होना चाहिए। पाणिनि ने जो एक से अधिक तिबन्त का एक वाक्य में होना सम्भव माना है, उसको खण्डन में रखकर यह अमरसिंह का कथन है बघोठ, महा० २, १, १।

जयन्तमह का भावार्थ-विवेचन

जयन्तमह ने न्यायनजरी के पंचम आह्निक में (पृ० ३००—३३६) वाक्य के अर्थ पर दारानिक दृष्टिकोण से विस्तृत और गम्भीर विवेचन किया है। जयन्त ने वाक्यार्थ के विषय में जिन दारानिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है, उनका संक्षेप में भाव निम्न है—

। वाक्यार्थ के विषय में विभिन्न मत—(१) वाक्य का अर्थ ज्ञान है (२) वाक्य में क्रिया मुख्य होती है अतः क्रिया वाक्य का अर्थ है (३) क्रिया की अपेक्षा भी फल मुख्य होता है, क्योंकि क्रिया किसी फल के लिए की जाती है, अतः फल वाक्य का अर्थ है। (४) फल की अपेक्षा पुरुष (ईश्वर) मुख्य है, क्योंकि क्रिया का फल भी पुरुष के लिए होता है, अतः वाक्य का अर्थ पुरुष है। (५) वाक्य का अर्थ भावना है। भावना का अर्थ है, माध्य अर्थात् इष्ट स्वर्ग आदि विषयक भाषक (कर्ता) का व्यापार। (६) वाक्य का अर्थ शब्द भावना अर्थात् विधि है। यह शब्द का व्यापार है। शब्दभावना शब्द का कार्य और शब्द का वाक्य है। (७) वाक्य का अर्थ नियोग है। नियोग का अभिप्राय है प्रेरणा। पायिनि ने श्लिष् के निमन्त्रण आमन्त्रण आदि जो अर्थ बताए हैं, वे प्रेरणा के ही अन्तर्गत भेद हैं। समान, इति या अट्ठष्ट जैसे के लिए इसका प्रयोग किया जाता है, वही के अनुसार निमन्त्रण आमन्त्रण आदि में भेद करके व्यवहार किया जाता है। प्रेरणा या प्रेरणा सब में विद्यमान रहती है। अतः कहा गया है कि प्रवर्तकता (प्रेरणा) शब्द का अर्थ है। क्योंकि उसे कहीं पर नहीं छोड़ा जा सकता है। (८) वाक्य का अर्थ उद्योग है। यज्ञेय (यज्ञ करना चाहिए) आदि विधिलिङ् वाक्यों के सुनने पर जो आत्मा में स्पन्द विरोध होता है, उसे उद्योग कहते हैं। जयन्त ने इस पर विचार करते हुए कहा है कि आत्मा के स्पन्दन का वाक्यार्थ मानने वालों का क्या अभिप्राय है, ठीक ज्ञात नहीं होता है। यदि आत्मस्पन्दन का अर्थ युद्धि है, तो इसका अर्थ है कि प्रतिमा वाक्य का अर्थ है, और कोई नई बात नहीं है। यदि आत्मस्पन्दन का अर्थ प्रयत्न है तो यह भावना का ही दूसरा नाम उद्योग हुआ। यदि इच्छा या द्वेष में से कोई एक है तो सुख की इच्छा या दुःख के छोड़ने की इच्छा यह इसका अर्थ होगा। उस अवस्था में जो नैयायिकों का मत है कि फल वाक्य का अर्थ है, वही इसका अर्थ होगा। यदि आत्मस्पन्दन का अर्थ व्यापार, जैसा कि कुमारिल मठ मानते हैं, अर्थ है तो वह भी भावना ही हुई। यदि उद्योग ही अनुष्ठान के योग्य प्रेरक कोई अर्थ तो यह नियोग ही होता है। इसमें केवल नि के स्थान पर उपसर्ग अव्यय दिया गया है। वस्तु में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। अन्त में जयन्त का कथन है कि वाक्य का उद्योग यह सर्वथा अभूतपूर्व बात है। (९) वाक्य का अर्थ प्रतिमा है। (१०) जयन्त ने अन्य मतों का लयन करके नैयायिकों के मतानुसार वाक्य का अर्थ फल को सिद्ध किया है।

जयन्त ने उक्त विवेचन के मध्य में ही निम्न मतों का भी उल्लेख किया है। (१) वाक्य का अर्थ वाद्य वस्तु नहीं हो सकती है अतः पदाय के साथ उसमें का जिसमें आमाम होता है, ऐसा ज्ञान वाक्यार्थ है। (२) पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध वास्तविक है, अतः वाक्य का अर्थ वाद्यवस्तु ही है। (३) वाक्य का अर्थ व्यवच्छेद अर्थात् अन्य की आवृत्ति है जैसे हुकल शब्द के उच्चारण करने पर कृप्य आदि की निवृत्ति हो जाती है।

जयन्त के विवेचन का मुख्य आवरणक अंश भागो मधुहरि के वाक्यार्थ के विवेचन के बीच में यथास्थान दिया जायगा।

वाक्य और वाक्यार्थ के विषय में मधुहरि का मत

वाक्य के आठ लक्षण—वाक्य और वाक्यार्थ के विषय में जितने भी मत हैं उनका बहुत विस्तार से विवेचन मधुहरि ने वाक्यपदीय के पूरे द्वितीय अध्याय में किया है। उन्होंने वाक्य के जितने लक्षण किये हैं, उनको आठ भागों में विभक्त किया है। वाक्य के विषय में प्राचीन व्याख्याओं के आठ मत थे, वे निम्न हैं —

आख्यातशब्दः सप्तानो जाति सप्ततद्वर्तिनी ।
एकोऽनवपयः शब्दः क्रमो बुद्धयनुसंहतिः ॥
पदमार्थं पृथक्सर्वपदं साक्षात्प्रमित्यपि ।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्वा बहुधा म्यायवादिनाम् ॥

(वाक्य० २, १—२) ।

(१) क्रियावाचक शब्द को वाक्य कहते हैं । (२) क्रिया तथा उसके साथ कारक आदि के समूह को वाक्य कहते हैं । (३) क्रिया कारक आदि के समूह में रहने वाली जाति अर्थात् अक्षरबद्ध और नित्य अंश है, इसको वाक्य कहते हैं । (४) क्रिया आदि के एक अक्षरबद्ध (नित्य) समूह शब्द अर्थात् स्वोट को वाक्य कहते हैं । (५) क्रिया आदि के एक विरोध क्रम को वाक्य कहते हैं । (६) क्रिया आदि के अक्षरबद्धनीय बुद्धिगत समन्वय को वाक्य कहते हैं । (७) आक्षांशा से कुछ पहले ही पद शब्द को वाक्य कहते हैं । (८) आक्षांशा से कुछ पृथक्-पृथक् सारे पदों को ही वाक्य कहते हैं ।

अध्याप्ति का निराकरण—पुण्यराज ने उक्त श्लोकों की व्याख्या में यह प्रश्न उठाया है कि मधुहरि ने जो आठ वाक्य के लक्षण किये हैं, इनमें वार्तिककार कात्यायन और जैमिनि के वाक्य के लक्षणों का समावेश नहीं होता है। कात्यायन ने वाक्य का जो लक्षण किया है वह पहले दिया जा चुका है कि आख्यात अर्थात् क्रियावाचक शब्द को वाक्य कहते हैं, इसके साथ अध्याय, कारक और विरोध में से एक वा सभी रह सकते हैं। दूसरा लक्षण यह दिया है कि एक तिङन्त पद अर्थात् एकैर्भक्त तिङन्त पद को वाक्य कहते हैं ।

वाक्य के विषय में मीमांसकों का मत—जैमिनि ने मीमांसा सूत्रों में वाक्य का लक्षण किया है कि एकैर्भक्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं, किन्तु जब इनका विभाग किया जाए तो उनके अन्तर्गत पद आक्षांशा कुछ हाने चाहिए। शबर स्वामी ने भी वाक्य का लक्षण किया है कि एकैर्भक्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं ।

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साक्षात् चेद् द्विभागेऽस्यात् ।

मीमांसा सूत्र २, १, ४६ ।

एकार्थं पदसमूहो वाक्यम् । शबरभाष्य, पूर्ववत् ।

मनु हरि ने मीमांसकों के लक्षण को स्पष्ट करते हुए निम्न रूप से रखा है, एकैकैक अर्थात् एक प्रयोजन (उद्देश्य) वाले पदों का वाक्यसमूह कहते हैं । गुणवाचक पद अर्थात् विशेष्य या क्रियाविशेष्य भी होने चाहिए । क्रियावाचक पद की मुख्यता होनी चाहिए । वाक्य में क्रिया का अर्थ ही मुख्यरूप से कहा जाता है अतः वाक्य को कर्मप्रधान अर्थात् क्रियापद प्रधान कहते हैं । वाक्य अत्यन्त आवश्यकता में किसी अन्य शब्द पद की आकांक्षा न करते हों, किन्तु शब्द या विभाग की अवस्था में विरोध जिज्ञासा होने पर उसके अवयव साक्षात् होने चाहिए । पुण्यराज ।

साक्षात्तावयवैर्भेदे परानाक्षात्कशब्दकम् ।

कर्मप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते ॥

वाक्य० २, ४ ।

मीमांसकों ने वाक्य के लक्षण को अन्य प्रकार से भी व्यक्तित किया है कि आकांक्षा योग्यता और सम्बन्धि (आसत्ति) के कारण परस्पर सम्बन्ध से कुछ पदों के समूह को वाक्य कहते हैं । इस संसर्ग (मेल) को ही वाक्यार्थ कहते हैं ।

पदसमाप्त एवाकांक्षायोग्यतासम्बन्धिभिरात् परस्परसम्बन्धितो वाक्यं संसर्गश्च वाक्याय' । पुण्यराज, वाक्य० २ १५ ।

पुण्यराज ने अत्यायन और जैमिनि के लक्षणों के विषय में कहा है कि इनका संभावपक्ष अर्थात् मनु हरि के द्वितीय लक्षण में समावेश हो जाता है, अतः मनु हरि ने इनका पुषक बल्लेस नहीं किया है ।

अस्यदृष्टपक्ष और स्वदृष्टपक्ष

आठ लक्षणों का विभाजन—पठकप्रति के विवेचन का बल्लेस करते हुए यह लिखा गया है कि दो पक्ष हैं एक आहृतिपक्ष अर्थात् अस्यदृष्टपक्ष और दूसरा वृत्ति पक्ष अर्थात् स्वदृष्टपक्ष । वृत्तिपक्ष भी दो प्रकार का है, अहस्तात्मा और अजहस्तात्मा । पुण्यराज ने मनु हरि के भाव का स्पष्ट करने के लिए वाक्य के आठ लक्षणों को पहले दो भागों में विभक्त किया है एक अस्यदृष्ट और दूसरा स्वदृष्ट । अस्यदृष्ट को भी दो भागों में विभक्त किया है, (१) अभिहितान्बन्ध, (२) अम्बिसामिधान । पुण्यराज ने आगे लक्षणों को निम्नप्रकार से रक्खा है । पुण्यराज, वाक्य० २ १ ।

१—अस्यदृष्टपक्ष—(क) संभाववर्तिनीमाति (ख) अनवयव शब्द (ग) बुद्धि में अनुसर्गाति ।

२—अभिहितान्वय—(घ) संघात, (ङ), क्रम ।

३—अन्वितामिधान—(च) आख्यातवाच्य (झ) प्रथम पद, (ज) साकांक्ष सारे पद ।

उक्त विभाजन के अनुसार ३ अक्षर अक्षर पद में हैं, और पांच अक्षर पद में हैं ।

वाक्य छ' प्रकार का है

छ' प्रकार का वाक्यार्थ—मनु हरि ने आठ प्रकार के वाक्यों के छ' प्रकार के वाक्यार्थ लिखे हैं । विवेचन से पूर्व यहाँ पर उनका संक्षेप में उल्लेख पुण्यराज के अनुसार निम्न है—

अक्षरपदपद के तीनो अक्षरों में वाक्यार्थ प्रतिभा है, संघात और क्रम दोनों पदों में वाक्यार्थ संसर्ग है । संघात पद में प्रकारान्तर से अभिहितान्वय पद का प्रतिपादन करने पर संसर्ग के कारण विरोध अर्थ में अवस्थित किन्तु निराकांक्ष पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है । अन्वितामिधान के दो पदों अर्थात् प्रथम पद और साकांक्ष सारे पद का संसृष्ट अर्थ अर्थात् पदों का समन्वित अर्थ वाक्यार्थ होता है । आख्यात, प्रयोजन, तात्पर्य, उद्देश्य । प्रयोजन के विषय में पुण्यराज का कथन है कि कुछ आचार्यों का मत है कि प्रयोजन सारे ही वाक्यार्थों में रहता है, अतः इसको पृथक् वाक्यार्थ नहीं गिनना चाहिए । इस प्रकार से वाक्यार्थ निम्न हैं—

(१) प्रतिभा (२) संसर्ग (३) संसर्ग के कारण विरोधार्थक किन्तु निराकांक्ष पदार्थ (४) संसृष्ट अर्थ (५) क्रिया (६) प्रयोजन ।

संसर्ग और संसर्ग के कारण विरोधार्थक पदार्थ को वाक्यार्थ मानने पर अभिहितान्वय पद होता है । संसृष्ट अर्थ क्रिया का वाक्यार्थ मानने में अन्विता मिधानपद होता है । प्रतिभा वाक्यार्थ मानने पर एक प्रकार का ही ज्ञान होता है, अतः वहाँ पर अभिहितान्वय और अन्वितामिधान का काम नहीं पड़ता । प्रयोजन में अभिहितान्वयपद होता है । पुण्यराज, वाक्य० २, १-२ ।

वाक्यार्थ की सरलता में न्यूनता का परिहार—पुण्यराज ने इस विषय पर विचार किया है कि मनु हरि ने वाक्याय कबल छ' प्रकार का लिखा है, परन्तु वाक्यार्थ के विषय में अन्य आचार्यों के और भी मत हैं उनका उल्लेख मनु हरि ने नहीं किया है, इसका क्या कारण है । इस प्रश्न का पुण्यराज ने निम्न रूप से उत्तर दिया है—

मनु हरि ने विधि, नियोग और भावना इन तीन वाक्यार्थों का निरूपण नहीं किया है । इनमें से भावना के विषय में उत्तर यह है कि मनु हरि ने क्रिया की वाक्यार्थता का निरूपण किया है । भावना और क्रिया में प्रायः समानार्थकता

ही देखी जाती है। (देखें, भूषणकारिका १ तथा ३)। इस विषय में वैयाकरणों और मीमांसकों में विवाद केवल इस बात पर है कि वे क्रिया को प्रकृति अर्थात् वातु का अर्थ मानते हैं और मीमांसक इसे प्रत्यय का अर्थ मानते हैं। दूसरा दोनों मतों में अन्तर यह है कि भावना सङ्गर्भक ही होती है किन्तु क्रिया अङ्गर्भक और सङ्गर्भक दोनों होती है। यद्यपि उक्त रूप से दोनों मतों में क्रिया और भावना के विषय में भेद है तथापि दोनों मतों के अनुसार साम्य क्रिया ही है, अथ दोनों में अभिन्नता है। जैसे वातु की अर्थरूप क्रिया साम्य है, वैसे ही भावना भी साम्य है अथ अन्तर्गत भेद से दोनों में भेद कैसे किया जा सकता है। विधि और नियोग के विषय में यह उचित है कि विधि या नियोग केवल ऐसे ही वाक्यों के अर्थ होते हैं, जिनमें लिङ्ग (विधिलिङ्ग) शब्द या कृत्य प्रत्ययान्त क्रिया होती है। इनका विषय व्यापक नहीं है अथ इन दोनों का अन्वेष नहीं किया गया है। (पुण्यराज) वाक्य० २, १-२।

धाम्य और वाक्यार्थ के विषय में बौद्धों का मत—पुण्यराज ने वाक्य और वाक्यार्थ के विषय में बौद्धों के मत का भी अन्वेष किया है और कहा है कि बौद्धों का वाक्य का लक्षण बुद्धि में अनुसंहृत लक्षण में था जाता है तथा उनके मत के अनुसार जो वाक्यार्थ होता है, उसका प्रतिमा में समावेश हो जाता है। पुण्यराज ने दोनों का स्वरूप निम्नरूप से दिया है—

विशिष्ट अनादि वाक्यार्थ विषयक विद्वत्सों के द्वारा निहित वासना के प्रबोध से उत्पन्न होने वाला, क्रमहीन किन्तु क्रमयुक्त सा प्रतीत होने वाले, वाक्यरूप में अभ्यासयुक्त (अतन्वयरूप से दृश्य) पदार्थों से चित्रित किया हुआ सा, विकल्प विरोध के कारण जिसका अन्वेष किया जाता है, ऐसा विभाग रहित वाक्यरूप में अभ्यासयुक्त प्रतीत होने वाला वाक्य कहाँ है। (पुण्यराज, वाक्य २, १-२।

नैयायिकों का मत नैयायिकों के मत को भी पुण्यराज ने वैयाकरणों के दृष्टिकोण से उपस्थित किया है कि उनका वाक्य और वाक्यार्थ का लक्षण मात्र उपयुक्त संसर्ग पद के अन्तर्गत ही था जाता है। पुण्यराज ने उनका मत निम्न रूप से दिया है—

पूर्व-पूर्व शब्द की सृष्टि के सहयोग से अन्तिम शब्द, जिसमें कि विनाश की अवस्था का अनुभव किया जाता है, पद होता है। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व पद की सृष्टि के सहयोग से अन्तिम पद, जिसमें कि विनाश की अवस्था का अनुभव किया जाता है, वाक्य होता है।

पूर्व-पूर्व पदार्थ के स्मरण के सहयोग से अन्तिम पद के द्वारा उत्पन्न होने वाली प्रतीति को वाक्यार्थ कहते हैं।

पुण्यराज का कथन है कि मर्तुहरि के ८ वाक्य के लक्षणों तथा ६ वाक्य के अर्थों में मात्र सभी सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। पुण्यराज। वाक्य० २, १-२।

वाक्य और वाक्यार्थ का सम्बन्ध

वाक्य और वाक्यार्थ का सम्बन्ध, विभिन्न मत—जिस प्रकार वाक्य और वाक्यार्थ के विषय में मतभेद है, वही प्रकार वाक्य और वाक्यार्थ के सम्बन्ध के विषय में भी पर्याप्त मतभेद है। पुण्यराज ने इनको संक्षेप में निम्न रूप से रक्खा है —

१, वाक्यस्फोटवादी वैवाक्यियों के मत में, जो कि वाक्य को अक्षरवद् एक नित्य और स्फोट रूप मानते हैं तथा वाक्य का अर्थ प्रतिमा मानते हैं, वाक्य और वाक्य के अर्थ का अप्यासरूप (तादात्म्य) सम्बन्ध है। अतएव उनके मतानुसार कहा है कि वाक्य के स्वरूप का वाक्यार्थ में ज्ञान अन्य की अपेक्षा किये बिना ही होता है।

२, अन्य पक्षों में मीमांसकों के दृष्टिकोण से शब्द और अर्थ में योग्यता नामक सम्बन्ध है। इस योग्यता का स्वरूप है वाक्य-वाक्य मात्र।

३, बौद्ध धर्म के अनुसार विज्ञानवाद सिद्धान्त मानने पर शब्द और अर्थ दोनों पुद्भि में रहते हैं, अतः दोनों में सर्वत्र कार्य फारण का सम्बन्ध होता है। जो कि वाक्यार्थवादी (वाक्यसत्तावादी) हैं उनके मतानुसार वाक्य और वाक्यार्थवाद में सांकेतिक सम्बन्ध है।

४, नैयायिकों आदि के अनुसार वाक्य और वाक्यार्थ में सांकेतिक ही सम्बन्ध है।

पुण्यराज ने इस विषय में वैवाक्यियों के मत का स्पष्ट उल्लेख किया है कि वे अक्षरवद् एक नित्य स्फोटरूपी शब्द को वाक्य मानते हैं। प्रतिमा ही वाक्य का अर्थ है, और अप्यास (तादात्म्य) सम्बन्ध है। वाक्य० २, १-२।

वाक्यस्फोट और पदस्फोट के महन का मूल

तैत्तिरीयसंहिता और ऋग्वेदशास्त्र के वचन—मर्तुहरि ने इस प्रश्न के मूल पर विचार किया है कि यह प्रश्न कहाँ से और क्यों उठा है। तैत्तिरीय संहिता में एक वचन आता है कि वाणी सर्वप्रथम अर्थात् अक्षरवद् रूप में थी।

वाग्ने पराध्यव्याहता। तैत्तिरीय, ६, ४, ७।

सर्वप्रथम वेद संहिता अर्थात् अक्षरवद् वाक्य के रूप में थे, उनका बाद में विभाजन किया गया है। ऋग्वेदशास्त्र ने इस बात को निरूपण में रक्खा है।

पदप्रकृतिः संहिता । अक्ष् प्रीति २, १ ।

मनुहरि ने प्रस्तुत किया है कि अक्षप्रतिश्राव्य के इस बचन के आधार पर दो मतों का प्रादुर्भाव हुआ । एक अक्षप्रतिवादी अर्थात् वाक्यवादी या दूसरे शब्दों में वाक्यस्फोटवादी तथा दूसरे अक्षप्रतिवादी अर्थात् पदवादी या पदस्फोटवादी । इन दोनों पक्षों के मतभेद का आधार यह था कि प्रतिश्राव्य के इस बचन का क्या भाव है, पदप्रकृति को संहिता अर्थात् वेद (वाक्य) कहते हैं "पदप्रकृति" शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं, एक पठ्ठी तत्पुरुष समास से और दूसरा बहुव्रीहि से । वाक्यवादियों का कथन है कि पहले अर्थ (एकवा) होता है, फिर भेद (अनेकवा पद) होता है, पहले वाक्य होते हैं, फिर पद होते हैं । अतः उन्होंने पदप्रकृति में पठ्ठी तत्पुरुष समास बताया है और कहा है कि 'पदानां प्रकृतिः' पक्षों के प्रकृति (मूल) को संहिता (वेद-वाक्य) कहते हैं । बैयाकरणों का बही मत है । मूल रूप से स्फोटवादी बैयाकरणों को भी कहते हैं क्योंकि स्फोटवाद् का अर्थ है वाक्यवाद या अक्षप्रतिवाद । यीमांसक पदवाद अर्थात् पक्षों को मौलिक मानते हैं, उनका मत है कि पहले मित्ता रहती है, फिर एकता होती है । पहले पद होते हैं, उनसे वाक्य बनते हैं । उन्होंने पदप्रकृति में बहुव्रीहि समास करके इसका अर्थ किया है कि "पदानिप्रकृतिवस्मा संहिताया" (जिसके मूल अर्थ पद हैं, वसको संहिता अर्थात् वाक्य कहते हैं) इस पर मनु हरि ने ध्यान आकृष्ट किया है कि पदप्रकृति ने बैयाकरणों को पदकार शब्द से सम्बोधित किया है, उसका अर्थ यह है कि बैयाकरण वाक्यों में से पदों का विभाजन करते हैं । वे वेद की संहिताओं का पदपाठ बनाते हैं । यदि पद मौलिक हो तो बैयाकरणों को पदकार न कहकर पदप्रकृति वाक्यकार नाम से सम्बोधित करते । वाक्य २ ५८—६० ।

पदानां साहेता योनि संहिता वा पदाग्रया । वाक्य २ ५६ ।

दुर्गाचार्य ने मी (निरुक्त १, १७) की व्याख्या में इस पर विचार किया है और कहा है कि संहिता अर्थात् वाक्य को मूल मानना अधिक उचित है । मन्त्र को जब अभिव्यक्ति होती है, तब वह मन्त्ररूपा अपि को संहिता अर्थात् वाक्य रूप में ही अभिव्यक्त होते हैं, पदों के रूप में नहीं । अतएव वेद विद्वान् सबप्रथम संहिता को ही पढ़ाते हैं और उसी प्रकार पढ़ने वाले पढ़ते हैं । वस्तु सम्बन्धी कार्यों में मन्त्रों का संहिता रूप में विनियोग होता है, पदों के रूप में नहीं ।

पाणिनि का मत—यात्क (निरुक्त १ १०) तथा पाणिनि ने संहिता का दूसरा साक्ष्य दिया है कि अत्यन्त मामीत्य अर्थात् अव्यवधान को संहिता (वाक्य) कहते हैं ।

परः सनिकर्यं संहिता । अष्टा १, ४ १०६ ।

अत्यन्त अव्यवधान वाक्य में ही होता है, पद में नहीं । अतः वाक्य को पद का कारण माना जाता है ।

स्फोट का अर्थ महोजिबीक्षित ने स्फोट शब्द को सार्थक बताते हुए शब्द कौस्तुभ में इसका अर्थ किया है कि जिससे अर्थ प्रकटित होता है अर्थात् अर्थ बोधक को स्फोट कहते हैं।

सुदृढत्यर्थोऽस्मादिति व्युत्पत्त्या स्फोट इति स्थितम्। कौस्तुभ पृ० १२।

स्फोट के तीन भेद—पतञ्जलि ने महामाध्य के मारम्भ में शब्द का संक्षय करते हुए कहा है कि जिसके उच्चारण से सींग पूँज आदि से युक्त वस्तु का ज्ञान होता है, उसे शब्द कहते हैं। पुण्यराज ने अक्षरवृत्त का विवेचन करते हुए कहा है कि स्फोट शब्द है, और व्यति शब्द का गुण है। स्फोट भी दो प्रकार का है, एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। इनमें से बाह्य दो प्रकार का है एक जाति और दूसरा व्यक्ति। अक्षरवृत्त पद्य में वाक्य के तीन संक्षय बताए गए हैं। उनमें से जातिस्फोट का प्रतिपादन 'सघातवर्तिनीजाति' करवा है। व्यक्ति स्फोट का प्रतिपादन 'एक अक्षरवृत्तशब्द' करवा है और आन्तरिक स्फोट का निरूपण 'बुद्धि में अनुसङ्घति' करवा है। पुण्यराज, वाक्य० २, १-२।

अक्षरवृत्त पद्य का माप, (वाक्य एक और अक्षरवृत्त है)

अक्षरवृत्त पद्य या स्फोटवाक्य के आधार पर मर्दहरि वाक्य का जो स्वरूप बताना चाहते हैं, वह मर्दहरि तथा उनके व्याख्याकार पुण्यराज के शब्दों में निम्न है —

चित्र ज्ञान अक्षरवृत्त है—मर्दहरि ने चित्र के ज्ञान का उदाहरण देकर इसको स्पष्ट किया है कि चित्र का ज्ञान सारे आकारों से युक्त होते हुए भी एक ही होता है। उस एक चित्र ज्ञान का हरय वस्तु में भेद के कारण भेद किया जाता है। नीला पीला आदि अनेक आकारों से युक्त चित्र का ज्ञान होता है। वस्तुतः देखा जाए तो ज्ञान में आकारों का भेद नहीं होता है। इसी प्रकार वाक्य और वाक्यार्थ का स्वरूप है। वाक्य और वाक्यार्थ दो पदार्थ नहीं हैं, अपितु वे अक्षरवृत्त हैं, जैसे पेय पदार्थ का रस और अक्षरवृत्त है, इसी प्रकार अक्षरवृत्त स्फोटरूप, मर्दहरि या गाय के चित्र का ज्ञान अक्षरवृत्त है, इसी प्रकार अक्षरवृत्त स्फोटरूप वाक्य वाक्य है और इससे अभिन्न वाक्यार्थ वाच्य है। वाक्य० १७।

चित्र एक है—जिस प्रकार चित्र-ज्ञान अक्षरवृत्त है उसी प्रकार बाह्य चित्र भी अक्षरवृत्त है। चित्र एक होता है, उसमें वस्तुत्व अक्षर नहीं होते हैं, किन्तु इसके अवयवों के भेद नीले पीले आदि के आधार पर उसे पृथक्-पृथक् रूप से नीला पीला आदि कहा जाता है। इसी प्रकार वाक्य भी अक्षरवृत्त और एक होता है,

इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं रहता है। अन्य वाक्यों में जो पदों को देखते हैं उसके आधार पर वाक्य में पदों की सत्ता मानते हैं। वाक्य० २, ८-१।

वाक्य में पद कल्पित हैं—जिस प्रकार अक्षरएव पद में प्रयुक्ति और प्रत्यय की कल्पना करते हैं, वस्तुतः वह असत्य है और केवल भाषकों को बोध कराने के लिए होती है, वही प्रकार वाक्य में पदों की कल्पना की जाती है। इसमें से पदों का अपोहार (विरतोपय पृथक्करण) करते हैं, जिससे वाक्य में वाक्य के अर्थ का बोध कराया जाय।

पद्या पदे विमज्ज्यन्त प्रकृतिप्रत्ययापयः।

अपोहारस्या वाक्ये पदानामुपवर्ष्यते ॥

वाक्य० २, १०।

मार्गहरि ने इसका स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार सम्बन्धों अर्थात् ये ओ में अ इ और ए उ स्वरों की सत्ता ज्ञात होती है, वस्तुतः ये और ओ स्वर इन विभागों से पृथक् स्वतन्त्र स्वर वर्ण हैं। इसी प्रकार वाक्य में अन्य पदों के सट्टा पृथक् विभाग ज्ञात होते हैं। वस्तुतः वाक्य की सत्ता पदों से पृथक् और स्वतन्त्र है। श्रुपम (वैक) वाक्य (जो का पना हुआ पदार्थ) शब्दों में प्रत्येक वर्ण वृ प और म आदि का कोई अर्थ नहीं है। जिसके संयोग से ये सार्वक शब्द बनते हैं, अपितु इनके विभाग वर्ण आदि अनर्थक हैं, तो प्रकृति और प्रत्यय का विभाजन कैसे होता है। इसका उत्तर दिया है कि अन्वय और व्यक्तिरेक के आधार पर प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना की जाती है। अन्वय और व्यक्तिरेक ही समस्त व्यवहारों के मूल हैं। वस्तुतः वाक्य में से पद की और पद से प्रकृति-प्रत्यय की पृथक् सत्ता नहीं है। वाक्य० २, ११-१२।

भागीरथर्वकैर्युक्ता वृपमोदकयावकाः।

आन्वयव्यतिरेकी तु व्यवहार नियम्भनम् ॥

वाक्य० २, १२।

वाक्यार्थ अस्त्येव है—स्वोक्तस्तक शब्द का कोई विभाग नहीं है, वह अक्षरएव है उसका वाक्य अर्थ प्रतिमा है, उमका विभाजन कैसे हो सका है। जिस प्रकार अविद्या को समझने के लिए वाक्य में से पदों को पृथक् करके बनका अर्थ पताया जाता है, वही प्रकार पदों के अनुरोध से पदार्थ और विभिन्न वाक्यों के अनुरोध से वाक्यार्थ में विभाग की कल्पना की जाती है। अविद्या अर्थात् उनके विभाग से प्रक्रिया भेद और प्रक्रिया भेद से अर्थभेद को सत्य समझ लेता है, वस्तुतः विभाग प्रक्रिया भेद और अर्थभेद असत्य और फल्पनिक है। सोक व्यवहार के लिए इस प्रकार का कल्पनिक विभाजन किया जाता है। पुत्रवराज।

शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति ।

विभागैः प्रक्रियामेवमभिधान् प्रतिपद्यते ॥

वाक्य० २, १३।

वाक्यार्थ में पदार्थ का अभाव—जिस प्रकार ब्राह्मणकम्बल (ब्राह्मण के लिए कम्बल) इस समास हुए पद में समस्त पद का एक अर्थ है। ब्राह्मण शब्द का कोई पृथक् अर्थ नहीं है, क्योंकि उसका समस्त पद में पृथक् अस्तित्व नहीं है, इसी प्रकार "देववच गामभ्याश्च शुक्लां दृष्येन" (हे देववच, सफेद गाय को ढंडे से हाँक दो) आदि वाक्यों में देववच आदि पदों का कोई पृथक् अर्थ नहीं है। अतएव वाक्य में पदों को अनर्थक माना जाता है

ब्राह्मणार्थे यथा नास्ति कश्चित् ब्राह्मणकम्बले ।

देववत्तादयो वाक्ये तथैव स्मुरनर्थकाः ॥

वाक्य० २, १४।

असंग वाक्यवाकियों में भी तीन मत हैं। इस विभिन्नता का कारण प्रतिभा की विभिन्नता है। एक असंग वाक्य स्कोट विभिन्न भाषाओं ने तीन विभिन्न दृष्टिकोण से देखा है, अतः विभिन्नता है। इनमें से दो वाक्य को बाह्य सत्ता मानते हैं, एक नित्यजातिवादी और दूसरे व्यक्तिवादी। इन दोनों का मत सङ्घे में निम्न है -

(१) वाक्य एक और असंग शब्द है।

(२) पद-समूह में रहने वाली जाति को वाक्य कहते हैं।

१—वाक्य एक असंग शब्द है—व्यक्ति स्कोट को मानकर वाक्य को असंग मानने वाले पैकारणों का कथन है कि वाक्य ((शब्द और अर्थ वाक्य और वाक्यार्थ) में कोई अघट्य और अंश नहीं होते हैं। वह निरंश और अभिन्न वाक्य ही वाक्य है। उसमें जो भेद का आभास होता है, वह व्याधि (भ्रम) के कारण है। उपांशु (मौन उच्चारण) परम उपांशु (अत्यन्त मौन शब्दोच्चारण) व्यक्त, व्यक्ततर (स्पष्ट, स्पष्टतर) विसम्बुद्ध, अधिक विसम्बुद्ध, शीघ्र अतिशीघ्र आदि का शब्द में जो आभास होता है, वह शब्द को अभि व्यक्त करने वाली ध्वनि के कारण होता है वस्तुतः शब्द (स्कोट) में कोई भ्रम नहीं है, वह अक्रम है। शीघ्र विसम्बुद्ध आदि आभास व्याधि के कारण होता है, अतएव बुद्धि (प्रतिभा) वस्तुतः और व्यापक हुई सी प्रतीत होती है। पुष्कराज, वाक्य० २, १६।

२—पदसमूहगत जाति वाक्य है—पदसमूह में रहने वाली जाति को वाक्य मानने वालों का कथन है कि शब्द जाति रूप है, नित्य है, वह पदसमूह में

रहता है, उदाहरण के लिए भ्रमण एक क्रिया है, विरोध प्रयत्न के द्वारा व्यसन पादसंभालन से बसकी अभिव्यक्ति होती है। क्रिया प्रत्येक वेर के रखने के साथ समाप्त हो जाती है। उस समाप्ति को पास बैठा हुआ व्यक्ति नहीं जान पाता। वस्तुतः प्रत्येक वेर के रखने के साथ समाप्त होने वाली क्रिया जाति रूप भ्रमण क्रिया का अंग है। कई बार भ्रमण करने पर भ्रमण करने वाले को, भ्रमण एक क्रियात्मक जाति है, यह ज्ञात होता है। इसी प्रकार वर्ष, पक्ष और वाक्यों में वर्षा पक्ष और वाक्यात्मक स्कोट की अभिव्यक्ति करने वाली भ्रमण क्रिया अर्थात् ध्वनि है। ध्वनि स्कोट से व्यन्त भिन्न है तथापि ध्वनि एक ही कंठ, तालु आदि स्थान और करणों के संपर्क से व्यन्त होती है, अतः इसमें स्कोट से व्यन्त भिन्नता होते हुए भी समानता प्रतीत होती है। भिन्न प्रयत्न से उच्चारित ध्वनि से व्यक्त होने वाला जातिस्कोट (नित्य वाक्य) बिलक्षण ही जानना चाहिए। अतएव पुस्तककार कहते हैं कि ऐसा मानना ठीक है। अक्षरबद्ध स्कोट में पौर्वापर्य क्रम व्यक्ति स्कोट में रहने वाली जातिस्कोट रूपी उपाधि के कारण ही हो सकता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि वाक्य रूपी अक्षरबद्ध व्यक्ति स्कोट नित्य है। पुस्तककार वाक्य २, २०—२१।

शक्तिभेद से पदभेद—नित्य पदार्थ में पहले या बाद में इस प्रकार का पौर्वापर्य वस्तुतः असम्भव है। उपाधि भेद से यह क्रम प्रतीत होता है। इस पर यह ध्यान हो सकता है कि सर्वदा यह एक ऐसा ही क्यों प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि नित्य में स्वभावभेद नहीं हो सकता है। इसका उचर मधु हरि ने दिया है कि एक स्वभाव वाले में भी अनेक शक्तियों के रहने के कारण ऐसा होता है। शब्द का यह स्वभाव है कि उसमें ध्वनि रूप शक्ति जो कि नाना रूप है, रहती है। वाक्य २, २२।

इसको स्पष्ट करने के लिए मधु हरि ने उदाहरण दिया है कि काल एक है, उसमें भेद नहीं है तथापि ज्ञेय वस्तु के आघार पर शीघ्र या विलम्ब वेग भिन्न काल का सूचक ज्ञात होता है। इसी प्रकार शब्द (स्कोट) ना ह्रस्व है और न दीर्घ, उसमें ध्वनि के आघार पर ह्रस्व और दीर्घ का भेद फर दिया जाता है। शब्द (वाक्य, स्कोट) में न भेद है और न ध्वनि के आघार पर वस्तुतः उसमें भेद होता है। वाक्य २, २३।

नित्य और उपाधिभेद से भेद—इसपर यह ध्यान रखा गया है कि नित्य पदार्थ को उपाधिभेद से भिन्न नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसा कहने से उसमें स्वभावभेद मानना पड़ेगा। इसका उचर मधु हरि ने दिया है कि काल को नित्य माना गया है। यह एक और अक्षर है। यदि उपाधिभेद से नामभेद नहीं माना जाएगा तो एक काल को ही उच्य, लघ, (दो उच्य) निमेष, मास, वर्ष आदि का व्यवहार कैसे बन सकता है, यदि परमाणु आदि के धर्मभेद से काल

मेह को गीब रूप से स्वीकार किया जाता है तो अखण्ड वाक्य में भी व्याधिमेह से मेह की कल्पना स्वीकार करनी चाहिए। पुण्यराज वाक्य० २, २४।

यदि कहा जाए कि हम काल को नित्य एक भावि गुणों से युक्त पृथक् नहीं मानते हैं। स्वभाव से ही भिन्न पदार्थों की मात्राएँ जो कि आगे पीछे रहती हैं, काल कहाती है। उसको मानकर क्रम का व्यवहार होता है। नित्य काल को मानकर नहीं। इसका उत्तर देते हैं कि आगे पछ होने वाले पदार्थों की मात्राएँ (क्रियाएँ) अल्प और नारा होने वाली होती हैं उनमें कोई भी स्थिर या नित्य नहीं है। एक के बाद दूसरी क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं। उन नष्ट हुई क्रियाओं में न कोई क्रम हो सकता है और न उसके आधार पर काल का व्यवहार ही हो सकता है। पुण्यराज।

व्यावर्तिनीनां मात्रासामभावे कीदृशः क्रमः। वाक्य० २, २४।

अनित्य में क्रम नहीं हो सकता—यदि यह कहा जाए कि जैसा जो भी पदार्थ है, उसको ही मान कर जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह काल के व्यवहार (स्य लक्ष) भावि को सिद्ध कर देगी। इसका उत्तर दिया है कि उन पदार्थों की क्रियाओं से जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह भी काल का व्यवहार नहीं कर सकती है, क्योंकि बुद्धि एक है। उसमें विभाग नहीं है। वह पौर्वापर्य व्यवहार को कैसे कर सकती है। वाक्य० २ २५।

वासना बुद्धि से भिन्न है या अभिन्न—यदि यह कहा जाए कि बुद्धि विभिन्न ही होकर अपनी शक्ति के क्रम का ज्ञान करा देगी क्योंकि वह अनुभव और वासना के कारण पदार्थों के क्रम का उत्सल का आधार पर उत्पन्न होती है अतएव काल व्यवहार भी हो जाएगा। भर्तृहरि ने इसका खंडन किया है कि पदार्थों की मात्राओं से बुद्धि में अनुभव के कारण जो भीतर रहता गया है, जिसको वासना कहते हैं, और जिसके स्वभाव को संस्कार कहते हैं, वह बुद्धि से भिन्न है या अभिन्न, यही जो मार्ग ही हो सकते हैं। यदि यह वासना उससे (बुद्धि से) भिन्न है, तो उसके बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं होगा और उसके कारण क्रम भावि व्यवहार नहीं हो सकता है। यदि वासना बुद्धि से अभिन्न है तो वह एक और विभाग से रहित ही हो जाती है, अतः वह पदार्थ की मात्रा के तुल्य काल का व्यवहार कैसे कर सकती है। इस प्रकार से बुद्धि से वासना का अभिन्न या भिन्न मानने पर दोनों अवस्थाओं में बुद्धि का विभाजन नहीं किया जा सकता है अतः क्रम की सिद्धि नहीं हो सकती है। पुण्यराज वाक्य० २ २५-२६।

वाक्य का वाक्यार्थ रूप में विवर्त—अतएव वाक्य (शब्दसमूह, परब्रह्म) क्रमरहित है, स्कोटस्पी नित्य है, यही अवेक्षा वाक्य है। वह पदार्थों की मात्रा

(सृष्टि की उत्पत्ति, पदार्थों की उत्पत्ति) के समय अपनी शक्ति के कारण क्रमबद्ध होकर पदार्थों को उत्पन्न करता है, क्योंकि उसमें यह शक्ति है कि वह क्रमबद्ध हो सके। अतएव वाक्यार्थ वाक्य रूप में परिणत होकर मेघरहित और अलसक ही रहता है। पदार्थों की उत्पाधि धर्म के कारण वह मिनत्त सा प्रतीत होता है, वस्तुतः मिनत्त नहीं है। पुण्यराज, वाक्य० २, २७।

३—बुद्धिगत समन्वय को वाक्य कहते हैं।

ज्ञानरूप शब्द का प्रकाश वाक्य—वाक्य को बाह्य मानकर उपर्युक्त ध्वनिस्फोट या आविस्फोट के रूप में वर्णन किया गया है। इस अक्षय्य का भाव यह है कि वाक्य आत्मन्तरस्फोट है। अन्तर रहता है, अक्षय्य रहित है, अलसक शब्दार्थमय है, ज्ञानरूप है, इसको ही ज्ञानवत्त्व या राज्यकण्ड कहते हैं। इस एक आत्मन्तर राज्यवत्त्व को अब ध्वनि के द्वारा बाहर प्रकाशित किया जाता है, तब उसे वाक्य कहा जाता है। इस पक्ष को मानने वालों का भाव यह है कि बुद्धिगत को राज्यवत्त्व (जग) है, इसी की एकता को मानना चाहिए। वाक्य भी उही को मानना चाहिए, उसके अतिरिक्त अन्य असत्य वाक्य जीव, प्रकृति, पद और वर्णों को मानने की क्या आवश्यकता है। पुण्यराज, वाक्य० २, ३०।

वाक्यार्थ बुद्धि में रहता है—वाक्य बुद्धिगत मानने वाले भाषाओं का मत है कि न केवल वाक्य अपितु वाक्यार्थ भी अलसक है। वाक्यार्थ ही प्रतिमा है। जब वाक्यार्थ (प्रतिमा) की पदार्थों के द्वारा अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार वाक्य बुद्धि में रहता है वही प्रकार वाक्यार्थ भी बुद्धि में रहता है। वाक्य और वाक्यार्थ दोनों को अन्तर ही मानने के कारण उन्हें 'आन्तरवाक्यवर्धी' कहा जाता है। पुण्यराज।

अर्थमातृस्तथा तेषाम्मास्तरोऽर्थं प्रकाशयते।

वाक्य० २, ३१।

वाक्य और वाक्यार्थ में अभिन्नता—शब्द और अर्थ (वाक्य और वाक्यार्थ) वस्तुतः पृथक् नहीं हैं। ये दोनों एक आत्मन्तर तत्त्व (शब्दकण्ड परकण्ड) के सम्बन्धी हैं। बाह्य जगत् में विद्यमान विन्न से प्रतीत होते हैं। (पुण्यराज)। अतएव मनुहरि कहते हैं कि शब्द और अर्थ एक ही आत्मा के दो अभिन्न अंग हैं।

एकस्यैवारमनो मेदौ शब्दाद्यावपृथक्स्थितौ।

वाक्य० २, ३१।

इस पक्ष पर एक प्रश्न उठाया गया है कि शब्द और अर्थ में वाक्य वाक्य का भाव प्रसिद्ध है। वाक्य और वाक्य का सम्बन्ध दो पृथक् पदार्थों में ही होता है,

अथ' दोनों में अभिन्नता कैसे है। इसका उत्तर मनु हरि देते हैं कि एक शब्दतत्त्व जो कि अन्तरात्मा के रूप में सर्वथा विद्यमान है, उसकी शक्ति के भेद से उसके सम्बन्ध में भिन्नता प्रतीत होती है, वस्तुतः भिन्नता नहीं है। उसी सम्बन्ध में प्रकृत्यप्रकाराकमात्र, कार्यकारण भाव, वाच्य वाचक भाव आदि नाम दिए गए हैं। उसकी शक्ति अनेकों हैं इस परमेश्वर का आश्रय लेकर ससार का सारा व्यवहार चलाता है। उसमें दो विरोधी तत्त्व अस्तित्व और नास्तित्व व्यवहारित रूप से रहते हैं। इनमें क्रम नहीं है, परन्तु क्रम का आभास होता है। वाक्य० २, ३२—३३।

४—पदसमूह का वाक्य कहते हैं।

कात्यायन और मीमांसकों के लक्षण में अन्तर—कात्यायन और मीमांसकों के द्वारा प्रस्तावित वाक्य के लक्षण दिए गए चुके हैं। कात्यायन का मत है कि आख्यात (क्रिया शब्द) अभ्यय, क्तरक और विशेषण के साथ या अकेला वाक्य रहता है। दूसरा लक्षण दिया है कि एक विद्वन्त पद वाक्य होता है। मीमांसकों का मत है कि अर्थ की एकता होने पर वाक्य होता है विभाग करने पर उसमें परस्पर आकांक्षा होनी चाहिए।

एक वाक्य में एक विद्वन्त पद—मनु हरि ने विचार किया है कि दोनों लक्षणों में कुछ अन्तर है या भेद भी है। मनु हरि ने दोनों लक्षणों में कुछ समानता होती हुए भी अन्तर होना बताया है। कात्यायन ने अनुवाच्य आवृत्ति की व्यवस्था के लिए एक वाक्य में एक ही विद्वन्त पद का होना बताया है। इसका परिणाम यह होता है कि कात्यायन के मत से जहाँ एक से अधिक विद्वन्तपद होंगे वहाँ रहने ही विभिन्न वाक्य माने जायेंगे। मीमांसकों के मत से अर्थ अर्थात् प्रयोजन की एकता पर विशेष बल दिया गया है। उसके मतानुसार यदि अर्थ की एकता है तो एक से अधिक विद्वन्त पद से युक्त को भी एक ही वाक्य कहेंगे। शास्त्रीय दृष्टि से कात्यायन का लक्षण मनु हरि ने अधिक अच्छा बताया है। दोनों लक्षणों की कितनी ही वाक्यों में समानता है। दोनों के दृष्टिकोण से "शास्त्रीनां ते ओर्ध्वं वास्यामि" (तुम्हको आसनों का भाग दूँगा), एक वाक्य है क्योंकि एक क्रिया है, और एकार्थता है। परन्तु ओर्ध्वन पत्र तत्र भविष्यति (भाग पत्रा तोरा होगा) यह मीमांसकों के अनुसार दो क्रियापदों का होने पर भी एक वाक्य है, क्योंकि यहाँ प्रयोजन एक है। कात्यायन के मत से यहाँ दो वाक्य हैं, क्योंकि दो विद्वन्त पद हैं। वाक्य० २, ३।

सम्बोधन भी वाक्य का अंग होता है—कात्यायन के वाक्य के लक्षण में एक नुति यह आवी है कि सम्बोधन पद की वाक्य में गणना नहीं हो सकती है, क्योंकि वह न अभ्यय है, न क्तरक और न विशेषण। शेषाक्षरों के मत्वा-

नुसार सम्बोधन की गणना कारक से बाहर है, अतः सम्बोधन का वाक्य में समावेश नहीं होगा। जैसे प्रजानि देववत् (कथा में जाऊँ देववत्) यह वाक्य नहीं होगा। मरु हरि ने इस शंका का समाधान किया है कि कात्यायन के लक्षण में त्रुटि नहीं है। कात्यायन ने विरोप्य शब्द दिया है, यह विरोप्य और क्रिया विरोप्य दोनों के मह्य के लिए है। क्रिया विरोप्य से युक्त क्रिया पद को भी वाक्य माना जाएगा। सम्बोधन को क्रिया विरोप्य माना जाता है अतः उक्त वाक्य में एक वाक्यता हो जाएगी। वाक्य० २, ५।

एक वाक्य में अनेकों क्रियाएँ भी रहती हैं— मरु हरि ने कात्यायन के लक्षण में एक और सम्भावित त्रुटि का उल्लेख करके उसका समाधान किया है। प्रश्न यह है कि “पूर्वस्नाति पश्चि ततो प्रजति” (पहले स्नान करता है, स्नाना पकाता है, फिर जाता है), यहाँ पर कात्यायन के मत से एक वाक्य नहीं हो सकता है, क्योंकि तीन तिङन्त पद हैं। मीमांसकों के अनुसार यहाँ अर्थ की एकता के कारण एक वाक्यता मानी जाती है। मरु हरि ने यहाँ पर यह समाधान दिया है कि यहाँ पर विभिन्न वाक्य नहीं हैं। “जाता है” यह क्रिया महा पर मुख्य है, अन्य क्रियाएँ स्नान करता है, स्नाना पकाता है उसके विरोप्य अर्थात् गीय क्रियाएँ हैं। कात्यायन के एक तिङ् क्त भाव यह नहीं है कि एक वाक्य में एक से अधिक तिङन्त पद या क्रिया नहीं रह सकते, अपितु यह भाव है कि एक वाक्य में मुख्य क्रिया एक ही रह सकती है, यदि मुख्य क्रिया एक है तो वाक्य एक होगा, चाहे तिङन्त पद एक से अधिक कितने ही हों। यदि मुख्य क्रिया एक से अधिक है तो वाक्य मुख्य तिङन्त पदों के अनुसार विभिन्न होंगे। एक वाक्य में एक मुख्य तिङन्त पद के साथ कितने ही कृत्वा प्रत्यय वाले क्रिया-पद रह सकते हैं। उक्त वाक्य का कृत्वा (करके) प्रत्यय लगाकर कहें तो यह होगा कि पहले स्नान करके, स्नाना पकाकर, फिर जाता है। जिस प्रकार एक क्रिया में कितने ही कृत्वा पद कृत्वा भावि प्रत्ययान्त) उसके विरोप्य के रूप में रहते हैं वही प्रकार तिङन्त पद भी मुख्य क्रिया के विरोप्य होकर रहते हैं। उक्त वाक्य में स्नान करना आदि क्रिया पद मुख्य क्रिया ‘जाता है’ के विरोप्य हैं। पुण्यराज, वाक्य० २, ६ और २, ४५१।

मरु हरि का वाक्य का लक्षण— मरु हरि ने पाणिनि का अनुसरण किया है कि एक वाक्य में अनेक तिङन्त पद भी रह सकते हैं अतएव पाणिनि ने ‘तिङ्कृतिङ्’ (८, १ २८) सूत्र में अतिङ् पद रक्षता है। यदि एक वाक्य में दो तिङन्त पद सर्वथा रह ही नहीं सकते हैं तो अतिङ् पद रक्षना अर्थ ही था, क्योंकि वे दो विभिन्न वाक्य हो जाते हैं। वाक्य० २, ४५०।

मरु हरि का कथन है कि पदुव से तिङन्त पदों में भी यदि परस्पर अर्थ की आर्काका होती है तो उनमें एक वाक्यता होती है।

बहुवचनपि तिङ्मन्तेषु साक्षात्पि कवाक्यता । वाक्य० २, ४५० ।

अतएव मत्तुहरि ने अन्यत्र कहा है कि सामान्य अपवाद वाक्य में क्रियापद की अनेकता होने पर भी वाक्य एक ही माना जाता है । देखने में ये भिन्न वाक्य ही ज्ञात होते हैं, पुण्यराज ने इसलिये इसकी व्याख्या में लिखा है कि वाक्य का अर्थ यही ठीक है कि आकांक्षा योग्यता और आसक्ति (सन्धि) के कारण एकवाक्यता को प्राप्त हुए दो वाक्य कहते हैं । वाक्य० २, ३५३ ।

वस्तुतस्तथाकांक्षायोग्यतासंनिधिदशादेकवाक्यतां गत वाक्य बोधव्यम् ।
पुण्यराज ।

बिना क्रियापद के भी वाक्य होते हैं—पतञ्जलि ने महाभाष्य में (महा० १, १, ४४) इस बात पर ध्यान आकृष्ट किया है कि प्रसिद्धि आदि के आधार पर वाक्य के स्थान पर वाक्य के एक अंश को तथा पद के स्थान पर पद के एक अंश का प्रयोग किया जाता है । जैसे प्रथिशा (घुसो) पिण्डीम् (एक मास को), तर्पणम् (तर्पण) वाक्यांश "पर में घुसो" "मास को खाओ" "तर्पण करो" वाक्यों के लिए आए हैं । इनमें यथायोग्य क्रिया और कर्म आदि का आक्षेप कर लिया जाता है । केचट ।

दृश्यन्ते हि वाक्येषु वाक्यैकदेशान् प्रयुज्जाना पदेषु परैकदेशान् । महाभाष्य ।

नागेश ने मंजूषा (पृ ४४०-४४१) में अतएव कहा है कि पद कहीं कहीं पर अपने अर्थ के साथ संबन्ध अन्य के अर्थ का भी बोध कराते हैं । उपर्युक्त उदाहरणों के विषय में कहा है कि प्रास, तर्पण आदि पदों की वाक्यार्थ में शक्तिप्रद के कारण इन पदों से ही वाक्यार्थ का ज्ञान हो जायगा ।

मत्तुहरि ने इस बात पर भी ध्यान दिखाया है कि यदि पद के अन्तर ही क्रिया का अर्थ भी ज्ञात हो तो वह पद भी वाक्य ही माना जायगा ।

वाक्य तदपि मन्थन्ते यत्पद चरितक्रियम् ।

वाक्य० २, ३२७ ।

पाणिनि ने तद्धित प्रकरण में ऐसे बहुत से नियम दिए हैं जिनके कारण क्रिया का अर्थ पद में आ जाता है । जैसे "वैयाकरण्य" शब्द को व्याकरण्य को पढ़ने या जानने की क्रिया का अर्थ भी समाविष्ट है । अष्टा० ४, २, २६ ।

ध्यास ने योगसूत्रों के भाष्य में लिखा है कि वाक्य के अर्थ में पदों की भी सृष्टि होती है । जैसे "ब्रह्मोऽधीते" (ब्रह्म, वेद पढ़ता है) वाक्य के स्थान पर भोनिय शब्द की सृष्टि हो गई । अष्टा० ५, २, ८४ ।

दृष्टं च वाक्यार्थे पदरचन भोत्रिपरदृग्ऽधीते ।

ध्यासभाष्य, याग० ३, १७ ।

भी स्वभाव भेद होता है, सख, रजस् और तमस् इसी प्रकार प्राकृत अर्थात् मौखिक ध्वनि में भी स्वभाव भेद रहता है, इसी के कारण ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत होता है। यह कालभेद प्राकृत ध्वनि में रहता है, परन्तु शब्द में उसका लक्षणा वृत्ति के द्वारा आरोप करते हैं। शब्द नित्य है, उसमें ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित नहीं हैं। नित्य शब्द बिना प्राकृत ध्वनि के कभी प्रकट नहीं होता है, अतः प्राकृत ध्वनि के काल का शब्द में आरोप किया जाता है। शब्द नित्य होने के कारण व्यवहार का विषय नहीं है, जब प्राकृत ध्वनि से सम्बन्ध किया जाता है, तब प्राकृत ध्वनि के गुण आ जाने से शब्द में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि की सच्चा दृष्टिगोचर होती है। पतञ्जलि ने अतएव ध्वनि को स्फोट गुण कहा है।

स्वभावभेदाधित्वात्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु ।

प्राकृतस्य ध्वने काला शब्दभ्येत्युपसर्पते ॥

शाक्य० १, ७६ ।

प्राकृत ध्वनि में ह्रस्व, दीर्घ आदि गुण हैं, परन्तु वैकृत ध्वनि में हुत मध्यम विलम्बित वृत्तियां रहती हैं। इसका स्वभाव घटि की मूल ध्वनि के परचात् अनु रणरूप है। अतः अतु हरि कहते हैं कि शब्द की अभिव्यक्ति हो जाने पर अर्थात् प्राकृत ध्वनि के बाद वृत्तिभेद होने पर जो ध्वनियां होती हैं उन्हें वैकृत ध्वनि कहते हैं। इसका प्रभाव स्फोट पर नहीं पड़ता है। अनुरणन के कारण शब्द में भेद नहीं माना जाता है। जैसे हुत या विलम्बित वृत्तिभेद से उच्चारण करने पर भी 'वही अ है', वही पद है, वही मंत्र है आदि कहा जाता है, उनमें भेद नहीं माना जाता है।

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।

ध्वनयाः समुपोद्भूते स्फोटात्मा तैर्म मिच्यते ॥

शाक्य० १, ७८ ।

स्फोट का ज्ञान कैसे होता है, स्पष्टीकरण—स्फोट को ग्रहण करने का साधन प्राकृत ध्वनि है और उसके वृत्तिभेद का कारण वैकृत ध्वनि है इस कथन का अभिप्राय यह है कि जब भी शब्द का उच्चारण किया जाता है, उससे स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, उसमें जो प्राकृत ध्वनि है, उससे शब्द का ज्ञान होता है, बुद्धि उसके ग्रहण कर लेती है। इसके परचात् जो ध्वनि होती है, वह अनुरणन है, उससे शीघ्र विलम्ब आदि होता है।

परन्तु जब स्फोट का शुद्ध अर्थ शब्दत्व या परब्रह्म लिया जायगा तो इसका भाव यह होगा कि ब्रह्म का ज्ञान प्राकृत ध्वनि से होता है। अतु हरि ने इसको शाक्यार्थ की स्वाध्या में प्रथिमा कहा है, यदि आत्मन्तर स्फोट मानते हैं तो

ब्रह्मका ज्ञान प्रतिभा से होगा, अर्थात् प्रतिभा से राज्यसाक्षात्कार होगा। प्रतिभा ही ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन है। यदि बाह्य स्फोट को व्यक्तिवाद की दृष्टि से देखें तो उस प्राकृत्य ध्वनि का अर्थात् प्रतिभा का बाह्यरूप वेद है संहिता है। वह राज्यसाक्षात्कार का साधन है। यदि बाह्य स्फोट को जातिवाद की दृष्टि से देखें तो उस प्रतिभा का बाह्यरूप समस्त ससार है, जिसमें सूर्य चन्द्र आदि से लेकर पंचभूतात्मक समस्त ब्रह्माण्ड सम्मिलित है। ध्वनि में अनित्यता है, अतएव समस्त ब्रह्माण्ड, सूर्य चन्द्र, पंचभूतों का बाह्यरूप अनित्य है। वेदों का बाह्यरूप अनित्य है। जीव, प्रतिभा का बाह्यरूप अनित्य है। प्राकृत्य ध्वनि में मौलिकता है, अतः चिरस्थायिता है। प्राकृत्य ध्वनि और स्फोट को पकड़ नहीं किया जा सकता है, अतः प्राकृत्य ध्वनि को शब्द का प्रतिविम्ब माना जाता है। इनमें अनित्यता होने पर भी नित्यता के आधार पर नित्यता मानी जाती है। प्राकृत्य ध्वनि के परभाव जो भी ध्वनि होती है, उसको उस मूल ध्वनि का ही विकार कहा जाता है, उससे ही सब प्रकार की वृत्तियों का भेद होता है।

स्फोटस्य प्रहये हेतु प्राकृतो ध्वनिरिष्यते ।

वृत्तिभेदे निमित्तरत्न वैकृत्य प्रतिपद्यते ॥

वाक्य० १,७३,

ध्वनि से किसका संस्कार होता है, तीन मत—ऊपर यह बहनेत्र किया गया है कि स्फोटवाद को मानने वाले भी स्फोट को तीन विभिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं। एक आत्म्यस्वर दृष्टिकोण तथा दूसरा बाह्यदृष्टिकोण। बाह्य में भी एक व्यक्तिवाद की दृष्टि से और दूसरा जातिवाद की दृष्टि से। इस प्रकार तीन दृष्टिकोण से विचार किया गया है। ध्वनि भी प्राकृत्य और वैकृत्य है। दोनों का प्रभाव पृथक् है। भवु हरि का कथन है कि जो शब्द को नित्य मानते हैं, और ध्वनि से शब्द की अभिव्यक्ति मानते हैं, उनके तीन विभिन्न मत हैं, एक यह मानते हैं कि शब्द के द्वारा इन्द्रिय की वृद्धि हो जाती है, अतः शब्द का प्रहय हाता है। दूसरे यह मानते हैं कि ध्वनि से शब्द का संस्कार हो जाता है, वह प्रकृत्य हो जाता है। तीसरे यह मानते हैं कि इन्द्रिय और शब्द दोनों का संस्कार होता है, अतः संस्कृत इन्द्रिय से संस्कृत शब्द का ज्ञान होता है।

इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य वा ।

क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम् ॥

वाक्य० १,७४ ।

दोनों मतों को भवु हरि तथा पुण्यराज न निम्नरूप से स्पष्ट किया है।
(वाक्य० १,८०—८१)

१—ध्वनि बत्यन्न होकर ज्ञान को शुद्ध कर देती है, उससे शब्द की व्यसक्ति

में सामन होती है। जैसे बिजु की पक्षप्रता, अंजन आदि के द्वारा अल्ल की ही शुद्धि की जाती है। यदि राज्य की ही अभिव्यक्ति मानी जायगी तो सब को ही वह सुनाई पड़ना चाहिए। कुमारिल ने रत्नोक्तवार्तिक के राष्ट्रनित्यसाधिकरण में इन तीनों बातों पर विस्तार से विचार किया है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि ध्वनि संस्कार का अन्तक कैसे हो सकता है, क्योंकि संस्कार को उत्पन्न करने वाला कोई आक्षर वसमें नहीं है। इसका उत्तर कुमारिल ने दिया है कि राज्य की उत्पत्ति मानने वालों को भी तद्भावाभाविता के द्वारा अर्थात् ध्वनि के होने से राज्य की सत्ता माननी होती है। अर्थ के द्वारा कारण का अनुमान करके अतीन्द्रियशक्ति माननी होती है। नित्यवाकियों के मत में अभिव्यक्त्य अनुमेय अतीन्द्रिय शक्ति के द्वारा इन्द्रिय का संस्कार करती हुई ध्वनियाँ राज्य की अभिव्यक्ति करती हैं। यदि यह कहा जाय कि व्यस्तक कैसे जाति का होना चाहिए। ध्वनि राज्य से विजातीय है, अतः व्यस्तक कैसे हो सकती है। इसका उत्तर कुमारिल ने दिया है जैसे पक्षा आदि पार्ष्विक पदार्थ है और क्षीपक समस्त, विजातीय होने पर भी दोनों में प्रक्षरय-प्रक्षरक-भाव सम्बन्ध है। शेषक से पट का संस्कार होता है। (रत्नोक्त० राज्य ४३—४६)।

२—ध्वनि के सर्वा से राज्य में ही संस्कार होता है और वह सुनाई पड़ता है। जैसे पृथ्वी में गन्ध है परन्तु सूली हुई पृथ्वी पर पानी पड़ने से उस गन्ध की अभिव्यक्ति होती है विषय का ही संस्कार होता है इन्द्रिय का नहीं। इसी प्रकार राज्य का ही संस्कार होता है, कान का नहीं। कुमारिल ने इस विषय में लिखा है कि यदि इन्द्रिय का संस्कार होता तो एक बार कान का संस्कार होने पर वह सारे शब्दों को ग्रहण कर लेता, ऐसा नहीं होता कि पक्षे के लिए अल्ल संस्कृत होने पर पट का बोध नहीं करती। अतः विषय का ही संस्कार मानना चाहिए। रत्नोक्त० ६०—६१।

३—ध्वनि कान और शब्द दोनों को संस्कृत करती है। जैसे अल्ल विषय के स्वान पर जाकर जब विषय को ग्रहण करती है, तब प्रक्षरक वीरक आदि का द्वारा विषय और इन्द्रिय दोनों का ही संस्कार होता है। अल्ल और पट दोनों को ही क्षीपक संस्कृत करता है। उसी प्रकार ध्वनि में भी वही क्रम मानना चाहिए कि ध्वनि कान और शब्द दोनों को ही संस्कृत करती है, जैसे प्रक्षरा में लक्षे हुए को अन्वकार में रक्ता हुआ पड़ा नहीं बीजत्त, उसी प्रकार अगृहीत शब्द भी सुनाई नहीं पड़ता है।

स्फोट और ध्वनि के ग्रहण के विषय में चार मत—जिस प्रकार ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति के विषय में कई मत हैं उसी प्रकार स्फोट और ध्वनि का किस प्रकार ग्रहण होता है, इस विषय में चार मत हैं।

१—ध्वनि स्फोट से प्रयुक्त नहीं है, अतः स्फोट-समाश्रित ध्वनि का ग्रहण होता

है। जैसे जवा के फूल के रंग से अनुरक्षित स्फटिक मणि का ग्रहण होता है, वही प्रकार ध्वनि के रूप से अनुरक्षित स्फोट सुनाई पड़ता है। जैसे सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित वस्तु में वस्तु और प्रकाश को पृथक् नहीं ग्रहण करते, अपितु दोनों को मिश्रित रूप में ही देखते हैं, वही प्रकार स्फोट और ध्वनि अभिन्नक रूप से सुनाई पड़ते हैं।

२—जैसे इन्द्रियों में गुण रूप रस आदि अपने स्वरूप से असंश्लेष अर्थात् अश्लेष होते हुए भी विषय की अर्थात् रूप रसादि युक्त पदार्थ की उपलब्धि करा देते हैं, वही प्रकार ध्वनि भी अपने स्वरूप से असंश्लेष होते हुए भी शब्द के ग्रहण में कारण होती है।

३—स्फोट अदृश्य है, दूर है। इस दूरता के दोष के कारण स्फोट का ग्रहण नहीं होता है, केवल ध्वनि से ही उसकी उपलब्धि होती है।

४—स्फोट सर्वथा प्रकाशमान है। दूर होने के कारण वह दिखाई नहीं पड़ता है, अस्पष्ट है। जैसे दूरता के दोष के कारण वस्तु अस्पष्ट या अज्ञात परिमाण वाली दिखाई देती है। उस दूरी को दूर कर देने से स्फोट दिखाई देता है। (पुण्यराज)।

स्फोटरूपाविमारेण

ध्वनेन ह्यमिष्यते ।

कैश्चिद् ध्वनिरसंश्लेषा स्वतन्त्रोऽन्वीः प्रकाशकः ॥

वाक्य० १, ८२ ।

ध्वनि स स्फोट ग्रहण कैसे ?—यहां पर यह प्रश्न उठता है कि जब ध्वनि का अस्तिस्व माना जाता है, तब उसमें क्रम का होना अनिवार्य है, उससे पद या वाक्य का ग्रहण कैसे हो सकता है। उसका उत्तर दिया है कि जैसे एक अप्याय, एक मन्त्र या एक श्लोक बार-बार आपृति या जप आदि करने से एक बुद्धि का विषय हो जाता है। इसी प्रकार वर्ष पद और वाक्यविषयक प्रयत्न-विशेष से साम्य ध्वनियों बर्ण पद और वाक्य रूपी स्फोटों को बार-बार प्रकट करती हुई बुद्धि में उनका "स्फोटों का" बुद्धि में आरोप करते हैं। यदि क्रम से बर्णों का ग्रहण मानेंगे तो उनका कमी भी समुदाय नहीं बन सकता, और इसलिये वे कमी भी बुद्धि के विषय नहीं होंगे। यदि यह कहा जाय कि प्रत्येक ध्वनि बर्ण पद और वाक्यरूपी स्फोटों को बार-बार प्रकट करती है तो स्फोट को भी अनेक मानना पड़ेगा। इसका उत्तर दिया गया है कि एक ही मन्त्र सैकड़ों आपृति करने पर या सहस्रों बार जप करने पर भी अनेक नहीं हो जाता है। यह आपृति भी वृत्ति है वृत्तिमेव से वस्तु भेद नहीं होता है। प्रत्येक आपृति के कारण श्लोकों या मन्त्रों का समुदाय रूपी ग्रन्थ भेद अनेक नहीं माना जाता है। आपृति के कारण भिन्नता नहीं की जाती, परन्तु मन्त्र आदि का पूरा ज्ञान

अन्तिम ध्वनि से होता है। मन्त्रादि का सहस्रों आवृत्ति करने पर भी जितना अर्थ बुद्धि में आया है, उतना ही प्रकट समझना चाहिए। जितना बुद्धि में नहीं आया उतना अज्ञात या अनुपलब्ध समझना चाहिए। अज्ञात या अनुपलब्ध ध्वनि से कोई व्यवहार नहीं होता है। भाव यह है कि प्रत्येक अक्षर से उस परम अक्षर मध्य का बोध कराया जाता है, परन्तु बुद्धि स्पष्ट न होने से या पूर्णरूप से प्रतिमा का विकास न होने से असंख्यों अक्षरात्मक वाक्यों को जानकर भी, सहस्रों बार उच्चारण प्रयोग व्यवहार आवृत्ति करके भी उसके एक अक्षर को ही ज्ञान प्राप्त है। जितना जानते हैं उतने से व्यवहार करते हैं अज्ञात अंश अज्ञात ही रहता है। सहस्रों आवृत्ति करने पर भी वह अक्षर एक अक्षर ही रहता है, अनेक नहीं हो जाता। यदि जीवन भर उसको निरन्तर ध्वनि समझा जाता है तो वह निरर्थक ही रहता है। यदि बुद्धि या प्रतिमा न एक अक्षर के स्फोट रूप को समझ सिया तो उसका स्वरूप प्रकट होने लगता है। स्थूल प्रयोग में भी जब तक ध्वनि के स्फोट अंश को स्वयं बुद्धि नहीं ग्रहण कर लेती, तब तक हम न किसी शब्द का अर्थ समझ सकते हैं और न उसका प्रयोग कर सकते हैं। पुण्यराज।

यथानुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपाच्छ्रुतिः ।
आवृत्त्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्त्या निरूप्यते ॥

वाक्य० १ ८३ ।

अन्य ध्वनियों की क्या आवश्यकता है—इस पर यह प्रश्न उठता है कि यदि अवाच्यर ज्ञान स्फोट से ही होते हैं तो एक स्फोट से अर्थ का ज्ञान हो जाना चाहिए। एक से अधिक ध्वनियों की आवश्यकता ही क्या है। हमका उत्तर दिया है कि प्रत्येक स्फोट से जो ज्ञान होता है, वह स्पष्ट नहीं होता है। वह साधन है। वह आगे स्पष्ट होने वाले स्फोट के ज्ञान में सहायक है। आगे आगे का ध्वनियों सुनी जाती हैं, वे उसी अस्पष्ट को स्पष्ट करती जाती हैं। वे उस अर्थवर्धनीय ज्ञान को वर्धनीय बनाती जाती हैं। ध्वनि के द्वारा स्फोट रूपी शब्द का स्वरूप निर्धारित होता है। अतः अन्य ध्वनियों की आवश्यकता और उपयोगिता है। पुण्यराज।

प्रत्ययैरनुपात्त्येवैर्ग्रहणामुद्युषैस्तथा ।

ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधारयति ॥

वाक्य० १ ८४ ।

स्फोट के ज्ञान का क्रम क्या है—स्फोट का ज्ञान होता कैसे है। इसके स्वरूप का निर्धारण करते कैसे हैं कि बुद्धि को शब्द का ज्ञान हुआ। यह एक बड़ा विचित्र प्रश्न है। स्थूलरूप से प्रश्न का भाव यह है हम शब्द-केंद्र सुनते हैं, कैसे

अर्थविज्ञान और व्याकरणखपरान

जानते हैं कि यही शब्द कहा गया है। परन्तु आगे जाकर इस मूल का रूप यह हो जाता है कि शब्दप्रज्ञ या दूसरे शब्दों में परब्रह्म का बुद्धि में साक्षात्कार कैसे होता है। यह कैसे प्राप्त होता है कि आत्मसाक्षात्कार हुआ। इससे भी आगे जाकर मूल का स्वरूप यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में शब्दस्वरूप का क्या स्वरूप था और वह अक्षेप से शेष रूप में कब और किस रूप में आया। भर्तृहरि ने इसका एक श्लोक में उल्लेख किया है। पुत्रयराज ने जो इसकी व्याख्या की है, उसके आधार पर पदार्थ यह होता है। प्रथम मूल का उल्लेख कुछ स्पष्ट होता है परन्तु भर्तृहरि का वाक्यार्थ आगे विचारणीय है। नाद से उसमें बीज का आपान होता है। अन्तिम ध्वनि के साथ आदिति के कारण प्रातः परिपक्वावस्थावाली बुद्धि में शब्द का अवधारण होता है।

पुत्रयराज का कथन है कि नाद अर्थात् ध्वनियों से बीज का आपान होता है, अर्थात् व्यक्त को परिच्छिन्न करने के योग्य संस्कार पड़ता है। उसके परचात् अन्तिम ध्वनि होती है। पहले-पहले संस्कारों से समन्वित तथा आदितियों के क्षम के कारण जो योग्यता प्राप्त होती है उससे परिपक्व बुद्धि में शब्द के स्वरूप का ज्ञान होता है।

नावैराहित बीजायामन्त्येन ध्वनिता सह ।
आवृत्तपरिपाकार्या बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥

वाक्य० १, ८२ ।

वर्ण और पदों का आभास क्यों होता है— इस पर यह मूल किया गया है कि आन्तरिक स्फोट (शरीर में जीव और महापद में ब्रह्म) अलक्ष्य है। फिर बीच-बीच में बण और पदों का आभास क्यों होता है। इसका उल्लेख किया है कि बण पद और वाक्य अलक्ष्य हैं परन्तु ध्वनि के द्वारा बण पद और वाक्य की अभिव्यक्ति होने पर बण में बण के सदृश भाग के अभिनिवेश (अनुमृति) वाली बुद्धि होती है। पद में बण रूपी भाग के अभिनिवेश वाली तथा वाक्य में पदरूपी भाग के अभिनिवेश वाली बुद्धि होती है। इन बुद्धियों के कारण शब्द को ग्रहण करने वाले भागयुक्त असत्य शब्दों की वीच में सत्ता मानते हैं। यह धन ग्रहण करने वाले व्यक्तियों की अराक्ति का परिणाम है। परन्तु वह अराक्ति साधन है। इस प्रकार के उपायों से ही शब्दप्रज्ञ अर्थात् परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। पुत्रयराज ।

असतत्त्वान्तराक्षे याम्बुध्रान्स्तीति मन्वत ।
प्रतिपचुरराक्ति सा मद्रथोपाय पय स ॥

वाक्य० १, ८३ ।

वाक्य और पद का अर्थ क्यों है— इस पर यह मूल किया है कि उक्त शब्दों और पदों का अर्थ नहीं माना जा सकता है। इसका

उत्तर दिया है कि जैसे ज्ञान एक है, उसमें न कोई भेद है और न कोई रूप, परन्तु माना ज्ञेयों के रूप में ग्रहण होने के कारण वह विभिन्न प्रकार का ज्ञात होता है, जैसे घटज्ञान, पटज्ञान आदि। भाव यह है कि ज्ञान का रूप ज्ञेय के आकार पर ही होता है। जानने योग्य पदार्थों में अनेक रूपता के कारण ज्ञान भी अनेक रूप और भिन्न प्रतीत होता है। उसी प्रकार आम्यन्तर शब्दतत्त्व अर्थात् परब्रह्म समस्त बीज शक्तियों के संहार के कारण निरीद निष्क्रिय आदि है, परन्तु ग्यञ्जक ध्वनियों के भेद में क्रम का आभास होने के कारण आदिर्भाव के समय नाना रूपों वाला प्रतीत होता है। इरिवृपम का कथन है कि वह शब्दतत्त्व ब्रह्म है। वह बाणी और मन की पहुँच से परे है, परन्तु अन्य के रूपों के भेद के आश्रय से उसका ग्रहण होता है, अतः वह अन्यथा प्रतीत होता है अर्थात् विभिन्न रूप में प्रकट होता है। इरिवृपम।

मेशानुकारो ज्ञानस्य वाचश्चोपप्लवो ध्रुवः।

क्रमोपसृष्टरूपाया धार्मं श्रेयस्यपाश्रयम्॥

वाक्य० १, ८७।

ध्यादि की सम्मति—संग्रहकार ध्यादि का इस विषय पर मत है कि ज्ञान ज्ञेय पदार्थ के बिना कभी व्यवहार में नहीं आता है। जब तक बाणी में क्रम का समावेश नहीं होगा, तब तक उससे किसी अर्थ का बोध नहीं कराया जा सकता है। भाव यह है कि ज्ञान का आकार ज्ञेय होता है, उसी प्रकार ध्वनि निरुपधार नहीं हो सकती है, पदार्थ बिना कारण के नहीं हो सकता है। अतः ध्वनि का आकार स्कोट को मानना पड़ता है और पदार्थ का आकार वाक्यार्थ को और पद का आकार वाक्य को। वह शब्द ब्रह्म है, परब्रह्म है, असबद्ध वाक्य है।

ज्ञेयेन न बिना धार्मं व्यवहारेऽवतिष्ठते।

नालम्प्यक्रमया वाचा कश्चिद्दर्शोऽभिधीयते॥

वाक्य० १, ८७ की टीका।

वर्ष आदि साधन हैं—वर्ष आदि के बीच में अवयव की उपयोगिता बताते हुए मत हरि का कथन है कि जैसे वृक्ष सौ आदि संख्याओं के ज्ञान के लिए एक ही आदि संख्याओं के ज्ञान की आवश्यकता होती है। वे यद्यपि सौ आदि संख्याओं से भिन्न हैं, तथापि इनको सौ आदि के अवयव के रूप में समझा जाता है। इसी प्रकार वाक्य आदि में शब्द आदि शब्दों का सुनाई पड़ना वाक्य के ज्ञान में साधन है। यद्यपि वस्तुतः वे वाक्य के अवयव नहीं हैं, परन्तु साधन होने के कारण अवयव के तुल्य प्रतीत होते हैं। वाक्य० १, ८८।

ध्वनि भेद में एकता कैसे—बहि वाक्य आर पद आदि में विद्यमान शब्द आदि के अवयव में ध्वनि भेद है तो उनमें एकता कैसे होती है। इसका

बचर-यह है कि पदों और वाक्यों में विशेष प्रयत्न से प्रेरित वायुएँ उन स्वानों के अभिप्राय से ध्वनियों को उत्पन्न करती हैं या अभिव्यक्त करती हैं। वे यद्यपि परस्पर विभिन्न स्वभाव के हैं तथापि उनमें विद्यमान शक्तिर्वा 'बहुत संकीर्ण सी हैं अतः एकता प्रतीत होती है। जैसे भ्रमण में क्रिया प्रत्येक गति के साथ समाप्त होती जाती है, परन्तु भ्रमण में गति के प्रत्येक अंश में अत्यन्त विभिन्नता होने पर भी भ्रमण को एक कहा जाता है। इसी प्रकार बचरारण्य की प्रत्येक ध्वनि में विभिन्नता होने पर भी उसे एक कहा जाता है। सामान्य की एकता के कारण एकता है। शक्ति भेद के कारण अनेकता नहीं करी जा सकती है। एक ही आभयभेद और कार्य भेद से भेद ज्ञात होता है। इसी प्रकार वर्णपद और वाक्य में मात्राविभाग अक्षरविभाग और पदविभाग आभयभेद और कार्य भेद के कारण हैं, वस्तुतः वह अल्पनिक और मिथ्या है। पुरुराज, वाक्य० १, २६।

इसको बचाहरण द्वारा स्पष्ट किया है कि जैसे बहुत बुरी के कारण या बहुत पने अन्वकार के कारण आँस से आकर की ही उपलब्धि होने पर कुछ आदि को हाथी आदि के मुख्य समझ लिया जाता है। परन्तु ध्यान से देखने पर तथा प्रकारा होने पर क्रमशः उनको ठीक-ठीक समझते हैं। रस्सी में अन्वकार आदि के कारण साँप का भ्रम हो जाता है। परन्तु ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि वह रस्सी है। इसी प्रकार वाक्य आदि में वाक्य के प्रकट करने के साधन ध्वनियाँ हैं। उनमें क्रम है। उनका क्रमशः ग्रहण किया जाता है। पहले भ्रम के कारण ज्ञात होता है कि वर्ण है, पद है। परन्तु जब ध्यान से देखा जाता है तो ज्ञात होता है कि केवल अक्षरवद् वाक्य है। वही बुद्धि का विषय है। पूर्ण प्रणिधान के अभाव के कारण सर्वसाधारण वाक्यों में अक्षरों को सत्य मानते हैं। वाक्य० १, १०—११।

असत्य में क्रम कैसे यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वाक्य में वण आदि की सत्ता असत्य है तो असत्य में कोई निश्चित क्रम नहीं होना चाहिए। कोई अन्वकार में कुछ को हाथी समझा है, कोई कुछ और, कोई निश्चित नहीं कि यही समझ जाएगा परन्तु वाक्य में क्रम आनुपूर्वी होती जाती है पहले वर्ण फिर पद। इसका बचर दिया है कि जैसे बूँट से वही क्रमशः ही घनती है बीज से कुछ क्रमशः और निश्चित क्रम से ही होता है, उनमें क्रम का नियम निश्चित है, वही प्रकार जानन वास्तु की बुद्धि में क्रम नियत है। पहले वर्ण का जानना है, फिर पद को और फिर वाक्य को। इसका अभिप्राय है कि वास्तविक ज्ञान निश्चित क्रम से ही होता है, अनिश्चित क्रम से नहीं। वण साधन है, वनसे क्रमशः सत्य वाक्य का ज्ञान होता है। सृष्टि में पहले प्रकृति का ज्ञान होता है, फिर जीव का और फिर उस सत्य वाक्यात्मा ब्रह्म का। यह क्रम स्वाभाविक है। अनित्य नित्य के ज्ञान का साधन है, असत्य सत्य के ज्ञान का

साधन है। स्फुटदृष्टि से असत्य सत्य ज्ञात होता है और सत्य असत्य परन्तु अविद्या का आवरण हट जाने पर वर्णरूपी प्रकृति और पदरूपी जीव असत्य ज्ञात होता है, तथा एक वाक्य रूपी ब्रह्म सत्य ज्ञात होता है। वाक्य० १, ६२।

स्फोट नित्य कैसे हो सकता है—यहाँ पर एक यह प्रश्न उठता है कि वाक्य स्फोट की सिद्धि के लिए ध्वनि से स्फोट की नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती है वो ही प्रकार हो सकते हैं, राज्य की अभिव्यक्ति या राष्ट्र की उत्पत्ति। दोनों प्रकार से अनित्य होगा। प्रथम पक्ष में युक्ति यह है कि राज्य अनित्य है, क्योंकि पक्षाय है व्यङ्ग्य है, जैसे घट आवि। अनित्य पक्षे आवि की हीपक्ष आवि से अभिव्यक्ति देखी जाती है। राष्ट्र को ध्वनि से व्यङ्ग्य कहा जाता है, अतः अनित्य है। दूसरे पक्ष में अनित्यता स्पष्ट ही है। इसका उद्धरण मर्तहरि ने किया है कि यह अनुमान कि अनित्य की ही अभिव्यक्ति होती है, यह नियम सत्य नहीं है। यह नियम जाति के विषय में त्रुटिपूर्ण है। घटत्व आवि जातियों के आश्रय व्यक्ति हैं, वे अनित्य हैं परन्तु उन अनित्य व्यक्तियों के द्वारा नित्य घटत्व आवि जाति की अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार अनित्य ध्वनि से नित्य राष्ट्रत्व की अभिव्यक्ति होती है। वाक्य० १, ६१।

स्फोट और ध्वनि में अभिभवा—इस पर यह प्रश्न किया गया है कि व्यवहार में यह देखा जाता है कि एक स्थान पर विद्यमान पक्षे आवि की हीपक्ष आवि से अभिव्यक्ति होती है। परन्तु यहाँ पर विचित्रता यह है कि ध्वनि वास्तु श्रोष्ठ आवि के व्यापार से होती है और अभिव्यक्ति होती है कान में। यहाँ पर भिन्न प्रदेशता स्पष्ट है। इसी प्रकार ध्वनियों से अन्दर विद्यमान स्फोटरूपी राष्ट्रत्वात्मा की अभिव्यक्ति भी सबका युक्तिसंगत नहीं है। राष्ट्र एक देश में रहता है, ध्वनियाँ नाना प्रदेशों में रहती हैं। दोनों में बहुत फूरी है। इसका उद्धरण यह है कि यह व्यवहार स्थूल मूर्त पक्षियों के विषय में होता है। उनमें ही देशभेद कालभेद आवि होता है। ध्वनि और स्फोट शरीरधारी पक्षार्थ नहीं हैं। वे मूर्त नहीं हैं, उनमें देशभेद कालभेद नहीं होता है। देश आवि से सम्बन्ध मूर्त पक्षियों का ही होता है अमूर्त का नहीं। यदि प्रश्नकर्ता के आपस से यह मान भी लिया जाय तो भी कोई अपत्ति नहीं होती, क्योंकि ध्वनि और स्फोट में यह भेद है ही नहीं। दोनों आकार में रहते हैं, आकारा एव है, अनेक नहीं। अतः देशभेद का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे यह कि ध्वनि के द्वारा आभ्यन्तर स्फोट की ही अभिव्यक्ति होती है ध्वनियाँ भले ही नाना देशों में हों, परन्तु वे अभिव्यक्ति आभ्यन्तर राष्ट्र को ही करती हैं। पुन्यराज, वाक्य० १, ६७।

देशादिभिर्पक्ष सम्यग्धो दृष्टः कायवतामिह।

देशमेवबिक्त्वेऽपि न भेदो ध्वनिराश्रयोः॥

अभिव्यक्तिवाद पर आपेयों का समाधान—एक प्रश्न इस पर यह किया गया है कि अभिव्यक्तिवाद ही ठीक नहीं है। यह देखा जाता है कि दीपक प्रकाशक है वह नियम से किसी एक वस्तु को ही प्रकाशित नहीं करता। पक्ष को भी दिखाता है, पक्ष को भी अन्य वस्तुओं को भी। परन्तु ध्वनि में यह देखा जाता है कि वह नियमित रूप से निरिपत स्फोट की ही अभिव्यक्ति करती है। क भाषि वर्यों की अभिव्यक्ति के हेतु ध्वनियों से उन्हीं वर्यों की अभिव्यक्ति होती है, अन्य की नहीं। अतः ध्वनियों को इस नियमबद्धता के कारण अभिव्यक्ति नहीं कह सकते। इसका उदाहरण यह है कि माह और माहक में भी यह योग्यता नियमित देखी जाती है। जैसे आँक रूप को ही दिखाती है रस गंध अन्य गुणों को नहीं। अन्य इन्द्रियाँ भी इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के गुणों को नहीं प्रकट करती हैं। इसी प्रकार स्फोट और ध्वनियों में भी नियमित व्यवस्था सम्भव है। पुस्तक ३।

प्रत्ययमाहणोः सिद्धा योग्यता नियता यथा ।
 ध्वन्यव्यञ्जकमात्रेण तथैव स्फोटमाहणो ॥
 वाक्य० १ ६८ ।

अभिव्यक्ति में नियम की सत्ता—इस पर दूसरा आपेय यह पठाया गया है कि विभिन्न इन्द्रियों के माह की विभिन्न इन्द्रियों से अभिव्यक्ति नहीं होती, परन्तु जिन-जिन पदार्थों का एक ही इन्द्रिय से ग्रहण होता है उनमें यह नियम नहीं होता। प्रश्न का भाव यह है कि इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं एक वे जो अपने सजातीय वस्तु के गुणों को ग्रहण करती हैं जैसे नाक और कान गन्ध और शब्द को ही ग्रहण करती हैं, दूसरी वे हैं जो सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार के वस्तुओं के गुण को ग्रहण करती हैं, जैसे आँक, जीम और त्वचा। आँक अपने सजातीय वस्तुओं के रूप को भी। नाक और कान अपने सजातीय वृषि की और आँकारा के ही गन्ध और शब्द गुणों को ही ग्रहण करते हैं। एक नाक से माह गन्ध में अभिव्यक्त का नियम नहीं है, इसी प्रकार शब्द में भी अभिव्यक्त का नियम नहीं होना चाहिए। ऐसा होता है, अतः हाव होता है कि ध्वनि अभिव्यक्त नहीं अपितु शब्द का स्वरूप है। इसका उदाहरण मनु हरि ने दिया है कि गन्ध आदि जो कि एक ही इन्द्रिय से ग्रहण किये जाते हैं उनका भी प्रकाशक सत्ता में प्रत्येक वस्तु के विषय में नियमित ही है। प्रत्येक गन्ध की प्रत्येक प्रकार संयोग से अभिव्यक्ति नहीं होती। कुंडुम के गन्ध की अभिव्यक्ति गंध के पी से ही होत है, अन्य से नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक ध्वनि से प्रत्येक शब्द की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। वाक्य० १, ६६ ।

व्यञ्जक का व्यवहृत्य में प्रतिबिम्ब—इस पर फिर यह आपेय किया गया है

कि अभिव्यक्ति मानना ठीक नहीं है। अभिव्यक्तक के वृद्धि हास और संख्या भेद से अभिव्यक्त्य में वृद्धि हास आदि नहीं होता है। जैसे दीपक के वृद्धि या हास से घड़े में वृद्धि या हास नहीं होता है। दीपकों की संख्या घटने बढ़ने से घड़ों की संख्या नहीं घटती बढ़ती। परन्तु राज्य में ध्वनियों के भेद से संख्या और परिमाण में भेद होता है। इसका अर्थ दिया है कि अभिव्यक्तक के भेद का अभिव्यक्त्य पर प्रभाव पड़ता है और वह तदनुसार दोलता है। जैसे नीचे शीशे में मुँह का प्रतिबिम्ब ऊँचा वीलता है, ऊँचे में नीचा। तेल में झरना आदि। तलवार काँच आदि के परिमाणभेद से प्रतिबिम्ब में भी परिमाणभेद वीलता है, किसी में मुँह लम्बा, किसी में गोल आदि दिखाई देता है। शीशे आदि तथा पानी की तरंगों को अनेकता होने पर मुँह भी कई दिखाई देते हैं। इसी प्रकार अभिव्यक्तक ध्वनि के भेद से राज्य अनेक दिखाई देता है। पुण्यरात्र, वाक्य० १, १००।

शीशे में चन्द्रमा या मुँह की उत्पत्ति नहीं हो सकती—इस पर प्रनकर्ता ने अपनी ओर से यह समाधान दिया है कि शीशे आदि में जो चन्द्रमा मुँह आदि दिखाई देता है, वह सच्चे चन्द्रमा या मुँह आदि का प्रतिबिम्ब नहीं है, अपितु वह विभिन्न ही पदार्थ है, जो कि इसके अन्दर दिखाई देता है। अतः दर्पण आदि को अभिव्यक्तक नहीं कह सकते। इस पर मनु इति का कथन है कि यदि मण्डि दर्पण आदि में प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त अन्य पदार्थ की सत्ता मार्गे तो यह विचार ही सम्भव नहीं है। मण्डि, शीशा या जल में इसके विरुद्ध परिमाण वाले पत्थ, वृक्ष, चन्द्रमा, मुँह आदि के समान रूप वाले भावपदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतएव दर्पण आदि को अभिव्यक्तक ही मानना चाहिये। भाव यह है कि राज्यत्व का ही सारे राज्यों में प्रतिबिम्ब है, प्रकृति और प्रत्ययरूपी आचारों के भेद से वह अनेक और असंख्य ज्ञात होता है। सृष्टि और जीवात्मा में बही प्रतिबिम्बित हो रहा है। पशुओं और जीवों की अनेकता आदि के कारण वह अनेक और असंख्य प्रतीत होता है। वस्तुतः तरह एक ही है, उसमें भेद नहीं है। पुण्यरात्र वाक्य० १, १०१।

ध्वनिभेद के कारण व्यावहारिक कार्य—इस पर यह प्रन किया गया है कि स्फोट एक थीर अक्षय्य है तो उसमें पहले पीछे की सत्ता अर्थात् पौर्वापय नहीं होगा। अतः व्यवहार में जो यह कहा जाता है कि यह पहले की ध्वनि है यह बाद की, यह व्यवहार ही नहीं हो सकेगा। व्याकरण के नियम जैसे 'इका यणधि' (इक् को यण् होता है अत्र बाद में हो तो) इत्यदीप प्लुत, कृत विलम्बित आदि कोई व्यवहार नहीं हो सकेगा। इसका उत्तर दिया है कि यह पहले यह बाद में इस प्रकार का व्यवहार नाद के कारण होता है। इत्य, दीर्घ, कृत आदि व्यवहार प्राकृत ध्वनि के कारण होता है। ह्रस्व मध्यम विलम्बित यह व्यवहार वैकृत ध्वनि के कारण होता है। इस प्रकार से धृतिभेद कालभेद

आदि नावभेद के कारण होता है। वर्णपद याक्य आदि में किसी प्रकार का फल-भेद नहीं है। पुण्यराज, वाक्य० १, १०२।

कुमारिक ने श्लोकवार्तिक के शब्दनित्यवाचिकरण में ४४४ श्लोकों में इस विषय पर बहुत विस्तार के साथ विवेचन किया है और शब्द की नित्यता को सिद्ध किया है।

स्फोट और ध्वनि के विषय में विभिन्न मत

स्फोट और नाद का स्वरूप—मनुहरि ने स्फोट और ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या की है कि अर्थों का मत है कि स्फोट उसे कहते हैं जो कि स्थान प्रपल आदि से वायु में संयोग या विभाग के कारण उत्पन्न होता है। ध्वनि वनको कहते हैं, जो कि वन शब्दों से अन्य शब्द उत्पन्न होते हैं।

यं संयोगविभागव्यां करणैरुपजन्वते ।

स स्फोटः शब्दज्ञां शब्दा ध्वनयोऽप्यैरुवाहताः ॥

वाक्य० १, १०६।

पुण्यराज ने इसकी व्याख्या में विभिन्न मतों का बखोज किया है। जो शब्द को अनित्य मानते हैं वनक्य मत है कि स्थान धरण से वायु को संयोग या विभाग मूलक पहले अभिभ्यक्त शब्द को ही स्फोट कहते हैं। उसका मुख्य समवायी देश आकारा है। अर्थात् यह आकार में समवाय सम्बन्ध से रहता है। आकारा का भी संयोगी विभिन्न द्रव्यों के कारण भेद होने से तन्मूलक पौर्वापर्य व्यवहार होता है। उसके बाद सारे दिशाओं में शब्द के रूप के प्रति-बिम्ब की मह्य करके मध्य बीपक के प्रकार से प्रकाशित रूप के आभास के क्रम से भाषित होते हुए जो बख्य कृति में भेद बाँटते हैं, वे ध्वनि कहे जाते हैं। वहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि वेवाक्य जिसको प्राकृत ध्वनि कहते हैं, उसको ही धार्मिक स्फोट मानते हैं और जिसको वे वैकृत ध्वनि कहते हैं उसको वे ध्वनि कहते हैं। वैशेषिक दर्शन के मानने वालों का मत है कि संयोग से, विभाग से या शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। जैसे पहले वायु से एक लहर उत्पन्न होती है, उसके बाद उससे ही अन्य तरंग, उससे भी अन्य, इस प्रकार पृथ-पृथ तरंग से बसरोत्तर तरंगों की उत्पत्ति होती है। वही प्रकार मेरी और बड़े के संयोग से या हाँस के फड़ने से जो शब्द आकारा में उत्पन्न होता है, वह असमवायी कारण के रूप में शब्दान्तर को उत्पन्न करता है, वह शब्दान्तर को, इस परम्परा से वह अन को मुनाई पड़ता है। मेरी का शब्द मीना मुना, यह मुझि भ्रम है। इस प्रकार की बीपीतरंगन्याय से शब्दोत्पत्तिपक्ष कहा जाता है।

शब्द नित्यता क पक्ष में संयोग या विभाग से उत्पन्न ध्वनि से व्यङ्ग्य को

स्फोट कहते हैं, ऐसा झुड़ का मत है। औरों का मत है कि संयोग-विभागरूपी फल से प्रकृत ध्वनि से उत्पन्न नाद से अभिव्यञ्ज्य को स्फोट कहते हैं। वहा पर वे पहली अवस्था में ह्रस्व, दीर्घ आदि व्यवहार के कारण हैं तथा बाद में ध्वनियों या नाद जो कि धीरे-धीरे अभिव्यक्त होते जाते हैं, वे हुत आदि वृत्तियों के भेद की व्यवस्था के कारण हैं। पुष्पराम।

प्राकृत और वैकृत ध्वनि में भेद—वेरा ध्याति की समानता के कारण शब्द में अस्पष्टता और महत्ता का आरोप किया जाता है, या लोकप्रसिद्धि के कारण, क्योंकि लोकप्रसिद्धि ही सबसे व्यवस्था का कारण है। शब्द अर्थात् ध्वनि दो प्रकार की है। पहली बचरोसर शब्दों का कारण, दूसरी कार्यरूप ध्वनि। पहली को स्फोट का व्यवहार या स्फोट कहते हैं, कारणरूपी इस ध्वनि के कार्यरूप में निमित्तभेद के कारण सामर्थ्य में भेद पड़ता है। जैसे भेरी पर डिट की घोट से उत्पन्न कार्यध्वनि की परम्परा दूर तक जाती है। जैसे आदि पर घोट से उत्पन्न ध्वनि समीप वेरा में ही बहुत देर तक अलग-अलग रूप में रहती है। इनमें से पहली को प्राकृत और दूसरी को वैकृत ध्वनि कहते हैं। पुष्पराम, भाष्य० १, १०४।

ध्वनि ही दिखाई देती है—अनित्यवाहियों में एकमत और यह है कि जैसे दीपक प्रभा के साथ उत्पन्न होता है इसी प्रकार स्फोट भी ध्वनि के साथ उत्पन्न होता है। जैसे दूर से दीपक की प्रभा ही दिखाई देती है, इसी प्रकार प्राकृत ध्वनि ही सर्वत्र दूर तक व्याप्त श्राव्य होती है। जैसे घंटे की ध्वनि में प्राकृत और वैकृत ध्वनिभेद दिखाई देता है, वसी प्रकार सारे बच्चों में ध्वनि और नाद रहते हैं। पुष्पराम, भाष्य० १, १०२।

वाकिकों का एकवाच यह कहता है कि 'वीचीतरंगम्याव' से शब्द की उत्पत्ति मानने पर उसका चारों ओर प्रसार नहीं होगा। अतः ये कश्चिन्मूलकन्याय मानते हैं। जैसे कश्चिन्मूलक का फूल चारों ओर फैलाता है, इसी प्रकार मयमशब्द चारों ओर ध्वनियों को फैलाता है और वे अन्य ध्वनियों को इसी नाद को दीप्यप्रमान्याय अर्थात् दीपक की प्रभा के तुल्य चारों ओर शब्द का वित्सार होना भी कहा जाता है।

स्फोटवाद के आठ स्वरूप

स्फोट के आठ रूपों का स्पष्टीकरण—भाष्य और भाष्यार्थ के अन्वय में भाष्य के आठ अक्षय दिए जा चुके हैं तथा उनकी व्याख्या भी की जा चुकी है। मट्टोशिरीशित, कीपडमट्ट नागेश आदि ने स्फोट को उन दारानिक नामों में न रदकर प्रसिद्ध एवं वैयाकरणरूप में रक्खा है। इन आठ विभागों में अभी आठ अक्षयों तथा न भाष्यार्थों की व्याख्या की गई है। स्फोट की

आदि नाशमेव के कारण होता है। धर्मपद वाक्य आदि में किसी प्रकार का काल-
भेद नहीं है। पुण्यराज, वाक्य० १, १०२।

कुमारिल ने श्लोकावार्तिक के शब्दनित्यवाधिकरण में ४४४ श्लोकों में इस
विषय पर बहुत विस्तार के साथ विवेचन किया है और शब्द की नित्यता को
सिद्ध किया है।

स्फोट और ध्वनि के विषय में विभिन्न मत

स्फोट और नाद का स्वरूप—मठ हरि ने स्फोट और ध्वनि के स्वरूप
की व्याख्या की है कि अन्वों का मत है कि स्फोट उसे कहते हैं जो कि स्थान
प्रयत्न आदि से वायु में संयोग या विभाग के कारण उत्पन्न होता है। ध्वनि
उनको कहते हैं, जो कि इन शब्दों से अन्य शब्द उत्पन्न होते हैं।

य संयोगविभागान्यां करबैरुपबन्धते।

स स्फोटः शब्दजा शब्दा ध्वनयोऽप्यैरुवाहताः ॥

वाक्य० १, १०३।

पुण्यराज ने इसकी व्याख्या में विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। जो
शब्द को अनित्य मानते हैं उनका मत है कि स्थान कारण से वायु को संयोग
या विभाग मूलक पहले अभिभ्यक्त शब्द को ही स्फोट कहते हैं। उसका मुख्य
समवायी देश आकार है। अर्थात् यह आकार में समवाय सम्बन्ध से रहता
है। आकार का भी संयोगी विभिन्न इन्वों के कारण भेद होने से तन्मूलक
पूर्वापर्यं व्यवहार होता है। उसके बाद सारे विराट्ओं में शब्द के रूप के प्रति-
बिम्ब को ग्रहण करके मन्व दीपक के प्रकार से प्रकाशित रूप के आभास के क्रम
से भाषित होते हुए जो वण भुवि में भेद डालते हैं, वे ध्वनि कहे जाते हैं। वहाँ
पर यह ध्यान रखना चाहिए कि वैयाकरण जिसको प्राकृत ध्वनि कहते हैं, उसको
ही तार्किक स्फोट मानते हैं और जिसको वे वैकृत ध्वनि कहते हैं, उसको वे ध्वनि
कहते हैं। वैशेषिक बर्तन के मानने वालों का मत है कि संयोग से, विभाग से या
शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। जैसे पहले वायु से एक लहर उत्पन्न होती है,
उसके बाद उससे ही अन्य तरंग, उससे भी अन्य, इस प्रकार पूर्व-पूर्व तरंग से
बहाराशर तरंगों की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार मेरी और उँडे के संयोग से
या बाँस के फाड़ने से जो शब्द आकार में उत्पन्न होता है, वह असमवायी कारण
के रूप में शब्दान्तर को उत्पन्न करता है, वह शब्दान्तर को, इस परम्परा से वह
अन को मुनाई पड़ता है। मेरी का शब्द मैंने मुना, यह मुझि भ्रम है। इस प्रकार
की बीपीतरंगम्याय से शब्दोत्पत्तिपद्य कहा जाता है।

शब्द नित्यता क पक्ष में संयोग या विभाग से उत्पन्न ध्वनि से व्यङ्ग्य को

स्फोट करते हैं, ऐसा कुछ का मत है। औरों का मत है कि संयोग-विभागात्पी फल से प्रकट ध्वनि से उत्पन्न नाद से अभिव्यक्त्य को स्फोट करते हैं। वहाँ पर ये पहली अवस्था में ह्रस्व, दीर्घ आदि व्यवहार के कारण हैं तथा बाद में ध्वनिवां या नाद जो कि धीरे-धीरे अभिव्यक्त होते जाते हैं, ये ह्रस्व आदि वृत्तियों के भेद की व्यवस्था के कारण हैं। पुण्यराज।

प्राकृत और वैकृत ध्वनि में भेद—देरा व्याप्ति की समानता के कारण राज्य में अस्यता और महत्ता का आरोप किया जाता है, या लोकप्रसिद्धि के कारण, क्योंकि लोकप्रसिद्धि ही सर्वत्र व्यवस्था का कारण है। राज्य अर्थात् ध्वनि दो प्रकार की है। पहली उत्तरोत्तर राज्यों का कारण, दूसरी कार्यरूप ध्वनि। पहली को स्फोट का अलंकार या स्फोट कहते हैं, कारणरूपी इस ध्वनि के आवारम्भ में निमित्तभेद के कारण सामर्थ्य में भेद पड़ता है। जैसे मेरी पर डंडे की चोट से उत्पन्न कार्यध्वनि की परम्परा दूर तक जाती है। हाँसे आदि पर चोट से उत्पन्न ध्वनि समीप देरा में ही बहुत देर तक अलखरूप में रहती है। इनमें से पहली को प्राकृत और दूसरी को वैकृत ध्वनि कहते हैं। पुण्यराज, वाक्य० १, १०४।

ध्वनि ही दिखाई देती है—अनित्यवाकियों में एकमथ और यह है कि जैसे वीथक प्रमा के साथ उत्पन्न होण है इसी प्रकार स्फोट भी ध्वनि के साथ उत्पन्न होता है। जैसे दूर से वीथक की प्रमा ही दिखाई देती है, इसी प्रकार प्राकृत ध्वनि ही सर्वत्र दूर तक व्याप्त प्राच होती है। जैसे पटे की ध्वनि में प्राकृत और वैकृत ध्वनिभेद दिखाई देता है, वसी प्रकार सारे बर्णों में ध्वनि और नाद रहते हैं। पुण्यराज, वाक्य० १, १०५।

वाकिकों का एकवाच यह कहता है कि 'बीबीवरंगम्याय' से राज्य की उत्पत्ति मानने पर उसका चारों ओर प्रसार नहीं होगा। अथ वे कश्चिन्मगोदकम्याय मानते हैं। जैसे कश्चिन्म का पूरा चारों ओर फैलावा है, इसी प्रकार प्रथमराज्य चारों ओर ध्वनियों को फैलाता है और ये ध्वन्य ध्वनियों को इसी वाद को वीथ्यप्रमास्याय अर्थात् वीथक की प्रमा के तुल्य चारों ओर राज्य का विस्तार होना भी कहा जाता है।

स्फोटवाद का आठ स्वरूप

स्फोट के आठ रूपों का स्पष्टीकरण—वाक्य और वाक्यार्थ के अभ्याय में वाक्य के आठ लक्षण दिए जा चुके हैं तथा उनकी व्याख्या भी की जा चुकी है। भट्टोजिदीक्षित, कीयडभट्ट, मागेरा आदि ने स्फोट को उन पारानिक्त नामों में न रत्नकर प्रकृतिय एवं प्रेयाकरणरूप में रक्खा है। इन आठ विभागों में कहीं आठ लक्षणों तथा छ' वाक्यार्थों की व्याख्या की गई है। स्फोट की

व्याख्या की जा चुकी है कि जिससे अर्थ प्रकटित होता है, उसे स्कोट कहते हैं।
 मट्टोजिदीक्षित ने राष्ट्रकौस्तुभ में इसको आठ प्रकार से रखा है। इसका सारांश
 यह है कि सार्यक क्या है, इसको आठ प्रकार से कहा जा सकता है। १, प्रत्येक
 वर्ण सार्यक है, २, प्रत्येक वर्ण नहीं अपितु प्रत्येक पद सार्यक होता है। ३, प्रत्येक
 वर्ण और पद नहीं अपितु प्रत्येक वाक्य सार्यक होता है। ४, निर्वाचन के योग्य
 पद सार्यक नहीं, अपितु अनिर्वाचनीय पद सार्यक होता है। पद अलग-अलग
 हैं, इसके लक्षण नहीं होते हैं, अलग-अलग पद सार्यक है। ५, वाक्य के लक्षण नहीं
 होते हैं, वह अलग-अलग होता है, वही सार्यक है। वाक्य का निर्वाचन नहीं किया जा
 सकता है, अनिर्वाचनीय वाक्य सार्यक होता है। ६, असत्य वर्ण सार्यक नहीं है,
 अपितु धर्म वर्ण सार्यक होते हैं। अनित्य वर्ण सार्यक नहीं हैं, अपितु नित्य वर्ण
 सार्यक हैं। ७, असत्य पद सार्यक नहीं होते हैं, अपितु सत्य पद सार्यक होते हैं।
 अनित्य पद सार्यक नहीं होता है, अपितु नित्य पद सार्यक होता है। व्यक्तिरूपी
 पद सार्यक नहीं है, अपितु जातिरूपी पद सार्यक है। प्रत्येक पद सार्यक नहीं है,
 अपितु एक ही पद नित्य है, वही सार्यक है। ८, असत्य वाक्य सार्यक नहीं होता
 है, अपितु सत्य वाक्य ही सार्यक होता है, अनित्य वाक्य सार्यक नहीं होता है,
 अपितु नित्यवाक्य सार्यक होता है। उक्तिरूपी वाक्य सार्यक नहीं है, अपितु
 जातिरूपी वाक्य सार्यक है। प्रत्येक वाक्य सार्यक नहीं है, अपितु एक ही वाक्य
 है, वह नित्य है, सत्य है, अलग-अलग है, अनिर्वाचनीय है, वही सार्यक है, वही अर्थ है,
 वही स्कोट है, वही प्रति है, वही वाक्य है, वही वाक्यार्थ है, वही पद है, वही
 पदार्थ है, वही अक्षर है, वही अक्षरार्थ है, वही नियम है, वही सगुण्य है, वही
 निष्क्रिय है, वही सक्रिय है, वही निष्काम है, वही सकाम है, वही निर्लेप है,
 निरंजन है, निराकार है, अक्षय है, वही सारांश है, वही माकार्य है। वही सार्यक
 है वही भाव है वही भाषा है, वही विज्ञान है, वही ज्ञान है, वही धर्म है वही
 साहित्य है, वही वेद है, वही संहिता है, वही व्याकरण है। पाणिनि और पतञ्जलि
 ने इसको व्याकरणों के राष्ट्रों में संहिता पद, स्वरित, प्रातिपदिक अंग,
 'स्वप्न' कर्ता आदि की व्याख्या में विशेष रूप से स्पष्ट किया है। यह
 'स्वप्न' कर्ता आदि की व्याख्या में विशेष रूप से स्पष्ट किया है। यह
 विशेष गुणों का समन्वय है, इसकी व्याख्या समास में समाहार के द्वारा
 की जाती है। समास में वृत्ति की व्याख्या में इसको अत्रहत्याया वृत्ति कहते हुए
 भी जहल्ल्याया के द्वारा स्पष्ट करते हैं, 'समर्थ' पदविधि: (अष्टा० २, ११) में
 इसको पद में रहते हुए भी वाक्य रूप बताया गया है। 'स्व' रूपम्' (१, १, ६८)
 इसको शुद्ध राष्ट्रकण्ठे (१, २, ४५) में पाणिनि ने इसे प्रातिपदिक
 शेषों की है। 'अथवा' (१, २, ४५) में पाणिनि ने इसे प्रातिपदिक
 नाम दिया है, क्योंकि वह प्रत्येक पद में है। इसलिए कहा जा चुका है कि प्रत्येक

पद में वाक्य की शक्ति है। प्रस्तुत विषय के दृष्टिकोण से यह सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पतञ्जलि ने इसकी व्याख्या में अर्थ क्या है, अनर्थक क्या है, भाषि की विवेचना करते हुए स्पष्ट शब्दों में वर्णों को अनर्थक बताया है तथा वाक्य को सार्थक बताया है। पाणिनि ने चार पद इस सूत्र में दिए हैं वे चारों शब्द तत्त्व के लक्षण हैं। १ वह सार्थक है अतएव अर्थवत् शब्द का प्रयोग किया है। २ 'अघातु' वह घातु नहीं है, वह प्रकृति नहीं है, वह क्रिया नहीं है, वह निष्क्रिय है। ३, 'अप्रत्यय' वह प्रत्यय नहीं है, वह लिंगरहित है, वह निर्गुण्य है, वह जीव नहीं है। ४, प्रातिपदिक वसक नाम है, वसकी सहा प्रातिपदिक है वह प्रत्येक पद में व्याप्त है, वह प्रकृति है, वह प्रत्यय है, वह घातु है, वह गुण्य है, वह प्रत्येक जीव में व्याप्त है।

ऊपर जो आठ विचार दिये गये हैं, उनमें से साठ साधन हैं, अष्टम साम्य है। अष्टम ही पूर्ण रूप से सत्य है, परन्तु वह असिद्ध है, अनिर्वचनीय है, साम्य है, श्रेय है। निवर्चन विवेचन व्याकरण जहाँ तक व्याख्या कर सकते हैं, वह सप्तम पर समाप्त हो जाते हैं। सातों में सत्यांश है, परन्तु उन्हें ही सत्य समझ लेना भ्रम है, अविद्या है, अष्टम की प्राप्ति के ये साधन हैं, उन्हें साम्य समझ लेना अज्ञान है। सारे वेद, सारे धरान संसार के सारे विज्ञान संसार का सारा साहित्य उसके असत्यांश अनित्यरूप को देखता है, जानता है, परीक्षण करता है, परन्तु इन सातों कोटियों को पार कर लेने पर मनुष्य स्वयं अज्ञान, अविद्या, असत्य अन्धकार को पार कर लेता है और ज्ञान विद्या सत्य एवं प्रकाश के द्वार पर पहुँच जाता है, वही सत्य अर्थ है वही सत्य शब्द है। धर्म सत्य, आत्मा विद्या, इन्द्र, तत्त्व, वस्तु भाषि शब्दों से उसी पद को संकेतित करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन में वर्णों के स्थान पर प्रकृति पद के स्थान पर जीव और वाक्य के स्थान पर ईश्वर रखकर समझने से अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। वैयाकरण सृष्टि के समस्त विज्ञान को वर्ण पद और वाक्य नाम आख्याति और उपसर्ग, सहा क्रिया और सवनाम की व्याख्या और परीक्षण द्वारा स्पष्ट करते हैं। वे प्रकृति को वर्ण समझते हैं, जीवात्मा को पद और ईश्वर को वाक्य। भगु हरि ने अतएव वाक्यपदीय में वाक्य और पद तथा इनके मूल ज्ञान की तीन श्रवणों में व्याख्या करके सारे विवेचन को समाप्त कर दिया है। वैयाकरण वर्णों का पृथक् अस्तित्व नहीं मानते हैं, अठ-वर्णों को स्कोट नहीं मानते। भगु हरि ने मीमांसकों को पदवादी कहकर निर्दोष किया है और पदवाद अर्थात् ज्ञान का अतिरिक्त जीव का अस्तित्व मानने में जो कठिनाई आती है, उसका निर्दोष दिया है। व्यावहारिक दृष्टि से सभी अंग ठीक हैं। यहाँ पर ध्यान यह दे कि अन्तिम सत्य क्या है, उसका स्वरूप क्या है। उसको वैयाकरणों ने वाक्य अर्थात् ईश्वर या ज्ञान माना है।

इन आठों लक्षणों को महोजि आवि ने निम्न नाम दिये हैं:—

१, वर्यस्फोट २, पदस्फोट, ३, वाक्यस्फोट, ४, अक्षरबद्धपदस्फोट, ५, अक्षरबद्धवाक्यस्फोट ६, वर्धावृत्तिस्फोट, ७, पदजातिस्फोट, ८, वाक्यजातिस्फोट ।

पंचकोशों से समानता—इन आठों को पांच भाग में रखा गया है, वर्यस्फोट, पदस्फोट वाक्यस्फोट अक्षरबद्धपदवाक्यस्फोट तीन प्रकार के जातिस्फोट । महोजि और कौण्डभट्ट ने भूषण कारिका ६३ में इस बात को स्पष्ट किया है कि इस विवेचन के मूळ में इसी प्रकार की कल्पना है वैसे कि तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्मानन्दवस्त्री में ब्रह्मब्रह्म के ज्ञान के लिए पंचकोशों की कल्पना की गई है । वे पंचकोश हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय विज्ञानमय और आनन्दमय कोश । ये पांचों कोश ब्रह्मब्रह्मज्ञान के लिए उपाय हैं, ये क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं । स्पृह की ओर से सूक्ष्म की प्राप्ति की जाती है । ये पांचों ब्रह्म नहीं हैं, परन्तु इनमें ब्रह्म की कल्पना मिथ्यासु को अभीष्ट ब्रह्म तक पहुँचाने के लिए हैं । यहाँ पर पारमार्थिक अक्षरबद्ध तथा जातिरूप वाक्यस्फोट के ज्ञान के लिए पूर्वोक्त वयपद वाक्य तथा अक्षरबद्धपदस्फोट उपाय है ।

इसकी विशेष व्याख्या श्रीकृष्णभट्ट ने स्फोटचन्द्रिका में, महोजि ने शब्दकौस्तुभ में (पृ० ८,—१२) तथा शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र (३२,१—१) तथा तैत्तिरीय उपनिषद् (२,१) के भाष्य में की है ।

वाक्यस्फोट ही सत्य है—महोजिवीक्षित ने कौस्तुभ में (पृष्ठ ८-१२), कौण्डभट्ट न भूषण में (कारिका ६१-७४), नागेश ने मञ्जूषा में (पृष्ठ १६१ ४-६) श्रीकृष्ण ने स्फोटचन्द्रिका में मंडनमिश्र ने स्फोटसिद्धि में शंकराचार्य ने पातञ्जल योगदर्शन के चतुर्थपाद के अन्त में, भरतमिश्र ने स्फोटसिद्धि में तथा स्फोटसिद्धि न्यायविचार के अज्ञात रचयिता न बहुत विस्तार से यह सिद्ध किया है कि स्फोटवाद ही सत्य है, मुख्यरूप से वाक्यस्फोट ही सत्य है । महोजि ने कहा है कि वस्तुतः वाचकता स्फोट में ही है । कौण्डभट्ट का कथन है कि अत्यन्त निष्कर्ष के परचात् वाक्यस्फोट ही सिद्ध होता है । बही वैयाकरणों का मत है ।

वस्तुतस्तु वाचकता स्फोटैकनिष्ठा । कौस्तुभ, पृ० ८ ।

वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थिति ॥

भूषण कारिका ६१ ।

आधुनिक विचारकों का मत—आटोयेस्पसन ने फिलासफी भाष्य ग्रामर (पृ० ३०७) आर्डेन रिपाइस ने मीनिङ् भाष्य मीनिङ् (पृ० १० १६३ तथा २३०), हर्मन पाइल ने प्रिंसिपल्स भाष्य ही डिस्ट्री भाष्य लैंग्वेज (पृ० १११) तथा गार्डिनर ने प्योरी भाष्य स्पीच एंड लैंग्वेज (अध्याय १ से ५) में बहुत

विस्तार से इस बात पर विचार किया है और यह निर्णय दिया है कि वाक्य ही सार्वक है वाक्य एक अलख्य अवयवी है। वाक्य की पद से पृथक् सफा है। पदों का कोई अर्थ नहीं होता है। आगडेन और रिचार्ड्स तथा गार्डिनर का विवेचन प्रस्तुत विषय की दृष्टि से विशेष उपयोगी है। गार्डिनर ने इस विषय पर बहुत विस्तार से उक्त अभ्यासों में विचार किया है।

आधुनिक ध्वनिविज्ञान विषयक आविष्कारों ने राज्य की नित्यता को सन्नधा सिद्ध कर दिया है। आधुनिक मापारणकी दोनों निर्णयों को पृथक् रखते हैं। अतएव वे नित्य राज्य तथा स्कोटवाद को भारतीय रूप में अभी तक नहीं मानते हैं। परन्तु दोनों निष्कर्षों का समन्वय न करना कहाँ तक उचित है यह विचारणीय है।

स्कोटवाद पर मीमांसकों और नैयायिकों द्वारा किए गए आक्षेपों का समाधान

स्कोटवाद पर मीमांसकों और नैयायिकों आवि न बहुत से आक्षेप किये हैं। मीमांसादर्शन के माध्य में शबरस्वामी ने वर्णस्कोट और पदस्कोट का समाधान किया है। कुमारिल ने श्लोकवार्तिक के स्कोटवादप्रकरण में १३० श्लोकों में स्कोटवाद का खण्डन करके वर्णवाद की स्थापना की है। मण्डन मिश्र ने स्कोटसिद्धि में ३० श्लोकों में १३० श्लोकों में किये गए आक्षेपों का उत्तर दिया है। शक्त्याचार्य ने वेदान्तसूत्र १ ३ २८ के माध्य में वर्णवाद का समाधान किया है। परन्तु योग दर्शन में बहुवचन के अन्त में वर्णवाद का घोर शक्यों में खण्डन करते हुए कुमारिल के आक्षेपों को असत्य, भ्रान्त और निरर्थक बताया है। इसी प्रकार नैयायिकों में श्रीधर ने म्यायकन्दली में (पृ० २६७—२७०) में तथा जयन्त ने म्याय मंत्ररी में (पृ० ३४४—३४५) स्कोटवाद का विस्तार से खण्डन किया है। साहित्यिकों में आनन्दवर्षेण ने ध्वनि की सिद्धि के लिए ध्वनि नामक कारिकाएँ लिखी हैं तथा उनकी आलोचक नामक टीका स्वयं की है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोचक की शोधन टीका करके ध्वनि की स्थापना की है। व्यक्तिविशेषकार महिममट्ट ने अपनी पुस्तक में ध्वनि का अनुमान में अर्थात् लक्षणा में समावेश सिद्ध करने के लिए बहुत बल दिया है। परन्तु मम्मट ने काव्यप्रकाश के पंचम उल्लास में तथा विरवनाथ ने साहित्यवर्षण के पंचम परिच्छेद में उसके तर्कों का बहुत दृढ़ापोह से खण्डन किया है और व्यञ्जना शक्ति की पृथक् स्थापना की है।

जो प्रश्न किये गए हैं, यद्यपि उनका उत्तर पत्रलिपि और मनुस्मृति के शक्यों में दिया जा चुका है, तथापि विषय को स्पष्ट करने के लिए संक्षेप में उनका उल्लेख यहां किया गया है।

शबर स्वामी का कथन—शबरस्वामी ने मीमांसादर्शन में १ १, ५ सूत्र

स्कोटवाद का अर्थ ही है। शबर स्वामी का कथन है कि गौ. इसमें क्या शब्द है? भगवाम् उपवर्ष का कथन है कि गकार, औकार और विसर्ग अर्थात् ग् औ तथा विसर्ग श्लोक व्यवहार में जो अर्थ ज्ञान से सुनाई पड़ता है, इसके लिए ही शब्द शब्द प्रसिद्ध है। 'ति प मोत्रमइया।' यदि ऐसी बात है तो अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि एक-एक अक्षर के जानने से अर्थ का ज्ञान नहीं होता है, अक्षर से अविरिक्त और कोई समुदाय नहीं है, जिससे अर्थ का ज्ञान हो। जब ग है, तब औ और विसर्ग नहीं है, जब औ तथा विसर्ग हैं तब ग नहीं है, अतएव ग आदि से अविरिक्त अन्य गो शब्द है, जिससे अर्थ का ज्ञान होता है। यदि यह कहा जाय कि शब्द का तिर भाष हो जाने पर स्वरण से अर्थ का ज्ञान होता है तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि स्मृति भी अर्थिक है अतः अक्षरों के सहारा ही है। अतः इसका समाधान करते हैं कि पूर्ण अर्थ से उत्पन्न संस्कार के साथ अन्तिम वर्ण बोधक है। परन्तु इस पर यह आप्तेप होता है कि लोकव्यवहार में कहा जाता है कि शब्द से अर्थ समझते हैं (शब्दार्थ प्रतिग्रहामहे) यह लौकिक कथन सत्य नहीं होगा। यदि वाकिक वचन सत्य नहीं होता है तो न हो। वाकिक वचन सत्य नहीं होता है, अतः प्रत्यक्ष आदि से अज्ञात अर्थ को मानना ठीक नहीं है। लौकिक वचनों में कुछ का अर्थ सत्य होता है, कुछ का नहीं होता अर्थात् कुछ सार्थक होते हैं, कुछ निरर्थक।

इस पर प्रश्न उठता है कि शास्त्रकार भी ऐसा मानते हैं। यास्क ने निरुक्त में कहा है कि क्रिया के द्वारा प्रारम्भ से लेकर अन्तिम तक की सहा ली जाती है, जैसे "जाता है, पकाता है" में जाने और पकाने की क्रिया का जब से प्रारम्भ होता है, तब से लेकर समाप्त होने तक की क्रिया को जाना और पकाना कहते हैं। अप्रामाणिक बात यदि शास्त्रकार भी करते हैं तो इसको नहीं मान सकते।

अक्षर से सिद्ध नहीं हो सकती ऐसी बात नहीं है अक्षरों से संस्कार होता है, संस्कार से अर्थ का ज्ञान होता है इस प्रकार से अर्थज्ञान सम्भव होने में अक्षर ही कारण हैं। यदि यह कहे कि अर्थज्ञान में शब्द गौण है, मुख्य नहीं तो वह ठीक नहीं है। अक्षरों में निमित्तता गौण नहीं है। अक्षरों के होने पर अर्थज्ञान होता है, उनके बिना नहीं होता है। यदि यह कहे कि ग आदि अक्षरों से गो शब्द पृथक् है तो यह ठीक नहीं क्योंकि अक्षरों से पृथक् वह नहीं दीक्षता है, दोनों में अभिन्नता पीलती है। ग आदि प्रत्यक्ष है। इसलिये ग से लेकर विसर्ग तक पूरा पद अक्षर ही है। अतः अक्षरों से अविरिक्त अन्य पद नहीं है। यदि यह कहा जाय कि संस्कार की कल्पना में भी अक्षर की कल्पना करनी पड़ती है, तो इसका उत्तर यह है कि शब्द की पृथक् कल्पना करने में शब्द और अक्षर दो की कल्पना करनी पड़ती है। इसलिये अक्षरों को ही पद मानना चाहिए। पृष्ठ १३—१४।

मनु संस्कारकल्पनायामक्षरकल्पना । उक्तवत् । शब्दकल्पनायां सा च शब्दकल्पना च । तस्मादक्षराप्येव पदम् । पृ० १४ ।

राष्ट्र का अर्थ किसको मानते हैं, इस पर राबर ने सिद्ध किया है कि राष्ट्र का अर्थ आकृति अर्थात् जाति है। 'आकृति' शब्दाय यह बैमिनि का कथन भी सिद्ध होता है। पृ० १५।

राबर स्वामी ने 'इत्यथौ वाऽवचना०' सूत्र २४ के माध्य में यह स्वीकार किया है कि पदार्थ ही वाक्यार्थ नहीं होता है, पद सामान्य अर्थ को बताता है और वाक्य विशेष अर्थ को। सामान्य और विशेष में अन्तर है। पदार्थ से वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि पदार्थ में और वाक्यार्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि बिना सम्बन्ध हुए ही एक पदार्थ के ज्ञान से अन्य पदार्थ का ज्ञान हो जाए तो एक का ज्ञान होने पर सब का ज्ञान हो जाता। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः वाक्य का अर्थ पृथक् होता है। "तस्मादस्यो वाक्यार्थः"। पृ० ३२।

कुमारिल मठ — कुमारिल ने अन्तर राष्ट्र के स्थान पर बख राष्ट्र रखकर अद्यतों को राष्ट्र नहीं अपितु वर्णों को राष्ट्र कहकर राष्ट्र का लक्षण फेरफार भ्रान्त-भासता किया है। कुमारिल ने वाक्यस्कोट के मानने में सबसे सैद्धान्तिक कठिनाई यह मानी है कि स्कोट मानने पर वाक्य अलक्ष्य होगा, वह अक्षरबन्ध वाक्यार्थ का वाचक होगा। इसके अन्वय पद और वर्ण असत्य होंगे। अतः पद आदि के अन्वयों के आश्रित उद्भूत आदि तथा महावाक्य के अन्वय अन्वयान्तर वाक्यों के अर्थ प्रयास अनुमान आदि के आश्रित प्रसंग सम्प्र आदि सारे अर्थ भिन्ना हो जायेंगे। अतः स्कोट का खण्डन करना निष्पक्ष नहीं है। पार्यसारविमिश्र ।

वर्णातिरिक्तः प्रतिपिष्यमानः पदेषु प्रथमं फलमावधाति ।

कार्पासि वाक्यावयवामपासि सत्यानि कर्तुं कृत एव यत्नः ।

स्कोटवाद, १३७।

मीमांसकों के पाँच मुख्य आक्षेप, ५४ अन्य आक्षेप—मठहरि ने वाक्य पदीय के द्वितीय काण्ड में (श्लोक ६२ से ८६) मीमांसकों की ओर से जो भी आक्षेप किये जा सकते थे, उन सब का संप्रह किया है। मीमांसकों के मठ उल्लेख करते हुए मठ हरि ने कहा है कि जैसे एकत्रित पदों में वाक्यार्थ रहता है, वही प्रकार एकत्रित वर्णों में पदार्थ इत्यन्त हो जाता है। अतएव पदों में वर्णों को और वाक्य में पदों को सार्वक मानना चाहिए। एक उदाहरण दिया है कि जैसे सूक्ष्म बस्तु माद्य होते हुए भी किसी के ससर्ग से वीक्ष्यती है, इन्ही प्रकार वर्ण भावक होते हुए भी अन्य वर्णों के ससर्ग से वाचक होता है। मीमांसकों का अभिप्राय यह है कि वर्ण सार्वक है परन्तु भोज भक्षण के कारण इनको सार्वक नहीं समझता। पद को अनर्थक नहीं कह सकते क्योंकि पद के उच्चारण से कोई न कोई अर्थ प्राप्त होता है। उमका किसी अर्थ से सम्बन्ध नहीं ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनुभव में उनका अर्थ देखा जाता है। उन एक-एक पदों में जो अर्थ है, वही का समुदाय वाक्य है। अतः बख समुदाय पद है, पदों का समुदाय वाक्य

है। उससे पूरक वाक्य नहीं है। पुण्यराज ने कुमारिल का प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया है, कि जितने जैसे जो वर्ण जिस अक्षर के प्रतिपादन में समर्थ देखे जाते हैं, उनको वैसा ही वाक्य मानना चाहिए। पुण्यराज, वाक्य २, ६२-६४।

यावन्तो यादृशा य च यद्यप्रतिपादने ।

वर्णा प्रहाससामर्थ्यास्ते तथैवावबोधका ॥

श्लोक० स्फोटवाद ६६।

यदि वाक्य में पदार्थ की सत्ता नहीं मानेंगे तो पांच मुख्य आपत्तियाँ ये आती हैं —

१—त्रिविधि की कल्पना नहीं हो सकती। व्याकरणों की भाषा में इमत्र अर्थ यह है कि किसी क स्थान में कोई आदेश नहीं हो सकता। जैसे घात रूपों में ल क, स्थान पर विप् वस् आदि होते हैं, उनका कोई अर्थ नहीं होना चाहिए। व्यावहारिक रूप से मान यह है कि स्थानापन्न अधिकारी की कोई शक्ति नहीं होगी।

२—एक वाक्य में किसी विशेष पद का अर्थ न ज्ञात होने पर यह नहीं पूछ सकेंगे कि इस वाक्य में अमुक पद का क्या अर्थ है।

३—भ्रुतिसिगवाफपप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदोषस्यमर्थविम कयात् । मीमांसा ३, २, १४।

मीमांसा का नियम है कि भ्रुति सिग वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्यान ये विनियोग के कारण हैं। यदि ये एक स्थान पर हों तो इनमें से पूर्व-पूर्व पक्षवान् हैं, और एक के बाद दूसरा दुर्बल है, क्योंकि वह सुसवार्थ से दूर हो जाता है। यदि वाक्य को मुख्य माना जायगा तो वाक्य से भ्रुति बलवान् होती है, यह नियम नहीं रह सकेगा।

४—एक महावाक्य में अवान्तर वाक्यों का कोई अर्थ नहीं होगा।

५—यदि पद और पदार्थ को नहीं मानेंगे तो मीमांसा दर्शन ने जो पदार्थ मूलक वाक्यों के नियम बताए हैं, वे सिद्ध नहीं होंगे। ये नियम इतने मुख्य हैं कि लौकिक और वैदिक अर्थान् संसार के सारे नियमों के वे आधार माने जाते हैं। इनके ज्ञान से ही वाक्यार्थ का निष्पन्न होना है। पुण्यराज, वाक्य० ६३—७८।

६—भर्तृहरि न उपयुक्त आक्षेपों का बहुत विस्तार से उल्लेख किया है। पंचम आक्षेप में उन्होंने ५४ आक्षेपों का समावेश किया है। मीमांसा में इन नियमों को लक्षणा कहा जाता है। लक्षणाओं को कई प्रकार से विभाजित किया गया है, इनकी संख्या ६, १२ और २४ है। शबर स्वामी ने इन ४२ में १२ और

पदार्थ के निरूपण के साधन सिद्धे हैं। इनमें विधि, भेद, शेष-शेषिभाव, प्रयोग क्रम, अधिकारी, तन्त्र, प्रसंग, गीष्प मुख्य आवि हैं।

आज्ञेयों के उत्तर

पदव्यक्ति ने 'इयवरट' (आहिक २) तथा 'अर्थव्यवभाषु' (१,२, ४५) के माध्य में बहुत विस्तार से स्वयंवाद का स्पष्टान किया है, और निर्णय दिया है कि कुछ ऐसे अक्षर हैं जो कि एकाक्षर ही हैं, जैसे इ पाठ अ राध्, अण् आदि प्रत्यय, अ इ अ आदि निपात ये सार्थक हैं। अन्य अर्थ सार्थक नहीं हैं। जैसे श्रुय सुय, मूय, में क स य और उप का असंग-असंग कोई अर्थ नहीं है। इसके विषय में ये कहते हैं कि यह स्वाभाविक है। जैसे सारे ही पढ़ने के इच्छुक तथा अभ्ययन करने वालों में कुछ को ज्ञान प्राप्त होता है, कुछ को नहीं। एक को प्रज्ञान प्राप्त हो गया, इसलिये सब को होना चाहिए या एक को नहीं हुआ इसलिये किसी को न हो ऐसा नहीं होता। यह अन्तर स्वाभाविक है। एकाक्षर अर्थ सार्थक हैं, उनके अतिरिक्त अर्थ निरर्थक हैं।

कौयबमट्ट न मूष्य में प्रतिनिधि वाले प्रश्न का उत्तर दिया है कि प्रतिनिधि जिसका प्रतिनिधित्व करता है, उसका अर्थ उसमें रहता है। व्यवस्था व्यवहार एवं तन्निमित्तक होने से उनमें अर्थ रहता है। मूष्य अक्षिका ० ६२।

मदहरि ने उक्त सारे प्रश्नों का उत्तर (वाक्य ० ९, १०—११४) दिया है। सारे उत्तर का सारांश यह है कि अभिन्न में भी अपोहार से विभाग कर लिया जाया है, जैसे राहु और शिर एक होने पर भी "राहु का शिर" रस एक न होने पर भी अनेकों प्रकार का रस कहा जाया है। गन्ध एक है, उसमें भेद नहीं है, परन्तु भेद किया जाया है कि पूष की गन्ध, चन्दन की गन्ध आदि। गवय एक है, नरसिंह एक है, परन्तु उनमें भी भेद कर दिया जाया है कि इतना मनुष्य है, इतना सिंह। इसी प्रकार वाक्य में से अर्थ को पूषक करके प्रतिनिधि की रूपना, भुक्ति और वाक्य का नियन्त्रण करते हैं।

एक वाक्य में अज्ञात पद के विषय में जो प्रश्न करते हैं, वह अज्ञान का सूचक है। अज्ञानी वाक्य में अज्ञात पद की सत्ता मानते हैं, ज्ञानी नहीं। ज्ञानपद वासा वाक्य, अज्ञात पद वासा वाक्य से सवया भिन्न है।

ज्ञान में विभाग नहीं है। ज्ञान एक है, यह प्रकाराक है। प्रकारा एक है, परन्तु उसमें भी भेद मान लिया जाता है कि नील का ज्ञान, पील का ज्ञान आदि। आकारा एक है, उसमें भेद नहीं होता है, परन्तु अज्ञानपरा घटाकारा, मठाकारा आदि करते हैं और समझते हैं। इसी प्रकार वाक्य में कोई अक्षर वा भेद नहीं है, परन्तु अपोहार से भेद करते हैं। लक्ष्यो आदि सय के विषय में यही उत्तर है, व्यावहारिक उपयोगिता के लिये लक्ष्यो की आवश्यकता है। पारमार्थिक पद सत्य शब्दप्रच के लिये ये सारे सहाय निरवकाश एवं अनुपयोगी हैं।

एक ही है, परन्तु वही वाच्य भाषि की विभिन्नता से निवाह्य शब्द पद सभ्यम भाषि में से युक्त मानी जाती है।

जैसे एक वाक्य में से पदों को निकाल लेते हैं, वही प्रकार महावाक्य में से अवान्तर वाक्यों की कल्पना करके उनको निकाल लिया जाता है। वस्तुतः इनमें भेद बराबर भाषि नहीं है। वाक्य० २, १०—११४।

पदवादी वैयाकरणों के पाँच आक्षेप

पाँच और आक्षेप—पदवाह को मानने वाले वैयाकरणों की ओर से वाक्यरफ़ोट पर सात आक्षेप किये जा सकते हैं। मरुहृदि ने स्वयं इनका अन्वेषण करके निराकरण किया है।

१, इन्द्र समास में बहुवचन नहीं हो सकेगा। २, “भवत्कृत्विपश्चाराय” “सिष्यन्ताम्” पद और, पक्षारा को सीधो, में सीधना किया का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। भाव यह है कि वाक्यार्थ की प्रत्येक व्यक्ति में समाप्ति नहीं होगी। ३, इन्द्र समास के बीच में कोई शब्द होगा तो उसको सर्वनाम पद के द्वारा सम्बोधित नहीं कर सकते। ४, वाक्य अक्षम मानने पर वाक्यार्थ का अनुष्ठान करते समय क्रम नहीं होना चाहिए, सहसा सारा काम हो नहीं सकता है। ५, एक अंश के कर लेने पर भी पूरे काम का कर लेना कह दिया जाता है वह नहीं सम्भव होगा। जैसे घोड़ा काटने पर भी कह देते हैं कि “भाप ने जा कर या वह मीने कर दिया” भाषि। वाक्य० २, २२३—२२७।

आक्षेपों का उत्तर—मरुहृदि ने विस्तार से इन प्रश्नों का उत्तर दिया है। मरुहृदि का कथन है कि पहले वाक्य फिर समास भाषि जो किया जाता है यह वास्तविक नहीं है। वाक्य समस्त ही है। कालकों एवं अविद्यानों को समझने के लिए समास का विग्रह भाषि किया जाता है, अपोहार को मानकर बहुवचन भाषि किया जाता है। बहुव्रीहि समास में जहस्तवार्था वृत्ति का ही आशय लिया जाता है। वहाँ पदार्थों की सत्ता न होना बताकर यह स्पष्ट किया जाता है कि वाक्य में पदार्थ की सत्ता वस्तुतः ही नहीं। वाक्य २, २२८—२३०।

अविद्या ही विद्याप्राप्ति का उपाय—मरुहृदि ने आगे बताया है कि यदि पद पदार्थ सत्य होते तो व्याकरण में नाना प्रकार की प्रक्रियाएँ नहीं होतीं। उनको अभाव नियम नहीं होते। कहीं प्रकृति प्रयोग के अर्थ को बताया है, जैसे—अहम् (मारा) में प्रत्यय नहीं है। कहीं प्रत्यय प्रकृति का अर्थ बताया है, जैसे इवत् (इवना) में इवम् शब्द का लोप है और उदाहरणों को देकर मरुहृदि ने बताया है कि व्यवहार के लिए ये शास्त्रार्थ के प्रकार हैं। अज्ञान को दूर करने के लिए इनका उपयोग है, कोई भी शास्त्रार्थ अर्थात् परमार्थ का दर्शन नहीं

कर सकता है। प्रत्येक शास्त्र में अविद्या का ही वर्णन है, परन्तु शास्त्रों द्वारा अविद्या का ज्ञान होने पर उसके नामा हो जाने से शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। बालकों को जिस प्रकार देखा आदि बनाकर अक्षरों का ज्ञान कराया जाता है, ठसी प्रकार सारे शास्त्र शम्भुवत्सव के ज्ञान के लिए ब्याप्य हैं। अज्ञान के नाश से ज्ञान होता है। असत्य के दूर होने से सत्य का वरान होता है। वाक्य २, २३१—२४०।

व्यवहारय मन्व्यन्ते शास्त्रार्थप्रक्रियायतः।

शास्त्रेषु प्रक्रिया मेदैरविद्यैवोपबन्धते ॥

अज्ञानमधिकस्याह स्वर्ग विद्योपवर्तते ॥

वाक्य ० २, २३४—२३५।

पदवाद का स्पष्टन

चार आक्षेप—मूर्खरि ने पदवाद मानने पर चार आक्षेप किये हैं।
 १—समास में किसी शब्द का कोई अर्थ नहीं हो सकेगा, क्योंकि समुदाय का अर्थ दूसरा होगा। अक्षय का अर्थ दूसरा। दोनों मिश्रित होंगे, अतः समास में एक सत्य ही भेद और असर्ग को बिरोधी गुण प्राप्त होंगे। एक ओर समुदाय और अक्षय की विभिन्नता के कारण भ्रम होना चाहिए, दूसरी ओर समास के कारण संसर्ग। अनुभव में ऐसा नहीं देखा जाता है। २—अम्बुपीमास समास नहीं होगा। अविहरि (हरि में) यमाराति बसोपिव आदि में अक्षय का कोई अर्थ नहीं है। ३—बहुव्रीहि समास की सत्ता ही नहीं रहेगी। बहुव्रीहि अम्बु पदार्थप्रधान होता है। पद का कुछ अर्थ मुख्य होता ही नहीं है। ४—प्रभु, संघ आदि शब्दों में जानु शब्दों के स्थान पर घु शब्द है, (अम्बु पुटने वाला)। यहाँ पर अक्षयको अर्थात् प्रत्येक पद का कोई अर्थ नहीं है। वाक्य २, २२०—२२९।

अन्य चार आक्षेप—१—यदि पदवाद को मानेंगे तो वाक्य में पहले पद का अर्थ मानना पड़ेगा फिर बाद में वाक्यार्थ के समय उसको छोड़ना पड़ेगा, इससे पदों को निरर्थक मानना पड़ेगा। २—यदि पद सत्य है तो वे सचचा एक जैसे रहने चाहिए, उनमें कभी किसी प्रकार का अन्तर नहीं आना चाहिए। एक ही शब्द के कर्त्ता, कर्म, क्रय आदि में रूप बदल जाते हैं। ३—यदि पद सत्य है तो एक पद का अन्व अर्थ में प्रयोग नहीं होना चाहिए। राजपुरुष 'समासमें' राज शब्द क्रियावाक्य भी हो सकता है कि है पुरुष, तेजस्वी हो। ४—अरु अर्थ, कृष्ण-सर्प, मीलोलाल आदि समस्त में अरु अर्थ आदि पदों का कोई अर्थ नहीं है। वे विशेष जातिवाक्य शब्द हैं। प्रत्येक कान स प को प्य सर्प मदी कहते हैं। सर्पों की जाति विशेष के लिए यह शब्द है। वाक्य २, ३४—३६।

भर्तृहरि ने इसी प्रकार से कितने ही आक्षेप पदवाद् मानने पर किये हैं। पदों से ही वाक्य नहीं बनते हैं। वाक्य की पदों से पूर्यक् सत्ता है। वही सत्य है। यहाँ पर भर्तृहरि के सारे आक्षेपों का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है।

घर्ष और पदवाद का खण्डन

कुमारिल आदि की भ्रुटि—मरहट्टन मिश्र ने स्फोट सिद्धि में पृष्ठ २१—२२ इस बात को स्पष्ट किया है कि कुमारिल आदि मीमांसकों ने जो घर्षवाद् का समर्थन करके स्फोट का खण्डन किया है, वह मीमांसा दर्शन के सिद्धान्त को ठीक न समझ करके किया है। मीमांसादर्शन में जैमिनि का कथन है कि मातृवाचक कर्म शब्दों से क्रिया की प्रतीति होती है। वही अर्थ है। जैसे “यजेत्” (यज्ञ करना चाहिये) में यद् मातृ से मातृ अर्थात् सत्ता का अर्थ बताया गया है। इस सत्ता को ही स्फोट मान, क्रिया आदि नाम किये गए हैं। शबर स्वामी ने इसकी व्याख्या में ३ प्रकार का कर्ममेव बताया है, शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, गुण, प्रक्रिया, मामवेय। शबर स्वामी, मीमांसा २, १, १।

मातृवाच्यं कर्मशब्दास्तेष्वपि क्रिया प्रतीयेतैप शब्दो विधीयते। मीमांसा०, २, १, १।

कुमारिल आदि ने दूसरी बड़ी भ्रुटि शब्द के लक्षण में की है। जो कर्म से मुना जाय, उसे शब्द कहते हैं, यह शब्द का लक्षण बहुत भ्रुटिपूर्वक है। पतञ्जलि का शब्द का लक्षण दिया जा चुका है। मरहट्टन मिश्र ने शब्द का लक्षण किया है कि अर्थज्ञान की उत्पत्ति के कारण को शब्द कहते हैं। अनयक ध्वनि आदि को शब्द नहीं कहते हैं।

अर्थात्संज्ञायमसबन्धनिमित्तं शब्द इत्यते। स्फोटसिद्धि ३।

स्फोटवादी संस्कार को पूर्यक् नहीं मानते हैं। वे इसे वासना का रूपान्तर मानते हैं। अतः शबर स्वामी और कुमारिल का आक्षेप कि स्फोट और संस्कार और मानने पड़ेगे। यह आक्षेप निरर्थक है। स्फोट० १०।

मरहट्टन ने अपमा मत्त इस विषय पर स्पष्ट रूप से दिया है कि पद या वाक्य में स्फोटवादी अवयवों का अस्तित्व नहीं मानते हैं। स्फोटवाद सत्य है। शास्त्रीय और भ्रुतिसमत्त यही मत है। व्याकरण, निरुक्त और मीमांसा आदि इसी स्फोटवाद को मानते हैं। स्फोट० २६ ३६।

मातेकावयव्यं वापर्यं पदं वा स्फोटवादिनाम्। श्लो० २६।

नैयायिकों और मीमांसकों के आक्षेपों का समाधान।

न्यूनतम मद् का विवेचन—न्यूनतम ने न्यायमञ्जरी में नैयायिकों और

मीमांसकों की ओर से जो आक्षेप स्कोटवाद पर किए गए हैं, तथा उनका जो उत्तर मधु हरि, मयहन, भट्टोजि० भाषि की ओर से दिया गया है, उसका सुन्दर और सुबाध भाषा में बख्तेल किया है। जयन्त ने अन्त में मैयायिकों की ओर से स्पष्ट किया है कि वे ध्वनि के कारण शब्द को अनित्य मानते हैं।

वे स्कोटवाद को स्कोट नाम से नहीं मानते, वे शब्द को मानत हैं और उसे सावयव मानते हैं। वैयाकरण स्कोट और ध्वनि दोनों को मानते हैं, परन्तु नैयायिक ध्वनि को ही स्कोट मानते हैं, अतः अनित्यता के आधार पर सपहन करते हैं। नैयायिकों भाषि की ओर से स्कोटवाद के विरुद्ध निम्न आक्षेप हैं :—

१—वर्ण ही सार्थक है, उन्हीं से अर्थज्ञान होता है। २—प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से स्कोट सिद्ध नहीं होता। ३—वर्ण स्कोट के व्यञ्जक नहीं हैं। ४—ध्वनियों स्कोट की व्यञ्जक नहीं हैं। ५—वाक्यस्कोट नहीं है। ६—वाक्य के माग पद आदि सत्य हैं। ७—स्कोट ब्रह्म नहीं है। इनके समाधान, जयन्त के शब्दों में निम्न हैं। न्यायमञ्जरी पृ० ३३७—३४४।

१—वर्ण अर्थबोधक नहीं है।

यह कथन कि वर्ण ही अर्थबोधक है, सत्य नहीं है, क्योंकि इस पर विचार यह है कि यदि वर्णों को अर्थ का बोध मानते हैं तो यह बताना होगा कि वे ग आदि वर्ण समस्त होकर अर्थ का प्रतिपादन करते हैं या व्यस्त रूप से, सम्मिश्रित रूप से या पृथक्-पृथक्। वे पृथक्-पृथक् अर्थ के बोधक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि एक-एक वर्ण के सुनने से अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। वे समस्त तो हो ही नहीं सकते हैं, क्योंकि उनके समस्त अर्थात् एकत्रित होने के दो ही प्रकार हैं, या तो सत्तामात्र से एकत्र हो सकते हैं या प्रतीति के विषय होने से। नैयायिकों के मत में सत्ता के आधार पर एकत्र होना सम्भव नहीं है, क्योंकि वे शब्दों को कार्य और विनाशी मानते हैं। उनके मत से शब्द व्यन्त होते ही भंग हो जाते हैं।

हाँ मीमांसक उन्हें नित्य मानते हैं, परन्तु उनके मत में भी सत्ता के आधार पर सम्मेलन होना सम्भव होने पर भी सारे वर्णों में सत्ता समानरूप से है, अतः कौन वर्ण समूह किस अर्थ का बोधक होगा, यह निर्णय नहीं किया जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि वर्ण समूह आदि शब्दों के तुल्य अर्थ के पताने वाले नहीं हैं, जिससे कि बिना उन्हें ग्रहण किए ही सत्तामात्र से उनके सम्मेलन से अर्थ बोध हो जाय। वे वर्ण प्रापक हैं प्रकाशक हैं। जैसे विद्यमान धूप आदि से अग्नि आदि का बोध होता है, वही प्रकार विद्यमान वर्णों

का मह्य होने पर ही अर्थ बोध होता है। इनका एकत्र होना बुद्धि में ही उपयुक्त है।

बह-मी ठीक नहीं है-यदि प्रतीति में एकत्र मानते हैं तो यह बताना होगा कि क्या एक बह के प्रयुक्त बर्णों से अर्थ का ज्ञान होता है या अनेकों पुरुषों के भाषणों से यदि अनेकों पुरुषों के भाषणों से तो वह कौसाहल ही होगा, उसमें वर्ष के स्वरूप का ही ज्ञान करना असंभव हो जाएगा, किसका सम्मेलन या किसका असम्मेलन। यदि किसी प्रकार सम्मेलन हो भी गया तो अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। यदि एक के प्रयुक्त बर्णों से ही उसमें भी प्रयत्न स्थान, और करण कण्ठ वाह, भावि के क्रम का परिस्थापन नहीं कर सकते हैं। वह कर्म अवरयमावी है। यदि क्रम को मानते हैं तो एक-एक बर्णों के द्वारा अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाया है। इस प्रकार-न सम्मिश्रित रूप से और न असम्मिश्रित रूप से बर्ण अर्थ का बोध करा सकते हैं। अतः बर्णों को बाधक नहीं मानना चाहिए।

अनेकों में स्मृति भी अनेक होती है—एक बात और है, बर्णों के विषय में बुद्धियाँ भी वही प्रकार की माननी पड़ेगी। वे भी एकबार एकत्र नहीं हो सकती हैं। यदि क्रम मानते हैं तो एक-एक बर्णविषयक बुद्धि से अर्थ का ज्ञान मानना पड़ेगा। यह जो उत्तर दिया जाता है कि पूर्व-पूर्व बर्णों से उत्पन्न संस्कार के सहित अन्तिम बर्ण बोध कराया है यह भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि संस्कार जिस-जिस अनुभव से उत्पन्न हुआ है, वह उस विषय के ही स्मरण को उत्पन्न करता है। वह अन्य बर्णों के विषयक ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता। यदि यह कहा जाय-की स्मृति के द्वारा बर्ण-अर्थ का बोध कराया है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें एक साथ दो ज्ञानों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। (नीयायिकों का यह निर्वचन है कि मन का स्वभाव है कि उसमें एक साथ दो ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकते हैं)। अन्य बर्णों के ज्ञान के अनन्तर ही पूर्व बर्णों के स्मरण की तरङ्गसमय का भी स्मरण मानना पड़ता है अतः दो ज्ञानों की युगपत्स्थिति माननी होगी। उसमें क्रम मानने का या उसमें क्रम की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं दीजता है, यदि यह मान भी लिया जाए कि वही क्रम से दोनों ज्ञान होते हैं, तो भी उस समय अन्तिम बर्ण का ज्ञान नष्ट हो चुका है, अब पहले बर्णों की स्मृति किसकी सहायता करेगी। हाँ, अब तक जो कहा गया है वह अनेकों पहले बर्णों के विषय की एक स्मृति को मानकर कहा गया है, परन्तु यह भी जानना चाहिए कि सारे बर्णों के विषय में एक ही स्मृति नहीं होती है क्योंकि मिन-मिन शब्दों के प्रकृत से उत्पन्न वासनाओं के मेल से निर्मित स्मृतियाँ मि न होनी चाहिए। अनेकों में रहनेवाली एक स्मृति नहीं हो सकती।

संकलनात्मक ज्ञान सम्मिश्र नहीं है—यदि यह कहा जाए कि एक संकलनात्मक ज्ञान (समन्वय ज्ञान) होगा जो कि सत् और असत् सभी बर्णों में रहेगा। इसके आशय से-बर्ण अर्थ का ज्ञान कराएंगे तो यह भी दुरासामात्र है, क्योंकि संकलनात्मक ज्ञान का कोई कारण नहीं है। क्योंकि इन्द्रियाँ अतीव (नष्ट) बर्णों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हैं और न संस्कार वर्तमान का ग्राहक हो सकता है। इन्द्रिय और संस्कार युगपत् अर्थात् एक बार ही इस प्रकार की बुद्धि को उत्पन्न नहीं कराते हैं, क्योंकि संस्कार सहयोगी के द्वारा आदि से आहित (स्थापित) प्रबोधरूप है, केवल स्मरण को उत्पन्न करने की शक्ति उसमें है, इन्द्रिय के साथ उसका व्यापार 'मेख' नहीं है, अतः बर्णों को वाचक नहीं मानना चाहिए।

क्रम को मानने पर अर्थवाद नहीं होगा—हाँ, यदि उन्हें इस प्रकार से वाचक मान लिया जाएगा तो विपरीत क्रम से प्रयोग करने पर भी उन्हें उसी अर्थ का बोधक मानना होगा जैसे नक्षत्रान्तरा, नाक्षत्रान्तरा, अथवा राक्षस साक्षर आदि हमने भेद नहीं होगा। यदि क्रम की अपेक्षा करनी पड़ती है तो यह विचारणीय है कि उसे अतिरिक्त मानना है या अपृथक्। यदि अपृथक् तो ये सभी बर्ण हैं, क्योंकि एही अर्थ को नहीं बताते हैं; यदि क्रम बर्णों से पूरक है तो कुछ अधिक को वाचक मानना पड़ता है। ऐसी अवस्था में स्फोटवाद को मानना पड़ेगा।

यदि यह कहा जाए कि व्युत्पत्ति के कारण शब्द अर्थ का वाचक होता है और व्युत्पत्ति में जितने जिस क्रम से जो बर्ण जिस अर्थ को बताते हुए व्यवहार में देखे जाते हैं, वे उतने एही क्रम से उस अर्थ का बोध कराएंगे। जैसा कि कुमारिल न कहा है कि जो जितने जैसे भी बर्ण जिस अर्थ के बोध कराने की सामर्थ्य होते देखे गए हैं वे जैसे ही बोधक हो जायें, अर्थ के विषय सत्त्वात् साम। श्लोक चार्तिक। स्फोट० ६६।

इस पर कथन यह है कि वह व्युत्पत्ति विचारणीय है। शब्द से अर्थ का जो ज्ञान होता है, वह पहले अर्थात् पूर्वज व्यक्ति के ज्ञान से ही होता है। इन्हीं के ज्ञान से ही आगे शब्दों का ज्ञान होता है, वे व्यवहार करते हैं उनके व्यवहार को देखकर अर्थ जाना जाता है। यहाँ पर विवेचनीय नहीं है कि कौन कितने बर्ण आदि किस-किस अर्थ का प्रतिपादन करते हुए देखे गए हैं, जिनसे उसी प्रकार उन अर्थों को जान सके। व्यवहार में शब्द से अर्थ की व्युत्पत्ति कहीं नहीं देखी जाती है। जितने जैसे आदि सभी एक प्रान है, जब तक कितने जैसे कौन आदि प्रान नहीं पूछे जाते हैं।

२—अनुमान से स्फोट की सिद्धि।

स्फोट अस्वरूप है—इस प्रकार से बर्ण सर्वथा अभावक सिद्ध होते हैं, उच्चारण किए गए शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है वह बिना उच्चारण के नहीं हो सकती है, इसलिए उच्चारण स्फोट है, इसको चाहे कार्यानुमान, परिशेषानुमान या अर्थापत्ति मानो सर्वथा अर्थ प्रतीति कभी कब से स्फोट की सिद्धि होती है। वह निरवयव नित्य एक अक्षर है, अतः उसमें कम पढ़के दोष नहीं आते। अतः स्फोट ही अर्थ का प्रतिपादक है। स्फोट को मानने पर 'शब्दार्थ प्रतिपत्तमहे' में शब्द शब्द से प्रतिपत्तिकार्य की सिद्धि हो जाती है।

यदि बर्णों को शब्द शब्द के द्वारा कहा जाता है और वे अर्थ के प्रतिपादक हैं तथापि "शब्दात्" में पंचमी और एकवचन का अर्थ ठीक नहीं होगा। उस अवस्था में शब्द शब्द से बहुवचन होगा और "शब्देभ्योऽर्थ प्रतिपत्तमहे" (शब्दों से अर्थ जानते हैं) ऐसा व्यवहार होगा। जब स्फोट को अर्थ का प्रतिपादक मानते हैं तब प्रातिपदिक का अर्थ और पंचमी विभक्ति दोनों का अर्थ ठीक हो जाता है।

शब्द शब्द के द्वारा स्फोट का नहीं, अपितु बर्णों का ही बोध कराया जाता है। जो कान से सुनाई पड़े उसके लिए शब्द शब्द का प्रयोग होता है। बर्णों का ही कान से ग्रहण होता है, यह कबन ठीक नहीं है। कान में शब्दस्व अर्थात् कान में रहने वाली आवृत्ति का भी ग्रहण होता है, झरना, बिया आदि की ध्वनि कान से सुनाई पड़ती है, परन्तु वह शब्द का अर्थ सिद्ध नहीं करती, इससे अर्थ ज्ञान नहीं होता। अतः जिससे अर्थ का ज्ञान होता है, उसे शब्द कहना चाहिए। अर्थज्ञान स्फोट से ही होता है, बर्णों से नहीं अतः स्फोट ही शब्द है।

यदि अर्थ बोधक होना ही शब्द का लक्षण करेगा तो धूर्त आदि को भी शब्द मानना पड़ेगा। क्योंकि उससे भी अर्थ अर्थात् अग्नि का ज्ञान होता है। यह प्रश्न ठीक नहीं है। पतञ्जलि का प्रश्न था कि "अथ गौरित्यत्र कः शब्दः" गाय शब्द के सुनने से जो अर्थों की प्रतीति होती है, उसमें शब्द क्या है, इस प्रकार में अर्थ प्रतिपत्ति जिससे होती है, उसे शब्द कहते हैं, इस प्रकार प्रसंगिक करने पर धूर्त आदि में शब्दत्व की शंका को ही अवरुद्ध नहीं है।

यदि यह कहा जाए कि अर्थ प्रतीति बर्णों के होने पर होती है, वनक न होने पर नहीं होती है। अतः उनको छोड़कर वह कैसे स्फोट का कार्य हो सकती है। इसका उत्तर यह है कि व्याप्ति बही होती है। जो अन्यथा सिद्ध न हो, यह अन्यथा सिद्ध है। अन्यथा सिद्धि क्या है, इसका उत्तर यह है कि जब स्फोट के व्यवहार हैं, उसके अनन्तर ही अर्थप्रतीति होती है। बर्णों से अभिव्यक्त स्फोट अर्थ का बोध कराता है, लोगों को यह भ्रम होता है कि बर्णों से अर्थ प्रतीति होती है।

३—वर्ण स्फोट के व्यञ्जक हैं ।

शबर और कुमारिल के प्रश्न का उत्तर—अच्छा यदि वर्णों को स्फोट का व्यञ्जक मान लें तो वर्णवाद पर जो समस्त या असमस्त आदि प्रश्न किए गए थे, वे कहाँ गए। कुमारिल ने अतएव कहा है कि जो स्फोट को अक्षरवद् मानते हैं, और वर्णविज्ञान से बसकी अभिव्यक्ति मानते हैं, उन पर भी यह प्रश्न बसी प्रश्नर लागू होता है, (श्लोकवार्तिक स्फोट० ६१)। शबर स्वामी ने (सीमासा० १, १, ५) संस्कार की कल्पना करने पर अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ेगी, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्फोटवाद पर आक्षेप किया है कि शब्द की कल्पना करने पर संस्कार और शब्द दो कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं।

ये आक्षेप ठीक नहीं हैं। स्फोट की अभिव्यक्ति मानने पर विकल्प उत्पन्न नहीं होते हैं। इस आक्षेप के दो उत्तर हैं। एक मत यह है कि पहले वर्ण सुनने के समय स्फोट अभिव्यक्त होता है, दूसरे तीसरे आदि वर्ण निष्कल नहीं हैं। क्योंकि जो स्फोट पहले व्यक्त हुआ है उस ज्ञान को ही वे संस्कृत करते हैं। जैसे रत्नों के परीक्षक रत्न को पहले ही दूरान के समय उसे निर्मल आदि जान लेते हैं, परन्तु बार-बार उसकी परीक्षा करते करते अन्त में उनके हृदय में विद्युत् रजतत्व का ज्ञान प्रकाशित होता है। इसी प्रकार यहाँ भी पहले वर्ण के सुनने पर स्फोट की अभिव्यक्ति होने पर भी और स्फोट प्रतीति के लिए अन्य वर्णों का प्रयोग किया जाता है। वाक्यपर्याय १, ३५ ।

४—ध्वनियाँ स्फोट की व्यञ्जक हैं ।

दूसरा मत यह है कि ध्वनि ही स्फोट की व्यञ्जक है। उन ध्वनियों से अक्षरवद् स्फोट ही अभिव्यक्त होता हुआ वाह्य आदि स्थान करण के समान रूपी अपाधि से प्रभावित अनेकों ग आदि आक्षरों के विभागों से युक्त प्रतीत होता है। ध्वनि की अखण्डता के कारण वे काश्चनिक आक्षर को प्राप्त होते हैं। आश्रय भेद से असत्यरूप का भी प्रतीति होती है, जैसे कृपाण, मणि, दर्पण आदि व्यञ्जकों के भेद से मुँह क्रिया, लम्बा, आदि दिखाई देता है। नाद रूपी शब्द बीजा, मुरली, मूर्द्धग, मगागा आदि व्यञ्जकों के भेद से अनेकता को प्राप्त होता हुआ वीरता है। अतः वर्ण पारमार्थिक नहीं है, और न वे स्फोट के व्यञ्जक हैं। अतः समस्त या असमस्त आदि प्रश्न नहीं उठते हैं।

अपाधिभेद से प्रतिभासित होते हुए, असत्य आक्षर वाले वे अर्थघोष अन्वय ध्वनिरेक के साधन होते हैं। अतः यह जो कहा गया है कि शब्द कल्पना में दो कल्पना करनी पड़ती है, यहाँ पर तो एक गुनी भी कल्पना नहीं है दुगुनी को तो कहना ही क्या।

अतः स्फोटोत्पन्न शब्द से ही अर्थज्ञान होता है, वर्यों से नहीं, यह सिद्ध होता है।

५—स्फोट प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

वाकिक अनुमान प्रिय होते हैं। अतः उनके सन्तोष के लिए अनुमान द्वारा स्फोट की सिद्धि की गई है, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं। पारमार्थिक दृष्टि से वह प्रत्यक्ष ही है, शब्दों से होने वाले ज्ञान में जिसकी प्रतीति होती है, वह स्फोट ही है, वही प्रत्यक्ष है। यह क्या विचित्र बात कही जा रही है, वर्यो प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं, उनको तो अप्रत्यक्ष कहा जा रहा है और स्फोट को कि अप्रत्यक्ष है, उसको प्रत्यक्ष कहा जा रहा है। इसका समाधान यह है कि हम यह नहीं कहते कि वर्यो प्रत्यक्ष नहीं हैं, वे वास्तविक दृष्टि से नहीं हैं जैसे मुँह शीशे आदि के कारण लम्बा छोटा आदि दिखाई देता है, उसी प्रकार स्फोट उपाधि अर्थात् ध्वनि के कारण वर्यों के रूप में दिखाई देता है। शब्द वस्तुतः एक निरवयव है। अतएव यह एक पद है, यह एक वाक्य है, यह स्पष्ट प्रतीति होती है। जैसे कि व्यक्ति से अतिरिक्त जाति की सत्ता है और अवयवों से अतिरिक्त अवयवों की सत्ता है, इसी प्रकार वर्यों से अतिरिक्त पद है और पदों से अतिरिक्त स्फोट है। वही प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यदि यह कहा जाए कि जैसे सेना, वन आदि की तरह पद और वाक्य की सत्ता अवयवार्थ है, ता यह ठीक नहीं क्योंकि पापक ज्ञान के बिना उसे असत्य नहीं कह सकते। यदि यह कहें कि एकार्थकबोधकता रूपी उपाधि के कारण यह एकाकार बुद्धि है, तो प्रश्न यह है कि यह एकार्थ की प्रतीति कहाँ से और कैसे हुई।

पद और वाक्य की प्रतीति के आधार पर पदार्थ और वाक्यार्थ की प्रतीति होती है पदार्थ और वाक्यार्थ ज्ञान नामक कार्य की एकरा से पद और वाक्य बुद्धि एकाकार होती है, इस प्रकार यह इतरेतराभय बोध हो जाएगा। यहाँ तक आपाधिक ज्ञान का प्रश्न है, यह तो जाति और अवयवों के विषय में कहा जा सकता है। यदि जाति और अवयवों के लिए यह उत्तर दिया जाए कि बाधा और सन्देह से रहित प्रतीति की दृष्टा से उसको मानते हैं तो वही उत्तर पद और वाक्य के विषय में भी है। अतएव पदबुद्धि का पदस्फोट और वाक्यबुद्धि का वाक्यस्फोट विषय है। इस प्रकार स्फोट प्रत्यक्ष ही है, पदस्फोट से पदार्थ का ज्ञान होता है और वाक्यस्फोट से वाक्यार्थ का।

६—वाक्यस्फोट की सिद्धि।

यहाँ पर प्रश्न यह है कि निरवयव स्फोटारमा शब्द है। वाक्य भी शब्द है। उसके पदरूपी अवयव नहीं होने चाहिए। यदि उसके पदरूपी अवयव हैं, तो पद के भी बर्णरूपी अवयव मानने चाहिए।

ध्वनि रूपी उपाधिभेद के कारण हुए वर्णभेद के आभास से विचलित बुद्धि वालों को समग्रान के लिए अत्यन्त पदस्फोट दिखाया गया है। वस्तुतः वाक्य

का अवयव परस्कोट है ही नहीं। अक्षयव वाक्य ही अक्षयव वाक्यार्थ का बोधक है। जैसे पद के अवयव नहीं हैं, वैसे प्रकार वाक्य के अवयव पद नहीं हैं, इसीलिए कहा गया है कि "वाक्य में पदों की असत्ता के कारण वाक्यार्थ में पदार्थ की सत्ता नहीं होती है। वाक्य और वाक्यार्थ अक्षयव है। यदि अवयवों की कल्पना करेंगे और वाक्य के अवयव पद होंगे तो उसी प्रकार पदों के वर्ण हैं और वर्णों के भी अवयव होने चाहिये उनके अवयवों के भी और अवयव मानने पड़ेगे। इस प्रकार अनन्तता हो जाने से क्या व्यवस्था होगी? यदि वर्णों पर आकार अवयव की कल्पना से रुकना है तो वाक्य पर ही रुकना ठीक है। एक घटना के आकार वाली वाक्यार्थ युक्ति होती है, वह वाक्य से ही हो सकती है। व्यवहार करने वाले वृद्धों के व्यवहार से ही शब्दार्थ को जानते हैं। कुछ व्यवहार में केवल पदों का प्रयोग ही नहीं होता है, क्योंकि पद व्यवहार का साधन नहीं है। वाक्य का ही प्रयोग होता है, उसी का ज्ञान होता है उसी से अर्थ की प्रतीति होती है। अवयव का आभास अस्मात्त है। अर्थ भी वाक्य का एक ही होता है जैसे नरसिंह, कृष्णसर्प, राक्षसुरूप आदि। इनमें दोनों भागों का पूरक कोई अर्थ नहीं है।

इसी प्रकार पदार्थ से अन्य वाक्यार्थ है, जैसे पेय पदार्थ आदि। पेय ठाढ़ा शकर, नागकेसर, मिर्च आदि से घृण्ण ही पदार्थ होता है। सिन्दूर, हड़ताक, लासा रंग आदि से चित्र घृण्ण होता है, पद्म श्याम गाम्भार आदि से रोग घृण्ण है, इसी प्रकार पद से वाक्य और पदार्थ से वाक्यार्थ घृण्ण है।

७—वाक्य के अवयवों की असत्पता।

यदि वाक्य एक है तो उसमें उसके अवयवों का ज्ञान क्यों और कैसे होगा। इसका उत्तर यह है कि यह कल्पना मात्र है, वास्तविक नहीं। एक राज्य के हट जाने से उस अर्थ का कम होना और एक राज्य के बढ़ने से उस अर्थ की वृद्धि देखने से अवयवों को वास्तविक मानना चाहिए, यह कल्पन ठीक नहीं है। कृप, सूप, यूप में एक अक्षर के हट जाने से भी अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। इसलिये प्रकृति और प्रत्यांश रूपी असत् पदार्थ की कल्पना वाक्यार्थ ज्ञान के उपायरूप में ग्रहण की जाती है, वस्तुतः वहाँ प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ नहीं है, जैसे अरबकर्म (एक औपधि का नाम) में अ अरव का अर्थ है और न कर्म का। असत्य का भी आशय सत्य की प्राप्ति के लिए लिया जाता है, जैसे लिपि क अक्षर असत्य हैं, परन्तु वे सत्य अर्थ का ज्ञान कराते हैं। यदि यह कहें कि वे अपन स्वरूप से सत्य हैं, तो यह ठीक नहीं। रेखात्मक से वे अर्थ का बोध नहीं करा सकती। यह ग है, इस प्रकार की रेखाएँ अथ वतान के साधन हैं, वे रेखा रूप से सत्य हैं, उस रूप से वे अर्थ का बोध नहीं करा सकती, और जिस रूप से अथ का बोध कराती हैं उस रूप से वे सत्य नहीं हैं।

यदि यह कहें कि प्रकृति प्रत्यय आदि अर्थ भी वस्तुतः सत्य हैं, क्योंकि वेसी ही प्रतीति होती है और वे इस अर्थ का बोध कराते हैं, तो यह कल्पन ठीक नहीं

है, व्याख्यान भेद से उसके स्वरूप की इयशा का निरन्तर नहीं हो पाता। 'भवति' (है) में कोई मानते हैं कि भू भातु है कोई मानते हैं कि इसमें 'भव' भातु है। कोई कुछ यातु बणाता है, कोई कुछ, कोई एक प्रत्यय बणाता है, दूसरा और। अतः वास्तविक कौन सा प्रकृति प्रत्यय विभाग है, कोई नहीं। यह प्रकृति है यह प्रत्यय है, यह केवल कल्पना है।

इसी प्रकार वाक्यार्थ की कल्पना से ही पदार्थों का विभाजन करते हैं। अतएव भवहरि ने कहा है कि जैसे पद में से प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना करके उनका अपोहार (विभाजन) किया जाता है, इसी प्रकार वाक्य में अपोहार से पदों की कल्पना की गई है।

कोई पदों की सख्या दो मानते हैं, कोई चार और कोई पाँच। कोई नाम और आख्यात कोई इसके साथ अपसर्ग और निपात और मानते हैं, कोई पञ्चम कर्मप्रवचनीय भी मानते हैं।

पदं कैश्चिद् द्विधा मित्स्व यत्पूर्वा पञ्चधाऽपि वा ।

अपोहृत्येष वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिषु ॥

वाक्य० ३, १।

यदि पद पारमार्थिक होते तो निरिच्छ और असंदिग्ध उनका रूप होता। परन्तु उसमें अनिरिच्छता संदिग्धता आदि है। कहीं पर पदी सज्ञा का रूप है कहीं वही क्रिया का रूप है। अतः पद का कल्पना ही है। वास्तविक नहीं। जैसे अरब (घोड़ा) कर्ता है। अरबः (गया) रिष भातु का लुक् सम्प्रसारण एकवचन का रूप है 'ति' (ये सब ये दोनों, तेरे लिए, तेरा आदि) 'अजापय पीयताम्' (बकरी का दूध पी) और 'अजापयस्व राजामम्' (तुने राजा को जिताया) में अजापय एक अज्ञान नाम पद है, दूसरे स्थान पर किया पद। 'अज्ञानवृत्तिनागा' का विभाजन कैसे किया जाय, ज्ञात नहीं होता। इसके तीन विभाजन हो सकते हैं, १—तु काले हाथी से गया, २—समय पर नाग अर्थात् हाथी पिपाइते हैं, ३—समय पर नाग अर्थात् सर्प ध्वनि करते हैं। इस अनियम से ज्ञात होता है कि पद पदार्थ का विभाग सत्य नहीं है।

८—स्फोट प्रश्न है।

यदि पदों में अर्थ नहीं है, वाक्यों में पद नहीं है, तो महावाक्यों में अन्तः पद वाक्य नहीं होने चाहिए। इस कथन से क्या लाभ? प्रकरण आदि की अपेक्षा महावाक्य भी वास्तविक नहीं होंगे, इससे क्या लाभ? शास्त्री अपेक्षा प्रकरण भी नहीं होंगे इस कथन से भी क्या लाभ? अन्त में एक ही यह शास्त्रवत्त्व शास्त्रवत्त्व अविभाग अद्वितीय स्फोटरूप में शेष रहता है।

हाँ यदि सत्य पूछना चाहत हो और सत्य तत्व को जानते हो तो शास्त्र-मध्य ही यह अद्वितीय, अनादि है, वही अविद्यानासना के कारण मिथ्य होकर अर्थ रूप

में परित्यक्त (विकसित) होता है। वाचक पृथक्-पृथक् नहीं है। इसलिए वाच्य वाचक का विमल काल्पनिक है। विद्या की प्राप्ति का साधन अभिधा ही है, अतः अभिधा का आश्रय लिया जाता है। मनु हरि ने अतपत्र कहा है :-

अनादिनिघ्नं ब्रह्म शब्दतत्त्व यदक्षरम् ।

विद्यतेऽर्थाभावेन प्रक्रिया अगतो यत् ॥

११ वाक्य० १, १ ।

संसार में वाक्-रूपता (वाक्यत्व) ही तत्त्व है। सारे ज्ञानों में वही अन्तः-प्रविष्ट है। अतः मनु हरि ने कहा है कि यदि ज्ञान में से वाक्यत्व निकल जाय तो संसार में कोई प्रकारा प्रकाशित नहीं हो सकता है। वही प्रकारा है। (वाक्य० १ १२५)। मनु हरि ने इसका साक्षात्-रूप प्रतिमा माना है। प्रतिमा संसार के जिस तत्त्व से निकल पाती है, वह तत्त्व कभी प्रकारातुल्य, तेजस्वी नहीं हो सकता है।

वह वाक्यत्व संसार में तीन रूप से व्यवस्थित होकर प्रकाशित हो रहा है। इसके नाम हैं, बैसरी, मध्यमा, और परमन्ती। इनमें से स्थान चरण और प्रत्यक्ष के क्रम से व्यक्त होती हुई ग आदि वर्णसमुदायरूपी जो वाक्य है, उसे बैसरी कहते हैं, विलर का अर्थ है देह और इन्द्रियों का समूह, इसमें उत्पन्न हुई जो बैसरी कहते हैं। इसीलिए कहा गया है कि कंठ वाक् आदि स्थानों में वायु के विक्षुब्ध होने पर वर्णरूप को ग्रहण करके मयोच्छ्र के मुख से जो वाणी निकलती है, उसे बैसरी कहते हैं। प्राणवृत्ति इसके बन्धन का आश्रय है जो अक्षर संक-स्थालक क्रमबाही है, जिसको बुद्धि ही ग्रहण करती है, वह मध्यमा वाक् कही जाती है। वह प्राणवृत्ति को अतिक्रमण करके रहती है।

जो मेष क्रम आदि से रहित, सूक्ष्म अविनाशनी केवल स्वप्रकारात्-प्रयोजि जो कि सृष्टि में सवत्र व्याप्त है, उसको परमन्ती कहते हैं। न्यायमंजरी, पृष्ठ ३३७-३४३ ।

अभिमागात् तु परमन्ती सवत्र संहृतकमा ।

स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा बागजपायिनी ॥

वाक्य० १, १४४ की टीका

उपसंहार

मनु हरि ने जिस शब्दब्रह्म की अपने त्रिकलत्रात्मक वाच्यपदीय में व्याख्या की है, वही का विकसित अर्थब्रह्म है। एक ही आत्मतत्त्व के दो अविनाभाव से रहने वाले ये युगल हैं। यही सृष्टि में स्कोन् और ध्वनि दो रूपों से प्रत्येक अणु में व्याप्त हैं। शब्द ब्रह्म की प्राप्ति का साधन अर्थब्रह्म है। दोनों में से एक अंश की भी स्थूतता होने से सृष्टि की स्थिति नहीं रह सकती। पतञ्जलि और कात्यायन ने इस शब्दब्रह्म को 'सिद्धेश्वरार्थसम्बन्धे' कह कर व्याख्या की है। यह

सिद्ध है नित्य है। सारे वेद सारे दर्शन सारे शास्त्र और सृष्टि का सारा साहित्य उसी की प्राप्ति के लिए है। वही राष्ट्र है वही अर्य है, वही सृष्टि के प्रत्येक अणु में सम्बद्ध है। वेदों ने उसको व्याख्या वाक् नाम से की है। वही ज्ञान है, वही ब्रह्म के द्वारा ज्ञान भेष और शांता रूप को प्राप्त हो गया है। यह स्फोटरूप से प्रत्यक्ष है, वह ध्वनिरूप से लक्षित होता है। प्रत्येक दर्शन ने उसको विभिन्न दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। सबका भाव एक है, सबका सार एक है, सबका लक्ष्य एक है, सबका द्रष्ट वही है। उपनिषदों आदि ने उसे नेति नेति कह कर समझाया है। पाणिनि ने उसे 'अ अ' कह कर समझाया है। पाणिनि ने उसे ही अर्ययुक्त बताया है, वही सार्यक है। वह न घातु है, न प्रत्यय, वह न प्रकृति है न जीव, वह अक्षिग निष्कृत्य, अकम, असण्ड, अव्यय है। उसी से इस अर्थ का विकास है। उसे पाणिनि ने प्रातिपदिक नाम दिया है। यह प्रत्येक पद में है। वही संज्ञा है, और वही सत्री है। वह सुबन्त और तिङ्न्त है। वह आकृति और द्रव्य है। वह जाति और व्यक्ति है, वही प्रस्तुत विषय का विषयी है। उसी की व्याख्या इम प्रत्यय का लक्ष्य है। यह सबके लिए ध्रुम हो मुसकर हो।

अथवद्घातुरप्रत्यय प्रातिपदिकम् । पाणिनि, १, २, ४५ ।

इत्योम्

अनुक्रमिका

अनुक्रमणिका (क)

सामान्य-अनुक्रमणिका

(अंक पृष्ठ-सूचक हैं)

अ

अक्रम के तीन रूप ३६६
 अक्षर ४, ९, १७ २०
 अक्षर तत्व २, २४, ३१, ३३, ४१
 अक्षर समाप्ताय २४
 अक्षरव्यय १ ८
 अर्थ ६
 अक्षरस्वार्था लक्ष्य २५६
 अक्षरस्वार्था वृत्ति ३ २
 अणु (पुरुगण) ४
 अणुतत्व ३३, ३३
 अणुतवर्णन १८३, ३५२
 अणुतात्मविज्ञान १ १७
 अणुता २२, ८५, ८६, १७२ २२८
 अनात्मवाद २१२
 अमित्व में क्रम नहीं हो सकता ३१७
 अनुमान प्रमाण १८७
 अनुवृत्ति २६४
 अभ्यय ६३, १५७, २१८
 अभ्यवम्बतिरेक ६३ १५७
 अभ्यवम्बतिरेक से अर्थनिश्चय २७
 अभ्यवम्बतिरेक समाधिगम्य ६२, ६३
 अश्विठाभिधान ३ ८, ३०६, ३१०
 अश्विठाभिधान पक्ष ३२७, ३२८, ३३६
 ३३८
 अश्विठाभिधान पक्ष का स्वयं ३४२
 अश्विठाभिधानवाद १४ ३२५, ३२८, ३३१,
 ३३६

अपोहार २१८, २१९, ३६४, ३८५, ३९६
 अपोहार पर्याय २१८, २१९
 अपोहार से मंत्र ३६३
 अणु ७६ २१२
 अपोहवार १८७, १९९, २१ ३१४
 अपोहवार का इतिहास २१
 अपोहवार का स्वरूप २१२
 अमिबन्धत्व ८५, ८६
 अमिषा ७, २३७-२३९, २५५ २६१
 अमिषा में चार तत्व २३९
 अमिषा में बल का स्थान २३९
 अमिषा शक्ति २३९, २४९
 अमिषा शक्ति का विवेचन २३८
 अमिषाशक्ति की स्वतन्त्र छटा २४
 अमिषेव ६३
 अमिनय १५५
 अमिनय की अर्थबोधकता २२५
 अमिष्यक्ति में नियम की छटा ३७४
 अमिष्यक्तिवाद पर आक्षेपों का समीक्षण
 ३७४
 अमित्तित ६५
 अमिषिताम्बय ३ ८, ३०६, ३२७
 अमिषिताम्बयपक्ष ३२४ ३३
 अमिषिताम्बयवाद १३, ३२८ ३३६ ३३७
 अमिषिताम्बयवाद का स्वयं ३३४
 अमिषिताम्बयवादियों का मत ३२८
 अणुपयोगवाद १८६
 अरबी मापा १९

अर्ध १५३, १७३
 अर्ध अस्वातन्त्र्य है ८३
 अर्ध अमित्य है ८०
 अर्ध अनिश्चित है ८८
 अर्ध अनिश्चित और अपूर्ण १११
 अर्ध अनुमेय है ६१
 अर्ध अपूर्ण ११२
 अर्ध अक्षयवी है ८४
 अर्ध अवैज्ञानिक है ११४
 अर्ध अनर्बतुष्टिमान् है ८७
 अर्ध अतरय है ८५
 अर्ध अस्तब्रह्मण्डि (मुख्य) ११३
 अर्ध आकार का मी बौद्ध ८४
 अर्ध, आठ प्रकार का ६३
 अर्ध एक ही निश्चित नहीं १६
 अर्ध का क्रियाओं में प्रयोग २३५
 अर्ध का लक्षण ७३
 अर्ध काल्पनिक है ६१
 अर्ध का स्वरूप ७७
 अर्ध का स्वरूप प्रतिमा ३
 अर्ध की अनिश्चितता ८१, ८२
 अर्ध की अनुकूलमिष के ३ कारण २२२
 अर्ध की अनुमेयत्व्यता १ म
 अर्ध की अपूर्णता ८४
 अर्ध की अस्पष्टता ११५
 अर्ध (बाह्य) की आक्षेपकता १८५
 अर्ध की नैकालिक तता १७६
 अर्ध की परिवर्तनशीलता ८१, ६८
 अर्ध की प्रमानता ८३
 अर्ध की मुख्यता २३५
 अर्ध की शब्दरूपता १६४
 अर्ध के विषय में १२ मठ ८२
 अर्ध के विषय में मनु द्वि ८२
 अर्ध के १६ लक्षण ६६
 अर्धमह की मनावैज्ञानिक प्रकृति १८६

अर्ध चार प्रकार का ७८
 अर्ध की अनिश्चितता १८
 अर्धज्ञान के अनुहार परिवर्तनशील ८३
 अर्धज्ञान के साधन २१६, २१७
 अर्धज्ञान में विज्ञ २२१
 अर्धज्ञान प्रतिमा के अनुहार २२६
 अर्धज्ञान शब्द के द्वारा ७८
 अर्धतत्त्व १, १६, २० ५४
 अर्ध तीन प्रकार का ६९, २५३
 अर्ध, दृश्य और अदृश्य १८५
 अर्ध दो प्रकार का ७७
 अर्ध-नित्यता ७८
 अर्ध निराकार है ८३
 अर्धभिन्नत्व के साधन १३६
 अर्ध-निश्चय के साधन १५१
 अर्धपरिवर्तन १९६
 अर्ध परिवर्तनशील है ८७ ६२
 अर्ध (बाह्य) पर आक्षेप १८१
 अर्ध बौद्ध है ८९, ८८, १७६, १७८
 अर्ध बौद्ध और बाह्य दोनों ८८, १७५
 अर्धमेद १२६ १३४
 अर्धमेद, अक्षरयामेत् से १२८
 अर्धमेद, उपसर्ग संयोग से १३०
 अर्धमेद, औचिरय से १२८
 अर्धमेद, कालमेद से १२८
 अर्धमेत्, वैद्यमेद से १२८
 अर्धमेत्, प्रहरयामेत् से १२७
 अर्धमेद, लिंगमेद से १३३
 अर्धमेत्, समाप्त के १२६
 अर्धमेद से शब्दमेद २४१
 अर्धमेद स्वरमेद से १३३
 अर्ध बला की दृष्टा के अनुकूल ६७
 अर्धविहात १७, ६८, ६६, १ ६ १२६
 २ ६
 अर्धविहात, अर्ध की अस्पष्टता से ११६

अपविकास की तीन धाराएँ १००	आ
अपविकास के कारण १८	आकाश गंगा ५२
अपविकास के तीन स्वरूप २६	आकांक्षा ३ ५
अपविकास, मानवमूलमण्डलन से १९५	आकृति ६
अपविकास, लक्षणा से ११७	आयनात १२, १५, २१२, २५६, २७७, ३०६
अपविकास, ध्वन्य प्रयोग से १२७	आबानिक (संकेत) १५३
अपविकास सादर्य से ११७	आत्मचार २११
अपविकास, सांस्कृतिक विकास से १२३	आत्मस्मृति ३ ५
अपविकान, साहचर्य से १२०	आत्मा ५, ५
अपविकान १ ३, ५ २०, ५, २३, १६, , १६८, २०७, ३४६	आधुनिक (संकेत) १५३
अपविकान क्या है १ ३	आत २२
अपव विषय पर पुष्यराज २३	आतषास्त्र २२०
अपव-विस्तार १०, १ ५ १ ८, ११८	आतोपदेश १५६
अपवपदेश्य २४	आवरण ३५२
अपव व्यावहारिक है, वैज्ञानिक नहीं, ११३	आवाप २५, १६२, २१७
अपवशास्त्र २४६	आवधि ३ ५
अपव शब्द से अभिन्न ७७	इ
अपव शोभा की बुद्धि के अनुकूल ८६	इरास्त्रियन माषा १६
अपवसंकोच २६ १ ३, १२१	इन्द्र ५
अपव संसर्ग कम है ८५	ई
अपव सर्वशक्तिमान् है ८७	ईश्वर ३५२
अपव साकार है ८३	ईश्वर संकेत में शक्ति का लक्षण २८२
अपव, स्तब्धगति (गीष्) ११३	उ
अपवदेश २६, १, २ ५, १ ६ ११८	उपनीय ३५
अपवपति १६५, १६२, ३६२	उर्गीष् ५६
अपवपति से अपविकान का र्णन १८३	उद्देश १७५
अपवोपपत्ति के विषय में दुर्गाचार्य २३२	उद्धार २५
अवृत्तिपक्ष ३ २	उद्योग ३ ६
अव्यक्तवाक् २६	उद्वाप १६२, २१७
अव्यक्त में कम है १ ३७२	उपकार-उपकारक सम्बन्ध १६७
अव्यक्तमू २५	उपग्रह १३२
अव्यक्तमू ६	उपदेश १७२
अव्यक्तमवेद ताव ११६	उपमान ११६

उपसर्ग १२, १५, २६४, २६५, २७७
 उपसर्ग और कर्मप्रबन्धनीय में मेहर १७८
 उपसर्गों का अर्थ २७९
 उपसर्गों की अनर्थकता २७९
 उल्लापि का विवरण २५४
 उदू माया १६०

शु

श्रुततत्त्व ४२
 श्रुतम १८९
 श्रुतित्व का अभिप्राय २९

ए

एकवाक्य १ २

औ

औचित्य १५४
 औत्पत्तिक १९२
 औत्पत्तिक छटा २५१
 औपाधिकी २५२

क

कसक भाषा १६
 कर्मप्रबन्धनीय २७७
 कर्मप्रबन्धनीय का अर्थ २७६
 कर्ममेह १८८
 कर्ममार्ग (कर्मयोग) ५, ११
 कर्मविज्ञान ९
 कला ३१
 कल्प १६ १७
 कारक ११७
 कार्यकारण्य संकल्प १६७, १७१
 कार्यानुमान १६२
 कालपुरुष १५
 कुमारिश्च आदि की बुद्धि १८८
 कौपीन १
 कर्म १८५
 कर्म को मानने पर बर्णवाद नहीं १६१
 कर्म क्या है ? १२१

कर्मपक्ष का मावार्थ ११२
 क्रिया और कारक का अभिन्न संकल्प ११७
 क्रिया का स्वरूप २७२
 क्रिया की वाक्य में प्रधानता १४०
 क्रिया प्रधान है, कारक गौण ११७
 क्रिया-रहित वाक्य नहीं १४
 क्रिया वाक्यार्थ है १४०

ध्विकवाच २१०

श्रेय २७

श्रेयस २७

ख

खरहण्य १ ८

ग

गन्धर्व ४७
 गुण आदि वाति है १२४
 गो ६६
 ग्रीक माया २ ८

घ

घाघ १०४

ञ

अहस्तकार्या का लक्षण १२९
 आतमेदव् ५२, ५१
 जाति ३, ११
 जाति का स्वरूप २८२
 जाति इष्ट में प्रायश्चित्ति २८२
 जाति अक्षरूप है २८१
 जाति महात्मा है २८०
 जातिरूप अर्थ से निश्च संकल्प २०२
 जातिवादी वैमिनि २६१
 जातिवादी वाक्यपानन २८
 जातिशक्तिवादी कुमारिलमह २६२
 जातिशक्तिवादी प्रभाकर १६५
 जातिशक्तिवादी मंडनाचार्य २६९
 जातिशक्तिवादी भीकर २६९
 जाति तत्त्व है २८७

- बीज ३५२
 ज्ञान ३०६
 ज्ञानमार्ग १, ३३
 ज्ञानयोग ५, ५६
 ज्ञान व्यावृत्ति और अनुस्यूतात्मक २३४
 त
 तन्त्र ४, ५
 तन्त्र तंत्रि १२
 तन्त्र, दो नहीं २०८
 तन्त्रमार्ग १००, १५८
 तन्त्रमीमांसा ११०, २३८, २५३
 तन्त्राह्वय ११०, २५८, २५९
 तन्त्रपत्रा ११० २५८-२५९
 तन्त्र ३८५
 तात्पर्य ३ ९
 तात्पर्यज्ञान ३ ५
 तादात्म्य २२३
 तामिस्र भाषा १९
 शिक्षा प्रणालियों का अर्थ २०१
 तेलुगू भाषा १९
 त
 पोषक २६१
 इन्द्र ४, ५, ६, ३३, १०८, १०९
 इन्द्र अतिवैश्वनीय है २९
 इन्द्र का स्वरूप १०८
 इन्द्र, दो प्रकार का १०८
 इन्द्रकर्म अर्थ से निरुक्त संबन्ध २०४
 इन्द्रिन्द्र भाषा १९
 ईश्वर ३
 इ
 बाण का अर्थ २०१
 बाण का अर्थ महावृत्ता २००
 बाण उद्गम और अद्गम २०३
 धेनु १ १
 धनि ४ ८, १६, १८, १९, ३४, ४८, ७१
- ७३, ११०, १४९ १५०, १५८, १८८,
 १९०
 धनिकाभ्य ८
 धनि के गुणों की स्पष्ट में उपलब्धि २३३
 धनितत्व ७३१
 धनि, दो प्रकार की (प्राकृत, वैकृत)
 ११४
 धनि प्राकृत और वैकृत १६, १७
 धनिमेद में एकता ३०१
 धनिमेद से व्यावहारिक कार्य ३०५
 धनियिज्ञान १ ३
 धनि से कितना संस्कार होता है ? ३१६
 धनि स्पष्ट का अर्थक ३९३
 धनि ही विनाई देती है ३००
 न
 नए शब्दों का आग्रह १५
 नागेश का कैवल्य बुद्धिवाद १०२
 नाद ६४
 नाद का स्वरूप ३०६
 नानार्थक २४१
 मान्दरीयक १५
 नाम ५, ९ १२, ३५, २६३ २६५
 नाम, एक के अनेक १३०
 नामकरण १ ३, १३७, १३९ १४२
 नामकरण का महत्त्व १३६
 नामकरण के विषय में बात १३८
 नामकरण के विषय में वैवाकरण १४१
 नामकरण पर पांडित्य १४६, १४८
 नामकरण पर भद्र हरि १४१
 नामकरण में अक्षर का महत्त्व-१४१
 नाम, कार्य के अनुस्यूत १३०
 नाम का लक्षण १३८, १५१
 नाम कैसे पड़ते हैं १४५
 नाम बाहुल्य है १३९
 नाम प्रवाह से प्राप्त हैं १३८

नाम, वीगिक १३८	पदार्थ २३२
नामार्थ के नियम में पाँच मत २३७	पदार्थ, चार प्रकार का ३६
नामों की सायकता १४८	पदार्थ जाति है या व्यक्ति २७६
नामों (व्यक्तियों के) पर एक दृष्टि १४६	पदार्थ वाक्यार्थ है ३२६, ३३१
नित्यवाद का दार्शनिक रूप २०६	पदार्थ विचार २६६
नित्यवाद का स्पष्टीकरण २ २	पदार्थ से मिला वाक्यार्थ ३४४
नित्य शब्द का स्वरूप ३३३	पदार्थ ३४, ३५
नित्यशब्दवाद ३४४	परमार्थ संनिस्तानुशा ४४
निपात ३५, २६५	परमेष्ठी ११, ४६
निपात और उपसर्ग में अन्तर २६७	परा ५, ३७, ३९
निपात चोक्त और अपक दोनों २७८	परिच्छिन्नतत्त्वविपर्याय ६४
निपातों का अर्थ २७७	परिच्छिन्नार्थ प्रत्ययमात्र ४०
नियोग ३ ६	परिचाम १८
निरुद्ध लक्षणा २५६	परिचामवाद १८, १८
निपाद ३८६	परिशेषानुमान ३६२
नैमित्तिक संज्ञा २५२	पुत्र ३ १ १
नैमित्तिकी २५२	पुत्रो मापा १६
नैर्वायिक ७६, १६३, २५१, २६६, ३ ५,	पुत्रवन्ती ५, ११, ३७ ४, ४२, ६३,
३११, ३८२, ३८०	३६७
नैर्वायिकों और मीमांसकों के आक्षेपों का	पारमार्थिक लक्षणा ३५२
कारणन ३८८	पारती १६०
प	पारिभाषिक संज्ञा २३३
पंचकोश ५६, ३८	पारिभाषिकी २५२
पक्ष ४७	पुद्गल ४, ७४
पद २६२	पुरुषतत्त्व ३१ ४१
पदकार ३१२	पौद्गल ७६
पद, चार प्रकार का ३६ २६१	प्रकरण १५३ १५७, १५८
पद, दो प्रकार का २६१	प्रकाश ६८
पदमूर्ति ३१२	प्रकाशवर्षी २३४
पदवाद का लक्षणन ३८७ ३८८	प्रकृति ५, ७ २८
पदवारी वैवाकरणों के पाँच आक्षेप ३८७	प्रकृति के दो भेद २३१
पदविन्यास की उपवागिता ३२३	प्रकृत्या १२
पदविभाग २६२, २६३	प्रज्ञापति ४६
पदस्त्रोत्र १३, १४	प्रज्ञा ३१
पदस्त्रोत्र के प्रश्न का मूल ३११	प्रतिज्ञाव्यति ६९, ६३

प्रतिमा ३, १९, १९, २३, २९, ३४, ३०६,
३४८, ३९७

प्रतिमा का दृश्यरूप क्रिया ३४

प्रतिमा का नाम स्फोट ४-

प्रतिमा का फलार्थ से पुण्यक अस्तित्व १४

प्रतिमा का भाषा ३४७

प्रतिमा का मूलकारण शब्द ३४७

प्रतिमा के अनेक नाम ४, ३०, ३२

प्रतिमा ६ प्रकार की ३४७

प्रतिम तारे क्यौं वाली ३४६

प्रतिमा स्वभावविद् ३४७

प्रतीकवाद २ ३

प्रतीत्यंतमुत्पाद २१० २११

प्रतीयमान ६५

प्रत्यय, चार प्रकार के २६८

प्रत्यय वाचक और श्लोक २६९

प्रत्ययों का अर्थ २६८

प्रबोद्धन ३०९

प्रचारनित्यता ७९

प्रकृति १९

प्रशान्तवर्षार्थ प्रारम्भमास ४०

प्राकृत और वैकृत ध्वनिबो में भेद ३७७

प्राकृत ध्वनि ३६५

प्राकृतत्व ३९, ५५

प्रासासन ३६

प्रातिपदिक ६ ३७९, ३९८

प्रातिमायिक लता ३५९

प्रायचीय ३६

फ

फारसी भाषा १९०

ब

बदि १९७

बर्बर १९

बाह्यवाद १८९

बिन्दु ६४

बीज ६४

बुद्धि के गुण १

बुद्धत्वात् ३७

बीज २९४

बीजों द्वारा प्रत्यय का लयजन १९९

ब्रह्म ४ ५, ५, ६५

ब्रह्मगनी ५०

ब्रह्मलक्ष ३१

ब्राह्मण ३६, ३७

म

मनु हरि और बाह्य अर्थ १८४

मनु हरि का समन्वयवाद १७९

मावतत्व के ३ विचार २८८

मावना ३ ६ ३४९, ३४९

मावना के विषय में मतभेद ३४९

मावनाभेद से अर्थभेद ३४४

मायाविकास २ ६

मायाविज्ञान ४३ १९ २०९, २ ८

मायाशास्त्र ३८, ४६, २४६ २४८

भेद ३८५, ३८७

भौतिकविज्ञान १, १७

भ्रातृभ्य १००

म

मध्यम ३८६

मध्यमा ५, १, ३७ ३९, ४२, ३९७

मन का स्वभाव ३९

मनस्तत्व १९, २८

मनोविज्ञान १, १७

मन्त्र ३६ ३७

मन्त्रशक्ति १ १

महावाक्य ३ २, ३८६

महाव्य हति ११

महालता ही क्रिया और इन्द्र २८७

माध्यमिन् लयन ३६

माया ५५, ३५९

मीमांसक २६१, ३११, ३८६
मीमांसकों की वा शालाएँ ३२८
मेवातस्व ३१

य

बह्वस्त्रा अर्थ ३८
बह्वस्त्रा शब्द ३८, २४४
बह्वस्त्रा शब्द और व्यक्ति का महत्त्व २४४
बम १
यजन १६०
योगकृत २४१
योगकृति २४६, २४
योग्यता ३०४
योग्यतासंबन्ध १६७, १६८, २६५, २५७
योग्यता संबन्ध में संकेत का स्थान २६६
योगिक १०३, २४६-२५१
योगिककृत २५०

र

रघुन्दर राम ३७
रमितस्व २४
राजनीति शारदा २४६
रुद्र १, ३, २५१, २५२
रुद्रवीगिक २५२
रुद्रशब्द, तीन प्रकार का २५२
रुद्रि २४६
रुद्रिशक्ति २४६
रूप ५, ६
रोमन भाषा १६

ल

लघुक २५१
लक्षणा ७, ११७, ११८, २३७, २४१,
२४५-२५८, २६१
लक्षणा का लक्ष्य २५५
लक्षणा का विभजन २५३
लक्षणा के कारक २५७
लक्षणा के मेर २५६

लक्षणा, दो प्रकार की २५६
लिंग १५६

लिंगि की अर्थबोधकता २५३
लैटिन भाषा १०८
लोकम्बवहार १६९, २१६

व

वर्ष ६, १७
वर्ष अर्थबोधक नहीं ३८६
वर्ष आदि तावम हैं ३७१
वर्ष और पर शब्द नहीं ३२४
वसुधा ३८५
वर्षरुद्रो १३
वर्ष रुद्रो के अर्थ ३६३
वर्षों का अर्थ मही होता २७
वस्तु १७३
वस्तुमान ६१
वाक् ३६८
वाक्त्व ३, १९, २, २३, २५, १८, ३४
३७, ४१, ४७ ५०, २ १ ३६७
वाक्त्व, अथेतनों में मी १८
वाक्त्व का आत्मविवेचन २४
वाक्त्व, अर्थ के समान २८
वाक्त्वयी ४, ५१
वाक्य ५, १६, ४९, १५५, २६६
वाक्य एक अक्षर शब्द है ३१५
वाक्य एक और अक्षर ३१३
वाक्य, एक क्रियापद मी ३१५
वाक्य और पर कितने करते हैं ? ३२४
वाक्य और वाक्यार्थ का संबन्ध ३११
वाक्य और वाक्यार्थ में अर्थबोधता ३१८
वाक्य का अर्थ क्रिया ३१६
वाक्य का अर्थ, प्रमाण ३१३, ३१४
वाक्य का अर्थ प्रतिमा ३४४
वाक्य का अर्थ भावना ३४१
वाक्य का अर्थ संतर्ग ३३०

- वाक्य का लक्षण १, १८, ११०
 वाक्य का वाक्यार्थ रूप में विवर्त ११७
 वाक्य का स्वतन्त्र अस्तित्व १५
 वाक्य के प्रवचन की अनस्यता १२५
 वाक्य के आठ लक्षण १७
 वाक्य के लक्षण (अक्षरव्यपञ्च) १११
 वाक्य के विषय में नैयायिकों का मत ११०
 वाक्य के विषय में बौद्धों का मत ११
 वाक्य, क्रियावाचक शब्द १२४
 वाक्य, पदसमूह ११८
 वाक्य, पदसमूहगत जाति ११५
 वाक्य, पदों का क्रमविशेष ११२
 वाक्य विना क्रियापद का भा १२१
 वाक्य, बुद्धिगत समन्वय ११८
 वाक्य में अनेकों क्रियाएँ भी १२०
 वाक्य में एक तिक्त पद ११८
 वाक्य में क्रियागुण १२२
 वाक्य में क्रिया मूलतत्त्व ११०
 वाक्य में पद कल्पित हैं ११४
 वाक्य महावाक्य का अर्थ १११
 वाक्य शक्ति, प्रत्येक शब्द में ११६
 वाक्य-शेष २२१
 वाक्य-संज्ञा १२
 वाक्य, वाक्याङ्ग प्रथमपद १२५
 वाक्य सर्वाङ्ग लारे पद १२५
 वाक्य से प्रतिभा का प्रभाव १४६
 वाक्य से ही अर्थज्ञान २५१
 वाक्य से ही वाक्यार्थ का ज्ञान ११५
 वाक्यरूपेण १११
 वाक्यरूपेण की विधि १८४
 वाक्यरूपेण के प्रश्न का मूल १११
 वाक्यरूपेण ही लक्ष्य है १८
 वाक्य ही लक्ष्य है १५४
 वाक्यार्थ १६, २८८
 वाक्यार्थ अक्षरव्यपञ्च ११४
 वाक्यार्थ के विषय में बौद्धों का मत ११०
 वाक्यार्थ के विषय में विभिन्न मत १०६
 वाक्यार्थ ९ प्रकार का १८
 वाक्यार्थ, प्रतिभा १४५
 वाक्यार्थ बुद्धि में रहता है ११८
 वाक्यार्थ भावना १४२
 वाक्यार्थ में पदार्थ का अभाव ११५
 वाक्यार्थ विचार ११७
 वाक्यार्थ-विशेषण १४
 वाक्यार्थ लक्षण का स्वरूप ११२
 वाक्यार्थ संक्षेप है ११
 वाक्यार्थ संतर्ग है ११
 वाक्यार्थ, संसृष्ट अर्थ है ११६
 वाचक का लक्षण २५१
 वाचक शब्द में शिष्टता २२०
 वाग्देव्य लाम १७
 वातना ११७
 वातना बुद्धि से मिथ वा अभिन्न ११७
 विकल्पयत्नक ज्ञान ७
 विक्रात का कारण वृत्ति १६२
 विशेष १५२
 विस्तर १८, १८७
 विज्ञानवाण १११
 विज्ञानवादी १५२
 विधि १८५
 विप्रयोग १५२
 विभक्तिर्वा, दो प्रकार की २६८
 विमर्श ६८
 विराट् पुरुष ४१
 विरूप ४२
 विरोधिता १५२
 विवक्षाप्रापितसर्विज्ञान ८५
 विवरण २२१
 विवृत १८०

- विकर्तवाद् १८, १८०
 विधिप्यापोद्वाद् ११२
 विधिप्यावप्रदलप्रत्ययवेद्य ६४
 विस्फोट ४
 वृत्ति ४, १८, २३०, ३५३
 वृत्ति का स्वरूप ७
 वृत्तिर्वा, वित्त की ३ वृत्तिर्वा १२
 वृत्तज्ञान ११७
 वृत्तिर्वा, तीन ६, २३७
 वृत्ति, दो प्रकार की २४१
 वृत्तिपद्य ३०२
 वृत्तिर्वा पांच ७
 वृद्धभ्यवहार १६२
 वृषभ ३५
 वेद १२, २०
 वेदवर्षी १२
 वंदायती २२४
 वैकृत ध्वनि ३६५
 वैलरी ५, ११ ३७ ३८, ४२ ६३, ३६७
 वैलरी आदि चार वाक्चिर्वा ३७, १६
 वैदिक ७६, १६५
 व्यक्तवाक् २६
 व्यक्ति १५४
 व्यक्ति अतत्त्व द्वि २८७
 व्यक्ति का स्वरूप २८८
 व्यक्तिवादी व्याधि २८१
 व्यञ्जक का व्यंग्य में प्रतिबिम्ब ३७४
 व्यञ्जना ७, २३७ २६, २६१
 व्यञ्जना का निरूपण २६
 व्यञ्जनेय ६४
 व्यतिरेक ६३, १५७, २१८
 व्यञ्जहार १७४
 व्याकरण ३३, १४, १०३, २१८
 व्याकरण का स्वरूप २३, २४
 व्याख्यान १५७
 व्यवहारिक सत्ता ३५२
 व्यावृत्ति २६४
 व्युत्पत्ति ३६१
 या
 यक्ति ७, २३७, २४४
 यक्ति का लक्षण २४४
 यक्ति का स्वरूप २४१
 यक्ति के तीन भेद २४६
 यक्तिप्रद २१७
 यक्तिज्ञान २१७
 यक्षितत्व ३४
 यक्ति, पर और पदान्ते दोनों में २४४
 यक्तिभेद से परभेद ३१६
 यश और कुमारिल के प्रश्न का
 उत्तर ३६३
 यशस्वी ५४
 यम्ब ७२, ३८८, ३६२
 यम्ब अर्थ और ज्ञान में विभर्षय १२६
 यम्ब अर्थ और संर्षय तीनों का वृषक
 अस्तित्व १७१
 यम्ब अर्थ का उदाहरण नहीं २३५
 यम्ब अर्थ का केवल संश्लेष ६
 यम्ब एक और अलंकार ३५३
 यम्ब और अर्थ का संर्षय १६०
 यम्ब और अर्थ की अमिश्रता २ २
 यम्ब और अर्थ में तादात्म्य १२८
 यम्ब और अर्थ में शक्तिरूप संर्षय १६५
 यम्ब और अर्थ में तार्किक संर्षय १६२
 यम्ब का मुक्ति से लक्षण २३१
 यम्ब का लक्षण ३५५, ३८८
 यम्ब का स्वरूप ७
 यम्ब की उत्तमात्म से बाध नहीं १२३
 यम्ब के दो रूप ७१
 यम्ब क्या है १७१
 यम्ब, चार प्रकार का ३५१

- शब्दज्ञान २
 शब्दतत्व ३ ३३, ५१-५४ २ ५, ३६९
 शब्द तीन प्रकार का २५३
 शब्दन १६२
 शब्दपरिस्यामवाद ६१, ६२
 शब्द प्रमाण १८०
 शब्द ब्रह्म ३, ३१ १५, ५१ ३२-३५, ३६७
 शब्दभावना ३ ३
 शब्द में भाष्यता और भाष्यता २३४
 शब्द में दो तत्व ८
 शब्दविकार २ ३
 शब्दविकार २, ३, १६
 शब्दविवर्तनवाद ३१, ३२
 शब्दशक्ति २१३
 शब्दशास्त्र २४७, २४८
 शब्दसृष्टि का कर्ता व्यक्ति २४५
 शब्द से अर्थ की उपस्थिति १६९
 शब्द से शब्द और अर्थ दोनों का बोध
 २३४
 शब्दाप्याहार १५८
 शब्दानुशासन ७१
 शब्दार्थ चार प्रकार का २४४
 शब्दार्थ में तादात्म्य बुद्धि १६४
 शब्दाय-संबंध १६३
 शब्दार्थ-संबंध और नित्यवाद १६६
 शब्दार्थ-संबंध और बुद्धिवाद १७५
 शब्दार्थ-संबंध और संकेतवाद १६९
 शब्दार्थ-संबंध पर आक्षेप १८८
 शब्दार्थ-संबंध पर आधुनिक विज्ञान १६४
 शब्दाय-संबंध पर सीमांक १६५
 शब्दाय-संबंध पर विचार १८७
 शाबर विद्या २ १
 शाब्दज्ञान और दृष्टियन्त्रज्ञान में अन्तर
 १९६
 शाब्दबोध में अमेद और भेद संबंध १४९
- शाब्दबोध में तीन तत्वों की कथा १६३
 शाब्दीय ६४
 शून्यवाद २११
 शेषशेषिभाव १८३
 सुवार्तापक्षिवाद २६३
 शीला बन्धन के भाव का अनुमान करता है
 १७४
 ष
 षड्भ १८९
 ष
 संकलनात्मक ज्ञान ३६१
 संकलनात्मक ज्ञान संभव नहीं ३६१
 संकर्मक का अकर्मक होना २७३
 संकेत १४१
 संकेत की अर्थबोधकता २२५
 संकेत दो प्रकार का २५३
 संकेतवाद २ २, २ ३
 संकेत से सर्वत्र ज्ञान २ ३
 संकेतित अर्थ, चार प्रकार का २५४
 संपाठपद्य का भावार्थ ३३९
 संज्ञा अकृत्रिम १२३, १२४
 संज्ञाएँ, चार प्रकार की १४६
 संज्ञाकरण, साधारण १४१
 संज्ञा का अर्थ महाशक्तता २८७
 संज्ञा कृत्रिम १२३, १२४
 सत्यभावप्रश्न ६५
 संबंध का स्वरूप १६७
 संबंध की नित्यता २ ३
 संबंध की प्रथम कथा २४४
 संबंध निवामक है १६३
 संबंध सामयिक नहीं २ २
 संबंध स्वभावस्थित है १६३
 संबंध ही शक्ति है १७१
 संबंधन वाक्य का अर्थ ३६६
 संसृष्टि ६

- समन्वय की मौलिकता १
 समन्वय की स्थापना ६
 समन्वयमार्ग ८
 समन्वयवादी का स्वासन और फलवृत्ति २८२
 समान वाक्य १ २
 स्फोट और प्राकृत वैकृत ध्वनि ३५४
 संयोग १५१
 सर्वापेक्षकता २०८
 शक्ति २७
 संतर्ग ३३०, ३८७
 ससर्वाकार १३
 संतर्गवाद में वा मत् ३३०
 संतर्गवाद में निराकारवाद ३३१
 संसृष्ट अर्थ ३३८
 संसृष्टार्थ प्रत्ययमात्र ४०
 संस्कार १ ४ ३१७ ३६१, ३६२
 संस्कारविज्ञान २
 संज्ञिता ३१२
 साक्षात् शब्दों से शाब्दवाच २५१
 सादर्य ११७
 सामयिक १८७
 सामर्थ्य १५४, १५८
 सायतन ३३
 साधुत्व ४४
 सार्थक शब्द २५१
 सार्थक शब्द, आठ प्रकार क २६६
 सार्थक शब्द, तीन प्रकार का २५१
 सांस्कृतिक विकास १२३
 साहचर्य १२, १५७
 तीव्रनिद्रक १
 सुनि १३७
 सुपत्नी ५५
 सुप्रस ५०
 सुप्रसव ५
 सुप्रसव ७७
 स्टोइक स्कूल २३३
 स्थितकाल २१८, २१६
 स्थिति १२
 स्थिर लक्षण ६५
 स्त्री ४, ८, १३, १८, २६, ३४, ४८, ५१
 ५३, ६२, ७२, ७३, १३५, २०५, २२७,
 ३१३ ३४६, ३५०, ३५८, ३७७,
 ३८८ ३६७
 स्फोट अर्थ ३६२
 स्फोट, आठ प्रकार का ३००
 स्फोट और ध्वनि ३५७
 स्फोट और ध्वनि के प्रत्यय के नियम में
 चार मत ३६७
 स्फोट और ध्वनि के नियम में विभिन्न मत
 ३७३
 स्फोट और ध्वनि में अंतर ७१
 स्फोट और ध्वनि में अमिथता ३७३
 स्फोट और ध्वनि शब्द हैं ७१
 स्फोट का अर्थ १३, ३१३, ३५८
 स्फोट का विकास ३६२
 स्फोट का शान कैसे १ ३६५
 स्फोट का स्वरूप ३७३
 स्फोट की सिद्धि अनुमान से ३६२
 स्फोट के तीन भेद ३१३
 स्फोट नित्य और अकाल ३३३
 स्फोट नियम कैसे १ ३७३
 स्फोट प्रत्यय हैं ३६४
 स्फोट, प्रायेक प्रकारों में १६
 स्फोट, प्रकृत हैं ३६३
 स्फोट मनुष्य में भी १६
 स्फोट में अर्थ नहीं ३६२
 स्फोटवाद ५६, ३४६, ३५ ३५७, ३८१,
 ३८२, ३८८-३९१
 स्फोटवाद और अद्वैतवाद की समानता
 ३५१

लघोऽन्तः के अन्त स्वरूप ३७७
 लघोऽन्तः पर अन्तः के समाधान ३८१
 लघोऽन्तः पर अन्तः के समाधान ३८२
 लघोऽन्तः के समाधान ३
 लघोऽन्तः-विधान २०२
 लघोऽन्तः-विधान ४, ५, ६,

लघोऽन्तः से निकाल कैसे हुआ १११
 लघोऽन्तः की अन्तः ३८
 लघोऽन्तः ४ ५
 लघोऽन्तः १५५
 लघोऽन्तः विधान १
 लघोऽन्तः २२५

अनुक्रमणिका (ख)

(नामों की अकारादि अनुक्रमणिका)

अ
 अग्नि २५, ३०, ३१
 अंग १४८
 अंगरिसु १४८
 अंगुलिनिष्ठा २१
 अक्षरविधानम् १३५ १३८, १३९
 अक्षरविधान ३० ४८ ५
 अक्षर १४८
 अक्षरविधि १८७ २११ २१२
 अक्षरविधान १३९ ३८२
 अक्षरविधान १४९, ३ ५
 अक्षरविधान २३३
 अक्षरविधान १४०
 अक्षरविधान १३९
 अक्षरविधान १४० १४२
 अक्षरविधान १५ २३३
 अक्षरविधान १५
 अक्षरविधान १४८
 अक्षरविधान १८८
 अक्षरविधान १८८, १९० १९५ १९६, १९८
 १५

अक्षर २११
 आ
 आंगरिसु ४७
 आठो वेत्तर्षन १७१, १८
 आदिरोप १८३
 आन्तः २११, ३८२
 आलो ३८२
 आदि १४७
 इ
 इतिहास माया १२८
 इति २५ २६, ३०-३३, ४० ४८, १४९
 १४८, १५३
 ई
 ईति उपनिषद् ११ २११
 उ
 उग्रविधि १४८
 उग्रविधान १८५
 उपो ४, ४१ १४९, १५५ १५६ १७६
 १७७, २२८, २४५
 उपो १८८ १९
 उग्रविधान ३८ ३८२
 उग्रविधान माया १८२

उर्वशी १४८, १४९
उम्बट २२
शु
शुक्रमातिशाय्य २१, ११ १११, ११८,
१११ २१३, १११, ११२
शुगुणोद्गाथ २११
शुभ्रेह २, १२, २३, २८-३० ३५ ३७,
४१ ४२-४२, ४५, ५१, ६३, १२०,
११ ११६ ११७, ११२
शुभ्रेदमाभ्य ११ ११० ११४, ११३ -
शुपिपुत्र परमेश्वर २१८
शे
शेखरेय १४६
शेखरेय उपनिषद् १२ ५१
शेखरेय ब्राह्मण १, ५ ५६, ६५, ११४,
११७, ११८
श्री
श्रीगणेश शिवायु १५, १६, १५१, ११४,
२२, २११, १८ १८१
श्रीयो स्टुते ५२
श्रीसुकर ब्रह्मर २१, ५२
श्रीद्विपद १४७
श्री
श्रीबुध्मन्मथ २१२, १४
क
कठ ११८, १४१
कलाद १८० १८८, ११२
कविल २१४
कम्बोज ११८, १४१
कंस १७६
कण १५२
कला डाका १७
करमप १४८
काठक चरिता ३७ ५१ ११७, ११८
कापकप ११५

कात्यायन ११, २४, ११, ७६ ७८, १०७
१ ८, १२, १३, १४६, १६, २ २
२ ६, २१६, २४६ २८० २८१, १००
३ ३, १ ७, १ ८, १११ ११२, १११
१५, १५१, ११७
कादम्बरी १४१
कार्तवीर्य १४२
काल १२
कालिदास १८
काम्यप्रकाश ८, १२४, १५३, २१, २६१,
२८६, ३२७, ३४१
काम्यादय १८
काशिका ८१, १०, १४५, २१६, १५
काशीमन्त्र ३४
कारमप १४६
कुम्भिका टीका २२८
कुबेर १४६
कुमारिल मह १, २, ३७ ७१ ७५-७७
१६२, १८५ १११, २११ २१६, २१२
२१६ ३ ४, ३ ६ ३१८-३४५, ३५८,
३६७, ३७६, ३८१ ३८४, १८८, १११
१११
कुव १४१
कुर्म पुराण १८१
कुम्भ १०, ४७ १७६, १७१
कुनोपनिषद् २, २१
कुल १४१
कुण्ड १४६ १४७
कुम्भेयी १४७
कुम्भट २४, ३७, १८, ४४, ४५, ७१-८७ १८,
१ ६ १ ७, १११, १२२ १२७, १४४,
१४६, १५३, १५७, १६० १६२, १७५-
१७८ २ ७, २२ २३५, २३०, २३५,
२४५ २४१, २४०, २६१, २७८, २८
२८२ ३ १, ३२१, ३३७, ३५५ ३५७

कैवल्य उपनिषद् ३१

कोशक्या १४०

कोशक्या १३, ५६, १०, २१६, २२७,
२३७-२७६, ३५७ ३५८, ३७० ३८,
३८५

कील १३५

कीर्त्तिय १४६

कीरव १४६

कोनिकि ब्राह्मण २, ५४, ५६, १०२

क

कबहनलपडलाय ७, १८३

ग

गंगण १०३ १८८, २१६, २४१, २७४

३७७, २६९, २६५, २६६

गदापर मठ २४१, २४२, २४३ २७४,

२७५, २६९-२६६

गाम्बारी १४७

गार्डिनर ३८, ३८१

गार्म्य १३, १३६, २६५

गेष्टर १७२, १७३

गोडा १४७

गोनर्द १४७

गोनर्दीय १४७

गोपय ब्राह्मण ६, १, ५०-५६, ६५,
११४

गोप्यर्त्त १७२, १७३

गौतम १८७ १६, १६२ २ १ २०३

२२, २३६ २६६, २६७ ३३४, ३३८,

३३६

गौतम बुद्ध २१, २१४

ग्रीक माया १२८

ख

खरड आपि १३८, १४६

खासक्य १५

खिलुलाषाय २३५

खीनी माया १२८

खोल १४६

ख्यवन १४८

ख

खाम्बोय उपनिषद् ५३-५६, १३६, २ ४

ख

खगदीय १२३ १८८, २१७, २१८, २२४,

२४१ २४३, २६८, २६६, ३ ४ १ ५,

३२९, ३३८

जर्मन माया १२८

जयन्त मठ ३४, ३६ ३२, ७७, १२८

१८५ २१४, २६२ ३ ६, ३२७-३४४,

३८१, ३८८, ३८६

जानसन १४८

जाम्बक्य १४६

जित्तरी १४४

जेनदर्यन १६६

जैमिनि १२६ १३८, १६२, २६१, २६२,

३ ७, ३ ८, ३३१, ३३३, ३३६

३४१, ३८८

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ५, ५५-५७,

६५

ख

खरबिन्तामणि १७३, १८८, २२६, २४१

२४७, २७४, २६२, २६५ २६६

खल्लमठ ६२

खम्बार्त्तिक २३, १६, १६१, २१६, ३ ४,

४३१

खड्य महाब्राह्मण ५१, ५४ ५६

खिन्गीय उपनिषद् ४४ ५७, ५६ ३८

खित्तरीय ब्राह्मण ५ ५४ १ २

खित्तरीय संहिता २३ ४५, १३७, ३३६

खिकावटोय १४६, १४७

खिपुराणि १४७

खिन्नोचन ११६

श्रीमद्क १४०
त्वष्टा २५

घ
श्रीोती आब श्रीब एयड लैवेड ३८

बसरी ३८, २५२

बाबि १४५

बाघारपि १४५

बिडनाग १६६, २११ २१४

दीपलिकार २२२

दुर्गाचार्य १४ २२४, २३२, २३६,

२४५, ३१२, ३५

दुर्गपथ १४८

दुर्गनाचार्य २२८

दुर्गपथ १४८

दुर्गोपन १४८

दुर्गाठन १४८

दुर्गापवित्रेक ३५८

घ
परमकीर्ति १६१, १६२, १६६, २११ २१४

बनमालोक ३८१

बनमालोकलोचन २६१

न
नागार्जुन २११

नागेय १३, २, ३५, ३०-४४, ५५, ६१
६५, ७१ ७२, ७६-८८, ९८ १, ११८,
१२४, १४२, १५० १६०, १६२, १६५,
१६६, १७०-१८६, २० २ १ २ ५

० ८, २१७, २१६ २५, २५५, २५७,
२६०, २६१, २६६ २७१, २७४-२७६,
२८२, ३ १, ३ ३ ५, ३२१ ३४५,
३५०, ३५५ ३५७ ३७०, ३८०

मारु ५८

नियवटु १५१

निकर १८, २० २४, २५, २०-३०, ३५

३७, ४२, ४५, ४६ ६६, १०२, ११७,
१० १३५ १४, १४० १४८, १५३,
१८१, १६, २२६, २३२, २३३, २३६
२४५, ३८८, ३१२, ३५०, ३८२, ३८८

न्यायकवली ३८१

न्यायकुतुमाङ्गलि १६४

न्यायवचन १८५, १८८, १८९, १९६,
२ १ २६६

न्यायपरिभृदि १६६

न्यायमाध्य १८८, १६६

न्यायमूयस २११

न्यायमञ्जरी ३४ ३६, ४१, ४२, ७७,
१२८, १८५ २०४, २११ ११५, २६२-
२६७, ३०५, ३२७-३४५, ३८१, ३८८,
३९७

न्यायवार्तिक १६६, २६

न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका १६६, १६७

न्यायविदु १६१, १६६

न्यायवृत्ति २२६

न्यायवचन १८६ १६२, २ १, २५६

प
पंचाल १४६

पतंग प्राबापात्य ४७

पतञ्जलि ४, ५, १ १३, १०-२४, ३५
४६, ६१, ७०-८८, ९१-९२ १६८ १६,
१६४-२१६, २४४ २४८, २६२ १६,
२६६ ३०१ ३०८ ३११, ३१२ ३१५,
३१ ३१७ ३४४, ३५ ३५५, ३७०
३८५ ३८८, ३९२, ३९७

परममञ्जरी ३५

परमार्पणार १८१

परशुराम १५२

पारदार १४८

परिमाणवृत्ति ६२, १२२

परिमाणुवेनु सेलार १ १, १५७, २६६

ऑरेलेन १७१	विरवेरेन १५
औटिन माया १२८	विष्णु ३२, ५० ११७ १५७
ब	बृज १५५
बरब १५८	बृजहा १५०, १५५
बदय १५, ३	बैकट मायक १, २ १२०, १२१, १२५
बद्यपनवीणिका शिक्षा २६३	१६६, १६९, १६९
बलिष्ठ ५६	बेद ३३ ५३, २६३, २६१, ३१२
बलिष्ठा ५६	बेदान्तदर्शन ५, १८, २८, ५५, ३५३
बसु २५	बेदान्तसार ३२
बाकू ध्याम्मुखी २५	बेदान्ततून ३८१
बाक्यम्भरीय ५, १६, १८, २२ २७, ३३	बैद्यनाथ १२६
३८, ५३ ६१, ७३, ८, १८६, २ ६	बैनठेय १५६
२५८, २५३-२५८, २६६, २६८, २७७	बैवाकरव्य भूषण ५८, १७० २१८, २२७,
२८३, ३०७, ३५८, ३५८, ३७८, ३८३,	२६७, २६८ २७१, ३५८, ३८ ३८५
३८३, ३८७	बैरोपिकदशन ५, ८८, १०, ११, १८५,
बाधस्तति ६६, १८३ १८६, १८७, २११	१८८, १८९ १८८ ३७६
बाजप्यावन ६ २६६, २८, २८१, २८३,	बैरोपिक सूत्र १६२
२८८, २८८	अपिबिबेक २६१, ३८१
बात्स्यावन १५६, १८८, १८८ १८२, १८६	अ्यादि ६, ३३, १६, १६१ २२७, २२८,
२२० २५८, ३ ३	२५७, २६६, २८ २६१, १८८
बामन १७६	३५१ ३५३, ३७१
बामन बबादित्य २१६, ३५	अ्यात १, ५ १७२, ३२१, ३२२
बागवती १५५	अ्यासमाप् १७९ ३२१ ३२२
बातार्च २६२	अ्युतसिवाह २५१, २५२ २५३ २७४ २७५
बापर्जाविधि २८८	शु
बातवददा १५८	शक १५८
बासुदेव १५६	शंकरमिथ १८२
बिदूर १५५	शकरबाय १३ ३५२ ३५८, ३८, ३८१
बिद्यानन्द १८८	शक्तिवाद ३५२ २६२ २६७
बिन्ध्यवामी ७६	शक १५६
बिभ्रव्य १५६	शतपयत्राद्य २८, ५५-५६, ५५-५७ ६५,
बिभ्रवत् १५६	१ २ १३७
विरवकर्मा श्रुति ५८	शकुम १५८
विरवनाथ १ १, १५३ १५५ १५५, २१८	शन्तनु १५८
२२६ २३७ २६, २६१, ३ ५, ३८१	शबर स्वामी १२६ १३८, १६२ १-६,
विद्यामिथ १५८	१६ ३ ७ ३८१ ३८८, ३६१

यम्बकौस्तुभ १७०, १११, १५२ १५८,
१७८, १८०

यम्बकमिका १५१, १८८, २१७,
२२५, २५१, २६८, २९६, ३०५, ३०५
३२२, ३३८

यन्त्रावर १५७

याकटापन ११०, ११६, २१७, २६५, ३६५

याकपूषि ११५

याकप्रमाण्य ३५२

यान्तरचित १२

यारदाविलक ३५

यासावरीय १५७

यिग ३१, ६८, ११७, १५७, १५८

यिगद्विदि ३३

युनःपुष्य १५७

युनःशेष १५७

युनोकाण्ड १५७

योनक २२, १३६

भीकर १६२, २६६

भीहृष्य मह ५६, १५८, ३८

भीषा ३८१

भीष्य ७ १८३

रसाकवासिक १ ७५, ७७, ११२, १८५

१६६ २११ २११, २६२, २६५, ३५१

३५५, ३६७ ३७६ ३८१, ३६१, ३६३

रपठाश्वतर उपनिषद् ५७

य

गद्विद्युत ब्राह्मण ५, ५६

स

नईल २५, १६५

नंद ३, १६, २८१, २८८, ३५१, ३७१

ननस्तुमार ५८

नारवती ५५

नर्पदशननंद २६३

नारवत ब्राह्मण २५

नारवतवर्णन ५७ १०, १२, १८, २७, २८,

३१, ३८, ७६, १८५, १६६, २५१

नारवत १२, ३७, ५२, ५६, ५६

नारवत १६, ५५, २६३

नारवतवर्णन १५, १०१, १५१, १५५,

२१६, २२६, २३७, २६, २६१, ३५,

३०५, ३८१

नारवतकौमुदी १३, १५७

नारवत ६२, ६३, १२२

नारवत ३

नारवत १५६

नारवत ५५

नारवत २३५, ३५५

नारवत १५६

नारवत ५६, १५८, ३८०

नारवत ३५, ३५८

नारवत २, २१८, ३८, ३८१ ३८८

नारवत ३८

नारवत ५, १५७, १५६ ३५१

द

नारवत ३५०

नारवत ५७

नारवत महाभारत १६५

नारवत १३७ १६, १६१, १६६, १६८,

२१७-२३३, ३७१

नारवत २६२

नारवत १६५, १५८, १६५, २५५, ३८०

नारवत १७२ १७३

नारवत २३, ३६ ५६, ५६ ५५, ६१ ८०,

६१, ६२, १००, ११, ११२ ११५,

१३२, १३५, १५२ १५६, १६३, १६५

१८६, १६६ १ १२ ७ २१८, २१५,

२५६, २६१, २७२ २६

अनुक्रमणिका (ग)

(उद्धरणों की अकारादि-अनुक्रमणिका)

अ	अनित्येष्वपि ८ २ ७
अ अ ११४, ११८	अनेकशक्ति ११४
अकर्मका १११ २७४	अनेकशक्ति ११८
अकृत्स्न० ११२	अनेकवैदं० ५७
अक्षरं ब्रह्मण० १	अन्तरेण० २२५
अक्षरेण मिमते ४३	अन्वतमा ३४
अक्षत्वा ११४	अन्वेन २४७
अक्षिणिकोषा २२५	अभ्यत्राप्य १ ४
अग्निं प्तान् १	अभ्यया च १४२
अग्निमीदृ २२४	अभ्ययेवा ११
अग्नीवक ७८, ११३	अभ्यसि १ १, २११
अठत्सतो १२	अभ्यवम्बति १५७
अत्सद्मुठा २१५	अभ्यस्मिन् ११८
अत्सम्ता ७	अभ्यार्थमपि ८१
अव च गुह्य १ ५	अभ्यो लोका ८१
अव दूप० १११	अपर्दन २७
अव गौरित्थन ७१ २१ ११२	अपर्त्यं गोताम् १
अवया प्रतीत ७२	अपभ्रार २१८
अवात्मनो महत् ११	अप्रमुष्टे १५१
अवायमान्तरतो ७४	अप्रयोगा १५१
अवेव महानात्मा २७	अभिधान १६२
अवष्टब्धि ११६	अभिधानामि १७१
अवेर्युवा १२४	अनेकपूर्वका १ १
अवस्ये तु २ १	अभ्यासात् ११२, २१७
अविकरथा २८३	अभ्युपगम १८६
अविपरी २७६	अर्धं विकल्पये १११
अविरीश्वरे १६३	अवमत्पास २१०
अनभत्पाद् १११	अवमस्य ७७
अनभेका ३३३	अरथिर्यं २३१
अनादिनिबन् १२, ११७	अर्थाक्रियामु ६१

अयंमात्स्यं ११६, ११९
 अयंपरिज्ञान २०
 अयंमागी ३१८
 अयंमहापादु १, ६, १०८, १८५, १८८
 अयंविचारे ११५
 अयंस्थान्य २२७
 अयंत् १५३
 अयंन्तरामि १२३
 अयंविताय ३८८
 अयं वर्यामासा १६५
 अयं शब्द १५१
 अयंक्रत्वा १ ८
 अयोपतर्ज २३७
 अयोऽप्यादशवा २३
 अयो द्वि प्रधानं २३६
 अयोर्द्विवाधा २०
 अयत्स्फोटोपनस्य ४, ३५
 अयत्पनात् १५८
 अयत्पव १०१
 अयत्पारहेण १२८
 अयत्कस्ते ३४४
 अयत्तैव विद्योत्तम ३४
 अयत्तिनायो २८४
 अयत्तिमत्ते २२८, ३३४
 अयत्तिमायात् ४ ३६०
 अयत्तिरेकाद् २८२
 अयत्तर्व २७८
 अयत्तेः तर्ज ८७
 अयत्तो ३३५
 अयत्तरथा ३७
 अयत्ति १७७
 अयत्तु १८२
 अयत्तवोपाधि ८३, १६७, २०७
 अयत्तो वासि ८३
 अयत्तमाप्तेव ११५
 अयत्तिप्रदण्य १७७

अयत्ति चैद २८१
 अयत्तप १२६
 अयत्तन्यद् ७८
 अयत्तर्जः तर्ज ८३
 अयत्तात् २४१
 अयत्तिन् तति २१०
 अयत्तार्थ १६६
 अयत् राप्ती २६
 अयत् क्त्राण २६
 अयत् क्त्रेभिः २५
 अयत् सुवे २७
 अयत् लोममा ३५
 अयत्तेव वात २७
 अयत्तेव स्वकम् २६
 अयत्तप कृष्ण १२१
 अयत्तितावत्वा १
 अयत्
 अयत्तांसा ३२७
 अयत्कारवन्तः ८८, १८५
 अयत्कारगुणः १८
 अयत्कृतिप्रहणात् २८३
 अयत्कृतिरनिस्ता ८५
 अयत्कृतिः शम्भार्थः ३८३
 अयत्कृत्सुप २६
 अयत्स्पात ३ ७, ३२५
 अयत्स्पात ३ ३ १
 अयत्स्पातस्व २६६
 अयत्स्पातोपवौगे ७४
 अयत्तारे निवम ४६
 अयत्तार्थाचारात् ६३, १२४
 अयत्तमुमग २४६
 अयत्तमाव ३६३
 अयत्तमेद ३६
 अयत्तमाभर्य १८१
 अयत्तमर्क्य ३३४
 अयत्ता अयत्तो ३२

आत्मान १८१
 आत्मा बुद्ध वा ७५
 आत्मा बस्तु ६, ११, १८८
 आत्मा वा अरे १२
 आप्तोपदेश २२
 आप्तोपदेशः १८७
 आम्नाय २४०
 आर्हात् २४८
 आभयोऽवधि २६८
 आह शेष १ १

इ

इको वचसि १७५
 इक्षरेतगा २२८
 इति कर्तव्यता ६७
 इतिहास ५
 इत्याहुस्ते परं ३१
 इदं तदिति २८८
 इदं परं २४१
 इदं मे ब्रह्म वा १२
 इदमन्वन्तम ६८
 इदमुत्तममसि ८
 इदानीममाये ११७
 इन्द्र मित्रं ३
 इन्द्रे च निरयमू ४, १५
 इन्द्रियस्यैव ११६
 इन्द्रियाणां १६८, १७०
 इयं वा परमे ४८
 इवर्ति वाचं ४६
 इह वेदवेदीम् २१
 इह तु कर्म १७६
 इह ही शम्भारमानो १५

ई

ईश्वरसंकेतः २४१

उ

उष्कारित २२५

उपार्थमाहः ०

उद्यादको १४
 उद्यत्वं उद्यमे ४२
 उद्यत्सः परब्रह्म २, २१
 उद्यत्सी वा १८१
 उद्यदेवारमना ४७
 उपकारण तं १६७
 उपहृतं बहु १५, १५६, २५७
 उपदेशो १७५
 उपमानाद् वा १ ७
 उपसर्गास्तु २७७
 उपसर्गोक्त ११
 उपसर्गो ११०
 उपावाः शिख १४
 उपसमस्त १२१

श्रु

श्रुशुक् १८
 श्रुत्वं वाचं ११
 श्रुत्वा अक्षरे २
 श्रुत्स्व तन्तु ११
 श्रुत्वा अर्थात्स्व ४१

ए

एकतिष्ठ १०१
 एक शिखं २६७
 एकपरमेव २६४
 एकशर्त ११५
 एका शब्द ४६
 एकरथ शब्दो ८=१
 एकस्मिन्निति ८८ ११
 एकस्व तावा ६२
 एकस्व ददतो ४१
 एकस्व उर्ध्व १२, ६६
 एकस्वामि १११
 एकस्वार्थ १११
 एकस्वैवात्मनो ८, ६७, १, १२८, ११८
 एकार्थः १ ८
 एकाऽनवयवा १५१

एकाऽन० २४१
 एतद् वा २
 एतद्दे विरु० ४८
 एतमग्निं ३३
 एतावन्मात्र १५३
 एतेन जाति० २६६
 एतन्न शाब्दं० १८७
 एतैः शब्दैः १७६
 एतं तर्हि स्पष्ट ७३
 एवमवस्थ १२६
 एषो० सि म्याम्प० १२३

ओ

ओमित्येकाक्षरं २२८
 ओमित्येतद् ५८
 ओमित्येषा २
 ओपधि १३

औ

औत्पत्तिकस्तु १६२

क

कतमानि ताणि० ३७
 कर्षं ज्ञापते १६२
 कर्षं पुनर्यं १२१
 करोतीति ३३७
 कर्मणि २६८
 कर्मं प्रोक्त २७८
 कर्मवत् १३१
 कर्माप्यपि० ३३३
 कश्चिर्मनीषी १ ८
 काकैम्बा० १ ८
 कायकारण १६८
 कार्वाणुमवः ३३२
 किं कृतं पुन २३६
 किञ्चिद् सामान्य १ ६
 कि पुनः २४७, १८०, ३५१
 कुम्भकर्मक २७२
 कृतस्तत्र १४३

कृतद्वित ६, ७
 कृतमिद्वितो० २६४
 केचिद् पुमातो० १२०
 केचिद् वाव ११६
 केनलं कुदेनुवा ३८
 कौशलं त्वरय० १०६
 क्रम एव० ३२४
 क्रमा हि धर्मः ३२३
 क्रियामेवाद् १४३
 क्रियावाचक० २६५
 क्रियाविशेषक १३, २६५
 क्रियाम्यवेतः २३८
 क्वचिद् गुण १ ५

ग

गतिगती २७६
 गुण्वा शिष्य० १ ४
 गात्वानु २५८
 गन्नर्वापस्त्वाद् १४०
 गोष्ठादवा १ ७
 गौरिति शब्दो १७२
 गौरित्यय १७४
 गौरिम्मिमाव० ४३
 ग्रहस्य भासयोः ३७४
 ग्राह्यत्वं० २३४

घ

घतुर्मिं प्रकारैः ११७, २५८
 घटुष्यवी शम्भानां ३८, ७८, २४४
 घट्टमा गण्यर्वाः १ ८
 घत्वारि वाक् ३६
 घत्वारि गृ गा ३४, ३६, २६३
 घिद्विति मनाति ४८
 घटनालक्षणा० २

ञ

जातिप्रत्यायफे ८३
 जाति विशेषण ६
 जाति विरोधो १८

कार्ति शब्देन २८२
 कार्तेरस्ति २८६
 कार्ती पदार्थे २८५
 कार्त्वास्त्रमायाम् २८०
 कार्त्ते च० २१२
 कार्त्तं प्रबोद्धुं १६३, १८०, १८४
 कार्त्तरूपं १५७
 कार्त्तरुम् २१४
 कार्त्तेन न ३७१
 कार्त्तेऽप्युक्तिष्ठ ११४
 कार्त्तेऽर्थात् ७४

त

तत्राप्यस्तरुर्धं २२
 तत्राः प्रत्यक् २२
 तत्र कल्पना १६१
 तत्र बोधोऽप्येति ७७
 तत्र बोध्यं २८०
 तत्र बाधप्रायन ३३
 तत्र भ्वात् ४
 तत्रावबोधः ७१
 तत्राद्यहीत् २१७
 तत्रा पदानां ८३
 तत्रा शब्दोऽपि १०६
 तत्रैवममूर्त्तं ६३
 तत्रैव नित्यं ७८, २०५
 तत्रैवति १६८, २५७
 तत्रैवम् १६८, २५७
 तत्रैवित्थं २४८
 तत्रैवत् १७६
 तत्रैकदेश १२२
 तत्रैकैति २६१
 तत्रैवाग्नि ३२
 तत्रास्ति २८०
 तत्रस्तत् ७२, १५७
 तत्रवद् ११५
 तत्र्यात् प्रत्यक्

३४

तत्र्यात् सर्वं १७६
 तत्र्याद् १६४, २८७
 तत्र्याददृष्ट ६, ११, १२५
 तत्र्याद् य ६५
 तत्र्याद् वृत् १६२
 तत्र्यात्त्रामात्र १७८
 तत्र्य प्राये च ७५, २३१
 तत्र्य मात्रा २४७
 तत्र्य मनसा ५६
 तत्र्य बाधक ११ २१, २२६
 तत्र्या दृष्ट ४१

तत्र्याः समुद्रा ४३
 तत्र्यैवम् १६८, २५७
 तत्र्याति १ ६
 तत्र्यात्प्रत्यक् २२६
 तत्र्या सर्वरूपाः २६
 तत्र्यात्प्रतिष्ठाः १०१, १२०
 तत्र्यात्प्रतिष्ठा ४१
 तत्र्या भोज ३८२
 तत्र्या दृ ३२६
 तत्र्या च० २४६
 तत्र्याः पौद्गलाः ७६
 तत्र्याद् ब्रह्म ४८
 तत्र्यात्प्रतिष्ठा ५१, ६६
 तत्र्यात्प्रदानि ४१
 तत्र्यात्प्रतिष्ठा १७६

व

वरानानभिज्ञो २ ३
 वृष्टा शब्दः ४५, ११३
 वृत्तपरवाणि १५६
 वृत्तयस्ते ३२१
 वृत्तं च ३२१
 वृत्ता रूपे २३
 वेवाय परव ४१
 वेधी बाधम् २६
 वेद्यादिमित्थ ३०३

वीरका १७६
 ब्रह्मगुण १४१
 ब्रह्मं च द्विविधम् ६, १८८
 ब्रह्मं हि नित्यम् ८५
 ब्रह्माभिधानं व्याधिः ३३, १८२
 ब्राह्मिणी पुरुषी ५८
 ब्राह्मपादान १२०, ३५६
 द्वित्वे यो १००
 द्विधा कैश्चिद् २६२
 द्विविधम् १२६
 द्विष्टा १४४
 द्वे अक्षरे ब्रह्म ५८
 ध
 धाता यथा १३८
 धातार्यान्तरे १७४
 धात्वर्थः १७४
 ध्वनिः स्तोत्ररूप ७३, १५७
 म
 म केवला प्रकृतिः ८, २७
 मद्यर्थेण १२१
 म धृ १२२
 म च बीजे १८३
 म च शक्ति १७१
 म च समान ३०६
 म चाम्बवर्ष २
 म चाप्यन्व १६४
 म तत्त्वा ७६०
 म तदस्ति ३६०
 मद्रु न बन्ध १६५
 मद्रु सर्वकार ३८१
 नाम्न फणा ४४
 म लक्षणेन ३२
 म शब्दो १८६
 म तथा च १८०
 म सोऽस्ति ६७, १७५
 म हि किंचित् १५४

म हि परार्थः १०६, ११५
 न हि मत्त्वत् २२
 म हि शब्द २३३
 न हि सकल ८४
 म ह्याकृति १८३
 न ह्योपु मत्त्वत् २२
 नादत्त्वं २३३
 नादीराहित ३७०
 मानात्त्वं १४१
 नामेकात्त्वं ३८८
 नामाद्यो १७६
 नामिधानं १६७
 मामरूपे १३६
 मामास्वाते १६३
 माद्योत्पादत्तमा ३२
 नावतो १८०
 नास्ति कश्चित् ८६, ११०
 नास्ति जनि २५३
 नास्मामि ११३
 नित्य एव १७५
 नित्यं म ३४१
 नित्या शब्दार्थ १०
 नित्यत्वं १००
 नित्या ह्याकृति २०५
 नित्य. शब्दार्थ १६१, २१०
 नित्याश्च ५१, ३३३
 नित्येऽनित्ये २२
 नित्येषु च शब्देषु ११
 नित्यो ह्यर्थ ७६, ८
 नियतं तावते ३३७
 निवृत्त १८३
 निः सन्निर्गम ६१
 नेति प्रति ११
 नैकत्वं १८३
 प
 प्तंगो वाचं ५७

परं कैचित् ० १६६
 परपराभयोः ० १७१
 परपराधा १८४
 परप्रकृतिः ० ३१९
 परमात्र ३२५
 परमार्थ ० ३ ७
 परमात्मो १३०
 परमं पाठ ३ ८
 परवमूहो ३ ३
 पराप्पयन १३४
 परानां संज्ञिता ० ३१५
 परानि वाक्ये ३४४
 परार्थ एव १४, ३९८
 परार्थत्व ० १८३
 परार्थानां ० ८१, १८४
 परमेष्ठ्यामि ११
 परं च निरूपो ३१९
 परार्थमिषामं ७ १९६
 परीत्व भूतानि ३१
 परवन्वी तु वा ४
 पाश्चिनिस्त्वा १४७
 पात्रेणमितां ११६
 पारार्थ्य १६४
 पुंशोभावा २५५, २५७
 पुरुषस्य ३३३
 पुरुषस्य वाग् ५६
 पूर्यमपदाह १६
 पूर्वपूर्व ३५६
 पूर्यमि वाया ४३
 प्रकाशक ३८
 प्रकृति ८ ६८
 प्रकारसिर्वा ५१
 प्रकाशिकेकं ६१
 प्रतिनिवत ८८, १ ६
 प्रतिनिधि १३४
 प्रतिनिध्वं १७, २३३

प्रतिमाऽविलिगो १७
 प्रतिमाऽऽप्रवायं ० ३७
 प्रत्यक्ष ० १७५, १६६
 प्रत्यक्षानु १८७
 प्रत्ययाधीन ० १ ६
 प्रत्ययैर ० ३३६
 प्रधानप्रत्ययार्थ ८१, २१६ २१६
 प्रयोग्यैवामि ६२, ११४ १४२
 प्रयोग्यैवामि १६३
 प्रविद्धा अपि १६६
 प्राप्तिवय २६३
 प्राविमाद् वा त्वम् २३
 प्रातःकृमा २६४ १८८
 प्राभाकरास्तु २६५

फ

फलं च ३३३
 फलम्वापार २७१ २७३
 फलत्वेन ३३६
 फलानुक्तो २७२

ब

बहवोऽर्था २२६
 बहुधाकाम्यस्त २३
 बहुधापि ३२१
 बहुध्वेषा २३६
 बाह्यायां १७७
 बिन्दोस्तस्माद् ६४
 बुद्धी कृत्वा ८२
 बुद्ध्वैकं १८२
 ब्रह्मेदं चन्द्र ५१ ६३
 ब्रह्मैव वावा ५१
 ब्राह्मणार्थो ३१५

म

मष्टमते २६२
 मवति वे १५८
 भागीजन्यं ३१४
 भावनैव ३७६

माणप्रधान० २७०
 माणार्थाः कर्म ३८८
 मित्र इति २८५
 भूवत् एव १४३
 भूवाहवो २४०, २७२
 भिरामुखायो० ३७१
 मेदे सति० ११६
 मेदेभ्यः ५३
 भोवनायमि १८५

म

मन्ता २२३
 मन्त्रस्तु १३४
 मन्त्रासुर्वेद १ १
 मया सोऽसमसि० १६
 मय्येव लक्षणं० ३२
 मिय ताकाङ्क्ष० ३०४
 मीमांसकाः २७४
 मुख्येनैव १४३
 मृगानुष्ठा १८३
 मृगो न भीमो १ ६

य

यच्च माम १५८
 यक्षानुपाल १ ५
 यज्ञसामयै० २
 यथा च शोदना २
 यथा च ज्ञान १२५
 यथानुवाकः ३६६
 यथा परे ३१४
 यथा प्रसि० २३६
 यथा प्रबोद्धः २३३
 यथा ताव ३३२
 यथेन्द्रि० ११
 यत् किं च ६८
 यद्वानिर्गम्य १३, ३३
 यदयत् १३८
 यदस्यै वाया ५५

यदेव किं वा० २३
 यद् धृति० १६
 यदि तर्हि २१७
 यदि हि वास्तव ६९, ११४
 यद्यपि इन्द्रिया १६६
 यद्येक शब्दा० ८०, ६८
 यद् कर्म २१२
 यद् रूपेण ३५२
 यद् वाग् बरन्ति २६
 यद् वाया० २१
 यद् विचोतते० ५८
 यद् वै वाद् ५६
 यन्मनसा० २१
 यमवमधि ३३४
 यमानिकेन्द्र० १५२
 या संयोग० ३७३
 यस्मात्प्रत्यय ३
 यस्मिन् ७७
 यस्व वेनार्य० १५३
 यस्यामर्त २१
 यां मेधां देव ३१
 यां सृष्टमां ५४
 यावत् सिद्ध २७२
 यावद् जल० ३५
 यावन्तो ३८४
 या वाक् लोपिनि ५६
 याः तस्या १३७
 युक्त पुनः ६६, १ ३, २३५
 युवादिद्वय १८६
 येऽप्रमुख २७६
 येनोच्चारितेन ७२
 ये शब्दा० २७
 योगः कर्मसु १०
 योगप्रमाद्ये २१६
 योगभित्तवृत्ति १२
 यो व उच्यते १३७

तथा विमा ४७
 वाचा विक्रम ४२
 वाच्य एव ३२८
 वासुः काव ७३
 वाचरणा ७४
 विकल्पबोधना ११२
 विलर इति ३६
 विवर्कितः २३२
 विवृतम्ब १४४
 विद्या वा २६१
 विनियोगाद् २३८
 विम पूम्बादि १८३
 विलस्यो ३३८
 विवद्योता ११२
 विरोपरवा १०६, १२
 विस्वविर्ष वाचम् ४३
 विपयत्वम् २२३
 विपये यत् २४
 विस्तारे १०
 वृत्तौ विरोप १२६
 वृषं हनति १३८
 वृष्टिरादेम् १२६, ३६४
 वेदेष्य सर्वे ४५
 वेनस्तत् ३०
 वेत्तर्वा मप्यमा १२, ४१ ६३
 वेवाकरथ ३५
 वेह्य १८४
 व्वच्छेप ३२७
 व्यस्यवाकृति २६३ ३३८
 वन् सपत्ने १०
 वपदेयो १७६
 वषेयु २८४
 व्यनहाराय ३४, २१ ३६१, ३८०
 व्याहितरुने ३३
 व्याप्तिमावात् २२६, २३२, ३५

व्यावर्ति ३१७

य

यक्तिग्रहं २१७
 यक्तिविधा २४६
 यक्षीनामसि १७१
 यक्ष्यार्थो १८२
 यम् उप २२४
 यम्बा कारथ १७३
 यम्बानात् ७
 यम्बत्वं ३२४
 यम्बपूर्वको ७८
 यम्बप्रमायका ४६
 यम्बा मावा २३२
 यम्बरथ ७७
 यम्बस्तु लक्ष्ण १२१
 यम्बस्तु धेन ८२
 यम्बस्य न १६, ३१५
 यम्बस्य परि ५२ ६२, ६३, १८
 यम्बस्य त्व ८६
 यम्बस्तोत्रुष्ये १८, ३६५
 यम्बावर्था ६१
 यम्बाना १६६, १६७, ३०३, ३२३
 यम्बार्थ २३ १७२, १६२
 यम्बार्थबोध १६३, १६७, २२८
 यम्बार्थबोध ८६, २२८, ३५४
 यम्बार्थम्ब १६२
 यम्बार्थावमिमा ६७
 यम्बार्थो १७४
 यम्बा लोह ११३
 यम्बेनार्थस्य १०१
 यम्बेनार्थस्या १६३
 यम्बेनाधारितेना २२४
 यम्बेभेवामिता ६५
 यम्बेनदित १७६
 यम्बो नामि ८६
 यासाद्वरीयो १४५

शास्त्रिनकौपीने ११
 शास्त्रेषु प्रक्रिया ० १४, २१, ३११, ३८०
 शुभ्रपा भवर्ष २
 भवेद्य उपला ५०
 भीकरस्तु ० १११
 भ्रुतिखिग ० ३८४
 भौषोपसामि ३३५
 य
 पद्भारिमेदा ० ११
 पद्भारियु ११
 स
 स एव भीतो ७१
 संकल्पद्विता ७१
 सन्नुमिव ४५
 सन्क्रिया ३
 संपातस्वै ३ २
 संपाते कटपू १ ७
 संपातो वाक्यम् १३
 स पानेक २४५
 स चावश्यं ३ २
 संज्ञानमाज्ञानं ३२
 सति प्रत्यय १६६
 सत्यं ज्ञान ४४
 सत्यमाकृति २१०
 सत्वमिव १८१, १८४
 सत्यमिवेति १८४
 साक्षात्स्यो १८७
 स विविचो १८७
 संनिधामे १४१
 सन्त एव ११३
 सप्रतिपत्त्यां १७७
 संशोद्धरथ १ ७
 सवन्धराभ्ये १६१
 संवन्धस्य १६
 संवन्धस्यानि १
 संवन्धरवाणि १६१

संकभाव २ ७
 संवन्धमेवात् ० २८७
 संवन्ध राभ्यै १ ५
 सवन्धो हि १६१, २४४
 स ब्रह्मा स शिवः ३२
 समयाद् १७, २ ३
 समयोपयोगो २ ४
 समर्थो पद् ३ १, ३७८
 समुदायो ८५
 समुद्रोदसि ४८
 संबोधात्म १६७
 संबोधो १३२
 संस्माख्याम् २८
 सर्व एवाकारा ८४
 सर्वत्र विधाया गोः ४, ३३१
 सर्वपदेयु ३२२
 सर्वपादैश्च १८
 सर्ववेद १८
 सर्वस्यवाक्यम् ० २८६
 सर्वत्रथ शब्दो १ २, १२२
 सर्वात्मक ८७
 सर्वायं ८७
 सर्वायामि १
 सर्वे भावाः ७६
 सर्वेषां मानि १३८
 सर्वे सर्व ३५५
 सर्वे सर्वायं ८७, १११, १५१, ११८,
 २०८, १ १
 सर्वा हि शब्दो २१६
 स वा एव १ १, ११४
 स वाचको २७१
 संलग्नशब्दे २८६
 संसर्गियु १ ६
 सद्भारय २५१
 सद्भारिता १५२
 सद्भुत्ते २६१

इतिहास २८
 उद्वेगपारः ४०
 उद्वेगपारे ४०
 उद्वेगरीया ३१
 उ दि तर्क ३३
 उकाशाव ३०८
 उकाशाकृत २२
 उकाशात् उद्वेग ३०
 उा च कृति २३०
 उापेक्षा ३२२
 उामबिधा १२२
 उामर्ष्यमौ १३२
 उामान्द ११६
 उामान्दार्थ ३३३
 उा वा उा वाग ५१
 उार्षभाशुके २६४
 उा वै वाक् ३०
 उा लवविद्या ३२
 उाहचर्पात् १२१
 उा ह वागुवाच ५६
 उिद्ध त्वन्वय २३
 उिद्धे शम्भार्षतं २१, ३२, ७२, १५७,
 १६, १६९ २०४, ३२७
 उिद्धे शब्दे १६०, १६
 उुपर्थ विद्या ५४
 उुर्पा कर्मा २६८
 उुतिहन्त ३५
 उुतिहन्त २६२
 उुहमामर्षेना ५४, २१
 उुनकारस्व ३३
 उुपमन्वा १२

उुर्णे वात १२१
 उुर्णे गन्धर्वा १६
 उुैव भाव १८८
 उुैपा प्रयी वाक् ४१
 उुैपा संतारिद्या ३२
 उुनपितुस्ते ५२
 उुिपाम् १६, २४८, २६७
 उुपागुरव १२
 उुपामेगु विद्वते ३२
 उुबुलपुपती १५५
 उुीहमे १८
 उुदरस्वर्ण ३१३, ३५८
 उुदोटा शम्भ १६, ३५७
 उुद्रेटरूपा ३६८
 उुद्रेटस्व प्रहसे ३५४ ३६६
 उुद्रेटस्वामिन्न १६
 उुद्रेटोऽपन ३५०
 उुवभाव ३४७, ३६५
 उुवभावमेदात् १६
 उुव रूपम् ७७, ३६४, ३७०-
 उुवरमेदा १३२
 उुवरतंस्कार १३३
 उुवरो वधो १३३
 उुवा जातिः २८५
 उुवामिमावा १७५
 उुवार्थमार्ग २२३
 उ
 उुवभरट् ३८५
 उुिम्बानो वाचं ५७
 उुैपुमति च १७६

